" ॐ नमः सिद्धेभ्यः "

श्री जिन तारण तरण स्वामी विरचित

श्री न्यान समुच्चय सार

अन्वयार्थ - भावार्थ सहित अनुवादक :

श्रीमान् जैन धर्मभूषण धर्म दिवाकर
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जी

♦ प्रकाशक : -

श्री दिगम्बर जैन तारण तरण चैत्यालय ट्रस्ट कमेटी,
सागर (म.प्र.)

वीर सम्वत् - २५२३
विक्रम संवत २०५३ सन् १९९६ ईस्वी

तृतीय आवृत्ति प्रति १५००

वन्दे श्री गुरु तारणम्
श्री जिन तारण तरण स्वामीजी की
दीक्षा - स्थली
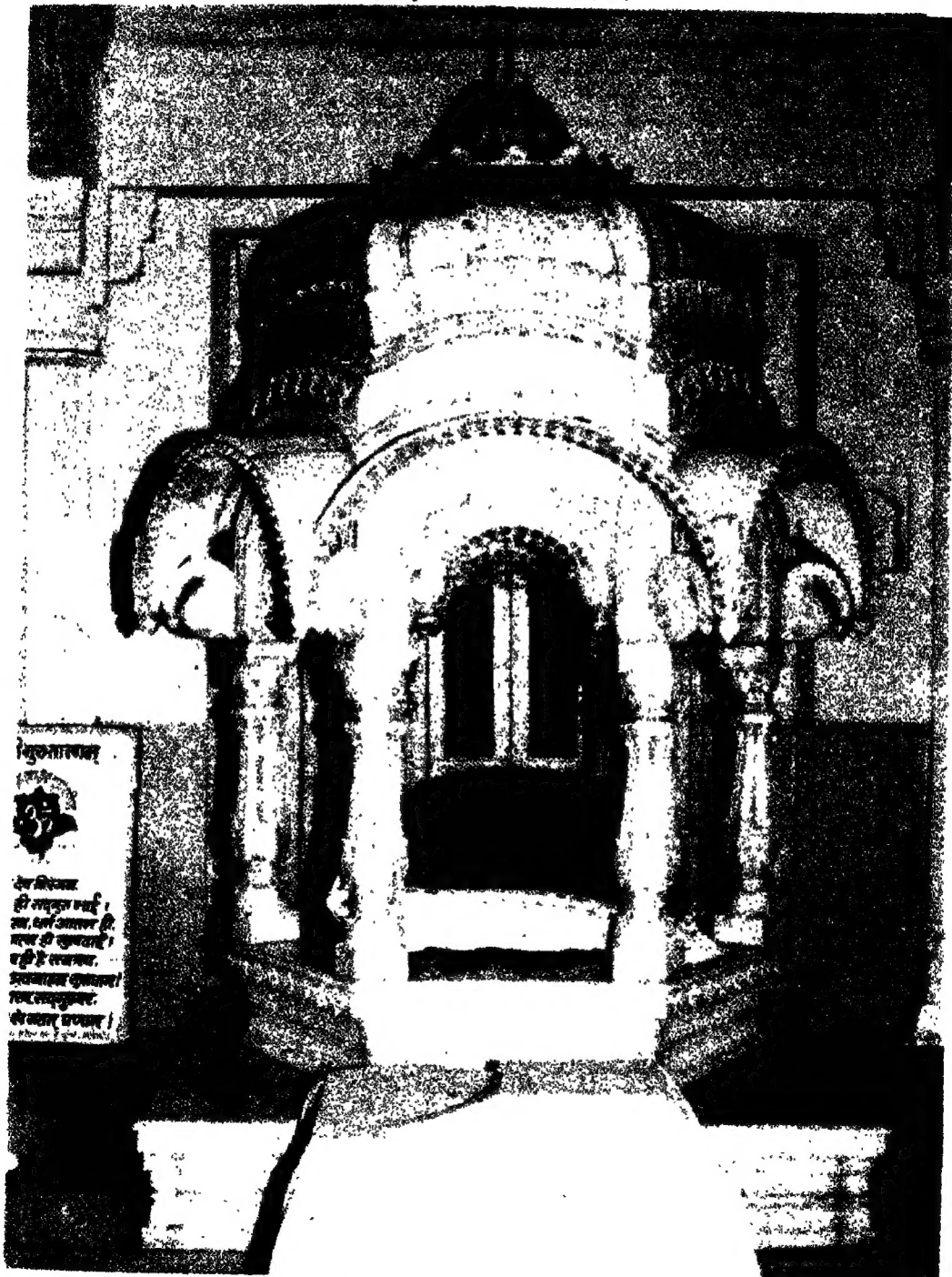
श्री १००८ निश्रेयीजी सेमरखेड़ी (जिला-विदिशा)

परम पूज्य संत प्रवर
श्री जिन तारण तरण स्वामी विरचित्

चौदह ग्रन्थ

आचार मत में	१.	तारण तरण श्रावकाचार
विचार मत में	२.	श्री मालारोहण
	३.	श्री पंडित पूजा
	४.	श्री कमल बत्तीसी
सारमत मे	५.	श्री न्यान समुच्चय सार
	६.	श्री उपदेश शुद्धसार
	७.	श्री त्रिभंगी सार
ममल मत में	८.	श्री ममल पाहुड़
	९.	श्री चौबीस ठाणा
केवल मत में	१०.	श्री छद्मस्थ वाणी
	११.	श्री खातिका विशेष
	१२.	श्री नाम माला
	१३.	श्री शून्य स्वभाव
	१४.	श्री सिद्ध स्वभाव

*

विषय - सूची

वन्दे श्री गुरु तारणम्

श्री जिन तारण तरण स्वामीजी की

समाधि -स्थली

संवत् १५०५-१५७२

श्री १००८ निश्रेयीजी मल्हारगढ़ (जिला-गुना)

भूमिका

इस श्री न्यान समुच्चयसार ग्रन्थ के सम्पादनकर्ता श्री जिन तारणतरण स्वामी जैन सिद्धांत के बड़े भारी ज्ञाता और अध्यात्म रस के प्रेमी मध्यप्रांत में हो गये हैं। इनका जन्म वि. संवत् १५०५ व समाधिमरण वि.सं. १५७२ में मल्हारगढ़ में हुआ था, जहाँ उनकी स्मृति में बड़ी विशाल शानदार श्री नसियाजी (श्री निश्रेयीजी) बनी है जो बेतवा नदी के तट से एक मील है। खास नदी तट पर उनके सामायिक करने का चबूतरा बना है तथा नदी के मध्य में भी सामायिक करने के तीन चबूतरे नजर आते हैं। एक तो बहुत ही स्पष्ट है। यह अच्छे योगाभ्यासी थे, ऐसा स्वामीजी द्वारा रचित ग्रन्थों से मालूम पड़ता है।

इस न्यान समुच्चयसार ग्रन्थ में निश्चयनय की या अध्यात्म ज्ञान की मुख्यता लिये हुए बहुत सा उपयोगी जानने लायक कथन है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकार के चारित्र के साधक धर्मात्माओं के लिये उपयोगी है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप भले प्रकार दिखा करके स्वामीजी ने इस गाथा के अनुसार त्रेपन क्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया है।

गाथा- **गुणवय तव सम पडिमा, दाणं जल गालणं च अणत्थमियं।**
दंसण णाणं चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया॥

अर्थात्- आठ मूलगुण + बारह व्रत + बारह तप + समताभाव + ग्यारह प्रतिमा + चार दान + जल गालना + रात्रि को न खाना + सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीन रत्नत्रय ऐसी त्रेपन क्रियाएं श्रावकों की कही गई हैं।

इस ग्रंथ में आठ मूलगुण, चार दान, तीन रत्नत्रय, जल गालन, रात्रि भोजन निषेध, समताभाव, इन अठारह क्रियाओं का पालन एक अविरत सम्यग्दृष्टि के लिये भी उपयोगी जानकर उनका पहले विस्तार से कथन करके बारह व्रत, बारह तप और ग्यारह प्रतिमा का कथन आध्यात्मिक ढंग से पढ़ने योग्य किया है।

दिगम्बर साधु किस तरह बहिरंग व अंतरंग परिग्रह के त्यागी होते हैं, इसका बड़ा ही मनोहर कथन लगभग १०० गाथाओं में पढ़ने योग्य किया है। चौदह गुणस्थानों का कथन भी ऐसे सरल ढंग से किया है कि हर एक पाठक समझ जावेगा।

बावन अक्षरों पर गाथाएँ लिखकर अच्छा अध्यात्म विवेचन किया है। छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थों का कथन एक निराले ही आध्यात्मिक विवेचन के साथ किया है। चार प्रकार का ध्यान विस्तार से समझाया है। पाँच प्रकार के सम्यग्दर्शन तथा पाँच प्रकार के आचार का कथन करके ग्रंथ को समाप्त किया है। हमको इस ग्रन्थ को विचारते हुए व टीका लिखते हुए जो आनन्द प्रतिभासा इसका हम वर्णन नहीं कर सकते हैं। हमको विश्वास है कि तत्वप्रेमी पाठकगण इसे ध्यानपूर्वक आद्योपांत पढ़कर हमारी सम्मति के साथ अवश्य सहमत हो जायेंगे।

हम पाठकों को नमूने के तौर पर कुछ गाथाओं का संग्रह यहाँ इसलिये देते हैं जिससे उनको निश्चय हो जावेगा कि इस ग्रन्थ के कर्ता जैन सिद्धांतों के कितने मर्मी थे। इस ग्रन्थ में सर्व कथन दिगम्बर जैन आचार्यों के कथनानुकूल है। कोई बात इसकी ऋषिप्रणीत ग्रंथों के प्रतिकूल नहीं मिली तथा विद्वान ग्रंथकर्ता ने जगह-जगह कहा है कि श्री जिन आगम के अनुसार ही कहता हूँ।

सम्यग्दर्शनं के संवेगादि आठ लक्षणों को कहते हुए निर्वेद का स्वरूप कहा है-

निव्वेओ निद्दंदो, नि:लोहो निव्वियार निकलेसो।
सुद्ध सहावेसु रदो सम्मत्त गुनं जानि निव्वेओ॥२२३॥

भावार्थ- निर्वेद गुण निश्चय से वेद रहित है, द्वन्द्व रहित है, लोभ रहित है, विकार रहित है, क्लेश रहित है, शुद्ध आत्मा के स्वभाव में रमणरूप है, ऐसे सम्यग्दर्शन के निर्वेद गुण को जानो।

अनुकम्पा गुण को निश्चय नय से इस तरह कहा है-

दर्सति शुद्ध तत्वं, अप्प परमप्प गुने हि दर्सति।
अप्पा परमप्पानं, अनुकम्पा लहंति निव्वानं ॥२३९॥

भावार्थ- यह निश्चय अनुकम्पा शुद्ध आत्मतत्त्व को देखने वाली है। आत्मा को परमात्मा के गुणों के समान देखने वाली है। आत्मा का परमात्मारूप अनुभव ही निर्वाण को प्राप्त करा देता है। आत्मा की रक्षा यही अनुकम्पा है।

सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं-

दंसन दिट्ठि स दिट्ठं, कम्म मल दोस मिच्छ संगलियं।
गलियं कुज्ञान रागं, जं तिमिरं दिनकरं तेजं ॥२५४॥
दंसन दिट्ठि स दिट्ठं विहडै कम्मान मिच्छ सुह असुहं।
विहडै मानकसायं, जं सीहं दिट्ठि गयदं जूहेन ॥२५५॥

भावार्थ- जब सम्यग्दर्शन की दृष्टि पैदा हो जाती है तब कर्ममल के दोष से उत्पन्न मिथ्यात्वभाव बिलकुल गल जाता है। मिथ्या ज्ञान व राग भी गल जाता है। जैसे अन्धकार सूर्य के तेज से भाग जाता है। सम्यग्दर्शन की दृष्टि जब पैदा हो जाती है तब कर्मों के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्व सम्बन्धी शुभ या अशुभ भाव दूर भाग जाता है। मान कषाय भी चला जाता है। जैसे सिंह को देखते ही हाथियों के झुन्ड भाग जाते हैं।

रात्रि भोजन त्याग में अच्छा कहा है-

राय आहार विजुत्तो, ज्ञान आहारिनो य संजुत्तो।
अनस्तमितं बे घड़ियं, निश्चय व्यवहार संजदो सुद्धो ॥२९४॥

भावार्थ- दो घड़ी दिन रहते भोजन करना रात्रि आहार का त्याग है, यह व्यवहार संयम है। ज्ञान के अनुभव में लीन रहना निश्चय आहार त्याग व्रत है। अर्थात् रात्रि को भोजन सम्बन्धी भावों को त्याग कर रात्रि भोजन के त्यागी को आत्मज्ञान का आहार ध्यान स्वाध्याय करना चाहिये।

अस्तेय व्रत को निश्चय नय से कहा है-

स्तेयं पद रहियं, जिन उत्तंपि लोपनं जाने।
अन्नेयं व्रत धारी, स्तेयं स सहाव रहिए न ॥३५०॥

भावार्थ- अपने आत्मिक पद से छूट कर पर पद में जाना चोरी है, जिनेन्द्र कथित वचनों का लोप करना भी चोरी जानो। अनेक व्रतों को धारने वाला है, परन्तु जो अपने स्वभाव में लीन नहीं है तो वह चोरी सहित अचौर्य व्रत रहित है।

अप्प सरूवं दिट्ठं, अप्पा परमप्प ज्ञान स सरूवं।
रागादि विषय विरयं, संसुद्धं चेयना रूवं ॥३५४॥

भावार्थ- जिसने अपने आत्मा के स्वरूप को देख लिया है कि मेरा आत्मा परमात्मा के समान पूर्ण ज्ञान स्वरूप है, रागादि व विषयों से विरक्त है, परम शुद्ध चेतनामयी है, वही निश्चय से अचौर्यव्रतधारी है। क्योंकि पर भाव को अपनाता नहीं है।

दिगम्बर मुनि पाँच तरह के वस्त्रों से रहित होते हैं। उसके चर्मज, रोमज वस्त्र त्याग को निश्चय से बहुत उत्तम बताया है।

चरनं सुभाव तिक्तं, चौ गय संसार सरनि नेय कालंमि।
विषय वसन संचरनं, चर्मज चेल तिक्तंति स सहावं ॥३९७॥

भावार्थ- आत्म स्वभाव से रमन रूप भाव को छोड़कर आचरण पालना, अनंत काल चार गति मय संसार में भ्रमण कराने वाला है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में व जुआँ आदि व्यसनों में आचरण करना ऐसे चर्मज वस्त्र को साधुजन अपने स्वभाव में लीन होकर त्याग देते हैं।

रुचियं कुज्ञान मइओ, रुचियं मिथ्यात विषय सद्भावं।
रुचियं पुग्गल रुवं, रोमज तिक्तंति चेयना भावं ॥३९९॥

भावार्थ- मिथ्याज्ञान स्वरूप की रुचि करना मिथ्यात्व व इन्द्रियों के विषयों की रुचि करना तथा पुद्गल के स्वभाव की रुचि करना ऐसे रोमज स्वभाव को अपने चेतना के शुद्ध भाव में रमण करके साधुजन छोड़ देते हैं।

ए पंच चेल उत्तं, तिक्तं मन वयन काय सद्भावं।
विज्ञान ज्ञान सुद्धं, चेलं तिक्तंति निव्वुए जंति ॥४००॥

भावार्थ- इस तरह पाँच तरह के वस्त्र कहे गए हैं, उनको छोड़कर जो साधु मन, वचन, काय सम्बन्धी सर्व वस्त्र को त्याग देते हैं। अर्थात् मन, वचन, काय की क्रियाओं को त्याग देते हैं, वे साधु शुद्ध विज्ञानमयी आत्मज्ञान में लीन होकर निर्वाण को जाते हैं।

साधु सिंहासन परिग्रह के त्यागी होते हैं, ऐसा निश्चय से कहा है-

सिंहासनं स उत्तं, चौ गई संसार आसनं सहसा।
बन्धं चौबिहि उत्तं, ज्ञान सहावेन आसनं मुक्कं ॥४३३॥

भावार्थ- वास्तव में वही सिंहासन कहा गया है, जो यह आत्मा अपने सिद्ध स्वभावमयी आसन को छोड़कर सहसा चार गति रूपी संसार के आसनों को प्राप्त करता रहता है तथा चार प्रकार कर्म बन्ध को भी सिंहासन कहा गया है। निर्ग्रंथों ने अपने आत्मज्ञान के स्वभाव में थिर होकर इन सर्व आसनों का मोह त्याग दिया है। यही सिंहासन त्याग है।

मान परिग्रह पर बहुत ही बढ़िया लिखा है—

मानं पुग्गल रूवं, गलंति पूरयंति भाव सद्भावं।
मानं अनृत रूवं, ज्ञान सहावेन मान तिक्तं च ॥४६५॥

भावार्थ- यह मान कषाय पुद्गल के समान है। जैसे पुद्गल पूरन गलन स्वभाव है वैसे यह मान है। कभी बढ़ता है, कभी अपमान से घट जाता है। संसार के क्षणिक मिथ्या पदार्थों का मान मिथ्या है। साधुजन अपने ज्ञान स्वभाव में ठहरकर मान को ही त्याग देते हैं।

निश्चय से अनर्थदण्ड व्रत का कैसा बढ़िया स्वरूप ध्यानी साधु में घटाया है-

अज्ञान अर्थ न दिट्ठदि, ज्ञान सहावेन भव्व उवसंतो।
कीला अप्प सहावं, अप्पा परमप्पओ हवई ॥४८४॥

भावार्थ- मिथ्या ज्ञान सहित पदार्थ ही अनर्थ है, जहाँ उसका श्रद्धान न हो किंतु सम्यग्ज्ञानमय आत्म स्वभाव के द्वारा सत्य स्वरूप में शांति प्राप्त की जावे, अर्थात् अपने आत्मा के स्वभाव में आपको कील दिया जावे जिससे आत्मा परमात्मा हो सके, यही अनर्थ दंडव्रत महाव्रत है।

अनशन तप में कितनी सुन्दर गाथा कही है—

विरइय संसार सुभावं, विरइय मिच्छात दोस परिनामं।
रहयं सुद्ध सहावं, ज्ञान सहावेन अनसनं शुद्धं ॥५०६॥

भावार्थ- संसार के स्वभाव से विरक्त होकर तथा मिथ्यात्व के सदोषभाव से विरक्त होकर ज्ञानमई स्वभाव के द्वारा अपने शुद्ध स्वभाव में रच जाना या रम जाना सो शुद्ध अनशन तप है।

रस परित्याग तप में कहा है-

रसियंमिथ्यात मइयं, रसियं संसार सरनि वासंमि।
कुज्ञानं रसियानं, ज्ञान सहावेन सयल तिक्तं च॥५१६॥

भावार्थ- मिथ्यात्वमयी रसिकपने को, संसार भ्रमण के वास के रसिकपने को व मिथ्याज्ञान के रसिकपने को आत्मज्ञान के स्वभाव में ठहर कर छोड़ना, रस परित्याग तप है।

विविक्त शय्यासन तप में कहा है-

विविक्त आसन सेज्जा, पुग्गल जीवान विविक्तं सुद्धं।
पुग्गल सरनि विमुक्कं, अप्पा अप्पेन दंसनं सुद्धं॥५२०॥

भावार्थ- सर्व परद्रव्य सम्बन्धी आसन व शय्या को त्याग देना, पुद्गल से शुद्ध जीव को भिन्न समझना, पौद्गलिक मार्ग को त्याग देना, आत्मा को आत्मा के द्वारा शुद्ध देखना या अनुभवना विविक्त शय्यासन तप है।

जिह्वा स्वाद संयम में बहुत अच्छा कहा है-

असुद्धं न चवंतो, रागादि दोस असत्य विरयंमि।
इन्द्री विरय अतींद्री, अतींद्री ज्ञान स्वाद स सहावं॥५७८॥

भावार्थ- अशुद्ध वचन न बोलना, रागादि दोष व मिथ्या आलाप से विरक्त रहना, इन्द्रिय रहित अतीन्द्रिय आत्मा पर लक्ष्य देकर अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वाद संयम है।

मनोगुप्ति को कहा है-

मनगुत्ती उवएसं, मन असुहं च असुद्ध परवेसं।
मन परिने तिक्तं च, मन सुद्धप्पा प्रवेस मिलियं च॥६०४॥

भावार्थ- मनगुप्ति का उपदेश यह है कि वह अशुद्ध मन जो अशुद्ध पौद्गलिक भावों में प्रवेश करता है उसकी इस अशुद्ध परिणति को त्यागकर शुद्धात्मा में प्रवेश कराकर उसी में मिला देना मनोगुप्ति है।

आदान निक्षेपण समिति को कैसा अच्छा कहा है-

आदानं निक्षेपं, आद सहावेन दंसए सुद्धं।
निक्खवइ कम्म तिविहं, आद सहावेन सयल दोष निक्षेपं॥६२४॥

भावार्थ- आदान निक्षेप का भाव यह है कि आदान का अर्थ है कि आत्मा के स्वभाव को ग्रहण कर उसे शुद्ध अनुभवना। निक्षेप के अर्थ हैं कि तीन प्रकार द्रव्य, भाव व नोकर्म को क्षय करना। इसलिये आत्मा के स्वभाव में ठहर कर सर्व रागादि दोषों को हटाना आदान निक्षेपण समिति है।

श्री अरहंत के आहार निहार नहीं होता है-

बाहि जर दोष रहिओ, आहार निहार विवज्जिओ सुद्धो।
ज्ञान आहार संजुत्तो, ज्ञानेन ज्ञान अप्प परमप्पा॥६४८॥

भावार्थ- अरहंत भगवान बाहर जरा के दोष से रहित हैं। आहार व निहार से रहित शुद्ध हैं। ज्ञान रूपी आहार के करने वाले हैं। ज्ञान के द्वारा वे ज्ञान को अनुभव कर रहे हैं। उनका आत्मा परमात्मा है।

इससे प्रगट है कि श्री तारणतरण स्वामी का श्रद्धान दिगम्बर आम्नाय के अनुकूल था। सासादन गुणस्थान का स्वरूप कैसा यथार्थ लिखा है-

अप्पा परु पिच्छंतो, संसय रूवेन भावना जुत्तो।
अंतराल व्रतीओ, न भुवनि न सिहरि वै संतो ॥६६६॥

भावार्थ- आत्मा व पर को जानता हुआ जो संशय सहित भावना में युक्त हो जाता है, वह सम्यक्त से गिरकर मिथ्यात्व में आता हुआ अंतराल का व्रती है। न तो वह भुवन पर है न तो वह शिखर पर है-बीच में है। यह सासादन गुणस्थान है।

सयोग केवली जिन तेरहवें गुणस्थान का स्वरूप है-

सजोग केवलिनो, आहार निहार विवज्जओ सुद्धो।
केवलज्ञान उवन्नो, अरहंतो केवली सुद्धो ॥७०१॥

भावार्थ- सयोग केवली भगवान आहार व निहार दोनों से रहित शुद्ध वीतराग होते हैं। जिनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है, वे ही शुद्धोपयोगी अरहंत केवली हैं। जीव द्रव्य के गुणों को कहते हुए कैसी बढ़िया गाथा कही है-

दव्वं दव्व सहावं, जीव दव्वं ति लोय ससुद्धं।
छह गुन निवास सुद्धं, दोगन अनाइ एक संजुत्तं ॥८०७॥

भावार्थ- द्रव्य, द्रवण या परिणमन स्वभाव है। जीव द्रव्य तीन लोक में शुद्ध पदार्थ है। छः गुणों को (अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, चेतनत्व, अमूर्तत्व) रखने वाला शुद्ध पदार्थ है। इनमें से दो गुण विशेष हैं- चेतनत्व व अमूर्तत्व। संग्रहनय से जीव में एक जीवत्व गुण है। स्थावर जीव में छः सामान्य गुण हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व। दो विशेष गुण हैं- चेतनत्व, अमूर्तत्व।

आर्त ध्यान में आरति शुद्ध कहकर बढ़िया गाथा कही है-

आरति अप्प सहावं, अप्पा परमप्प निम्मलं भावं।
आरति ज्ञान अवयासं, ज्ञान सहावेन निव्वए जंती ॥८३८॥

भावार्थ- आत्मा के स्वभाव में आ कहिये सर्व ओर से रति का करना, आत्मा को परमात्मा रूप निर्मल भावों से अनुभवना, आत्मज्ञान के भीतर भले प्रकार लीन हो जाना, इस ज्ञान स्वभावी आत्मध्यान के द्वारा भव्य जीव निर्वाण प्राप्त करते हैं।

एक विशेष बात इस ग्रन्थ में यह पाई गई कि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र जम्बूद्वीप प्रमाण है। देखें गाथा ६३३ जबकि गोम्मटसार की ४५४ गाथा में उत्कृष्ट क्षेत्र सात-आठ योजन ही बताया है। यह विशेषता किस ग्रन्थ के आधार से है, इसकी खोज करने की जरूरत है।

इस ग्रंथ में १९० तक संस्कृत मिश्रित भाषा है जबकि १९२ से अंत तक प्राकृत गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ का उल्था करते समय हमारे पास सात लिखित प्रतियाँ थीं-

(१) ललितपुर की प्रति- लिखित सं० १६७४ वर्ष श्रावण वदी १३ शनिवार- "शास्त्र लालमती पठनार्थ लिख्यतं।"

नोट- इससे सिद्ध है कि किसी लालमती विदुषी महिला के पढ़ने के लिये लिखा गया।

(२) ललितपुर की प्रति-लिखित संवत् १६८० । "सोलहसै ऐसीआ वर्ष फागुण वदी नौमी शास्त्र लिख्यतं ।"

(३) इटारसी की प्रति-लिखित संवत् १८६८ । "इति श्री न्यान समुच्चयसार ग्रंथ जिन तारनतरन विरचितं समउत्पंनिता । ग्रन्थ प्रापतिर्भवति जिन तारनतरन विरचित सुद्ध समिकद्रिष्टी सार्धनं करोति कार्य सिध्यं भवति कथंभूतं-देव, गुरु धर्म विनैके शास्त्र सार्धनं करोति विनै करोति जोर नमो नमः । मासोत्तम मासे पौष मासे कृष्ण पक्षे तिथि पंचम्यां भृगुवासरे संवत् १८६८ प्रवर्तमान्ये श्रीसूर्य दक्षणायने हिमंतुरितौ लिखितं जमुनालाल ब्रह्मामन पठनार्थी लक्ष्छीराम महाजन शुभ संपूर्ण ।

(४) मल्हारगढ़ की प्रति-लिखित संवत् १८६५ ।

(५) मल्हारगढ़ की प्रति-लिखित आधुनिक संवत् नहीं ।

(६) मल्हारगढ़ की प्रति-लिखित आधुनिक संवत् नहीं ।

(७) सागर की प्रति-लिखित आधुनिक संवत् नहीं ।

इसमें से पहली दो प्रतियां बहुत शुद्ध पाई गईं । इस उल्था में उन्हीं के अनुसार मूल पाठ दिया गया है । श्री जिन तारणतरण स्वामी के मूल वाक्य इनमें पाये जाते हैं । इटारसी की प्रति भी विचार पूर्वक लिखी गई है । उससे भी अच्छी मदद मिली । शेष चार प्रतियों से भी शब्द की शंका होने पर मदद मिली है । जिन जिनवाणी भक्तों ने इन प्रतियों को देने की कृपा की है, वे धन्यवाद के पात्र हैं ।

श्री श्रावकाचार का उल्था करने के पीछे उक्त त्यागी की आत्मभक्ति व सिद्धांत ज्ञान देखकर मेरे यह भाव हुए कि मैं इनके दूसरे ग्रंथों का भी उल्था करके जगत के कल्याण हेतु प्रकाश कराऊँ । क्योंकि ग्रंथकर्ता ग्रन्थ इसलिए रचते हैं कि जगत के प्राणी उसको पढ़कर सत्यज्ञान का लाभ प्राप्त करें । श्री जिन तारणतरण स्वामी के ज्ञान का लाभ सर्व साधारण को हो जावे इसी भाव से प्रेरित हो एक दिन मल्हारगढ़ में बेतवा नदी के मध्य में नौका पर बैठे हुए सेठ मन्नूलालजी-आगासोद व भाई गुलाबचंदजी ललितपुर को उपदेश किया कि ग्रन्थ प्रकाश के लिये दान करके लक्ष्मी को सफल बनाना चाहिये । हर्ष है कि मेरे उपदेश को ग्रहण कर व भाई गुलाबचंदजी की प्रेरणा से उक्त सेठ साहब ने दो हजार रुपये का दान इस हेतु दिया । तब भाई मथुराप्रसादजी बजाज सागर की सलाह भी मिलाकर श्री ज्ञान (न्यान) समुच्चयसार ग्रन्थ का उल्था करके प्रकाश करना निश्चित हुआ । इन तीनों जिनवाणी भक्तों की असीम प्रेरणा से व इटारसी वाले भाइयों के आश्रय देने से इटारसी वाले भाइयों की रक्षा में रहकर इस ग्रन्थ का उल्था पूर्ण किया है । जितना जितना मैं ग्रन्थ का उल्था करता हुआ आगे बढ़ता जाता था, उतना उतना मेरा प्रेम ग्रन्थकर्ता से बढ़ता जाता था । श्री जिन तारणतरण स्वामी के गुणों में अनुराग ने ही मेरे भावों में ऐसी शक्ति उत्पन्न की, जिससे मैं उक्त स्वामी के भाव को समझकर भाषा में भावार्थ लिख सका । इसमें मेरा कोई कृत्य नहीं है । परम विद्वान उक्त स्वामीजी का ही यह प्रताप है । बुद्धिपूर्वक मैंने बहुत सम्हाल कर टीका की है । यदि अज्ञान व प्रमाद से कोई भूल हो गई हो तो सज्जनों से प्रार्थना है कि वे मुझे अल्पज्ञ जानकर क्षमा प्रदान करेंगे तथा उसको शोध लेंगे व मुझे सूचित करके सम्मति मिलाकर द्वितीय बार के प्रकाशन में शुद्ध कर देंगे ।

इटारसी (सी.पी.)
दिगम्बर जैन चैत्यालय
आसोज, सुदी ६ सोमवार वीर सं. २४५९ ता० २५-९-१९३३

सर्व जिनवाणी भक्तों का दास
ब्रह्मचारी सीतल

वन्दे श्री गुरु तारणम्

श्री जिन तारण तरण स्वामीजी की

विहार-स्थली

श्री १००८ निश्रेयीजी सूखा (जिला-दमोह)

द्वितीय आवृत्ति का निवेदन..............

॥ ॐ ॥

"वन्दे श्री गुरु तारणम्"

श्रमण संस्कृति में भगवान महावीर की आचार्य परम्परा के अन्तर्गत श्री कुन्द-कुन्दाचार्य, श्री समंत भद्राचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री आचार्य योगीन्दु देव, श्री उमा-स्वामी आदि-आदि प्रभृति आचार्यों एवं जिनवाणी के आराध्यों की श्रृंखला में श्रीमद् जिन तारणतरण स्वामी भी १६वीं शताब्दी में मध्यप्रदेश की बुन्देलखंड भूमि पर जन्मे थे।

यह युग लोधी सल्तनत का युग था और उस समय देश में भीषण अराजकता, अशांति, हिंसा का तांडव नृत्य तथा धर्म के नाम पर पाखंड एवं क्रियाकांड का बोलबाला था। श्री जिन तारणतरण स्वामी ने तत्कालीन परिस्थितियों में आत्मोन्नति और धर्म के उत्थान के लिए जिनवाणी की आराधना के द्वारा तत्वज्ञान के अभ्यास पर विशेष बल दिया तथा जिनवाणी की उपासना को ही मुख्य आधार बनाया। यह एक बहुत बड़ा क्रांतिकारी कदम था।

सांसारिक क्रियाकलापों से दूर रहते हुए एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ध्यान में रखते हुए, एक दूरदर्शी विचारक होने के नाते उन्होंने धर्म एवं संस्कृति की रक्षा हेतु तत्व के प्रचार पर ही विशेष बल दिया। वे धर्मोपदेशक तो थे ही, साथ ही आत्मा में रमण करने वाले युग पुरुष भी थे। वे धर्म, समाज एवं संस्कृति के उन्नायक, प्रेरणास्त्रोत, विचारक, "स्वपर कल्याणकर्ता" संत और आध्यात्मिक क्रांतिकारी महापुरुष थे।

श्री जिन तारणतरण स्वामी ने १४ आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना की थी- श्री पंडित पूजा, श्री माला रोहण, श्री कमल बत्तीसी, श्री श्रावकाचार, श्री ज्ञान (न्यान) समुच्चयसार, श्री उपदेश शुद्धसार, श्री ममलपाहुड, श्री सिद्ध स्वभाव, श्री शून्य स्वभाव, श्री छद्मस्थवाणी, श्री खातिका विशेष, श्री त्रिभंगीसार, श्री चौबीस ठाना, श्री नाममाला।

ये सभी ग्रन्थ तत्कालीन भाषा शैली [संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी आदि मिश्रित शैली] में लिखे गये हैं। ये सभी ग्रंथ अध्यात्म के प्रेरक, जैनागम के प्रतीक तथा निश्चय एवं व्यवहार के कथन को लिए हुए हैं।

उपरोक्त १४ ग्रंथों में से ९ ग्रंथों, श्री ज्ञान (न्यान) समुच्चयसार, श्री उपदेश शुद्धसार, श्री ममलपाहुड, (भाग १, २, ३,) श्री पंडित पूजा, श्री माला रोहण, श्री कमल बत्तीसी, श्री श्रावकाचार, श्री चौबीस ठाना, श्री त्रिभंगीसार की भाषा टीकायें जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान मनीषी, क्रांतिकारी युग पुरुष, धर्म दिवाकर, परम श्रद्धेय स्व. ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जी ने सन् १९३५ के करीब सागर चातुर्मास के प्रवास काल में आरम्भ करके एक के बाद एक इस तरह ९ ग्रन्थों पर सरल सुबोध भाषा में टीकायें करके एवं आध्यात्मिक ज्ञान का रहस्योद्घाटन करके और इन ग्रंथों को बोधगम्य करके संपूर्ण जैन समाज पर एक महान उपकार किया है। ये सभी ग्रन्थ प्रचलित हिन्दी भाषा में प्रकाशित भी किये गये थे।

श्रद्धेय धर्म दिवाकर पू. ब्र. स्व. सीतलप्रसाद जी का आभार हम किन शब्दों में व्यक्त करें। करीबन गत ५० वर्ष हुए जब वे चातुर्मास के समय सागर पधारे थे उस समय श्रीमंत समाज भूषण स्व. सेठ भगवानदास जी शोभालाल जी, स्व. श्रीमान् मथुराप्रसाद जी बैशाखिया एवं श्री तारणतरण जैन समाज सागर के गणमान्य व्यक्तियों ने श्री जिन तारण स्वामी के हस्तलिखित ग्रन्थों पर प्रवचन करने हेतु आत्म निवेदन किया।

और जब उन्होंने इन आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, अवलोकन, स्वाध्याय और प्रवचन किये तो वे आत्म विभोर हो उठे, उनके आनंद की सीमा नहीं रही। फलस्वरूप वे हमारी समाज के अनुग्रह को भी नहीं टाल सके और उन्होंने भाषा टीकाओं के कार्य को आरंभ किया, जिसके अन्तर्गत ९ ग्रंथ रत्नों की टीका करके उन्होंने अपनी धार्मिकता, दार्शनिकता, आध्यात्मिक अभिरुचि, विद्वता एवं महानता का दिग्दर्शन करा दिया। ऐसे दिव्य पुरुष सदैव स्मरणीय एवं वंदनीय रहेंगे।

जैन धर्म में "वीतराग देव शास्त्र गुरु" की मान्यता है। जैनागम की जो बात पूर्वाचार्यों ने कही थी- वही बात समय के अंतराल में श्री जिन तारणतरण स्वामी ने भी कही थी, जिसकी प्रामाणिकता उनके ग्रन्थों में निहित है। वे आध्यात्मिक संत थे, उन्होंने किसी तरह की कोई बैर विरोध की बात नहीं कही, वरन् वे सदैव आत्महित की बात पर ही बल दिया करते थे। वे एक धार्मिक क्रांतिकारी महात्मा थे। जिन्होंने देश के संक्रमण काल में धर्म संरक्षण एवं संवर्धन दोनों दिशाओं में एक महत्वपूर्ण कार्य किया था, वह उनका महान कार्य था।

श्री जिन तारणतरण स्वामी ने जैन सिद्धांत के चारों अनुयोगों का गंभीर अध्ययन किया था, उनकी शैली को देखने से ऐसा लगता है कि उन पर बारहवीं शताब्दी के आचार्य योगीन्दु देव का प्रभाव था।

श्रद्धेय पू. ब्र. स्व. सीतलप्रसाद जी की टीकाओं के बाद धर्म दिवाकर पू. ब्र. गुलाबचंद जी महाराज, श्रद्धेय समाजरत्न पू .ब्र. जयसागर जी महाराज, वयोवृद्ध पंडित सेठ चम्पालाल जी जैन [सोहागपुर होशंगाबाद] तथा कविभूषण श्रीमान् स्व. अमृतलाल जी "चंचल" (गाडरवारा म. प्र.) ने भी श्री जिन तारणतरण स्वामी के ग्रन्थों की टीकायें एवं गद्य रचनाओं व पद्यानुवाद के रूप में करके साहित्य की अभिवृद्धि की और निरंतर ही संत श्री तारण स्वामी के ग्रन्थों के प्रकाशन एवं संशोधन आदि का सतत् क्रम जारी है।

श्री निश्रेयी जी (निसई जी) तीर्थ क्षेत्र [मल्हारगढ़, गुना म. प्र.] में मूल गाथाओं का संशोधन पाठ किया गया। इस अवसर पर श्रद्धेय पू. ब्र. ज्ञानानंद जी महाराज, पू. ब्र. बसंत जी आदि आदि त्यागी वृन्दों का भी समागम एवं सत्संग हुआ। श्रद्धेय पू. ब्र. गुलाबचंद जी महाराज गत ५० वर्षों से श्री गुरु महाराज की वाणी की समृद्धि, तत्वप्रचार और साहित्य के प्रचार- प्रसार में सतत् प्रयत्नशील हैं। उनकी सद्कृपा और तन्मयता तथा श्रम का फल है कि श्री अध्यात्मवाणी जी ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था। पुनः अभी ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य भी श्री निसई जी क्षेत्र पर चल रहा है। ग्रंथों के प्रकाशन में स्व. दानवीर सेठ मन्नूलाल जी आगासोद, स्व. श्रीमंत सेठ कुन्दनलाल जी हजारीलाल जी हैदरगढ़ (विदिशा) तथा श्रीमंत समाजभूषण स्व. सेठ भगवानदास जी शोभालाल जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन श्रीमंत बंधुद्वय की गत ५० वर्षों की समाज सेवाएँ सदैव सराहनीय एवं स्मरणीय रहेगी। समाज के समुन्नत विकास एवं प्रगति का अध्याय भी इनसे जुड़ा हुआ है।

सन् १९६५ में जब निसई जी तीर्थ क्षेत्र (मल्हारगढ़, गुना म. प्र.) में इनके द्वारा मेला महोत्सव एवं तिलक प्रतिष्ठा का आयोजन हुआ था, उस समय जैन जगत के आध्यात्मिक प्रवक्ता संत प्रवर श्री कानजी स्वामी एवं अध्यात्मवेत्ता आदरणीय पं. बाबूभाई जी मेहता आदि विद्वानों सहित [५-६ सौ मुमुक्षुओं के साथ] ससंघ वहाँ इनकी ही प्रबल प्रेरणा के फलस्वरूप पहुँचे थे तथा वहाँ पर ४ दिनों तक आध्यात्मिक अमृत प्रवचन भी हुये थे।

सागर में आयोजित जैन शिक्षण प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर भी पूज्य कानजी स्वामी इन्हीं युगल बंधुओं के अनुग्रह पर पधारे थे। श्रीमंत बन्धुद्वय ने वि. सं. २०२१ में सोनगढ़ में श्रद्धेय पू. कानजी स्वामी के समक्ष समाज के गणमान्य व्यक्तियों सहित श्री जिन तारण स्वामी के ग्रन्थों को रखकर उनके ऊपर प्रवचन करने की भावना व्यक्त की तो स्वामी जी आत्म विभोर हो उठे और ग्रन्थों का अवलोकन कर बोले, सेठ ! इन आध्यात्मिक ग्रन्थों को और इन अमूल्य रत्नों को अभी तक कहाँ छिपाये रखे थे, इनमें तो आचार्य कुन्द कुन्दाचार्य के ग्रन्थों जैसा अध्यात्म अमृत भरा पड़ा है। इन ग्रन्थों पर पुनः वि.सं. २०२८ में भी प्रवचन हुये। इस तरह से २५ प्रवचनों का संकलन "अष्ट प्रवचन" के रूप में श्रीमंत सेठ साहब युगल बंधुओं ने प्रकाशित कराया।

जैन जगत के मूर्धन्य विद्वान प्रवचनकार, संपादक, लेखन एवं दार्शनिक डॉ. हुकमचंद जी शास्त्री भारिल्ल, जयपुर ग्रीष्मकालीन शिक्षण प्रशिक्षण शिविर के समय गत ५ वर्ष पूर्व जब सागर पधारे थे तब श्रद्धेय दाजी [स्व. श्रीमंत समाज भूषण सेठ भगवानदासजी] की प्रबल प्रेरणा के वशीभूत होकर श्री ज्ञान (न्यान) समुच्चयसार ग्रंथ पर प्रवचन किये थे। जिसका प्रकाशन भी "गागर में सागर" के रूप में सर्वप्रथम जनवरी १९८५ में हुआ था, तब से अभी तक इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीमद् जिन तारण स्वामी के ग्रन्थों की निरंतर माँग बढ़ती जा रही है और उनका अभाव विगत कुछ वर्षों से खटक रहा है, जिसकी प्रकाशन की प्रेरणा (श्रद्धेय दाजी स्व. श्रीमंत समाजभूषण सेठ भगवानदास जी) और समाज के वयोवृद्ध समाजसेवी व्यक्तित्व श्रीमान् दमरुलाल जी जैन (मंत्री अ.भा.ता.त. तीर्थ क्षेत्र सभा) की ओर से की जा रही है, जिसके फलस्वरूप ट्रस्ट कमेटी (श्री देव तारण तरण जैन चैत्यालय ट्रस्ट) सागर ने ग्रंथों के प्रकाशन का दायित्व संभाला और सर्वप्रथम श्री ज्ञान (न्यान) समुच्चयसार जी ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का कार्य संपन्न हुआ। "ज्ञान (न्यान) समुच्चय सार" का मतलब है- संपूर्ण ज्ञान का सार। द्वादशांग वाणी में जो आत्म हितकारी बात कही गई है, वही बात श्री जिन तारण स्वामी ने ज्ञान (न्यान) समुच्चयसार ग्रन्थ में समाहित की है।

ग्रंथ प्रकाशन के समय प्रूफ रीडिंग का कार्य जो श्रम पूर्वक, उत्साह, लगन एवं निष्ठा के साथ श्री पं. राजकुमार जी सराफ, श्री पं. सुरेशचंद जी शास्त्री, श्री पं. नन्हेलाल जी शास्त्री एवं भाई कुसुमकांतजी ने जो विलक्षण सूझ-बूझ के साथ किया है, उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। श्री भोलानाथ जी पुरोहित, प्रोप्रायटर जन-जन पुकार प्रेस, सागर वालों ने कलात्मक ढंग से सुन्दर छपाई एवं सफाई के साथ समय पर मुद्रण कार्य करके इस ग्रन्थ को जो साकार रूप दिया है उसके लिए ट्रस्ट कमेटी उन्हें हृदय से धन्यवाद देती है और कार्यकुशलता की भूरि-भूरि प्रशंसा करती है।

पयूर्षण पर्व
विक्रम संवत्- २०४५
सन् १९८८

हुकमचंद जैन
अध्यक्ष
श्री तारण तरण चैत्यालय ट्रस्ट कमेटी
सागर (म.प्र.)

तृतीय संस्करण का निवेदन ....

धर्म प्रेमी बन्धुओं,

श्री जिन तारण तरण स्वामी ने सोलहवीं शताब्दि में भारत की जैन समाज में व्याप्त शिथिलाचार एवं धार्मिक अनाचरण के निवारण हेतु व्यापक धर्म प्रचार किया। भट्टारकों द्वारा धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड को प्रमुखता देने के कारण जैनधर्म के अध्यात्मवाद का प्रचार प्रसार अत्यंत क्षीर्ण हो गया था, ऐसे समय में श्री जिन तारण तरण स्वामी ने जैन धर्म का गंभीर मनन, चिन्तन एवं अध्ययन कर धर्म के सच्चे स्वरूप को समझाया। प्राचीन धर्मशास्त्र प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण सामान्य श्रावकजन को अध्ययन, पठन, पाठन में कठिनाई होती थी, इसलिये स्वामीजी ने धर्म, आत्मा, भक्ति आदि की विशद् व्याख्या उस समय प्रचलित भाषा एवं बोली में जन-जन के कल्याण हेतु अपने चौदह ग्रंथों में अनुबद्ध की।

श्री जिन तारण तरण स्वामीजी ने जैन दर्शन की अध्यात्म शैली को पाँच मतों में चौदह ग्रंथों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी, इनका उल्लेख इस ग्रंथ के प्रारम्भ में ही किया गया है। आचार मत, विचार मत, सारमत, ममल मत एवं केवल मत मे से प्रारंभिक चार मतों के ९ ग्रंथों की भाषा-टीका का महान कार्य श्रद्धेय ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जी ने अथक परिश्रम एवं श्रद्धा से किया क्योंकि ग्रंथों की भाषा एवं शैली से पूर्ण परिचित न होने के कारण पूर्व के अनेक विद्वानो ने इस कार्य को करने का साहस नहीं किया था।

प्रस्तुत ग्रंथ श्री न्यान (ज्ञान) समुच्चय सार की भाषा टीका ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जी ने सन् १९३३ में अपने इटारसी वर्षावास में लिखी थी। इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण आगासोद (बीना) निवासी दानवीर सेठ मन्नूलाल जी ने सूरत से मुद्रित करवाया था। द्वितीय संस्करण सन् १९८८ में श्री दिगम्बर जैन तारण तरण समाज सागर द्वारा प्रकाशित कराया गया। इस ग्रंथ के दूसरे संस्करण की प्रतियाँ भी अब समाप्त हो गई हैं तथा धर्म प्रेमी बन्धुओं द्वारा इस ग्रंथ की और प्रतियाँ उपलब्ध कराये जाने का आग्रह किया जा रहा है अतएव श्री दिगम्बर जैन तारण तरण समाज सागर द्वारा इसे पुनः मुद्रित किया जा रहा है।

विगत दो संस्करणों में असावधानीवश जो त्रुटियाँ रह गई थीं उन्हें कोशिश करके इस संस्करण में दूर करने का प्रयास किया गया है। प्रेस का प्रूफरीडिंग का कार्य दुष्कर होता है और इस कार्य को बड़े परिश्रण से पं. कपूरचन्द्रजी 'भायजी', श्री गोकलचन्द्रजी 'मस्त', श्री दिनेश कुमारजी एडव्होकेट, श्री सेठ राजकुमारजी सराफ, पं. कुसुमकांतजी, पं. नन्हेभाईजी, पं. वीरेन्द्रकुमारजी एवं पं. त्रिलोकचन्द्रजी ने किया है। इनके प्रयासों के बावजूद भी यदि कोई त्रुटि रह जाती है तो हम क्षमाप्रार्थी हैं। इस ग्रंथ के प्रकाशन मे श्री बंशीलालजी मेड़तिया इन्दौर ने व्यक्तिगत रुचि लेकर सहयोग दिया है और अपने ही संस्थान 'मेसर्स कमल प्रकाशन' इन्दौर से प्रकाशन का कार्य सम्पन्न कराया हैं। ग्रंथ के सुन्दर एवं शुद्ध मुद्रण के लिये श्री मेड़तियाजी एवं उनके संस्थान को धन्यवाद देते हुए उनकी प्रशंसा करते हैं।

सागर
१-६-१९९६

प्रेमचन्द्र जैन (बीड़ी वाले)
अध्यक्ष

श्री दिगम्बर जैन तारण तरण चैत्यालय सागर

॥ देव को नमस्कार ॥

तत्वं च नंदआनंदमउ चेयानंद सहाव।
परम तत्व पदविन्द मउ नमियो सिद्ध सहाव॥

॥ गुरु को नमस्कार ॥

गुरु उवएसिउ गुप्त रूइ गुपतज्ञान सहकार।
तारण तरण समर्थ मुनि भव संसार निवार॥

॥ धर्म को नमस्कार ॥

धर्म जु ओतो जिनवरहिं अर्थति अर्थ संजोय।
भय विनास भव्य जु मुणहु ममल न्यान परलोय॥
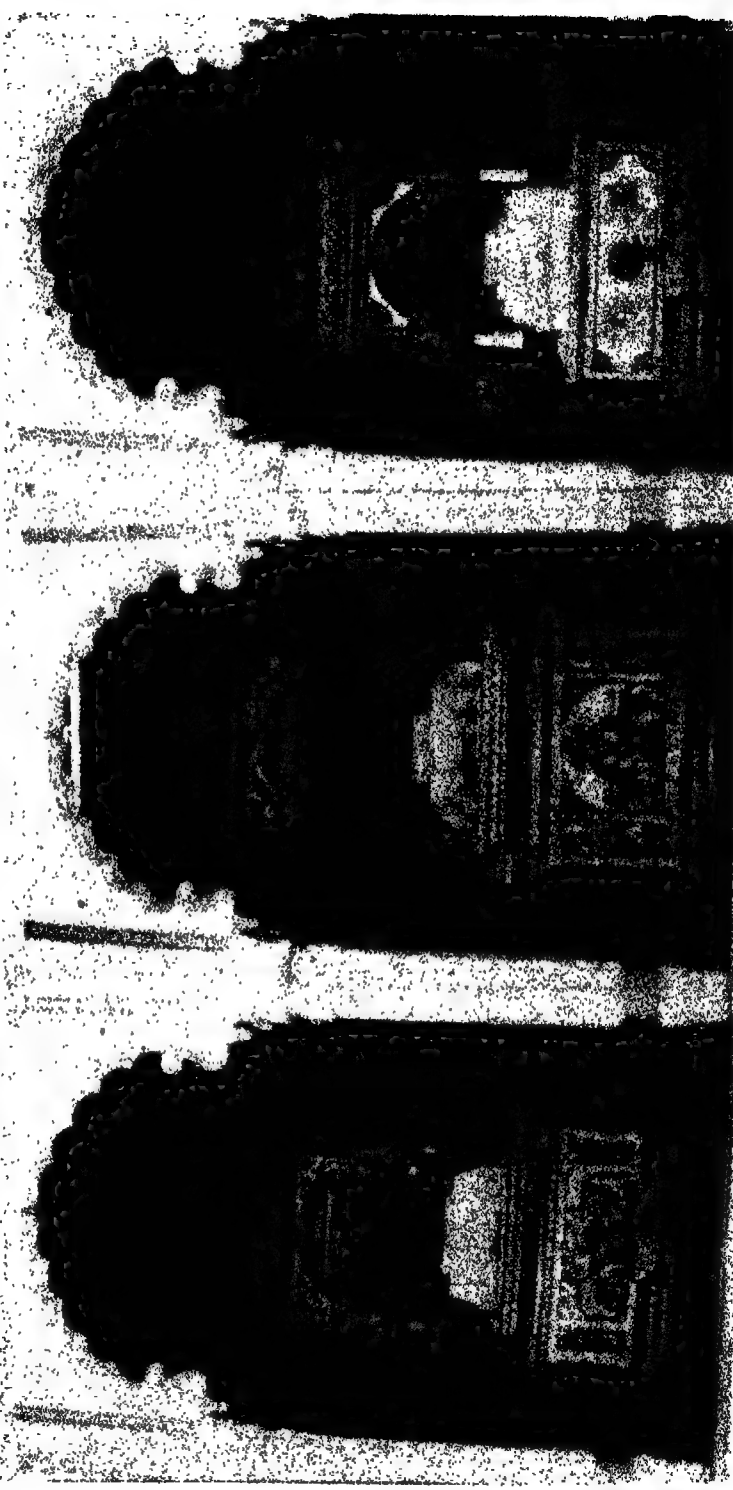
ॐ नमः सिद्धं

श्री तारणतरण स्वामी विरचित

श्री न्यानसमुच्चय सार

मंगलाचरण

(दोहा)

बंदहुं श्री अरहंत पद, सिद्ध ध्यान में लाय। आचारज उवझाय मुनि, नमहुं स्व मस्तक नाय॥
ऋषभदेव से वीर तक, चौबीसों जिनराय। परमातम मंगल करन, नमहुं चित्त उमगाय॥
परमागम जिनराज का, धर्म प्रकाशन हार। भवदधि तारण पोत सम, नमहुं पाप हर्तार॥
गौतम गणधर आदि गुरु, भए पंचमे काल। तिनके पद अरविन्द को, नाऊं मैं निज भाल॥
कुंदकुंद आचार्य को, उमास्वामि श्रुतनाथ। पूज्यपाद आदिक गुरु, नमहुं नाय निज मांथ॥

अथ श्री जिन तारणतरण स्वामी विरचित न्यानसमुच्चय सार की देश भाषामय वचनिका सर्व साधारण के हित हेतु लिखी जाती है।

मंगलाचरण

परमानंद परं जोतिः, चिदानंद जिनात्मनं।
सुयं रूपं समं सुधं, विन्दस्थाने नमस्कृतं॥ १॥

अन्वयार्थ– (परमानंद) उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनंद के धारी (परं जोतिः) उत्कृष्ट ज्ञानरूपी प्रकाश के स्वामी (चिदानंद जिनात्मनं) चैतन्यमयी, आनंदमयी व कर्म शत्रुओं के जीतने वाले (सुयं रूपं) शुद्ध स्वरूप के धारी (समं सुधं) परमागम से सिद्ध अथवा जिन्होंने अपने आत्मा को सिद्ध कर लिया है (विन्द - स्थाने) ॐ बिंदु के स्थान पर विराजित ऐसे सिद्ध को (नमस्कृतं) नमस्कार करता हूं।

भावार्थ– इस श्लोक में शुद्ध आत्मा को या सिद्ध भगवान को नमस्कार किया गया है। जो अनंत ज्ञान व अनंत सुख के धारी व सर्व कर्मकलंक रहित हैं।

ॐ नमः ऊर्ध सुद्धं च, परमिस्टी च संजुतं।
ति अर्थं सुद्ध सुयं रूपं, पदविंदं च संस्थितं॥ २॥

अन्वयार्थ– (पदविंदं च संस्थितं) पद व बिंदु में विराजित ऐसे (ॐ) ॐ को (नमः) नमस्कार करता हूं (ऊर्ध सुद्धं च) जो परम शुद्ध एकाक्षरी मंत्र है। (परमिस्टी च संजुतं) जिसमें पाँचों परमेष्ठी गर्भित हैं (ति अर्थं) जो परमेष्ठी तीन रत्नमयी पदार्थ हैं (सुद्ध सुयं रूपं) वे स्वयं ही अपने स्वभाव में स्थित हैं।

भावार्थ- इसमें ॐ मंत्र को स्मरण करके अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परम पद के धारी परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। ॐ शब्द पाँच प्रथम अक्षरों से बना है। अरहंत का प्रथम अक्षर अ, सिद्ध या अशरीर का प्रथम अक्षर अ, आचार्य का प्रथम अक्षर आ, उपाध्याय का प्रथम अक्षर उ, साधु या मुनि का प्रथम अक्षर म् इस तरह अ +अ +आ +उ +म् मिलकर ओम् या ॐ बन जाता है। यह मंत्र परम शुद्ध है, क्योंकि यह मंत्र इस लोक में प्रसिद्ध पाँच परम शुद्ध पदों का प्रकाशक है। सर्व ही भव्य जीव इन्द्रादिकों से वंदनीक इन पाँच पदों को नमस्कार करते हैं। ये पाँचों पदवी धारक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों से शोभायमान हैं। तथा इन्होंने स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से अपना-अपना स्वभाव प्राप्त किया है। सब ही अपने आत्मिक स्वभाव में तल्लीन हैं।

न्यानं च सुद्ध सद्भावं, दर्सनं भुवनत्रयं।
सहजानन्द सुयं रूपं, विंद संजुक्त सास्वतं॥ ३॥
ममात्मा परमं सुद्धं, अमूर्तं अमलं धुवं।
विंद स्थानेन तिस्टंति, नमामिहं सिद्धं धुवं॥ ४॥

अन्वयार्थ- (सुद्ध सद्भावं च न्यानं) जो शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान सहित है (दर्सनं भुवनत्रयं) जिस ज्ञान से तीन लोक को देख लिया है (सहजानन्द सुयं रूपं) जो स्वाभाविक आनंदमयी निज स्वभाव है (सास्वतं) तथा जो नित्य रहने वाला है (विंद संजुक्त) ॐ पद में बिंदु से प्रगट है (ममात्मा) ऐसा निश्चय नय से मेरा आत्मा है (परमं सुद्धं) जो परम शुद्ध है (अमूर्तं) वर्णादि मूर्ति से रहित है (अमलं) राग द्वेषादि व कर्म मल से शून्य है (धुवं) जो निश्चित स्वरूप है (सिद्धं धुवं) व जो सदा ही आनंदमय है (विंद स्थानेन तिस्टंति) जो ॐ में बिंदु के समान हमारे ही शरीर में विराजित है उसे (अहं नमामि) मैं तारण स्वामी नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ- यहाँ श्री तारणतरण स्वामी ने अपने ही आत्मा पर ध्यान लगाया है तथा उसको सिद्ध भगवान के समान अनुभव किया है। निश्चय नय से अर्थात् वस्तु के असली स्वरूप की अपेक्षा देखा जावे तो यही आत्मा जो इस शरीर में व्यापक है, सिद्ध के समान परम शुद्ध है इसी में सर्वज्ञपना है, इसी में परमानंद है। यही पुद्गलमयी सर्व गुणों से रहित अमूर्तिक है, इसमें कोई कर्मकलंक नहीं है न इसमें रागद्वेषादि है। यह अजर-अमर अविनाशी है। इसका स्वभाव कभी मिटा नहीं, न कभी नाश हो सकता है। व्यवहार नय से देखें तो यह आत्मा कर्म सहित व शरीर सहित अशुद्ध दीखता है। परन्तु सर्व कर्म के संबंध से रहित इसका स्वरूप विचार करें तो यह बिलकुल शुद्ध सिद्ध भगवान के समान दीखता है। सिद्ध के स्वरूप को जानने का उपाय यही है जो हम अपने आत्मा को समझ जावे। इसलिये श्री तारणतरण स्वामी ने अपने ही आत्मा को सिद्ध सम शुद्ध अनुभव करके नमस्कार किया है। ऐसा करके स्वामी ने अपने भाव को निर्मल करके संसार से अपना वैराग्य झलकाया है व शुद्ध रूप से प्रेम प्रकाश किया है।

नमामि सततं भक्तं, सिद्धचक्रं सिद्धं धुवं।
केवल दिस्टि सुभावं च, नमामिहं धुव सास्वतं ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ– (सिद्धं) आनन्दमयी (धुवं) अविनाशी (सिद्धचक्रं) सिद्ध समूह को (भक्तं) भक्ति पूर्वक (सततं) सदा (नमामि) नमस्कार करता हूँ (केवल दिस्टि सुभावं च) जिनके स्वभाव को प्रत्यक्ष केवली भगवान ने देखा है (धुव सास्वतं) निश्चय स्वरूप अविनाशी ऐसे सिद्ध समूह को (नमामिहं) मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ– यहाँ श्लोक में दो बार नमस्कार शब्द देकर के श्री तारण स्वामी ने अपनी गाढ़ भक्ति सर्व सिद्धों में प्रगट की है। अनंत आत्माएँ सिद्ध पद में विराजमान हैं वे सर्व ही अविनाशी हैं निश्चल हैं, परमानंदमयी हैं। हम लोग अनुमान ज्ञान से व परमागम की श्रद्धा से अपने आत्मा के स्वरूप के समान सिद्धों को जान करके नमन करते हैं। परन्तु केवली अरहंत भगवान ने उनके स्वरूप को प्रत्यक्ष अपने ज्ञान में देखा है।

रिसहादि वीरनाथं च, भक्तिपूर्वं नमस्कृतं।
केवल दिस्टि समं उक्तं, सार्धं च भव्यलोकयं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ– (रिसहादि वीरनाथं च) श्री ऋषभदेव को आदि लेकर श्री महावीर पर्यंत चौबीस वर्तमान काल के तीर्थंकरों को (भक्तिपूर्वं नमस्कृतं) भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ। ये सब अरहंत (केवल दिस्टि) केवलज्ञान दर्शन के रखने वाले हैं (भव्यलोकयं सार्धं च) भव्य जीवों के लिए प्रयोजनवान परमोपकारी हैं (समं उक्तं) ये सब गुणों में बराबर कहे गये हैं।

भावार्थ– जब कोई तीर्थंकर धर्मरूपी तीर्थ का प्रचार करते हैं, तब ही वह यथार्थ में तीर्थंकर कहलाते हैं। ऐसे महान धर्म प्रचारक इस भरतक्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल में चौबीस प्रसिद्ध हुए हैं। प्रथम का नाम श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम का नाम महावीर है। ये सब ही समान गुण व पदवी के धारी हैं। इससे भव्य जीवों को धर्म का उपदेश मिलता है जिससे ये मिथ्यात्व का वमन कर देते हैं और भवसागर से पार हो जाते हैं। ये सब तेरहवें गुणस्थानधारी गुणों में समान होते हैं। उनको यहां श्रद्धा सहित भक्तिपूर्वक नमस्कार किया जाता है।

न्यानसमुच्चयसारं, लोकसारं समं धुवं।
वोच्छामि जिन उक्तं च, केवलदिस्टि जिनागमं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ– (न्यानसमुच्चयसारं) सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार जिसमें है ऐसा यह न्यान समुच्चयसार नाम का ग्रन्थ है (लोकसारं) जो लोक में सार है उसको कहने वाला है (समं) समभाव को झलकाने वाला है (धुवं) यथार्थ निश्चित है (जिन उक्तं च) तथा जिन भगवान का कहा हुआ कथन है (केवलदिस्टि) केवली भगवान का देखा हुआ (जिनागमं) जिन आगम है उसको (वोच्छामि) कहूँगा।

भावार्थ– इस श्लोक में श्री तारण स्वामी ने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं इस ग्रन्थ को कहूँगा, जिसमें जिनवाणी का वही सार बताऊँगा जैसा श्री जिनेन्द्र ने देखा है, जाना है व दिव्यवाणी से कथन किया है। जो कुछ इसमें पदार्थों का स्वरूप है वह यथार्थ है, सार है व रागद्वेष को मिटाने वाला है। ऐसा कहकर ग्रन्थकर्त्ता ने यह बताया है कि मैं अपनी तरफ से कुछ नवीन बात नहीं कहूँगा। जो कुछ परम्परा परमागम में कथन चला आया है उसी का कुछ उपयोगी सार बताऊँगा।

जिनवाणी हृदयं चिंत्ते, संपूर्ण न्यान संजुतं।
किंचिन्मात्र कहंतेन, भव्य लोक प्रबोधनं॥ ८॥

अन्वयार्थ– (संपूर्ण न्यान संजुतं) पूर्ण श्रुतज्ञानमयी (जिनवाणी) जिनवाणी (हृदयं) मन में (चिन्ते) विचारने योग्य है (भव्यलोक प्रबोधनं) भव्य लोगों को समझाने के लिए (किंचिन्मात्र) कुछ ही (कहंतेन) कही जाती है।

भावार्थ– यहाँ यह बताया है कि जिनागम इतना विशाल है कि वह मन में जितना चिन्तवन किया जा सकता है, उसका कुछ अंश ही कहा जा सकता है। केवली भगवान भी जितना जानते हैं उसका अनंतवाँ भाग उनकी वाणी से प्रगट होता है। गणधर देव जितना सुनते हैं व जितनी धारणा करते हैं उसका कुछ भाग ही द्वादशांग वाणी में गूंथ सकते हैं। उस श्रुत आगम को जानकर जितना चिन्तवन में आता है, उसका कुछ ही भाग कहा जा सकता है। शब्दों में शक्ति ही अल्प है। इस कथन को करके ग्रंथकर्ता ने यह बताया है कि जो कुछ थोड़ा-सा मैं जिनवाणी को जानता भी हूँ उतना कथन नहीं कर सकता हूँ। मैंने भव्य जीवों को वस्तु स्वरूप समझाने की दृष्टि से ही कुछ कहने का उद्यम बाँधा है।

* * *

गुरु का स्वरूप

गुरुं त्रिलोक अर्थं च, ग्रंथ चेल न दिस्टते।
मय मूर्ति समं सुद्धं, ध्यानारूढ गुरुस्थिरं॥९॥

अन्वयार्थ– (गुरुं) गुरु महाराज (त्रिलोक अर्थ च ग्रंथ) तीन लोक के पदार्थों का स्वरूप ग्रंथों में गूंथने वाले होते हैं (चेल न दिस्टते) उनके वस्त्र नहीं दिखलाई पड़ते है। वे (मय मूर्ति समं) मिट्टी की मूर्ति के समान (सुद्धं) शुद्ध हैं ऐसे (ध्यानारूढ) ध्यान में आरूढ ध्यान लीन (गुरुस्थिरं) गुरु महाराज रहते हैं।

भावार्थ- यहाँ बताया है कि तीन लोक में भरे हुए छह द्रव्यों का स्वरूप शास्त्रों में गूंथने की शक्ति रखने वाले वे अचेलक दिगम्बर जैन मुनि होते हैं, जो आत्मध्यान में ऐसे लीन रहते हैं कि देखने वालों को मिट्टी की बनी निर्मल मूर्ति सम दिखते हैं परिणामों में विकार न होने से उनकी ध्यान मुद्रा परम शांत दिखती है। ऐसे ही तत्वज्ञानी गुरु जिनवाणी को मन में चिन्तवन कर सकते हैं तथा कुछ भव्य जीवों के हितार्थ कह सकते हैं।

गुरुं गगन गमनस्य, दिस्टि संपूर्न सास्वतं।
ऊर्धं च सुद्ध समं सुद्धं, रत्नत्रयं लंकृतं॥ १०॥

अन्वयार्थ- (गुरुं) गुरु महाराज (गगन गमनस्य) आकाश में रहने वाले पदार्थों को (सास्वतं) जो नित्य हैं (संपूर्न दिस्टि) पूर्णपने देखने वाले हैं (रत्नत्रयं लंकृत) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमयी रत्नत्रय से विभूषित हैं इसलिए (सुद्ध समं सुद्धं) सिद्ध भगवान के समान शुद्ध व निर्विकार हैं (ऊर्धं च) तथा उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ- यहाँ ग्रंथ करने की सामर्थ्य रखने वाले गुरु महाराज के गुण बताए हैं कि वे श्रुतज्ञान के द्वारा सर्व जीवादि नित्य पदार्थों को निश्चय व्यवहार स्वरूप भले प्रकार यथार्थ जानते हैं। वे व्यवहार व निश्चय रत्नत्रयमयी धर्म का भली प्रकार पालन करते हैं। तथा जिनका अन्तरंग ऐसा ही निर्मल है जैसे सिद्ध भगवान कर्म रहित निर्मल होते हैं। तथा वे जगत के मानवों में सबसे बड़े हैं। इसी से उनको गुरु कहते हैं। तब ही ऐसे गुरु को सर्व गृहस्थ व अन्य साधुगण बड़ी भक्ति से नमस्कार करते हैं।

जिन उक्तं च उक्तं च, मिथ्या तिक्तं त्रिभेदयं।
सुद्ध धर्मं ति अर्थं च, भव्यलोक प्रकासनं॥ ११॥

अन्वयार्थ- गुरु महाराज का (उक्तं च) कहा हुआ कथन वही है जो (जिन उक्तं च) जिनेन्द्र का कहा हुआ है (त्रिभेदयं मिथ्या तिक्तं) उसमें तीन प्रकार मिथ्या कथन नहीं है (सुद्ध धर्मं) उसमें शुद्ध आत्म धर्म का वर्णन है जो (ति अर्थं च) रत्नत्रय स्वरूप है (भव्यलोक प्रकासनं) तथा जो भव्यलोक को वस्तु स्वरूप झलकाने वाला है।

भावार्थ- सच्चा गुरु वही है जो अर्हंत भाषित कथन के अनुसार कथन करे। न तो सत् को असत् कहे, न असत् को सत् कहे, न सत्य को विपरीत कहे, जो गुण व पर्याय या द्रव्य है उसको नहीं है ऐसा नहीं कहे। तथा जो द्रव्य, गुण व पर्याय नहीं है उसको है ऐसा नहीं कहे। तथा जैसा जो द्रव्य, गुण व पर्याय है उसको वैसा ही कहे, और का और नहीं कहे।

सम्यक्ज्ञान या सच्चे ज्ञान का स्वरूप स्वामी समंतभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥ ४२॥

भावार्थ- सर्वज्ञ आगम का वही ठीक ज्ञान है जो न वस्तु को कम कहे, न अधिक कहे, न विपरीत कहे, किन्तु संदेह रहित यथार्थ कहे। गुरु महाराज शुद्ध आत्मिक स्वभाव को जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी है। इस तरह व इस चतुरता से बतलाते हैं कि भव्य जीवों के ज्ञान में प्रकाश हो जावे।

♣ ♣ ♣

चार ध्यान कथन

आरति रौद्र न दिस्टंते, धर्म सुकलं च संजुतं।
संमिक् दर्सनं सुद्धं, गुरुं त्रिलोक वंदितं॥ १२॥

अन्वयार्थ- (आरति रौद्र न दिस्टंते) गुरु महाराज में व गुरु महाराज के कथन में आर्तध्यान व रौद्रध्यान या उनका पोषण नहीं है (धर्म सुकलं च संजुतं) किन्तु उनमें या उनके कथन में धर्मध्यान व शुक्लध्यान या उनका पोषण है। उनमें या उनके कथन में (सुद्धं संमिक् दर्सनं) शुद्ध सम्यग्दर्शन या उसका पोषण है। (त्रिलोक वंदितं गुरुं) ऐसे तीन लोक से वंदने योग्य गुरु महाराज होते हैं।

भावार्थ- सच्चा गुरु वही है जो धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का अभ्यासी हो, आर्तध्यान व रौद्रध्यान से रहित हो व शुद्ध निश्चय आत्म प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन का धारी हो, ऐसे गुरु को तीन लोक के सज्जन नमस्कार करते हैं। ऐसे गुरु का कथन भी धर्म व शुक्लध्यान का तथा सम्यग्दर्शन को पुष्ट करने वाला होता है तथा आर्त व रौद्रध्यान को दूर करने वाला होता है।

ध्यान चित्त को किसी पदार्थ में एकाग्रता या लीनता को कहते हैं। उसके चार भेद हैं, दो अशुभ हैं, क्योंकि संसार के कारण हैं व दो शुभ हैं क्योंकि मोक्ष के कारण हैं। दुःखित परिणाम रखना आर्तध्यान है, दुष्टभाव रखना रौद्रध्यान है, आत्मिक स्वभाव में प्रेमालु भाव रखना धर्मध्यान है, तथा शुद्ध उपयोगमयी वीतराग भाव रखना शुक्लध्यान है। हर एक के चार भेद हैं- अनिष्ट के संयोग होने पर उसके वियोग की चिंता करना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। इष्ट के वियोग होने पर उससे मिलने की चिंता करना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। रोगादि होने पर उसकी पीड़ा से दुःखित भाव रखना पीड़ा चिंतवन आर्तध्यान है। आगामी भोगों की अभिलाषा से उनके मिलने की चिंता करना निदान आर्तध्यान है। बुद्धिमान को इन चार तरह के आर्तध्यानों से बचना योग्य है। हिंसा के करने व कराने

की व अनुमति देने की चिंता करना व हिंसा में प्रसन्नता का भाव रखना हिंसानन्दी रौद्रध्यान है। मृषा बोलने का, बुलवाने का व मृषा में अनुमति देने का भाव रखना व झूठ में आनंद मानना मृषानंदी रौद्रध्यान है। चोरी करने, कराने व अनुमति देने का भाव रखना व चोरी में प्रसन्नता मानना चौर्यानंदी रौद्रध्यान है। परिग्रह रखने, रखाने व उसकी अनुमति देने के भाव रखना व परिग्रह के होते हुए प्रसन्नता रखना परिग्रहानंदी रौद्रध्यान है। यह भी छोड़ने लायक है। जिनेन्द्र की आज्ञानुसार तत्वों का विचार करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है। अपने व दूसरों के मिथ्यात्व व रागद्वेषों के नाश का चिंतवन करना अपाय विचय धर्मध्यान है। कर्मों के विपाक का शुभ व अशुभ फल विचार करके समभाव रखना विपाक विचय धर्मध्यान है। लोक का स्वरूप व लोक में भरे हुए छह द्रव्यों का स्वरूप व आत्मा का शुद्ध स्वरूप विचारना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

ध्यान के होते हुए पूर्व अभ्यास से अबुद्धिपूर्वक एक ध्येय से दूसरे पर पलट जाना मन, वचन, काय योगों में से एक योग से दूसरे पर पलट जाना व एक शब्द के आलंबन से दूसरे शब्द के आलम्बन पर चले जाना पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान है। किसी एक ध्येय पर किसी एक योग पर किसी एक शब्द पर ही जमे रहना एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान है। योगों की चंचलता मिटकर अत्यन्त सूक्ष्म काय योग का वर्तना जहाँ हो वह सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान है। सर्व योगों की प्रवृत्ति का रुक जाना, व्युपरत क्रियानिवर्ति शुक्लध्यान है। धर्मध्यान चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान से अप्रमत्तविरत सातवें गुणस्थान तक होता है फिर आठवें से ग्यारहवें तक पहला शुक्लध्यान, बारहवें गुणस्थान में दूसरा शुक्लध्यान, तीसरा तेरहवें गुणस्थान के अन्त में, चौथा चौदहवें अयोग गुणस्थान में होता है। आर्तध्यान छठे प्रमत्तविरत तक व रौद्रध्यान पाँचवें देशविरत गुणस्थान तक ही सम्भव है। अधिकतर मिथ्यादृष्टि जीवों के ही ये दो अशुभ ध्यान होते हैं।

* * *

जिनवाणी कथन

सरस्वती ऊर्ध आर्धं च, मध्यलोक समं ध्रुवं।
संपूर्नं सुद्ध सर्वन्यं, न्यानं मूर्ति अमूर्तयं॥ १३॥

अन्वयार्थ- (सरस्वती) श्री जिनेन्द्र देव द्वारा प्रकाशित वाणी में भरा हुआ तत्वज्ञान (ऊर्ध आर्धं च मध्यलोक समं ध्रुवं) ऊर्ध्व लोक, अधोलोक तथा मध्यलोक के समान ध्रुव है या निश्चित है पुष्ट है (संपूर्नं) पूर्ण वस्तु के स्वरूप को अनेकांत स्वरूप बताने वाला है (सुद्ध) शुद्ध है, निर्विकार है व वीतराग स्वरूप है (सर्वन्यं) सर्व वस्तुओं को जानने वाला है (न्यानं मूर्ति) उसकी मूर्ति ज्ञानमय ही है (अमूर्तयं) उस ज्ञान की मूर्ति रूपी पुद्गलमयी नहीं है।

भावार्थ- अब ग्रन्थकर्ता सरस्वती व शास्त्र ज्ञान की महिमा करते हैं। अर्थात् श्रुतज्ञान का स्वरूप बताते हैं कि वह ज्ञान ऐसा दृढ़ व सदा ही रहने वाला अविनाशी है जैसा यह तीन लोकमय जगत अविनाशी है। यह सर्वज्ञ के केवलज्ञान के समान ही सर्व वस्तुओं को बताने वाला है तथा वह दोष रहित शुद्ध है और वीतरागता का पोषक है। रागद्वेषादि विकारों को मिटाने वाला है। जैसे केवलज्ञान अमूर्तिक है, ज्ञान स्वरूप है, वैसे यह श्रुतज्ञान अमूर्तिक है व ज्ञान स्वरूप है। श्रुतज्ञान भी आत्मा में ही पाया जाता है, जड़ में नहीं हो सकता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही प्रगट होता है।

सरस्वती सर्व दर्सं च, सम संपूर्न संजुतं।
लोकालोक प्रकासं च, दिनयर किरन संजुतं॥ १४॥

अन्वयार्थ- (सरस्वती) यह श्रुतज्ञान (सर्व दर्सं च) सर्व पदार्थों को देखने वाला है (सम संपूर्न संजुतं) समताभाव को पूर्णता सहित है (दिनयर किरन संजुतं लोकालोक प्रकासं च) किरणों से पूर्ण सूर्य के समान है लोक व अलोक का प्रकाश करने वाला है।

भावार्थ- श्रुतज्ञान केवलज्ञान के समान छः द्रव्यों के स्वरूप को और लोक तथा अलोक को देखने जानने वाला है। यह लोकालोक सर्व जीव पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालमय है। लोक में छहों द्रव्य हैं, अलोक में एकमात्र आकाश है। तथा जो कोई यथार्थ भाव से श्रुतज्ञान का अनुभव करते हैं उनके भीतर वीतरागता की या साम्यभाव की पूर्णता हो जाती है। श्रुतज्ञान के बल से ही ग्यारहवें व बारहवें गुणस्थान में वीतरागता की पूर्णता हो जाती है। जैसे केवलज्ञान पूर्ण सूर्य समान सदा प्रकाशक है वैसे ही यह श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानियों के भीतर पूर्ण प्रकाशित रहता है।

आप्तमीमांसा में श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं-

स्याद्‌वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षाद साक्षाच्चह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥ १०५॥
उपेक्ष फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः। पूर्वा वा ज्ञान नाशो व सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥ १०२॥

भावार्थ- सर्व ही जीवाजीवादि तत्वों के प्रकाश करने में स्याद्‌वादमय श्रुतज्ञान व केवलज्ञान दोनों ही समान प्रमाणभूत हैं। भेद इतना ही है कि श्रुतज्ञान जब परोक्ष है, इन्द्रिय व मन की सहायता से होता है, तब केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। पर की सहायता बिना शुद्ध आत्मा के ज्ञान का विकास है। यदि ऐसा न हो तो वह परिकल्पित अवस्तु ही ठहरे। सो श्रुतज्ञान कल्पित न होकर यथार्थ वस्तु स्वरूप है। केवलज्ञान का फल पूर्ण वीतरागता है। श्रुतज्ञान का फल कर्तव्य का ग्रहण व अकर्तव्य का त्याग है। सामान्य से ही सर्वज्ञान का फल अपने-अपने विषयों में अज्ञान का नाश तथा वीतरागता पैदा करना है।

उत्पन्नं जिन कंठं च, कमलासने च संस्थितं।
न्यानं पंचमयं सुद्धं, सर्वन्यं सरस्वती नमः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ- (जिन कंठं च उत्पन्नं) यह श्रुतज्ञान श्री जिनेन्द्र के मुख से प्रकाशित है (पंचमयं सुद्धं न्यानं सर्वन्यं) पाँचवें केवलज्ञान के समान यह शुद्धज्ञान है व सर्व पदार्थों को जानने वाला है (कमलासने च संस्थितं) तथा यह कमलाकार मन द्वारा प्रकाशमान होता है (सरस्वती नमः) ऐसे श्रुतज्ञान को नमस्कार हो।

भावार्थ- श्री जिनेन्द्र देव द्वारा जो दिव्यवाणी प्रकाशमान होती है, उसी को सुनकर गणधराधिदेव द्वादशांग प्रकाशते हैं। यही श्रुतज्ञान है। केवलज्ञान के समान ही निर्दोष व सर्व पदार्थ प्रकाशक ज्ञान है। यद्यपि छः द्रव्यों को यथार्थपने केवलज्ञान व श्रुतज्ञान दोनों प्रकाश करते हैं, तथापि श्रुतज्ञान सर्व पर्यायों को नहीं जान सकता है जबकि केवलज्ञान सर्व पर्यायों का ज्ञाता है। जगत में सरस्वती देवी की मूर्ति कमल पर विराजमान करते हैं, उसी अलंकार को लेकर यहाँ श्रुतज्ञानमयी सरस्वती को कमलाकार मन में स्थापित कहा है। ऐसी जिनवाणी सरस्वती को बार-बार नमस्कार हो।

देवं गुरुं श्रुतं येन, नमस्कृतं सुद्ध भावना।
संसारभयभीतस्य, तिक्तते न्यान दिस्टितं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ- (येन न्यान दिस्टितं) जिस ज्ञान दृष्टि के धारक ने (सुद्ध भावना) शुद्ध भावना से (देवं गुरुं श्रुतं) देव गुरु शास्त्र को (नमस्कृतं) नमस्कार किया है और वह (संसारभयभीतस्य) इस संसार से भयवान है सो (तिक्तते) इस संसार से छूट जाता है।

भावार्थ- संसार असार है, दुःखमय है, अतृप्तिकारी है, क्षणभंगुर है, जन्म मरण रूप है, आत्मा को पराधीन रखने वाला है, ऐसा समझकर जो इस संसार से भयभीत है और जिसने ज्ञानदृष्टि से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप समझ लिया है, वह यदि शुद्ध भावना के साथ मात्र आत्मानंद के लाभ के लिये व कर्मों के बंध से छूटने के लिये इन तीनों को नमस्कार करता है वह अवश्य इस भयानक संसार से छूट जाता है।

जिन उक्तं वयन सुद्धस्य, न्यानेन न्यान लंकृतं।
संसार सरनि मुक्तस्य, मुक्ति पंथं सुद्धं धुवं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ- (जिन उक्तं) जिनेन्द्र का कहा हुआ (वयन सुद्धस्य) निर्दोष वचन है (संसार सरनि मुक्तस्य) जो संसार के मार्ग से छुड़ाने वाला है (मुक्ति पंथं) मोक्षमार्ग बताता है जिसमें (न्यानेन न्यान लंकृतं) ज्ञान से ही ज्ञान की शोभा है और जो (धुवं) निश्चय स्वरूप (सुद्धं) आप ही है।

भावार्थ- श्री अरहंत भगवान ने जो दिव्य ध्वनि से उपदेश दिया है वह बिलकुल सत्य व दोष रहित है। उसमें सच्चा मोक्षमार्ग बताया है, जिस पर चलने से भव्यजीव अवश्य ही संसारमार्ग से छूटकर मुक्त हो जाता है, वह मार्ग निश्चय नय से आप आत्मा ही है। उसमें आत्मज्ञान के द्वारा ही अपने ज्ञानोपयोग को अलंकृत किया जाता है अर्थात् जहाँ आत्मा को परमात्मारूप भाव में अनुभव किया जावे या ज्ञान चेतनारूप अपने को परिणमाया जावे, आप आप में मग्नता प्राप्त की जावे वही निश्चय मोक्षमार्ग है। वह केवल स्वात्मानुभवरूप स्वसमय है या कारणसमयसार है।

जिन उक्तं मुक्ति मार्गस्य, कर्मं षिपति जं बुधैः।
तेनाहं सुद्ध सार्धं च, संसार मुक्तस्य कारणं॥ १८॥

अन्वयार्थ- (जिन उक्तं जं मुक्ति मार्गस्य) जिनेन्द्र के कहे हुए जिस मोक्षमार्ग पर चलकर (बुधैः) बुद्धिमान ज्ञाता पुरुषों ने (कर्मं षिपति) कर्मों को खिपाया है (तेन) उसी (संसार मुक्तस्य कारणं) संसार से मुक्त करने वाले उपाय से (अहं च) मैं भी (सुद्ध सार्धं) शुद्ध साध्य जो सिद्ध पद है उसको साधन करूँगा।

भावार्थ- यहाँ तारणतरण स्वामी कहते हैं कि मैं उसी मार्ग पर चलकर अपने साधने योग्य शुद्ध सिद्ध पद को प्राप्त करूँगा, जिस जिनोक्त निश्चय आत्मानुभवरूपी मार्ग पर चलकर अनेक महात्माओं ने कर्मों का क्षय करके निज आत्मिक पद पाया है।

* * *

मिथ्याज्ञान

अनादिकाल भ्रमणं च, कुन्यानं पस्यते वटुः।
न्यानं तत्र न दिस्टंते, कोसी उदय भास्करं॥ १९॥

अन्वयार्थ- (वटुः) यह अज्ञानी प्राणी (अनादिकाल भ्रमणं च) अनादिकाल से संसार के अंधेरे में भ्रमण कर रहा है (कुन्यानं पस्यते) इसे मिथ्याज्ञान ही दिखता है (तत्र न्यानं न दिस्टंते) वहाँ उसे सम्यग्ज्ञान नहीं दिखलाई पड़ता है जैसे (कोसी उदय भास्करं) बंद घर के भीतर सूर्य का दर्शन नहीं हो सकता है।

भावार्थ- जिसके हृदयरूपी घर में अनादिकाल से मिथ्यात्व का अंधेरा छाया हुआ है व जो इसी अंधकार में भ्रमण करते-करते उसी का अभ्यासी हो गया है उसको सदा मिथ्याज्ञान ही दिखता है अर्थात् वह सदा अशुद्ध ही पर समय रूप रागी द्वेषी आत्मा का ही अनुभव करता है। उसको इस मिथ्याज्ञान के अंधकार में सम्यग्ज्ञानमयी शुद्ध आत्मा का दर्शन उसी तरह नहीं होता है, जैसे बंद घर में सूर्य का प्रकाश नहीं होता है।

न्यानं कुन्यान जोगेन, उत्पन्नं अस्थान संजुतं।
न्यान दिस्टि न उत्पादंते, कुन्यानं रमते सदा॥ २०॥

अन्वयार्थ– (न्यानं) आत्मा का ज्ञान स्वभाव (कुन्यान जोगेन) मिथ्याज्ञान के संबंध से (अस्थान संजुतं उत्पन्नं) चंचलता सहित व विकल्प सहित या पर स्थानरूप हो रहा है (न्यान दिस्टि न उत्पादंते) वहाँ ज्ञान की दृष्टि ही नहीं पैदा होती है इसलिए (सदा कुन्यानं रमते) यह अज्ञानी सदा मिथ्याज्ञान में रमण किया करता है।

भावार्थ– मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से इस अज्ञानी संसारी जीव का ज्ञान विपरीत हो रहा है, अपने निज स्थान से गिरा हुआ है, संकल्प विकल्पमय है, चंचलता सहित है, परसमय रूप परस्थान में तन्मय हो रहा है, उसको सच्चे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं पैदा होता है। उसकी आँखें मोक्षमार्ग से बंद रहती हैं, इसलिए वह बिचारा मिथ्याज्ञान में ही रंजायमान रहा करता है। रात दिन इन्द्रियों का दास बना रहता है। परिवार में कीच के समान फंसा रहता है। भिष्टा का कीड़ा जैसे भिष्टा में रमता है, वैसे यह संसार के कामों में राजी रहता है। इन्द्रियों के भोगों को ही ग्रहण योग्य मानता है। अतीन्द्रिय सुख की गंध भी उसे नहीं सुहाती है।

न्यानं कुन्यान एकत्वं, रजनी दिनकरं जथा।
जदि रजनी उत्पादंते, दिनकरं अस्तंगता॥ २१॥

अन्वयार्थ– (न्यानं कुन्यान एकत्वं) सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान की एकता (रजनी दिनकरं जथा) रात्रि और सूर्य समान है (जदि रजनी उत्पादंते) जब रात्रि प्रगट होती है (दिनकरं अस्तंगता) सूर्य अस्त हो जाता है।

भावार्थ– सम्यग्ज्ञान जहाँ नहीं है, वहीं मिथ्याज्ञान रहता है, दोनों एक साथ नहीं रह सकते। जब रात्रि का अंधेरा होता है तब सूर्य का उदय नहीं हो सकता है, जब सूर्य का उदय होता है तब रात्रि मिट जाती है। सूर्य के उदय से जैसे जगत के पदार्थ साफ-साफ दिखने लग जाते हैं। वैसे सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से आत्मा और अनात्मा सब भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वरूप में दिखते हैं।

* * *

सम्यग्ज्ञान

जदि रजनी च संपूर्न, उत्पन्नं भानु भास्करं।
रजनी विलयं जांति, न्यानं कुन्यान विलीयते॥ २२॥

अन्वयार्थ- (जदि रजनी च संपून्नें) जब रात्रि पूरी हो जाती है (भास्करं भानु उत्पन्नं) प्रकाशमान सूर्य का उदय हो जाता है (रजनी विलयं जांति) जब रात्रि का लोप हो जाता है उसी तरह (न्यानं कुन्यान विलीयते) सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से मिथ्याज्ञान का लोप हो जाता है।

भावार्थ- रात्रि और प्रभात जैसे एक स्थान में नहीं रह सकते हैं वैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान एक स्थान में नहीं रह सकते।

न्यान दिस्टि जथाभावं, कुन्यानं तत्र न दिस्टते।
न्यानेन न्यान मयं सुधं, सुयं कुन्यान विलीयते॥ २३॥

अन्वयार्थ- (न्यान दिस्टि जथाभावं) जब सम्यग्ज्ञान की दृष्टि यथार्थ भाव में पैदा होती है (तत्र कुन्यानं न दिस्टते) तब वहाँ मिथ्याज्ञान नहीं दिखता है। (न्यानेन न्यान मयं सुधं) सम्यग्ज्ञान के ही प्रताप से ज्ञान स्वरूप आत्मा शुद्ध हो जाता है तब (सुयं कुन्यान विलीयते) अपने आप मिथ्याज्ञान का लोप हो जाता है।

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से ही मिथ्याज्ञान नहीं रहता है तथा उसी सम्यग्ज्ञान के अभ्यास से या आत्मा के ध्यान से यह आत्मा कर्म रहित शुद्ध हो जाता है।

तस्यास्ति न्यान सद्‌भावं, जिन उक्तंपि सार्धयं।
संसारभ्रमण मुक्तस्य, मुक्ति गमनं न संसयः॥ २४॥

अन्वयार्थ- (तस्य) उसी सम्यग्ज्ञानी के पास (जिन उक्तंपि सार्धयं) जिनेन्द्र के कहे हुए ही पदार्थ बोध के साथ-साथ (न्यान सद्‌भावं अस्ति) ज्ञान का प्रकाश रहता है (संसार भ्रमण मुक्तस्य) जो ज्ञान संसार के भ्रमण से छुड़ाने वाला है वह भव्य (मुक्तिगमनं न संसयः) बिना किसी संशय के मोक्ष पधार जायेगा।

भावार्थ- जो सम्यग्ज्ञानी होगा उसको अवश्य जिनवाणी का श्रद्धान व ज्ञान होगा। वह निश्चय और व्यवहारनय से वस्तु स्वभाव को अवश्य जानेगा। क्योंकि जब तक दोनों अपेक्षा से नहीं जाना जायेगा तब तक आत्मीकज्ञान का प्रकाश नहीं होगा।

श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहते हैं-

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोपि संसारः॥ ५॥
अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥ ६॥
व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुद्ध तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥ ८॥

भावार्थ- निश्चय नय यथार्थ असली स्वाभाविक स्वरूप बताता है, जबकि व्यवहार नय उसके विरुद्ध औपाधिक, अशुद्ध या भेदरूप या अवस्था विशेष रूप वस्तु को समझाता है। सर्व ही संसारी प्राणी व्यवहार के ज्ञान में तो चतुर है, परन्तु निश्चय के ज्ञान से विमुख हो रहे हैं, अपने असली स्वभाव को भूल रहे हैं। अज्ञानी को समझाने के लिए ही आचार्य व्यवहार नय से भी उपदेश करते हैं जिससे अवस्था विशेष का भी ज्ञान हो जावे। परन्तु जो कोई केवल व्यवहार को ही जान के संतोष मान ले, निश्चय को न जाने उसके लिए उपदेश सफल न होगा। जो कोई व्यवहार और निश्चय दोनों को यथार्थ जानकर पक्षपात रहित वीतराग या मध्यस्थ हो जायेगा वही शिष्य जिनेन्द्र भगवान की देशना के पूर्ण फल को पायेगा। इस तरह जो जिनेन्द्र कथित आगम को जानेगा वही पर से भिन्न आत्मीक एकाकी शुद्ध स्वभाव को ठीक-ठीक समझ सकेगा। उसी के आत्मज्ञान तथा आत्मानुभव प्रकाशित होगा। जो असार संसार के भ्रमण को मिटा देने वाला है। आत्मज्ञानी ही यथार्थ में सम्यग्ज्ञानी है और वह अवश्य मुक्त हो जायेगा।

* * *

सम्यग्दर्शन की आवश्यकता

जिन उक्तं सुद्ध संमत्तं, सार्धं, भव्यलोकयं।
तस्यास्ति गुणनिरूपं च, सुध सार्धं बुधै जनै॥ २५॥

अन्वयार्थ- (जिन उक्तं सुद्ध संमत्त) जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथन किया हुआ निर्दोष शुद्ध सम्यग्दर्शन (भव्यलोकयं सार्धं) भव्य जीवों के द्वारा साधने योग्य है (तस्य गुण निरूपं च अस्ति) उसी सम्यग्ज्ञानी के अंतरंग में गुणों के धारी आत्मा का स्वभाव झलकता है (बुधै जनै सुध सार्धं) बुद्धिमान सम्यग्ज्ञानी महात्माओं के द्वारा ही शुद्ध स्वभाव जो साधने योग्य है वह साधन किया जाता है।

भावार्थ- जिनेन्द्र के आगम का यह कथन है कि निश्चय या शुद्ध सम्यग्दर्शन जिस तरह से हो अपने भीतर प्राप्त करना चाहिए। जहाँ निश्चय सम्यक्त्व होगा, वहाँ ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का प्रकाश होगा। वहाँ अवश्य शुद्ध आत्मानुभव होगा, क्योंकि यह नियम है कि सम्यग्ज्ञानी महात्माओं ने ही शुद्ध वस्तु को साधन किया है तथा वे ही मुक्तिपथ को पा सकते हैं।

तं संमत्तं उक्तं सुद्धं, केरि संके न रुवं।
तं संमत्तं तिस्टियत्वं, कथ्यवासं वसंतं॥
उत्पन्नं कोपि स्थानं, श्रेष्ठ प्रौढ मानं प्रमानं।
तं संमत्तं कस्य क्रान्तं, कस्य दिस्टि प्रयोजनम्॥ २६॥

अन्वयार्थ- (तं संमत्त सुद्धं उक्तं) वही सम्यग्दर्शन शुद्ध कहा गया है (केरि संके न रुवं) जहाँ आत्मा के स्वरूप में शंका न की जावे (तं संमत्तं तिस्टियत्वं) उसी सम्यक्त्व में जमे रहना चाहिए

(कथ्यवासं वसंतं) किसी भी स्थान पर रहो (उत्पन्नं कोपि स्थानं) किसी भी स्थान पर यह सम्यक्त्व पैदा हो सकता है (श्रेष्ट प्रौढ मानं प्रमानं) यह सम्यक्त्व ही श्रेष्ठ है, दृढ़ है व प्रमाणरूप है (तं संमत्तं कस्य क्रान्तं) यह सम्यक्त्व किसी जीव के ही प्रकाश होता है (कस्य दिस्टि प्रयोजनं) कोई ही जीव की दृष्टि अपने अर्थ पर जाती है।

भावार्थ- इस कारिका का जो अर्थ समझ में आया सो लिखा जाता है, यदि कुछ और भाव हो तो ज्ञाता जन सुधार करें। सम्यग्दर्शन आत्मा का एक वचन अगोचर गुण है, जब यह प्रकाशित होता है तब आत्मा के स्वभाव का स्वाद या अनुभव आता है। बिना किसी शंका के जो कुछ आत्मा का द्रव्य स्वभाव है वह झलक जाता है। किसी भी स्थान पर रहना हो व किसी भी गति में जाना हो, सम्यग्दर्शन को दृढ़ता से रखना चाहिए। यह अद्भुत रत्न है। इसकी पूर्णपने रक्षा करनी चाहिए। यह सम्यक्त्व हर एक गति में व हर एक स्थान में पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव के पैदा हो सकता है। चारों ही गति में हो सकता है, कर्मभूमि, भोगभूमि, आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड सर्वत्र पैदा हो सकता है। निश्चय सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है, क्योंकि उसी के होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान व चारित्र सम्यक्चारित्र होता है। यही दृढ़ आत्मिक भाव है, यही प्रमाणभूत सत्य है। ऐसा सम्यग्दर्शन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। किसी ही निकट संसारी जीव के भीतर सम्यक्त्व प्रगट होता है, किसी ही भव्य जीव की दृष्टि आत्मा के सच्चे प्रयोजन पर जाती है। ऐसा दुर्लभ सम्यग्दर्शन रूपी रत्न जिसके प्राप्त हो जावे उसको उचित है कि उसकी भले प्रकार रक्षा करें।

तं संमत्तं सुद्ध बुद्धं तिहुवन गुरुवं, अप्प परमप्प तुल्यं।
अव्वावाह अनंतं अगुरुलघु, सुयं सहज नंद स्वरूपं॥
रूपातीतं व्यक्त रूपं विमल, गुण निहि न्यान रूपं स्वरूपं।
तं संमत्तं तिस्टियत्वं ति अर्थ समयं, संपूर्नं सास्वतं पदं॥२७॥

अन्वयार्थ- (तं संमत्त) वह सम्यग्दर्शन निश्चय से (सुद्ध बुद्ध) शुद्ध, बुद्ध स्वरूप है (तिहुवन गुरुवं) तीन लोक में श्रेष्ठ है (अप्प परमप्प तुल्यं) जहाँ अपने आत्मा को परमात्मा के बराबर (अव्वावाह) बाधा रहित (अनंतं) अनंत (अगुरुलघु सुयं) अगुरुलघु मय आप ही अर्थात् बड़े छोटे की कल्पना रहित (सहज नंद स्वरूपं) स्वाभाविक आनंद स्वरूपी (रूपातीतं) पौद्गलिक रूप से रहित अमूर्तिक (व्यक्त रूपं) तथापि अनुभव में प्रगट रूप (विमल गुणनिहि) निर्मलगुणों की निधि (न्यान रूपं सरूपं) तथाज्ञानाकार स्वभावमय अनुभव किया जाता है (तं संमत्तं तिस्टियत्वं) उसी सम्यक्त्व भाव में ठहरना चाहिए (तिअर्थसमयं) जहाँ तीन रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय आत्मा (संपूर्नं सास्वतं पदं) पूर्ण औरअविनाशी पद में विराजित झलकता है।

भावार्थ- इस कारिका में निश्चय सम्यग्दर्शन का अच्छा स्वरूप बताया है। जब किसी भव्य जीव को अपनी ही आत्मा सिद्ध परमात्मा के समान शुद्ध, बुद्ध, अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि

गुणमयी बाधा रहित, अगुरुलघु गुणमय, परम निर्विकार अमूर्तिक, सहजानंदमय अनुभव में आता है, तब ही वह निश्चय सम्यक्त्व का धनी है, ऐसा कहा जायेगा। सम्पूर्ण व सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्क्चारित्रमयी आत्मा का सदा अविनाशी स्वरूप में अनुभव ही निश्चय सम्यक्त्व है।

संमत्तं सातं दांतं, वसंति भुवनिहिं ऊड्ढगामी सहाऊ।
उत्पंन्नं नंत रूपं, ममलगुणनिहि सुयं स्यमेव तत्त्वं॥
संमत्तं स्थान सुधं, निवसंति भुवने पंचदीप्ति परस्थितं।
संमत्तं ऊर्ध ऊर्ध, कदलि पुलिनं गगन गमन सुभावं॥२८॥

अन्वयार्थ– (संमत्तं) यह सम्यग्दर्शन निश्चय से (सातं दांतं) शांतिमय है, इन्द्रिय दमनरूप (वसंति भुवनिहिं) इसी में जगत की निधि बसती है, अर्थात् जगत में सच्चा भंडार है (ऊड्ढगामी सहाऊ) ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, अर्थात् उन्नतिशील स्वभाव है (उत्पन्नं नंत रूपं) जहाँ अनंत स्वभाव - आत्मा का स्वभाव झलक जाता है (ममलगुणनिहि) निर्मल गुणों की खान है (सुयं स्वयमेव तत्त्वं) आप से आप ही जहाँ निज तत्व का अनुभव है (संमत्तं स्थान सुधं) सम्यग्दर्शन ही शुद्ध स्थान है जहाँ बैठना चाहिये (निवसंति भुवने) यहीं लोक की निधि रहती है (पंचदीप्ति परस्थितं) पाँचों परमेष्ठियों में विराजता है (संमत्तं ऊर्ध ऊर्ध) यह सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ में श्रेष्ठ है (कदलि पुलिनं) यही कमल के पत्ते पर जल बूँद के समान है (गगन गमन सुभावं) आकाश में गमन स्वभाव है। अर्थात् आकाश तुल्य निर्मल भाव में परिणमनस्वभाव है।

भावार्थ– यहाँ भी निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप अच्छा बताया है। जब सभी इन्द्रियों व मन को रोक कर आप आप में ठहर जाता है वहीं निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। तब सिद्ध समान आत्मा का अनुभव होता है। आप से आप ही आप में अपना दर्शन होता है। जिसके भीतर यह सम्यग्दर्शन रूपी रत्न विराजता है वह बड़ा भारी धनी है। वही सबसे श्रेष्ठ मानव है। वही शुद्ध आत्मा की शुद्ध परिणति में रमण करता है। सम्यग्दर्शन मानव के कमल में बूँद के समान शोभायमान है। जैसे कमल के पत्ते पर पानी की बूँद मोती के समान शोभती है, वैसे यह सम्यग्दर्शन हृदय-कमल में शोभायमान है, यह सम्यग्दर्शन आकाश समान निर्मल भाव में प्रकाशित होता है।

तं संमत्तं कलस ससिनं, सयल गुणनिहि भवन विंद प्रविंदिं।
संमत्तं क्रांति क्रान्त्यं, त्रिभुवन निलयं जोतिरूपस्य क्रांति॥
तं संमत्तं तिस्टिनत्वं, परम पयं ध्रुवं सुद्ध बुद्धं चतुस्टं।
जोयंतो जोग जुक्तं, समयं ध्रुव पदं तत्त्व विंदं सविंदं॥ २९॥

अन्वयार्थ– (तं संमत्तं कलस ससिनं) सम्यग्दर्शन चन्द्रमा के बिम्ब के समान प्रकाशित है (सयल गुणनिहि) सर्व गुणों की खान है (भवन विंद प्रविंदिं) तीन भुवन के प्राणियों से वंदनीक है (संमत्तं

क्रांति त्रिभुवन निलयं क्रान्त्यं) सम्यग्दर्शन की क्रांति या शोभा से तीन जगत का घर प्रकाशित है अर्थात् सम्यग्दर्शन की शोभा जगत व्यापी है (जोति रूपस्य क्रांति) यह सम्यग्दर्शन परम ज्योतिमय आत्मा की क्रांति है (तं संमत्तं तिस्टिनत्वं) इस सम्यग्दर्शन का अनुभव करना योग्य है (परम पयं धुवं) यही अविनाशी उत्तम पद है (सुद्ध बुद्धं चतुस्टं) जहाँ शुद्ध बुद्ध चार चतुष्टय आकर विराजते हैं सम्यग्दृष्टि ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंत वीर्य का स्वामी है (जोगजुक्तं जोयंतो) योगाभ्यास के उपाय से ही सम्यग्दर्शन अनुभव में आता है (समयं धुव पदं) यही आत्मा का निश्चय पद है (तत्त्व विंदं सविंदं) तत्त्वज्ञानियों के द्वारा स्वयं अनुभवगम्य है।

भावार्थ– यहाँ भी यही बताया है कि जहाँ शुद्ध आत्मा का तद्रूप अनुभव किया जावे वहीं निश्चय सम्यग्दर्शन है। चन्द्रमा की क्रांति की उपमा भी घटित नहीं हो सकती। यह तो एक अपूर्व आत्मा की ज्योति है। सम्यग्दृष्टि नारकी, पशु, नीच मानव भी तीन लोक में वंदनीक है। जिनके पास सम्यक्त्व है वह अवश्य अविनाशी मोक्ष पद का धनी है। वह सिद्ध के समान आत्मा का स्वाद लेता है।

संमत्तं सुद्ध गुनं सार्धं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं।
सुधात्मा सुध चिद्रूपं, सुधं संमिक्दर्सनं॥ ३० ॥

अन्वयार्थ– (संमत्तं) सम्यग्दर्शन (सुद्ध सार्धं गुनं) शुद्ध जीव पदार्थ का गुण है (सुद्ध तत्त्वं प्रकासकं) शुद्ध आत्म तत्त्व का प्रकाशक है (सुधात्मा सुध चद्रूपं) यह मानों शुद्ध आत्मा है व शुद्ध चेतना स्वभाव है (सुधं संमिक्दर्सनं) ऐसा यह शुद्ध या निश्चय सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ– शुद्ध सम्यग्दर्शन आत्मा का ही स्वभाव है- गुण है। मानों वह स्वयं शुद्ध आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा का उसी रूप श्रद्धान करना व अनुभव करना सम्यग्दर्शन है।

संमत्तं सार्धनं भव्यं सुद्ध तत्त्व समाचरेत्।
संमत्तं जस्य तिस्टंते, ति अर्थं न्यान संजुतं॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ– (भव्यं संमत्तं सार्धनं) भव्य जीव ही सम्यग्दर्शन को सिद्ध करता है (सुद्ध तत्त्व समाचरेत्) उस सम्यक्त्वी को शुद्ध आत्मीक तत्त्व का अनुभव करना योग्य है (जस्य ति अर्थं न्यान संजुतं संमत्तं तिस्टंते) उसी के रत्नत्रयमयी व ज्ञान सहित सम्यक्त्व तिष्ठता है।

भावार्थ– निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान और चारित्र भी गर्भित है। इसलिए ऐसे सम्यक्त्व को धारण करने वाला भव्य जीव ही होता है। वह अवश्य शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करता है।

संमत्तं उत्पादते भावं, देव गुरु धर्म सुद्धयं।
विन्यानं जेवि जानंते, समत्तं तस्य उच्यते॥ ३२॥

अन्वयार्थ– (संमत्तं देव गुरु धर्म सुद्धयं भावं उत्पादते) सम्यग्दर्शन शुद्ध देव गुरु धर्म में श्रद्धा उत्पन्न कर देता है (जे विन्यानं वि जानंते तस्य संमत्तं उच्यते) जो कोई भेद विज्ञान को समझता है उसी के सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन जिसके होगा वही सच्चे देव गुरु धर्म का श्रद्धावान होगा, वही अरहंत, सिद्ध परमात्मा के आत्मीक गुणों को पहचानकर उनको पूजनीय देव मानेगा, वही आत्मरमी वीतरागी परिग्रह रहित साधु को गुरु मानेगा, वही रत्नत्रय स्वरूप धर्म को धर्म मानेगा। सम्यग्दर्शन उसी के कहा जावेगा जिसके भीतर भेदविज्ञान हो, जो द्रव्य दृष्टि से जीव को पुद्‌गल के सर्व विकारों से भिन्न सिद्ध समान शुद्ध अनुभव करता हो।

देव देवाधिदेवं च, देवं त्रिलोक वंदितं।
ति अर्थं समयं सुधं, सर्वन्यं पंच दीप्तयं॥ ३३॥

अन्वयार्थ– (देव देवाधिदेवं च) सच्चा देव देवों का देव अर्थात् इन्द्रादि देवों से पूजनीक है (त्रिलोक वंदितं देवं) तीन लोक के भक्तों द्वारा वन्दनीक है (ति अर्थ समयं सुधं) वह रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध आत्मा है (सर्वन्यं पंच दीप्तयं) वही सर्वज्ञ है, पाँचवें केवलज्ञान की दीप्ति सहित है।

भावार्थ– यहाँ सच्चे देव का स्वरूप बताया है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पूर्णता सहित होता है, उसकी आत्मा कर्म कलंक रहित शुद्ध होती है; उसमें केवलज्ञान प्रकाशमान रहता है, इसलिए वह सर्वज्ञ होता है। सर्वज्ञ वीतरागी परमात्मा को ही सच्चा देव कहते हैं। अरहंत और सिद्ध में ये दोनों गुण मिलते हैं, इसलिए इन ही को देवरूप से श्रद्धा करके अन्य अल्पज्ञ रागी द्वेषी देवों की श्रद्धा को दूर करना चाहिए।

उवं ऊर्ध सद्‌भावं, परमिस्टी च संजुतं।
सर्वन्यं सुध तत्त्वं च, विंदस्थाने नमस्कृतं॥ ३४॥

अन्वयार्थ– (उवं) ॐकार मंत्र (परमिस्टी च संजुतं) पाँचों परमेष्ठी सहित है (ऊर्ध सद्‌भावं) उत्तम सत्यभाव को बताने वाला है (विंदस्थाने) इसमें जो बिंदु का स्थान है वह (नमस्कृतं) नमस्कार के योग्य (सर्वन्यं सुध तत्त्वं च) सर्वज्ञ व शुद्ध परमात्म तत्त्व का प्रकाशक है।

भावार्थ– ॐ मंत्र अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय; और साधु इन पांचों पदों को रखता है। उसके ऊपर जो बिंदु है वही सर्वज्ञ वीतराग देव को झलकाने वाला है।

परमिस्टी उत्पन्नं सुधं, सुध संमत्त संजुतं।
तस्यास्ति गुण प्रोक्तं च, न्यानं सुध समं धुवं ।। ३५ ।।

अन्वयार्थ- (परमिस्टी सुधं उत्पन्न) अरहंत, सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध भाव को पैदा कर चुके हैं (सुध संमत्त संजुतं) उनके शुद्ध सम्यग्दर्शन है (तस्य गुण अस्ति प्रोक्तं च) उन्हीं के ही यथार्थ देवपने का गुण है तथा उन्हीं के देवपना कहा भी गया है (न्यानं सुध समं धुवं) उन्हीं के समता सहित अविनाशी शुद्धज्ञान है।

भावार्थ- ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश होने से अरहंत व सिद्ध का आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत बल, शुद्ध सम्यग्दर्शन व शुद्ध चारित्र का स्वामी हो जाता है। उन्हीं के ही परम समतारूप रागद्वेष रहित शुद्ध आत्मिक ज्ञान होता है। आत्मिक गुण सर्व उन्हीं के भीतर दीप्तमान होते हैं इसी से उनको ही देव मानना योग्य है।

पय कमले कदलं कदले पुलिनं जं जानुस्थितं।
पुलिने गगनं गगने कलसं तं ऊर्धगुनं।।
कलसे ससिनं ससिने भवनं तं पर्मपदं।
परमिस्टी पदं तं पंचदितं धुव केवलि उवनं।। ३६ ।।

अन्वयार्थ- (पयकमले कदलं) जैसे जल में कमल का पत्ता है जल से स्पर्श नहीं करता है व (कदले पुलिनं) कमल के पत्ते पर जल की बूँद है व (पुलिने गगनं) जल की बूँद के भीतर आकाश है व (जानुस्थितं जं कलसं गगने) जंघा पर रखा हुआ कलश आकाश में है (कलसे ससिनं) घड़े में चन्द्रमा है (ससिने भवनं) चन्द्रमा के विमान में भवन है उसी तरह (तं ऊर्धगुनं) वह उत्कृष्ट गुण का धारी आत्मा अपने शरीर में है, शरीर में रहकर भी शरीर से भिन्न है (तं पर्मपदं) यही उत्तम पद है (परमिस्टी पदं) यही परमेष्ठी पद है (तं पंचदितं) वही पाँच परमेष्ठी पद या पाँच ज्ञान प्रकाशित हैं (धुव केवलि उवनं) वही अविनाशी है, वहीं केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

भावार्थ- यह दिखलाया है कि अपनी आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। कर्म व शरीर के भीतर व्यापक होने पर भी उसी तरह अलग है जैसे जल से कमल का पत्ता अलग है, व कमल के पत्ते से उस पर रखी जल की बूँद अलग है व जल की बूँद से आकाश अलग है जो उस बूँद में व उसके चारों तरफ है व अपनी जाँघ पर रक्खे हुए कलश से कलश आधार आकाश भिन्न है व घड़े में चन्द्रमा का बिम्ब दिखता है। परन्तु घड़े से चंद्रमा अलग है व चंद्रमा के विमान के आधार चन्द्रभवन है। परन्तु वह चन्द्र विमान से अलग है। यही अपना आत्मा ही अरहंतादि परमेष्ठी है यही केवलज्ञान का स्थान है।

उपाद्यो उपयोगं जेन, धर्म सद्भाव संजुतं।
पदविंदं ध्रुवं नित्यं, उदितं परमं पदं॥ ३७॥

अन्वयार्थ- (जेन) जिस परमात्मा ने (धर्म सद्भाव संजुतं उपयोगं उपाद्यो) धर्ममय स्वभाव सहित उपयोग को प्राप्त कर लिया है उसके (पद विंदं) बिंदू रूप पद (परमं पदं) ऐसा उत्कृष्ट पद (ध्रुवं नित्यं) जो निश्चल व अविनाशी है सो (उदितं) उदय हो गया है।

भावार्थ- स्वाभाविक आत्मीक धर्म शुद्धोपयोग है सो उस परमात्मा के भीतर बना रहता है। जगत में उत्कृष्ट पद सिद्ध पद है। जो कभी मिटता नहीं और का और होता नहीं न कभी लोप होता है तथा यही ॐ मंत्र में विदित बिंदु से झलकता है।

* * *

पाँच परमेष्ठी

अयं आत्म तत्त्वं च, तिअर्थं सुध समं ध्रुवं।
आचरणं सुध सर्वन्यं, लोकालोकेन लंकृतं॥ ३८॥

अन्वयार्थ- (अयं आत्म तत्त्वं) यही आत्मा का स्वभाव (तिअर्थं सुध समं ध्रुवं) रत्नत्रयमयी शुद्ध, समतामयी तथा ध्रुव है (सुध आचरणं) वहाँ शुद्ध चारित्र है (लोकालोकेनलंकृतं सर्वन्यं) लोक अलोक के ज्ञान से शोभित वही सर्वज्ञ है।

भावार्थ- परमात्म तत्त्व सदा शुद्ध, वीतराग कर्म बंध शून्य व लोकालोक प्रकाशक है, वही परम समतामयी भाव है, अमिट है और रत्नत्रयमयी है।

ऊर्धं आर्ध मध्यं च, साधओ सुधार्थं ध्रुवं।
पंच दीप्ति उत्पादंते, सर्वन्यं सर्व दर्सितं॥ ३९॥

अन्वयार्थ- (ऊर्धं आर्ध मध्यंच) ऊपर नीचे मध्य में सम्पूर्णपने (ध्रुवं सुधार्थं साधओ) निश्चल शुद्ध पदार्थ को साधन कर लिया है (सर्वन्यं सर्व दर्सितं पंच दीप्तं च उत्पादंते) व सर्वज्ञपना सर्वदर्शीपना अर्थात् पंचम केवलज्ञान को उत्पन्न कर लिया है।

ह्रियेकारं च स्थिरीभूतं, अर्हं सर्वन्यमुद्यमं।
लोकालोकं स्थानं च, पदविंदं केवलं ध्रुवं॥ ४०॥

अन्वयार्थ- (ह्रियकारं) ह्रीं मंत्र में २४ तीर्थंकर (स्थिरीभूतं) विराजित हैं (अर्हं) ये सब अर्हंत परमात्मा हैं (सर्वन्यमुद्यमं) सर्व प्रकार मंगल स्वरूप हैं (लोकालोकं स्थानंच) लोक अलोक जिनके ज्ञान

में स्थान पा रहा है (पदविंदं) बिंदु पद से लक्षित हैं (केवलं) केवल या असहाय हैं (धुवं) और अविनाशी हैं।

भावार्थ- २४ तीर्थंकर अर्हंत परमात्मा कर्मोंपाधि रहित, असहाय, अविनाशी पद में विराजमान है जिनकी भक्ति करने से मंगल होता है, पाप कटता है, पुण्य का बंध होता है।

सर्वन्यं सर्वदर्सी च, लोकालोक समं धुवं।
पंच स्थान मयं सुधं, विंदस्थिर सिधं धुवं॥ ४१॥

अन्वयार्थ- परमात्मा (सर्वन्यं सर्वदर्सी च) सर्व पदार्थों के ज्ञाता व सर्व पदार्थों के दृष्टा होते हैं तथा (लोकालोक समं धुवं) लोक और अलोक जैसे निश्चल हैं वैसे अपने स्वरूप में निश्चल हैं। (पंच स्थान मयं) पंचम गति मोक्ष में विराजित हैं (सुधं) रागादि व कर्मादि रहित शुद्ध हैं (विंदस्थिर सिधं धुवं) जैसे बिन्दु स्थिर है वैसा सदा थिर रहने वाले हैं।

भावार्थ- यहाँ सिद्ध परमात्मा का वर्णन है। देव नारक पशु, मानव चार गति नाशवंत हैं, जबकि पंचम गति सिद्ध गति अविनाशी है। उसमें विराजित सिद्ध परमात्मा सदा ही अपने वीतराग भाव में स्थिर रहते हैं।

परमिस्टी च संजुक्तं उवंकारं सिधं धुवं।
विंद स्थानेषु तिस्टंते अस्थिरं सास्वतं पदं॥ ४२॥

अन्वयार्थ- (उवंकारं) ॐ मंत्र में गर्भित (सिधं) भगवान (परमिस्टी च संजुक्तं) परम पद में विराजित हैं (धुवं) अविनाशी हैं (विंद स्थानेषु तिस्टंते) ॐ मंत्र में जो बिंदु है उसमें स्थापित हैं (अस्थिरं सास्वतं पदं) सिद्ध पद में भले प्रकार निश्चल और नित्य हैं।

भावार्थ- उसमें भी सिद्ध भगवान का ही स्तवन है। सिद्ध परम पद है यही सिद्ध करने योग्य है।

नन्तानंत चतुष्टं च, दर्शनं न्यान अनन्तयं।
वीर्जं नंत सुषं सुधं, नन्तानंत गुनं धुवं॥ ४३॥

अन्वयार्थ- (नन्तानंद चतुष्टं च) उन अरहंत व सिद्ध भगवान सच्चे देवों में अनंत चतुष्टय पाये जाते हैं (दर्सनं न्यान अनन्तमयं) अनंत दर्शन, अनन्त ज्ञान (वीर्जं नंत सुषं) अनंत वीर्य और अनंत सुख (सुधं नन्तानंत गुनं) और शुद्ध अनंत गुण हैं (धुवं) ये सब अविनाशी हैं।

भावार्थ- यहाँ सच्चे देव को ही बताया जा रहा है। सच्चे देव अर्हन्त व सिद्ध परमात्मा ही हैं। ज्ञानावरण कर्म के नाश से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन, अन्तराय कर्म के नाश से अनन्त वीर्य और मोहनीय कर्म के नाश से अनन्त सुख है। यद्यपि मोहनीय कर्म के नाश से

क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्र है। तथा चारों ही घातिया कर्मों के नाश से अनन्त अतीन्द्रिय सुख है तथापि मोहनीय के उदय से आत्मिक सुख का विकास मुख्यता से नहीं होने पाता है। इसलिये अनन्त सुख की प्रगटता मोहनीय के नाश से कही जाती है। इसके सिवाय उनका आत्मा परम शुद्ध हो गया है। अतएव उनके भीतर शुद्ध स्वभाव में अनन्त सुख मौजूद है, जिनको कहा नहीं जा सकता। ये सब गुण सदा ही विकास करेंगे, कभी इनका क्षय नहीं होगा।

ममात्मा ममलं सुधं, ममात्मा सुधात्मनं।
देहस्थोपि अदेही च, ममात्मा परमात्मं धुवं॥ ४४॥

अन्वयार्थ– (मम आत्मा ममलं सुधं) निश्चय नय से देखा जावे तो यह मेरा आत्मा भाव कर्म द्रव्य कर्म, नो कर्म रहित शुद्ध है (ममात्मा सुधात्मनं) मेरा आत्मा ही शुद्ध आत्मा है (देह स्थोपि अदेही च) इस देह के भीतर विराजमान है तथापि मूर्तिक देह रहित अमूर्तिक है (ममात्मा परमात्मं धुवं) यह मेरा आत्मा निश्चय से परमात्मा है।

भावार्थ– परमात्मा को पहचानने का सब से सुगम उपाय यह है कि हम अपनी आत्मा के असली स्वरूप को जाने। यदि निश्चय नय से जो मूल द्रव्य को देखने वाला है देखा जावे तो इस मेरे आत्म द्रव्य से और अरहंत व सिद्ध परमात्मा द्रव्य से कोई भी गुणों की अपेक्षा अंतर नहीं है। जैसे म्यान में तलवार रहती है वैसे इस शरीर में विराजित है। तौ भी जैसे म्यान से तलवार जुदी है वैसे ही शरीर से यह आत्मा भिन्न है। कर्मों का शरीर भी सूक्ष्म पुद्‌गलों से बना है। आत्मा जड़ नहीं है चेतन है- अमूर्तिक है इसलिये इसका सम्बन्ध जड़ से बिलकुल नहीं है। क्रोधादि विकार भी आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में प्रगट होते हैं जो कोई अर्हंत व सिद्ध होता है और अनंत गुणों का स्वामी होता है वह आत्मा ही तो है। जब पुद्‌गल कर्म का सम्बन्ध छूट जाता है तब आत्मा ही अपने असली स्वरूप में झलक जाता है वही परमात्मा या शुद्धात्मा है। इसलिये हमको उचित है कि अपने देह के भीतर ही परमात्मा देव का दर्शन करके मनन करें व उसका ध्यान करें, यही सच्चा परमात्मा का अवलोकन है। बाहरी सब उपाय इसी आत्म दर्शन के लिये ही बताये गये हैं।

त्रि अवयरं च एकत्वं, ॐ नमापि संजुतं।
नमं नमामि उत्पन्नं, नमामिहं विंद संजुतं॥ ४५॥

अन्वयार्थ– (त्रि अवयरं च एकत्वं) तीन अक्षरों को एकत्र किया जावे तो (ॐ नमापि संजुतं) ॐ नमः यह संयोग किया हुआ मंत्र बन जायेगा (नमं नमामि उत्पन्नं) नमः शब्द से नमामि लेना चाहिये (नमामिहं विंद संजुतं) मैं बिंदु सहित ॐ पद को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ– ॐ नमः मंत्र का जप व ध्यान करने से परमात्मा का ही जप व ध्यान है।

उपाध्ये गुनं प्रोक्तं च, सुध संमत्त भावना।
अंगं पूर्व जानंते, सार्धं च सुधात्मनं॥ ४६॥

अन्वयार्थ– (उपाध्ये गुनं प्रोक्तं च) उपाध्याय परमेष्ठी के पच्चीस गुण कहे गये हैं वे (सुद्धात्मनं च सार्धं अंगं पूर्व जानंते) शुद्ध आत्मा के साथ-साथ ग्यारह अंग चौदह पूर्व को जानते हैं (शुद्ध सम्यक्त भावना) उनके शुद्ध सम्यग्दर्शन की भावना रहती है।

भावार्थ– पाँच परमेष्ठी में से उपाध्याय में यह मुख्यता है कि वे साधु होकर द्वादशांगवाणी को जानते हैं उसका पठन-पाठन करते हैं तथापि निश्चय से वे शुद्ध आत्मा को पहचान कर अपने ही शरीर के भीतर अपने ही आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव करते हैं वे निश्चय सम्यग्दर्शन की भावना में तल्लीन रहते हैं।

♣ ♣ ♣

श्रुतज्ञान

अर्थांगं तिअर्थ सुधं च, सम संपूर्न सार्धयं।
सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च, अर्थं च विंजनं पदं॥ ४७॥

अन्वयार्थ– (अर्थांगं ति अर्थ सुधं च) द्वादशांग का प्रयोजन यह है कि शुद्ध रत्नत्रय को जाना जावे (सम संपूर्न सार्धयं) समय अर्थात् आत्मा को पूर्ण रूप से साधन किया जावे। अंग पूर्व का ज्ञाता (अर्थं च विंजनं पदं च सुध तत्त्वं च सार्धं) शास्त्र के शब्दों को, पदों को और उनके अर्थ को तथा निश्चय से शुद्ध आत्मा को श्रद्धान में रखता है।

भावार्थ– ११ अङ्ग १४ पूर्व के जानने का सार यह है कि हम मोक्षमार्ग को अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को व्यवहारनय तथा निश्चयनय से यथार्थ जानें और यथार्थ ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा की पूर्णता होने का साधन करें। जिस तरह वह अंग पूर्व का ज्ञाता शब्द, पद, वाक्य को व उनके भाव को यथार्थ समझता है वैसे वह शुद्धात्मा को भी समझकर अपने श्रद्धान में पक्का रखता है।

श्रुतांगं श्रुत जानाति, सास्वतं अस्तितं श्रुतं।
न्यानेन न्यानं सद्भावं, श्रूयते सास्वतं पदं॥ ४८॥

अन्वयार्थ– (श्रुतांगं श्रुत जानाति) श्रुतज्ञानमय द्वादशांग सर्व श्रुतज्ञान को जानता है (श्रुतं सास्वतं अस्तितं) जो श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा सुना गया है व जो सदा अपने अस्तित्व को रखता है (न्यानेन न्यान सद्भावं सास्वतं पदं श्रूयते) श्रुत के द्वारा अपने ज्ञान से ज्ञान स्वभावी अविनाशी मोक्षपद को या निज पद को सुना जाता है या जाना जाता है।

भावार्थ- जो कुछ अर्हंत भगवान अपनी दिव्य वाणी से उपदेश करते हैं उसी को सुनकर गणधरादि द्वादशांग श्रुत में रचते हैं। यह श्रुत या श्रुत का ज्ञान भी प्रवाह की अपेक्षा सदा से चला आया है क्योंकि सदा ही तीर्थंकर कहीं न कहीं होते रहते हैं। उनका उपदेश होता है व द्वादशांग का निर्माण होता है। सर्व शास्त्र के पढ़ने का व समझाए जाने का हेतु यह है कि हम अपने ज्ञान के द्वारा अपने शुद्धात्मा के स्वभाव को समझें और मोक्ष पद का निर्णय करके उसकी प्राप्ति का उपाय करें।

सब्दार्थं सब्द वेदंते, विंजनं पद विंदते।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, सब्द न्यान प्रयोजनं॥ ४९॥

अन्वयार्थ- (सब्द सब्दार्थं वेदंते) शब्दों से शब्दार्थ का बोध होता है (विंजनं पद विंदते) शब्दों से पद जाना जाता है (अप्पा परमप्पयं तुल्यं) आत्मा परमात्मा के बराबर है यह जानना ही (सब्द न्यान प्रयोजनं) शब्द ज्ञान का मतलब है।

भावार्थ- शब्द वे ही हैं जिनसे कुछ अर्थ निकले। उन सार्थ शब्दों को मिलाकर पद बनते हैं, पदों के समूह को शास्त्र कहते हैं। ऐसे श्रुतज्ञान के जानने का प्रयोजन वास्तव में यही है कि हम अपने आत्मा का द्रव्यदृष्टि से परमात्मा के बराबर वीतराग विज्ञानमयी अनुभव करें, उसे रागी, द्वेषी व संसारी न अनुभव करें। यही हमारा अनुभव कार्यकारी है, क्योंकि इसी के प्रताप से आत्मा कर्मों से छूटकर परमात्मा होता है।

अस्थानांग सुध स्थानं च, पंत दीप्ति निरुपनं।
न्यान पंच उत्पाद्यंते, स्थानं सर्वन्य संजुतं॥ ५०॥

अन्वयार्थ- (अस्थानांग) आठ अंग सहित (सुध स्थानं च) शुद्ध ज्ञान का अभ्यास करना (पंचदीप्ती निरुपनं) पाँच दीप्ति अर्थात् पाँच परमेष्ठी पद या पाँच ज्ञान का प्रगट करने वाला है (न्यान पंच उत्पाद्यंते) इसी से पंचम ज्ञान केवलज्ञान पैदा होता है (सर्वन्य संजुतं स्थानं) सर्वज्ञपने के साथ जो स्थान है वही ज्ञान का पूर्ण स्थान है।

भावार्थ- श्रुतज्ञान का ऊपर महात्म्य कहा है श्रुतज्ञान का अभ्यास नीचे लिखे प्रमाण आठ अंग सहित यथार्थ करना चाहिए। इसी अभ्यास के करने से पाँच दीप्ति या पाँच परमेष्ठी पद प्रगट होंगे। व इसी से ज्ञान का अंतिम स्थान केवलज्ञान प्रकाशित होगा। पाँच दीप्ति से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान भी ले सकते हैं। प्रयोजन यह है कि भाव श्रुतज्ञान आत्मानुभव स्वरूप है, यही सर्व ऋद्धि सिद्धि का कारण है व करने योग्य है।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वित मनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्॥ ३६॥ (पुरु०)

(१) ग्रन्थ का शुद्ध उच्चारण, (२) अर्थ का शुद्ध करना, (३) उभय-ग्रन्थ और अर्थ दोनों का शुद्ध पढ़ना, (४) काले-योग्य काल में शास्त्र पढ़ना, (५) विनय के साथ पढ़ना, (६) सोपधानं-धारण करते

हुए पढ़ना, (७) बहुत मान करते हुए-आदर से शास्त्र को विराजमान करके पढ़ना (८) अनिह्नव अर्थात् अपने गुरु का व अपने जाने हुए ज्ञान को न छुपाना।

वय सम अंग सुधं च, व्रतं च समय संजुतं।
उवं ह्रियं श्रियं सुधं, ध्यानारूढ समं धुवं॥ ५१॥

अन्वयार्थ– (वय सम अंग सुधं च) आयु की मर्यादा के बराबर अंग की शुद्धि होना उचित है (व्रतं च समय संजुतं) चारित्र वही शुद्ध है जो आत्मीक अनुभव सहित है या स्वसमयमयी स्वरूपाचरण सहित है (उवं ह्रियं श्रियं सुधं) ॐ, ह्रीं, श्रीं मंत्र की शुद्धि तब ही है जब (ध्यानारूढ समं धुवं) निश्चल समतारूप से ध्यान में लीन रहा जावे।

भावार्थ– मानव की शोभा यही है जो वह अपनी आयु के अनुसार अपने शरीर को रक्खे अर्थात् जब तक विद्याभ्यास करे, कुमार अवस्था रहे तब तक ब्रह्मचर्य पाले, सादे योग्य वस्त्र पहनें, अंग को शुद्ध रक्खे, युवावय में गृहस्थ होकर गृहस्थ के योग्य शरीर का आचरण करे, मर्यादा का पहनावा व बर्ताव रक्खे। वृद्धावस्था में शरीर को ब्रह्मलीन वैराग्यपूर्ण सादा रक्खे, इसी तरह व्रत या चारित्र की शुद्धि तब ही है जब आत्मा का अनुभव करता रहे। इसी तरह श्रुतज्ञान के ॐ ह्रीं श्रीं मंत्रों का जाप व ध्यान तब ही कार्यकारी है जब निश्चल आत्म-ध्यान में लीन रहे व समभाव में बरते।

विनय पदानं सुद्धं च, विन्यानं न्यान जोइते।
रत्नत्रय मयं सुध सार्धनं च, उवऐसनं धुवं॥ ५२॥

अन्वयार्थ– (विनय पदानं सुद्धं च विन्यानं न्यान जोइते) शुद्ध शब्द व पदों के विशेष ज्ञान से ज्ञान का प्रकाश होता है (रत्नत्रय मयं सुधं सार्धनं च उवऐसनं धुवं) उसी में रत्नत्रयमयी शुद्ध आत्मतल्लीनता रूप मोक्ष मार्ग का साधन है, ऐसा उपदेश किया गया है।

भावार्थ– शास्त्र में जब शुद्ध शब्द व पदों को पढ़कर ज्ञान प्राप्त किया जायेगा तब उस ज्ञान से ज्ञान का प्रकाश होगा। तब हमें मालूम होगा कि शास्त्र में यही उपदेश है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमयी आत्मा की एकता ही मोक्ष का मार्ग है।

समयं संपूर्न सार्धं च, ति अर्थं च, ऊर्धं पदं।
पंच दीप्ति च सुधं च, न्यानं चरन दर्सनं॥ ५३॥

अन्वयार्थ– (समयं संपूर्न सार्धं च) सर्व शास्त्र का सार प्रयोजन यह है कि उसमें (ति अर्थं) तीन पदार्थ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का वर्णन हो (च ऊर्धं पदं) और उत्कृष्ट पद जो सिद्ध पद उसका कथन हो (पंच दीप्ति च) पाँच दीप्ति अर्थात् पाँच परमेष्ठी या पाँच ज्ञानों का कथन हो (सुधंच न्यानं चरन दर्सनं) तथा शुद्ध या निश्चय सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र का वर्णन हो।

भावार्थ- शास्त्र का रचने का, पढ़ने-पढ़ाने का सार मतलब तब ही निकलेगा जब उससे व्यवहार नय से तथा निश्चयनय से कथन किये हुए मोक्ष मार्ग का ठीक-ठीक स्वरूप विदित हो। मुख्यता से परमात्मा के पद का बोध हो। पाँचों परमेष्ठी का स्वरूप मालूम हो। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान का भेद समझ में आवे।

अनंतानंत दिस्टं च, नन्त चतुस्टयं धुवं।
आदि अनादि सुधं च, आत्मनं परमात्मनं॥ ५४॥

अन्वयार्थ- (अनंतानंत दिस्टं च) अनंत या क्षायिक सम्यग्दर्शन (धुवं नन्त चतुस्टयं) अविनाशी व अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत बल व अनंत सुख (आदि अनादि सुधं च) और आदि या अनादि संबंध रखने वाले कर्मों की शुद्धि (आत्मनं परमात्मनं) तथा आत्मा और परमात्मा का कथन जिसमें हो, वही आगम है।

भावार्थ- आगम का प्रयोजन यही है जिससे हमें निर्मल व क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का ज्ञान हो। यह सम्यक्त्व कभी छूटता नहीं, अनन्तानन्त काल तक रहता है। जिससे हमें अनन्त चार चतुष्टय की प्राप्ति का बोध हो, जिससे हमें उन आठों कर्मों के नाश का उपाय मालूम हो, जिनका संबंध इस जीव के साथ प्रवाह या सन्तान की अपेक्षा अनादि है, किंतु संयोग या वियोग होते रहने की अपेक्षा आदि है तथा संसारी आत्मा व परमात्मा का भेद मालूम पड़े कि यद्यपि व्यवहारनय से इन दोनों में भेद है, परन्तु निश्चयनय से आत्मा तथा परमात्मा समान है।

नन्त रंग तरंग तरलं, सुधं जिन उक्त सार्धयं।
सुद्ध तत्त्वं समं सुधं, ममलं निर्मलं धुवं॥ ५५॥

अन्वयार्थ- (नन्त रंग तरलं तरगं) अनंत रंगों की तरंगों से जो आगम भरपूर है अर्थात् जिसमें नयों की या अपेक्षाओं की दृष्टि से कथन नाना प्रकार किया गया हो (सुधं) जो पूर्वा पर विरोध आदि दोषों से रहित हो वही आगम (जिन उक्त सार्धयं) जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ प्रयोजनवान है, उसी शास्त्र में (सुधं तत्त्वं समं सुधं ममलं निर्मलं धुवं) शुद्ध आत्मिक तत्त्व का कथन है जो समतारूप है सर्व प्रकार रागादि दोषों से रहित है व द्रव्य कर्म नो कर्म से शून्य है।

भावार्थ- जिन भगवान के कहे हुए आगम को स्याद्वाद इसीलिये कहते हैं कि उसमें अनन्त स्वभावधारी वस्तु का स्वरूप भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अनेक प्रकार कहा गया है। जैसे समुद्र की शोभा तरंगों से है वैसे आगम की शोभा नाना प्रकार नयों के द्वारा कथन से है। मुख्यता से उस आगम में शुद्ध आत्मीक तत्त्व दर्शाया हो जो पूर्णपने निर्मल है व निश्चल अविनाशी है।

परम समयांग सुधं च, परम तत्त्वं च सार्धयं।
तत्त्व काय पदार्थं च, दर्वं सुधं समं ध्रुवं॥ ५६॥

अन्वयार्थ– (पर समयांग सुधं च) उत्कृष्ट आत्मा यही शुद्ध द्वादशांग का सार है। द्वादशांग में (तत्त्व) सात तत्त्व (काय) पाँच अस्तिकाय (पदार्थं च) नौ पदार्थ (दर्वं) छः द्रव्य (सार्धयं च) और प्रयोजनभूत (परम तत्त्वं) उत्कृष्ट तत्त्व (सुधं समं ध्रुवं) जो शुद्ध है समतारूप है तथा अविनाशी है उनका वर्णन है।

भावार्थ– द्वादशांग वाणी में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा, मोक्ष, इन सात तत्त्वों का पुण्य-पाप मिलाकर नौ पदार्थों का जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्यों का व काल रहित पाँच अस्तिकायों का कथन है। तथा साथ ही परम शुद्ध साम्यभाव रूप अविनाशी परमात्म तत्त्व का कथन है। द्वादशांग वाणी का सार तो यही परमात्मा ही है।

श्रुतं च सुध सार्धं च अर्थांगं ऊर्धं जुतं।
ऊर्ध आर्ध मध्यं च, त्रिभुवनं विंद संजुतं॥ ५७॥

अन्वयार्थ– (श्रुतं) द्वादशांग श्रुतज्ञान (सुध सार्धं च) दोष रहित है व अर्थपूर्ण है (अर्थांगं ऊर्धं जुतं) द्वादशांग वाणी के अर्थ का एक अंग उत्कृष्ट परमात्मा है उसके साथ ही उसका वर्णन है (ऊर्ध आर्ध मध्यं च) ऊर्ध्व लोक, अधोलोक, मध्यलोक (त्रिभुवनं) ऐसे तीन लोक का स्वरूप बताने वाली है (विंद संजुतं) तथा विंद जो सिद्ध पद उस करके सहित है। अर्थात् सिद्ध भगवान को मुख्यता से झलकाने वाली है।

भावार्थ– द्वादशांग के मुख्य वक्ता सर्वज्ञ वीतराग भगवान हैं। अतएव उस वाणी के कथन में कोई दोष नहीं है व सर्व ही कथन सार्थक हैं निरर्थक नहीं हैं। तीन लोक के सर्व पदार्थों को कथन करने वाली है, मुख्यता से परमात्म तत्त्व को बताने वाली है।

अंग पूर्वं जानाति, भावनं सुद्ध भावना।
सुधात्म चेतनं नामं, सुधं सार्धं, सदा बुधैः॥ ५८॥

अन्वयार्थ– (सदा बुधैः) सदा ही विद्वान लोग (अंगं पूर्वं जानाति) ग्यारह अंग चौदह पूर्व को जानते हुए (सुद्ध भावना भावनं) शुद्ध भावनाओं को विचारते रहते हैं (सुधात्म चेतनं नामं सुधं सार्धं) साथ में चैतन्य स्वरूप अविनाशी शुद्ध पदार्थ शुद्धात्मा की भावना अवश्य करते हैं।

भावार्थ– द्वादशांग वाणी का ज्ञान प्राप्त करके विद्वानों को योग्य है कि संसार देह भोगों से वैराग्य की वृद्धि के लिये वे शुद्ध बारह भावनाओं का चिन्तवन करते रहें, साथ में अपने ही शुद्ध चैतन्य रूप अविनाशी आत्मा की भी भावना करते रहें, क्योंकि यही द्वादशांग का सार है।

♣ ♣ ♣

शुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सुधं च सर्व सुद्धं च, सर्वन्यं सास्वतं पदं।
सुधात्मा सुद्ध ध्यानस्य, सुधं संमिक्दर्सनं॥ ५९॥

.**अन्वयार्थ-** (सुधं च सर्व सुद्धं च) शुद्ध सर्व पदार्थों में शुद्ध एक (सर्वन्यं सास्वतं पद) सर्वज्ञ स्वरूप अविनाशी पद है। वही (सुद्ध ध्यानस्य सुधात्मा) शुद्ध ध्यान का विषयभूत ध्येय शुद्धात्मा है। शुद्धात्मा का ध्यान ही (सुधं संमिक्दर्सनं) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- शुद्ध मूलभूत जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल; इन छः द्रव्यों के भीतर एक सर्वज्ञ वीतराग अविनाशी शुद्धात्मा का पद ही सार है। निर्मल धर्मध्यान व शुक्लध्यान का यही मुख्य ध्येय है। जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव है वही निश्चय सम्यग्दर्शन है। निश्चय सम्यक्त्व, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्रमयी ज्ञान शुद्धात्मा है। जो शुद्धात्मानुभव करने वाले हैं वे ही मोक्षमार्गी हैं व वे ही रत्नत्रय स्वरूप को पाने वाले हैं।

पूर्वं पूर्व परं जिनोक्त परमं, पूर्वं परं सास्वतं।
पूर्वं धर्मधुरा धरंति मुनयो, सुधं च सुधात्मनं॥
सुधं संमिक् दर्सनं च समयं, प्रोक्तं च पूर्वं जिनं।
न्यानं चरन समं सुयं च ममलं, संमिक्त वीर्जं बुधैः॥ ६०॥

अन्वयार्थ- (पूर्व) चौदह पूर्व जो जिनवाणी के भेद हैं (पूर्व परं) अत्यन्त प्राचीन हैं (जिनोक्त) जिन भगवान के कहे हुए हैं (परमं पूर्वं परं सास्वतं) ये उत्कृष्टपूर्व परम अविनाशी हैं (मुनयो पूर्वं धर्मधुरा च सुधं च सुधात्मनं धरंति) मुनिगण पूर्वों के ज्ञानरूपी धर्म की धुरा के रूप में निर्मल शुद्धात्मा को धारण कर लेते हैं यही शुद्धात्मा का अनुभव (सुधं संमिक्दर्सनं) शुद्ध व निश्चय सम्यग्दर्शन है (च समयं) यही आत्मा है (पूर्वंजिनं प्रोक्तं च) प्राचीन काल से ही जिनेन्द्रों ने ऐसा कहा है (न्यानं चरन समं) ज्ञान और चारित्र के साथ (सुयं च ममलं) स्वयं ही यह आत्मा निर्मल है। यही आत्मज्ञान (संमिक्त वीर्जं) सम्यग्दर्शन का बीज है (बुधैः) विचारवानों के द्वारा यही जानने योग्य है।

भावार्थ- पहले कुछ श्लोकों में ग्रन्थकर्ता ने अंग रूप जिनवाणी का सार शुद्धात्मा का ज्ञान या अनुभव ही बताया था। अब इस श्लोक में १४ पूर्व की तरफ संकेत है। ये अनादिकाल से चले आए हुए हैं, यद्यपि जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए हैं। जो साधुगण पूर्वों को जानते हैं, वे अवश्य निर्मल शुद्धात्मा को जानते हैं, शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान चारित्र निश्चय से एक शुद्धात्मा ही है। यही आत्मज्ञान सम्यग्दर्शन को प्रगट करने के लिये बीज के समान है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

विस्व पूर्वं च सुधं च, सुध तत्त्वं समं धुवं।
सुधं न्यानं च चरनं च, लोकालोकं च लोकितं॥ ६१॥

अन्वयार्थ– (विस्व पूर्वं च सुधं) सर्व ही चौदह पूर्व शुद्ध व दोष रहित हैं (सुध तत्त्वं समं धुवं) शुद्ध आत्मिक तत्त्व को साम्यरूप व नित्य बताते हैं (सुध न्यानं च चरनं) शुद्ध ज्ञान व शुद्ध चारित्र का उपदेश करते हैं (लोकालोकं च लोकितं) तथा लोक और अलोक के स्वरूप को दिखलाने वाले हैं।

भावार्थ– चौदह पूर्वों में जो कुछ कथन है सो सर्व दोष रहित है। उनका भी सार यही है कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र एक शुद्धात्म तत्त्व है। उसका कथन उसमें किया गया है व लोकालोक जिन छः द्रव्यों से रचित है उनका भी यथार्थ कथन है।

लोकितं सुध तत्त्वं च, सुद्ध ध्यान समागमं।
विस्व लोकं तिअर्थं च, आत्मनं परमात्मनं॥ ६२॥

अन्वयार्थ– (सुध तत्त्वं च लोकितं) चौदह पूर्वों में शुद्ध तत्त्वों को दिखाया गया है (सुद्ध ध्यान समागमं) शुद्ध ध्यान की प्राप्ति का उपाय बताया गया है (विस्व लोकं) सर्व लोक के स्वरूप को (तिअर्थं) तीन पदार्थ अर्थात् रत्नत्रय धर्म को व (आत्मनं परमात्मनं) आत्मा तथा परमात्मा को बताया गया है।

भावार्थ– ११ अंग, १४ पूर्वों के नाम व उनका स्वरूप श्री तारणतरण श्रावकाचार से जानना योग्य है। यहाँ यह बताया है कि १४ पूर्वों के भी ज्ञान का समुच्चयसार यही है जो शुद्ध तत्त्व को जानकर शुद्ध ध्यान किया जावे, आत्मा को परमात्मपद में पहुँचाया जावे व परमानन्द का लाभ लिया जावे।

अस्ति अस्ति च सुद्धं च, आत्मनं सुधात्मनं।
परमात्मा परमं सुद्धं, अप्पा परमप्प समं बुधैः॥ ६३॥

अन्वयार्थ– (आत्मनं सुधात्मनं सुद्धं अस्ति अस्ति च) आत्मा और परमात्मा का शुद्ध स्वभाविक अस्तित्व बना रहता है (परमात्मा परमं सुद्धं) परमात्मा परम शुद्ध आत्मा को कहते हैं (अप्पा परमप्प समं) आत्मा-परमात्मा के समान निश्चय से है (बुधैः) बुद्धिमानों ने ऐसा कहा है।

भावार्थ– यहाँ यह दिखाया गया है कि संसारी आत्मा तथा परमात्मा दोनों का अस्तित्व या दोनों की सत्ता कभी नाश नहीं होती है। स्वाभाविक शुद्ध गुणों की सत्ता दोनों में सदा रहती है। निश्चय से दोनों ही बराबर हैं। आत्मा सो परमात्मा - परमात्मा सो आत्मा। व्यवहार में अंतर इतना है कि परमात्मा कर्म रहित शुद्ध है जबकि संसारी आत्मा कर्म सहित अशुद्ध है।

नास्ति घाति कर्मस्य, नास्ति सल्यं च रागयं।
दोषं नास्ति मलं मुक्तं, नास्ति कुन्यान देसनं॥ ६४॥

अन्वयार्थ– (घाति कर्मस्य नास्ति) परमात्मा के चार घाति या कर्म नहीं हैं (सल्यं च नास्ति) तीन शल्य नहीं हैं (च रागयं दोष नास्ति) न रागद्वेष हैं (मलं मुक्तं) सर्वमल से रहित हैं (कुन्यान देसनं नास्ति) न मिथ्याज्ञान है न मिथ्या मार्ग का उपदेश है।

भावार्थ– परमात्मा - मुख्यता से अरहंत परमात्मा उसे कहते हैं जिसके ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म, मोहनीय कर्म तथा अन्तराय कर्म, इन चार घातीय कर्मों का अभाव है। इनके नाश होने से अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र तथा अनन्त वीर्य प्रगट हो गया है। न उनके माया, मिथ्या, निदान; ये तीन शल्य हैं न कुछ भी रागद्वेष है; वे परम वीतराग हैं। उनके १८ मल या दोष नहीं है। श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मांतकभयस्मयाः। न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥ ६॥

भावार्थ– जिसके क्षुधा, तृषा, जरा, मरण, जन्म, रोग, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिंता, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य, मद, अरति; ऐसे १८ दोष नहीं हैं न जिसके अन्य कोई शांरीरिक व मानसिक मल है न जिसके कोई मिथ्याज्ञान है और न जिसका उपदेश कभी मिथ्या होता है, वह आप्त है।

प्रन्यान पूर्व सुद्धं च, परम न्यान समागमं।
परमात्मा परमं सुधं, सुद्ध ध्यान समं बुधैः॥ ६५॥

अन्वयार्थ– (पूर्व सुद्धं च प्रन्यान) परमात्मा के भावों में अपूर्व अर्थात् उत्तम व शुद्ध प्रज्ञा या भेद विज्ञान है (परम न्यान समागमं) इसी से उत्कृष्ट केवलज्ञान का प्रकाश हुआ है (परमात्मा परमं सुधं) परमात्मा परम शुद्ध है (सुद्ध ध्यान समं बुधैः) शुद्ध ध्यान के समान है। अर्थात् शुद्ध आत्मीक ध्यानमय है ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

भावार्थ– भेद विज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है। जिस विवेक ज्ञान से आत्मा को सर्व परद्रव्य परभाव व रागादि विभावों से भिन्न जैसा वह है वैसा ही जाना जावे, उस ज्ञान को प्रज्ञा या भेद विज्ञान कहते हैं। उत्तम व निर्दोष प्रज्ञा के द्वारा ही अरहंत भगवान ने केवलज्ञान प्रकाशित किया है। परमात्मा का आत्मा बिलकुल शुद्ध वीतराग है, वहाँ शुद्ध आत्मीक ध्यान है। आत्मा, आत्मा में ही समभाव से तल्लीन है। शुद्ध ध्यान का जो स्वरूप है वही परमात्मा का निश्चल आकार है। बुद्धिमानों ने ऐसा कहा है व निश्चय किया है। जो अपना हित चाहें उनको उचित है कि ऐसे ही परमात्मा का भजन व पूजन करें। इस श्लोक में ज्ञानप्रवाद पूर्व की ओर लक्ष्य है, इसके पहले दो श्लोकों में अस्ति नास्ति पूर्व की तरफ लक्ष्य है।

प्रत्याष्यानं च पूर्वं च, परोष्यं प्रत्यष्यं धुवं।
प्रत्याष्यानं ममलं सुधं, कर्मं षिपति बुधै जनैः ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ- (प्रत्याष्यानं पूर्वं च) प्रत्याख्यान नामा पूर्व में परवस्तु के त्याग का वर्णन है (परोष्यं प्रत्यष्यं धुवं) यह त्याग परोक्ष व प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, जिसमें प्रत्यक्ष त्याग निश्चय त्याग है (प्रत्याष्यानं ममलं सुधं) प्रत्यक्ष त्याग निर्मल शुद्ध है (बुधै जनैः कर्मं षिपति) यह बुद्धिमानों के कर्मों का क्षय करता है।

भावार्थ- चौदह पूर्वों में प्रत्याख्यान नाम के पूर्व में पापों का त्याग कैसे हो, इसका यम नियम रूप से कथन है। यह त्याग दो तरह का है- एक परोक्ष या व्यवहार प्रत्याख्यान, दूसरा प्रत्यक्ष या निश्चय प्रत्याख्यान। व्यवहार त्याग में आहार त्याग, रस त्याग आदि किया जाता, है उससे पुण्य कर्म का मुख्यता से बंध होता है। निश्चय प्रत्याख्यान में केवल अपने एक शुद्धात्मा के सिवाय और सर्व पर पदार्थों का त्याग किया जाता है। जिससे आत्मानुभव पैदा हो जाता है। यही वह ध्यान की अग्नि है जिससे भेदज्ञानी महात्माओं के कर्मों का क्षय होता है।

नन्तानंत स्वयं दिस्टं, धरयंति धर्मं, धुवं।
धर्म सुक्लं च ध्यानं च, सुध तत्त्वं सार्धं, बुधैः ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ- (बुधैः सुध तत्त्वं साधं) बुद्धिमान भेदज्ञानी शुद्ध आत्मतत्त्व का साधन करते हैं वही (धर्म सुक्लं च ध्यानं च) धर्मध्यान व शुक्लध्यान का अभ्यास है उस ध्यान में (नंतानंत स्वयंदिष्टं) अनंतानंत गुणों का धारी आत्मा स्वयं अनुभव में आता है (धरयंति धर्मं धुवं) जो ध्यान निश्चय आत्मधर्म में स्थापित किया है।

भावार्थ- ज्ञानीजन धर्मध्यान व शुक्लध्यान दोनों में पर-पदार्थ से विमुख होकर एक अपने शुद्ध आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं, यही वास्तव में मोक्ष मार्ग साधक धर्म है, जो साधक को निज स्वाभाविक अनंत गुणों के धारी आत्मा में स्थापित कर देता है।

वेदंति वेद वेदांगं, वेदंते भुवनत्रयं।
तिअर्थं रत्नत्रयं सुधं, विद्यमान लोकं धुवं ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ- आत्मीक श्रुतज्ञान विद्या या केवलज्ञान विद्या (वेद वेदांगं वेदंति) द्वादशांग वेद व उसके अंग प्रत्यंग को जानती है (भुवनत्रयं वेदंते) तीन भुवन को जानती है (रत्नत्रयं सुधं अर्थं) रत्नत्रयमयी शुद्ध आत्म पदार्थ को तथा (धुवं विद्यमान लोकं) निश्चल अस्ति रूप इस जगत को भी जानती है।

भावार्थ- यहाँ विद्यानुवाद पूर्व पर संकेत है। यह श्रुतज्ञान सर्वविद्याओं को व उनके भेदों को जानता है तथा तीन लोक का स्वरूप जानता है। तथा लोक में भरे हुए जीवादि छः द्रव्यों को जानता है। विशेष करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी आत्म तत्त्व को जानता है।

अनुक्रमं ममलं सुधं, बारंबारं च सार्धयं।
सुध तत्त्व दर्सनं नित्यं, आत्मनं परमात्मनं॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ– तत्त्वज्ञानी महात्मा (अनुक्रमं) नोकर्म अर्थात् शरीर रहित (ममलं) कर्ममल रहित (सुधं) शुद्ध (सार्धयं च) पदार्थ को ही अर्थात् (आत्मनं परमात्मनं सुध तत्त्व नित्यं बारंबारं दर्सनंच) आत्मा या परमात्मामयी शुद्ध तत्त्व का ही नित्य बारबार दर्शन करते हैं।

भावार्थ– सम्यग्दृष्टी महात्मागण अपने ध्यान में कभी परमात्मा को लेते हैं कभी अपने आत्मा को लेते हैं। वे इस अपने शुद्ध तत्त्व को या पदार्थ को शरीरादि रहित व आठ कर्ममल रहित बारबार सदाकाल अपने अनुभव में लेते हैं। धारावाही आत्मा का अनुभव ही मोक्ष का उपाय है।

कल्यानं कल्पयं सुद्धं, पूर्व कल्पंति सास्वतं।
न्यानमयं च तत्त्वार्थं, कल्यानं ध्यान संजुतं॥ ७० ॥

अन्वयार्थ– (कल्यानं कल्पयं पूर्व) कल्यान प्रवाद पूर्व (सुद्धं सास्वतं न्यानमयं च तत्त्वार्थं कल्यानं ध्यान संजुतं कल्पंति) शुद्ध अविनाशी ज्ञानमयी निश्चय तत्त्व को जो कल्याणकारक है व ध्यान सहित है, उसको बताता है।

भावार्थ– कल्यानप्रवाद पूर्व में तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण इन पाँच कल्याणकों का व्यवहारनय से कथन है। यहाँ निश्चय पर लगाकर कहते हैं कि निश्चय नय से वह पूर्व आत्म कल्याण का मार्ग ही बताता है कि ध्यान में एकतान होकर शुद्ध ज्ञानमयी अविनाशी आत्मा का अनुभव किया जावे।

मध्यस्थान सुयं रूपं, पद विंदं च विंदते।
त्रिलोकं ति अर्थ सुद्धं च, न्यानं चरनं तं ध्रुवं॥ ७१ ॥
समयं च समयं सुद्धं, पंच दीप्ति समं पदं।
त्रिलोकं त्रिभुवनं च, अप्पा परमप्पयं ध्रुवं॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ– (त्रिलोकं) त्रिलोक बिंदुसार पूर्व (मध्यस्थान सुयं रूपं पद विंदं च विंदते) मध्यम स्थानमयी पदों को रखने वाला है। इसके १२॥ करोड़ मध्यम पद हैं। यह पूर्व (त्रिलोकं ति अर्थ) तीन लोक के पदार्थों को (सुद्धं ध्रुवं तं न्यान चरनं समयं च) शुद्ध निश्चय ज्ञान,चारित्र व सम्यग्दर्शन को (सुद्धं समयं) शुद्ध आत्मा को (पंच दीप्तिसमं पदं) पाँच परमेष्ठियों के समभाव रूपी पद को (त्रिभुवनं च) तीन लोक की पर्यायों को (ध्रुवं अप्पा परमप्पयं) निश्चय आत्मा व परमात्मा को बताता है।

भावार्थ– यहाँ पर त्रिलोक बिंदुसार पूर्व पर संकेत है। इसमें व्यवहारनय से तीन लोक का वर्णन है, निश्चयनय से इसमें भी तीन लोक के छः द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप कहकर उनमें शुद्ध आत्मा तथा परमात्मा का स्वरूप ही बताया है। प्रयोजन यह है कि इस पूर्व के पढ़ने का भी फल यही है कि शुद्धात्मा का अनुभव किया जावे।

मध्यं च पद विंदं च, पदार्थं पद विंदते।
विंजनं च पदार्थं सुधं, ममात्मा ममलं धुवं ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ– (मध्यं च पद विंदं च पदार्थं पद विंदते) मध्यम पद से पदार्थों का बोध होता है। (विंजनं च पदार्थं सुधं) उन मध्यम पद के धारी अंग तथा पूर्वों में जितने शब्द हैं वे शुद्ध हैं तथा जितना पदार्थ वर्णन किया गया है वह सब यथार्थ है उनमें सार कथन (ममात्मा ममलं धुवं) यह है कि यह मेरा आत्मा निश्चय से निर्मल है– सिद्ध सम शुद्ध है।

भावार्थ– द्वादशांग वाणी से द्रव्यों के गुण पर्यायों का ठीक-ठीक बोध होता है। उस वाणी के जानने का सार यही है कि हम अपने आत्मा को पहचाने कि इसका असली स्वभाव कर्ममल रहित शुद्ध बुद्ध अविनाशी परमानंद रूप है।

विसल्यं सल्य मुक्तस्य, क्रीयते ध्यान सुद्धयं।
परमानंद आनंदं, परमात्मा परमं पदं ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ– (सल्य मुक्तस्य) शल्य रहित महात्मा (विसल्यं ध्यान सुद्धयं क्रीयते) शल्य रहित निर्मल धर्मध्यान कर सकता है जो (परमानंद) परम आनंद देने वाला है। उस ध्यान से (आनंदं परमात्मा परमं पदं) आनंदमय परमात्मा का उत्तम पद प्राप्त होता है।

भावार्थ– हमको उचित है कि माया, मिथ्या, निदान; इन तीन शल्यों को छोड़कर शुद्ध आत्मा के ध्यान का अभ्यास करें। इस ध्यान में कुछ भी कष्ट नहीं होता है, किन्तु परम सुख का अनुभव होता है और इसी से कर्म कटते जाते हैं। शीघ्र ही वह अवसर आ जाता है जब यह आत्मा परमात्मा हो जावे।

लोकालोकं च वेदंते, विस्वमानो सुयं प्रभो।
कुन्यानं विलयं जांति, न्यानं भुवन भास्करं ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ– (विस्वमानो सुयं प्रभो) वर्तमान उपलब्ध श्रुतज्ञान भी (लोकालोकं च वेदंते) लोक व अलोक के पदार्थों को जान लेता है (भुवन भास्करं न्यानं कुन्यानं विलयं जांति) इस जगत प्रकाशी ज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है।

भावार्थ– द्वादशांग वाणी बहुत विशाल है। इस समय उपलब्ध नहीं है। जितना कुछ वर्तमान में जिन आगम प्राप्त है उसको भी यदि समझ लिया जावे तो लोक अलोक जिन छः द्रव्यों का समूह है उन छः द्रव्यों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जावे। उसकी बुद्धि में निश्चय व्यवहार रूप से यह जगत जैसा है वैसा प्रतिभासने लग जावे तब मिथ्याज्ञान का तुरन्त प्रलय हो जावे।

पूर्वं पूर्वं उक्तं च, द्वादसांगं समुच्चयं।
ममात्मा अंग सार्धं च, आत्मनं परमात्मनं ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ– (द्वादसांगं पूर्वं पूर्व समुच्चयं च उक्तं) द्वादशांग का तथा हर एक पूर्व का सार यही कहा गया है कि (ममात्मा अंग सार्धं च) यद्यपि मेरा आत्मा शरीर सहित है तथापि निश्चय से (आत्मनं परमात्मनं) यह आत्मा परमात्मा है ऐसा जानने योग्य है।

भावार्थ– सर्व जिनवाणी के कहने व जानने का सार यही है कि हम निश्चय रत्नत्रयरूपी आत्मानुभव को पहुँच जावे। हमें यह गाढ़ निश्चय हो कि हमारा स्वभाव बिलकुल परमात्मा के समान शुद्ध बुद्ध आनंदमय वीतराग और अमूर्तिक है तथा ऐसा ही हमें पक्का ज्ञान हो व इस ही ज्ञान श्रद्धान में हमारा अमल हो। हमें शरीर सहित आत्मा में भी यह अनुभव होने लग जावे कि आत्मा परमात्मा रूप है, कर्म व शरीरादि सर्व पुद्गलमय है। रागादि पुद्गल का विकार है।

संमिक् दर्सन सुधं च, न्यानं सुद्ध मयं धुवं।
चरनं सुद्ध पदं सार्धं सहकारेण तपं धुवं ॥ ७७ ॥
आराहनं च चत्वारि, भावनं सुध चेयनं।
मय मूर्ति समं सुधं, अप्पा परमप्प संजुतं ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ– (सुधं संमिक् दर्सनं) शुद्धात्मा की प्रतीति रूप निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन है (सुद्धमयं धुवं न्यानं) उसी शुद्ध स्वरूप का निश्चल स्वसंवेदन ज्ञान सम्यग्ज्ञान है (सुद्ध पदं सार्धं चरनं) शुद्ध पदार्थ में तन्मय होना निश्चय सम्यक्चारित्र है (सहकारेण तपं धुवं) इन तीन रत्न सहित आत्मा में तपना सो निश्चय तप है (चत्वारि आराहनं च) ये चार आराधनाएँ निश्चय से (सुध चेयनं भावनं) शुद्ध चेतना की भावना हैं (मयमूर्ति समं सुधं) मिट्टी की मूर्ति के समान शुद्ध रूप से एकाग्रता है अर्थात् (अप्पा परमप्प संजुतं) आत्मा को परमात्मा से संयोग कराना है।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप ये चार आराधनाएँ मोक्षमार्ग हैं। जहाँ शुद्धात्मारूप अपने को जान करके परम रुचि सहित अपने आत्मा में तन्मयता प्राप्त की जाती है व उसी में थिरता बढ़ाई जाती है, तब अपनी सूरत मिट्टी की गढ़ी मूर्ति के समान निश्चल ध्यानमय हो जाती है। उसी एकाग्रता में सच्चा आत्मध्यान है। यही योग है जहाँ आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ा गया है अर्थात् परमात्मा के स्वरूप में अपने को तन्मय किया गया है। यही आत्मानुभव रूप मोक्षमार्ग है। ऐसा समझना ही जिनवाणी का सार है।

अप्पा परमप्प तुल्यं च, परमानंद नंदितं।
परमात्मा परमं सुधं, ममलं निर्मलं धुवं ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ- (अप्पा परमप्प तुल्यं च) यह आत्मा परमात्मा के समान है। दोनों के स्वभाव में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है। यह आत्मा (परमानंद नंदित) परमानंद में कल्लोल करने वाला है (परमात्मा परमं सुधं ममलं निर्मलं धुवं) परमात्मा परम शुद्ध है, रागादि रहित वीतराग है, कर्ममल रहित निर्मल है, तथा अविनाशी है।

भावार्थ- परमात्मा और अपने आत्मा में एकता समझना ही सार है। अपनी बुद्धि में भेद विज्ञान के द्वारा अपने ही आत्मा को कर्मों से भिन्न देखना चाहिए। तब वही आत्मा परमात्मा के समान दिखेगा, वीतराग विज्ञानमय झलकेगा, परमानंद से परिपूर्ण अमृतमय अनुभव में आवेगा। यही साक्षात् मोक्षमार्ग है और जिनवाणी के ज्ञान का समुच्चयसार है। यही समझ लेना आत्मा का परम हित प्राप्त कर लेना है।

कारणं कार्ज सिद्धं च, जं कारणं कार्ज उद्यमं।
स कारणं कार्ज सिद्धं च, कारणं कार्जं सदा बुधैः ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ- (कारणं कार्ज सिद्धं च) कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है (जं कारणं कार्ज उद्यमं) कारण वही है जिससे कार्य के सिद्ध करने का पुरुषार्थ किया जा सके (स कारणं कार्ज सिद्धं च) यहाँ मोक्ष साधन में कारण और कार्य दोनों शुद्ध हैं (बुधैः सदा कारणं कार्जं) बुद्धिमानों को सदा उसी शुद्ध कारण को करते रहना चाहिये।

भावार्थ- यहाँ बताया है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता है। साधन के बिना साध्य नहीं होता है। तथा जैसा कार्य व साध्य हो वैसा ही उसका साधन या कारण होना चाहिये। जिस उपाय को प्रयोग करने से कार्य की सिद्धि हो सके वही यथार्थ कारण है। मोक्ष मार्ग में आत्मा को परमात्मा बनाना है अतएव परमात्मा रूप आपका अनुभव ही सच्चा साधन है। शुद्धोपयोग ही सत्य साधन है जिससे सिद्ध शुद्ध पद प्राप्त हो सके। तत्त्वज्ञानी पंडितों को उचित है कि सदा ही शुद्धात्मा के अनुभव का उद्यम करते रहें। बिना पुरुषार्थ के कार्य की सफलता दुर्लभ है।

कारणं दर्सनं न्यानं, चरनं सुद्ध तपं धुवं।
सुधात्मा चेतना नित्यं, कार्जं परमात्मा धुवं ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ- (धुवं) निश्चय से (सुद्ध दर्सनं न्यानं चरनं तपं) शुद्ध या निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप अथवा (नित्यं सुधात्मा चेतना) नित्य शुद्ध आत्मा का अनुभव करना (कारणं) मोक्ष का साधन है (कार्जं धुवं परमात्मा) कार्य या साध्य अविनाशी परमात्मपद है।

भावार्थ– यहाँ कारण कार्य या साधन साध्य को प्रगट किया है। मोक्ष का साक्षात् साधन भेद व अभेद रत्नत्रय है। अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है जिसे हम अभेद रूप से एक ज्ञान चेतना या शुद्धात्मानुभव कहते हैं। इस उपाय से अविनाशी निज परमात्मपद झलक जाता है। तत्त्वसार में श्री देवसेनाचार्य कहते हैं–

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पणितं च दंसणं णाणं।
चाणंपि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा॥ ८॥
तं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च।
तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो॥ ९॥

भावार्थ– जो कोई आत्मा का शुद्ध भाव है वही निश्चय से अपना सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र है। वही शुद्ध चेतना है, वही निर्विकल्प तत्त्व है, वही सार है, वही मोक्ष का कारण है, उसे पहचानकर निर्ग्रंथ होकर उसे शुद्ध तत्त्व को ध्याना चाहिये। रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही साधन है। ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में कहा है–

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः॥ ८॥

भावार्थ– जो अपने ही स्वरूप को श्रद्धान करता है, उसे ही जानता है, उसे ही अपने अनुभव में लेता है वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी आत्मा कहा गया है ऐसा स्व-समयरूप व स्व-संवेदनरूप व स्वानुभवरूप आत्मा ही मुक्ति का उपाय है।

उंपादेय गुन जानाति, सुधं संमत्त भावनां।
राग दोषं न दिस्टंते, मिथ्या माया विलीयते॥ ८२॥

अन्वयार्थ– ज्ञानी जीव (उपादेय गुन सुधं संमत्त भावनां जानाति) ग्रहण करने योग्य जो शुद्ध सम्यक्दर्शन की भावना है उसको जानता है। उसके भीतर (राग दोषं न दिस्टंते) राग द्वेष नहीं दिखलाई पड़ते हैं (मिथ्या मायाविलीयते) उसके पास से मिथ्यात्व व मायाचार भाग गया है।

भावार्थ– ज्ञानी महात्मा शुद्ध आत्मिक भावना को ही ग्रहण करने योग्य उपयोगी उपाय मोक्ष मार्ग में जानते हैं। वे मिथ्यात्व को व मायाचार को छोड़ कर शुद्ध मन से निश्चल होकर व सब रागद्वेष को त्याग कर परम समता भाव को आलम्बन करके मात्र शुद्धात्मानुभव का अभ्यास करते हैं।

मिथ्या समय मिथ्या च, प्रकृति मिथ्या न दिस्टते।
कुन्यानं सल्य तिक्तं च, न्यानेन न्यान लंक्रितं॥ ८३॥

अन्वयार्थ– (मिथ्या समय मिथ्या च प्रकृति मिथ्या न दिस्टते) उस तत्त्वज्ञानी के भीतर तीन तरह का मिथ्यात्व नहीं दिखलाई पड़ता है (कुन्यानं सल्य तिक्तं च) मिथ्याज्ञान व तीन शल्य छूट गई है (न्यानेन न्यान लंक्रितं) ज्ञान से ही ज्ञान की शोभा हो रही है।

भावार्थ– दर्शन मोह तीन प्रकार का है। जिसके उपशम या क्षायिक सम्यक्त होता है उसके इस तरह के दर्शन मोह का उदय नहीं होता है। मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से बिलकुल भी तत्त्वश्रद्धान नहीं होता। सम्यक्त प्रकृति के उदय से तत्त्वश्रद्धान में कुछ अतिचार लगता है, सदोष सम्यक्त्व होता है सम्यक्‌मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सत्य तथा असत्य मिला हुआ श्रद्धान होता है। निर्मल सम्यक्‌दर्शन में ये तीनों नहीं होते हैं। न वहाँ कोई मिथ्याज्ञान है। कुमति कुश्रुत कुअवधि नहीं है, न वहाँ माया मिथ्या निदान शल्य हैं। निर्मल आत्मज्ञान से आत्मा का ज्ञानोपयोग विभूषित हो रहा है। ऐसी अवस्था जहाँ होती है वहीं मोक्षमार्ग हो सकता है।

मिथ्या मिथ्यामयं दिस्टं, असत्य सहित भावना।
अनृतं अचेत दिस्टंते, मिथ्यातं, निगोयं पतं ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ– (मिथ्या मिथ्यामयं दिस्टं) मिथ्यात्व कर्म के उदय से श्रद्धान बिलकुल मिथ्यारूप होता है (असत्य सहित भावना) असत्य पदार्थों के लाभ की भावना रहती है (अनृतं अचेत दिस्टंते) वहाँ सब झूठ ही झूठ व अज्ञान ही अज्ञान दिखलाई पड़ता है (मिथ्यातं निगोयं पतं) ऐसे मिथ्यात्व के फल से यह जीव निगोद में जाकर बिलकुल अज्ञानी एकेन्द्रिय हो जाता है।

भावार्थ– सर्व पापों में बड़ा पाप मिथ्यात्व है। इसका फल भी बहुत बुरा है। यह जीव को मनुष्य पर्याय से निगोद में डाल देता है। साधारण वनस्पति को निगोद कहते हैं। जहाँ अनंत एकेन्द्रिय जीव साथ-साथ जन्में व मरे जिनका स्वासादि साथ-साथ साधारण हो वे निगोद जीव हैं। प्रायः कंदमूल में निगोद राशि रहती है। सूक्ष्म निगोद राशि तीन लोक में व्याप्त है, बादर भी बहुत स्थानों पर हैं। निगोद में यह जीव बहुत कम ज्ञानी हो जाता है फिर निगोद से निकलकर पृथ्वी आदि पर्याय ही पाना कठिन है। त्रस पर्याय होना बहुत दुर्लभ है। ऐसे निगोद में जाने का कारण मुख्यता से मिथ्यात्व का सेवन है। शरीरादि रूप ही अपने को मानना, धनादि व कुटुम्बादि में अति गृद्धता रखकर इन्हों को अपना मानना, अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव पर विश्वास न लाना, इंद्रिय सुख को ही सुख जानना, अतिन्द्रिय आत्मिक सुख पर लक्ष्य न देना, विषय भोगों के लिए आतुर रहना, उन ही से जीवन की सफलता समझना, कषायों की पुष्टि का निरंतर यत्न करना, स्वार्थ सिद्ध करने को अन्याय, अभक्ष्य आदि से भय न मानना, संसार के कार्य सफल कराने के हेतु से रागी, द्वेषी देवों को, परिग्रहधारी गुरुओं को व आत्मज्ञान शून्य सराग सदोष धर्म को मानना, यह सब मिथ्यात्व का दोष है। मिथ्यात्व के प्रभाव से प्राणी असत्य जो इन्द्रिय सुख है या स्त्री-पुत्रादि व धनादि का सम्बन्ध है, उन ही की प्राप्ति की या उन ही के बने रहने की रात-दिन भावना किया करता है, उसे आत्म भावना सुहाती नहीं। वह सदा ही मिथ्या कल्पनाएँ किया करता है। सदा ही अज्ञान में फंसा रहता है। आत्मज्ञान से शून्य रहना ही अज्ञान है। संसार असार है, इसे सार जानना ही अज्ञान है। शरीर नाशवंत है, इसे सदा बने रहना जानना ही अज्ञान है। भोग रोगवत् दुःखकारी है, उन्हीं को सच्चा सुख मानना अज्ञान है।

सुध तत्त्व सुयं रूपं, मुक्ति पंथं जिन भाषितं।
अन्यो अन्यान सद्भावं, मिथ्या व्रत तपं क्रिया॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ– (सुध तत्व सुयं रूपं) शुद्ध आत्मिक तत्त्व जो अपना ही स्वभाव है उसी में लीनता (मुक्ति पंथं जिन भाषितं) मोक्ष का मार्ग है। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (अन्य:) इससे अन्य जो कोई मार्ग है वह (अन्यान सद्भावं) अज्ञान स्वरूप है (मिथ्याव्रत तपं क्रिया) आत्मानुभव शून्य व्रत, तप चारित्र सब मिथ्या है।

भावार्थ– श्री जिनेन्द्र भगवान ने मोक्ष का मार्ग वास्तव में निज शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण या आत्मानुभव बताया है। जहाँ आत्मानुभव होगा, वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होगा। यही अपने आत्मा का स्वभाव है, यही शुद्धोपयोग है। यदि इस निश्चय सम्यक्त्व का लाभ नहीं है तो मिथ्याज्ञान का ही सद्भाव कहा जायेगा। अनेक प्रकार शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी वह सब मिथ्याज्ञान ही है। तथा अनेक प्रकार मुनि व श्रावक का व्रत पालना, अनशनादि १२ प्रकार का तप करना, खानपानादि में शास्त्र विधि से सर्व क्रिया पालना आत्मज्ञान बिना सब मिथ्या है। सम्यक्त्व सहित ही इनकी शोभा है। आत्मानुशासन में श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं–

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः। पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तं॥

भावार्थ– शांत भाव, शास्त्रज्ञान, चारित्र व तप इनकी कीमत कङ्कड़ पत्थर के समान है, यदि मिथ्यात्व सहित हो। परन्तु यदि ये सब आत्मज्ञान सहित सम्यक्त्व सहित हो तो इनका मूल्य महामणियों के बराबर है।

न्यान सहकारिनो जेन, व्रत तप क्रिया संजुतं।
जदि न्यान विना भावं, मिथ्या व्रत तपं क्रिया॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ– (न्यान सहकारिनो जेन) जो जीव आत्मज्ञान सहित है वही (व्रत तप क्रिया संजुतं) व्रत, तप व चारित्र युक्त है (जदि न्यान विना भावं) यदि भावों में आत्मज्ञान नहीं है तो (व्रत तपं क्रियामिथ्या) व्रत तप चारित्र सब मिथ्या हैं।

भावार्थ– आत्मा की उन्नति के हेतु व शुद्धात्मा में निराकुलता से तिष्ठने के हेतु से जो बाहरी व्रत, तप क्रिया पाली जावे तब तो वे सम्यक् हैं– यथार्थ हैं। परन्तु यदि ऐसा आत्मिक शुद्ध भाव नहीं है, केवल पुण्य की वृद्धि के हेतु व पापों से बचने के हेतु व्रतादि साधे जावें तो वे मिथ्यात्व सहित होने से मिथ्या हैं, वे मोक्षमार्ग नहीं हैं।

♣ ♣ ♣

सम्यग्ज्ञान

मति न्यानं उवऐसनं कृत्वा, श्रुतन्यानं अनुव्रतं।
अवधि न्यान तपं सुधं, न्यान सहकारि लब्धयं॥ ८७॥

अन्वयार्थ– (उवऐसनं मतिन्यानं कृत्वा श्रुतन्यानं) दर्शनोपयोग पूर्वक मतिज्ञान होता है, मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है (अनुव्रतं) श्रुतज्ञान पूर्वक व्रत होते हैं (अवधिन्यान तपं सुधं न्यान सहकारिलब्धयं) अवधिज्ञान एकलब्धि या ऋद्धि है जो तप करने से आत्मज्ञान के साथ पैदा होती है।

भावार्थ– वस्तु का सामान्य ग्रहण दर्शन है। जब इंद्रिय या मन द्वारा किसी पदार्थ को जाना जाता है अर्थात् उपयोग जब किसी विषय को जानने के लिये तैयार होता है, तब प्रथम समय में निराकार ग्रहण रूप दर्शनोपयोग होता है, फिर पदार्थ ग्रहण रूप अवग्रह आदि रूप मतिज्ञान होता है, मतिज्ञान से जब हम वाणी सुनते है व शास्त्र को देखते हैं, तब मन विचार करता है व मन द्वारा श्रुतज्ञान होता है। द्रव्य शास्त्र का भाव ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान ही सारज्ञान है, क्योंकि यथार्थ श्रुतज्ञान वही है, जो आत्मा को पर से भिन्न जानकर स्वानुभव कर सके। इस स्वानुभव सहित श्रुतज्ञान के होते हुए सम्यग्दृष्टि होता है। पश्चात् अणुव्रत या महाव्रत हो सकते हैं। यथार्थ आत्मानुभव रूप श्रुतज्ञान के बिना व्रत हो ही नहीं सकते। यह श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है, अवधिज्ञानरूपी पदार्थों को जानता है। यह एक शक्ति विशेष है या ऋद्धि है जो ज्ञानपूर्वक तप करने से प्रगट होती है। इसके प्रकाश बिना भी केवलज्ञान हो सकता है।

न्यान हीनो व्रतं जेन, व्रत तप क्रिया अनेकधा।
कस्टं निरोह सेसानि, मिथ्या विषय रञ्जितं॥ ८८॥

अन्वयार्थ– (जेन न्यान हीनो अनेकधा व्रत तप क्रिया व्रतं) जिसने आत्मज्ञानमयी श्रुतज्ञान के बिना अनेक प्रकार व्रत तप क्रिया की (सेसानि कस्टं निरोह) वह केवल मात्र कष्ट को ही सहता है (मिथ्या विषय रञ्जितं) उसका रंजायमान पना मिथ्या इंद्रियों के विषयों में है।

भावार्थ– जिसको आत्मज्ञान न होगा, उसको अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव न होगा। तब उसका सर्व चारित्र पालना, तप करना, मोक्ष के लिये साधन भूत न होगा, किंतु मात्र कष्ट सहना होगा। जहाँ परिश्रम का फल न मिले तो उसे वृथा ही परिश्रम कहते हैं। जितना तप, जप, चारित्र का साधन, दिगम्बर होकर परीषह सहना आदि किया जाता है वह यदि कर्मों को काटकर मोक्ष के लिये न हो तो मात्र कष्ट ही कष्ट है। मिथ्यादृष्टि साधु का रंजायमान पना अंतरंग में मिथ्या इंद्रियों के विषय सुख में है। वह परलोक में बहुत सुख के लोभ से तप करता है। उसे आत्म-स्वभावमयी अतीन्द्रिय सुख की खबर ही नहीं है, जबकि सम्यग्दृष्टी अणुव्रत या महाव्रत पालता हुआ आत्मानंद में मगन रहने की चेष्टा करता है।

न्यान सहकार सुधं च, न्यान हीनो असुधयं।
न्यान सह मुक्ति मार्गस्थ, न्यान हीनो मिथ्या संजुतं ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ– (न्यान सहकार सुधं च) आत्मज्ञान के साथ तो व्रतादि चारित्र व तप शुद्ध है (न्यान हीनो असुधयं) परन्तु आत्मज्ञान के बिना वे सब अशुद्ध हैं, मिथ्या है (न्यान सह मुक्ति मार्गस्थ:) जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र पालता है वह मोक्षमार्ग में चलने वाला है (न्यान हीनो मिथ्या संजुत) यदि आत्मज्ञान नहीं है तो सर्व व्रतादि मिथ्यात्व सहित होने से संसार मार्ग है।

भावार्थ– आत्मा का आत्मारूप श्रद्धान जहाँ होगा वहाँ पूर्ण वैराग्य होगा, वह संसार शरीर भोगों से पूर्ण उदासीन होगा तथा वह आत्मिक सुख का परम रसिक होगा। ऐसा रसिक जीव ही मोक्षमार्गी है, उसी का व्रतादि सब मोक्षमार्ग है। परन्तु यदि किसी को यह स्वात्मा का अनुभव सहित ज्ञान नहीं हुआ तो वह मिथ्यात्वी है—संसार शरीर भोगों में आसक्त है, उसका जप, तप, व्रत, मात्र संसार बढ़ाने ही का है। उसका उद्देश्य ही संसार है जबकि सम्यक्ती का ही उद्देश्य मोक्ष है।

मिथ्या विषय संजुक्तं, संसार सरनि रंजितं।
थावर विकल अदेवं च, विषयं व्रत तपं स्रुतं ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ– (मिथ्या विषय संजुक्तं) जो कोई भी मिथ्यात्वी इन्द्रियों व मन के विषयों में लीन होगा वह (संसार सरनि रंजित) वह संसार के मार्ग में ही रंजायमान हो रहा है (व्रत तपं स्रुतं विषयं) उसका व्रत, तप, शास्त्रज्ञान सब इन्द्रियों के विषयों के हेतु से है (थावर विकल अदेवं च) उसका फल यह होगा कि वह पाँच स्थावरों में व दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जन्तुओं में व देवत्व रहित पंचेन्द्रिय पशु व मानवों में पैदा होगा।

भावार्थ– मिथ्यात्व का जहाँ उदय है, वहाँ न तो आत्मा का सच्चा श्रद्धान है, न आत्मिक सच्चे सुख की रुचि है। इसलिये ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव इंद्रियों के विषयों का लोभी होता हुआ मोक्षमार्ग से बिलकुल विरोधी संसार मार्ग में ही चल रहा है। वह भी कदाचित् कोई व्रत, तप या शास्त्र के ज्ञान का साधन करता है, उस साधन में उसका भीतरी उद्देश्य इंद्रिय विषय की ओर रहता है। मनोज्ञ भोगादि प्राप्त हों इस उद्देश्य से वह धर्म साधन करता है। मिथ्यात्वी जीव अधिकांश स्थावरों में, विकलत्रयों में, पशुओं में व दीन-हीन मानवों में पैदा होते हैं। मिथ्यात्व ही निगोद में पटकता है। यदि कोई अत्यन्त वैरागी हुआ तप करता है और मिथ्यात्व की वासना सहित है, तो कदाचित् देवगति पाता है और नौवें ग्रैवेयिक तक चला जाता है परंतु वह कभी मोक्ष नहीं पा सकता - उसका संसार भ्रमण नहीं टलता है।

न्यान सहकारिनो जीवः, आत्म सुधात्म सार्थयं।
परमात्मा परमं सुधं, निस्वय न्यान सहावनं॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ- (न्यान सहकारिनो जीवः) आत्मज्ञान सहित जीव (आत्म सुधात्म सार्थयं) आप ही अपने शुद्ध आत्मा का साधन करता है, उसका आत्मा (निस्वय न्यान सुहावनं परमं सुधं परमात्मा) निश्चय ज्ञान स्वभावी परम शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ- आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव किसी की सहायता से नहीं किंतु, अपने ही आत्मानुभव रूपी साधन से उन्नति करते करते शुद्ध आत्मा हो जाता है, जहाँ सहज ज्ञान प्रकाशित हो जाता है, सर्व संसार के दुःखों से छूट जाता है।

न्यानं च दर्सनं सुधं, न्यानं चरन संजुतं।
न्यानं सह तपं सुधं, न्यानं केवल लोचनं॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानं च दर्सनं सुधं) निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध दर्शन व शुद्ध ज्ञान हैं (न्यानं चरन संजुतं) सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र शुद्ध सम्यक्चारित्र है (न्यानं सह तपं सुधं) सम्यग्ज्ञान सहित तप शुद्ध है (न्यानं केवल लोचनं) आत्मज्ञान ही केवल आत्मा की सच्ची आंख है।

भावार्थ- आत्मज्ञान सहित या आत्मानुभव सहित जो श्रद्धान है, वही निश्चय सम्यग्दर्शन या शुद्ध सम्यग्दर्शन है। आत्मानुभव सहित जो सम्यग्ज्ञान है वही निश्चय या शुद्ध सम्यग्ज्ञान है। आत्मानुभव सहित जो सम्यक्चारित्र है वही निश्चय या शुद्ध सम्यक्चारित्र है। आत्मानुभव सहित जो सम्यक् तप है वही निश्चय या शुद्ध तप है। वास्तव में आत्मानुभव ही आत्मा की सच्ची ज्ञानदृष्टि है। जिस दृष्टि से अपना स्वभाव दीखे, कर्म नौ कर्म रहित शुद्ध वीतराग परमात्मारूप दीखे वही सच्ची ज्ञानदृष्टि है। जैन सिद्धांत का यही सार है, जो आत्मज्ञान को प्राप्त किया जावे।

दर्सनं दर्सते सुधं, न्यानं लोकलोकितं।
दर्सनं न्यान जोगेन, चरनं व्रत तपं स्रुतं॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ- (दर्सनं सुधं दर्सते) सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करता है (न्यानं लोकलोकितं) सम्यग्ज्ञान तीन लोक को देखने वाले आत्मा को जानता है (दर्सनं न्यान जोगेन) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के संबंध से (चरनं व्रत तपं स्रुतं) चारित्र, व्रत, तप व शास्त्रज्ञान सफल होते हैं।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मा को अनात्मा से भिन्न जान कर पक्का श्रद्धान रखते हैं। जब इन दोनों गुणों के होते हुए आत्मानुभूति का प्रकाश हो जाता है, तब श्रावक व मुनि का चारित्र, अणुव्रत, महाव्रत, बारह प्रकार का तप व विशेष श्रुत का अभ्यास सब यथार्थ व मोक्षमार्ग में सहाई होते हैं। जड़ आत्मज्ञान है, उसके बिना धर्म की नींव नहीं दी जा सकती है। नींव बिना धर्म का मकान नहीं खड़ा किया जा सकता है।

अनेय स्रुत जानाति, व्रत तप क्रिया अनेकधा।
अनेय कस्ट कर्तव्यं, न्यानहीनो व्रिथा भवेत्॥ ९४॥

अन्वयार्थ- (न्यानहीनो) जो कोई आत्मज्ञान से शून्य है वह यदि (अनेय स्रुत जानाति) बहुत से शास्त्रों को जानता है (अनेकधा व्रत तप क्रिया) अनेक प्रकार व्रत तप व आचरण पालके (अनेय कस्ट कर्तव्यं) बहुत कष्ट सहता है तो भी वह सब (व्रिथा भवेत्) निरर्थक चला जाता है, मोक्षसाधक नहीं होता है।

भावार्थ- जो कोई बहुत परिश्रम करके न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार आदि शास्त्रों को जाने परन्तु अध्यात्मज्ञान शून्य हो, तो उसका ज्ञान केवल संसार वर्द्धक है। उसी तरह कोई बहुत कष्ट सहकर वेला, तेला, सप्ताह, पक्ष, मास भर का उपवास करे, कठिन- कठिन तप करे, रस त्यागे, पर्वत व स्मशान में जाकर तप तपे; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व परिग्रह त्याग; इन पाँच व्रतों को एकदेश व सर्वदेश पाले, शुद्ध भोजन करे, पूजा पाठ विधान आदि अनेक धर्मक्रिया करे, परन्तु आत्मानुभव का स्वाद न ले सकता हो तो उसका यह सारा परिश्रम वृथा है, उसे मोक्षमार्गी नहीं बना सकता है। वह शुभ मंद कषाय से भले ही पुण्य बाँध के स्वर्गादि में चला जावे परन्तु उसकी विषयवासना बनी रहती है, वह संसार से कभी पार नहीं हो सकता। अतएव हमें उचित है कि जिस तरह हो सके सम्यग्दर्शन सहित आत्मा का ज्ञान हासिल करें।

* * *

सम्यक्चारित्र

आत्मा सुधात्म भावेन, सुध दिस्टि समाचरेत्।
अनो मिथ्यामयं प्रोक्तं, विषयं लोकरंजनं॥ ९५॥

अन्वयार्थ- (आत्मा सुधात्मा भावेन) आत्मा को उचित है कि शुद्ध आत्मा की भावना करते हुए (सुध दिस्टि समाचरेत्) शुद्ध आत्म प्रतीति के साथ शुद्धात्मा में चर्या करे। अर्थात् आत्मध्यान करें। (अनो) आत्मज्ञान बिना जो कुछ है सो (मिथ्यामयं प्रोक्तं) मिथ्यात्व सहित कहा गया है। वह सब (विषयं) इन्द्रियों के विषयों की भावना सहित है। तथा (लोकरंजनं) लोगों को दिखाने वाला है।

भावार्थ- जो भव्य जीव अपना सच्चा हित करना चाहे उनका यह कर्तव्य है कि वह भेदज्ञान द्वारा अपने आत्मा को शुद्ध एकाकार परमात्मावत् अनुभव करे, इसी का दृढ़ अभ्यास करे। आत्मज्ञान के बिना जो कुछ आचरण है वह मिथ्या है। क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व का विष मिला है, वह सब विषयों की इच्छा को अन्तरङ्ग में लिये हुए है या मान कषाय की वासना को लिये हुए है, मात्र लोगों को

रिझाने वाला है, जगत को प्रसन्न करके अपनी महिमा फैलाने का ही उपाय है। विषय कषायवर्द्धक धर्माचरण सच्चा धर्म नहीं है, संसार को बढ़ाने वाला है।

प्रथमं भाव सुधं च, असुधं तिक्त पराङ्मुषं।
परिनाम बंध मुक्तं च, उपभोगं तिक्त मनं स्रुतं॥ ९६॥

अन्वयार्थ- (प्रथमं भाव सुधं च) प्रथम ही यह जरूरी है कि शुद्ध आत्मा की भावना की जावे (पराङ्मुषं असुधं तिक्त) शुद्ध आत्मिक भाव के विरोधी सर्व अशुद्ध भावों का राग छोड़ दिया जावे (परिनाम बंध मुक्तं च) क्योंकि परिणामों से ही कर्मों का बंध होता है, और परिणामों से ही कर्मों से मोक्ष होता है (उपभोगं तिक्तं मनं स्रुतं) इन्द्रिय भोगों की इच्छा को छोड़कर मन को शास्त्र के मनन में लगाना चाहिये।

भावार्थ- जो अपना हित करना चाहे, उसको प्रथम ही यह योग्य है कि मोक्ष और मोक्षमार्ग को समझले। मोक्ष आत्मा का शुद्ध पूर्ण भाव है। मोक्षमार्ग आत्मा का शुद्ध रूप से श्रद्धान ज्ञान व ध्यान है। जिसके मन से पांच इन्द्रियों के भोगों की वासना निकल गई हो तथा मन में शुद्ध आत्मा की भावना दृढ़ हो गई हो, शुद्धात्मानुभव का प्रेम पैदा हो गया हो वही मोक्षमार्ग पर चलने वाला है। शुद्धात्मा के अनुभव से ही कर्मों का क्षय होता है। यह भाव निश्चित है कि जीवों के परिणामों से ही संसार है, परिणामों से ही मुक्ति है। विषयों के प्रेम में संसार है, विषयातीत आत्म प्रेम में मोक्षमार्ग है। अपने परिणामों में शुद्धात्मा से रंजायमान पना पैदा करना उचित है।

उपभोगं असुध भावस्य, संसार विषय रंजितं।
मनसि उत्पादते जीवः उपभोगं तत्र निस्वयं॥ ९७॥

अन्वयार्थ- (संसार विषय रंजितं) संसार के विषय भोगों में रुचि रखना व आनंदित होना (असुध भावस्य उपभोगं) अशुद्ध भाव का उपभोग है (जीवः मनसि उत्पादते) यह जीव अपने मन में पैदा किया करता है। (तत्र उपभोगं निस्वयं) वहाँ उसके अशुद्ध भाव में अवश्य विषयों का उपभोग है, ऐसा ही माना होगा।

भावार्थ- साक्षात् पाँचों इन्द्रियों के भोगों को न करते हुए जो अंतःकरण में उन विषयों की तरफ रुचि होना या रंजायमानपना है, वही अशुद्ध भावों के द्वारा विषयों का भोग है। ऐसे मानसिक भोगों को वह मिथ्यात्व व कषायों से पूर्ण अज्ञानी जीव निरंतर किया करता है, यही मिथ्यात्व भाव है।

उपभोगं मन विचलंते, भोगं तस्य प्रवर्तते।
विकहा राग विषम जेन, उपभोगं भोग उच्यते॥ ९८॥

अन्वयार्थ- (उपभोगं मन विचलंते) जिस किसी का मन उपभोगों के लिए चलायमान होगा (तस्य भोगं प्रवर्तते) उसी के ही भोगों का भोग प्रवर्तेगा। वही (विकहा राग विषम जेन) विकथाओं

के राग में रंजायमान होगा। इसलिये (उपभोगं भोग उच्यते) मन द्वारा उपभोग को भोग कहा जाता है।

भावार्थ– सारे संसार के भोगों के भोगने के लिये सबसे पहले मन में लालसा पैदा होती है। मन के चंचल होने ही से उसका वचन व शरीर भोगों में प्रवर्तता है। यदि मन में विषय-वासना न हो तो वचन व काय से भोगों की क्रिया कदापि न हो। तब ही वह स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा व राजा-कथा के करने में बड़ा राजी रहता है। इसलिये मन के भीतर भोगों का अशुद्ध भाव या राग अवश्य ही भोग कहा जाता है। परिणामों से ही कर्मबन्ध होता है। भावों में विषयवासना के रहते हुए मानसिक भोग सम्बन्धी कर्माश्रय अवश्य होगा, भोग भोगना हो या न हो। इसलिये जो स्वहित करना चाहे उसे उचित है कि वह अंतःकरण से विषय-भोग की वासना को निकालकर फेंक दें, उसके स्थान पर आत्मानंद के भोग की रुचि उत्पन्न करे। यह कथन सैनी पंचेंद्रिय मानव की अपेक्षा से है।

हावभाव उत्पाद्यंते, विभ्रम अनेय चिन्तनं।
कष्टायं निरीष्यनं जीवा, उपभोगं तस्य उच्यते॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ– मन के भीतर वासना रहते हुए (हावभाव उत्पाद्यंते) हाव भाव पैदा होते हैं अर्थात् प्यार के आकर्षण चोंचले उठ जाते हैं (अनेय विभ्रम चिन्तनं) अनेक तरह के विचार या भ्रमपूर्ण भाव या भावों की विशेष चेष्टाएँ चिंतवन में आ जाती हैं (जीवा कष्टायं निरीष्यनं) यहाँ तक कि टेढ़ी दृष्टि से देखना प्रारम्भ हो जाता है (तस्य उपभोगं उच्यते) साक्षात् भोग न करते हुए भी ऐसी चेष्टा वाले के उपभोग कहा जाता है।

भावार्थ– मानसिक भोग की धारा को यहाँ बताया है कि जब मन में विषयभोग का विचार होता है, तब विषय-भोग के दिखाने वाले अंग-उपंग के संकेत उठ पड़ते हैं। मन में धारावाही अनेक कुभाव आ जाते हैं, तिरछी नजर से पदार्थों को प्रेमभाव सहित देखने लगता है। जैसे किसी को मिठाई खाने की वासना है, वह उस इच्छा के लिये घबड़ाता है, अनेक तरह की चेष्टा करता है, दूर से मिठाई को देखकर राग की दृष्टि से देखने लगता है। इसी तरह कोई काम भोग की वासना रखता है, वह स्त्री की चिंता करता है। उसके लिए घबड़ाता है, कुचेष्टाएँ करता है, मनोज्ञ स्त्री को देखकर टेढ़ी नजर से देखता है। इन दो रसना व स्पर्शन इंद्रियों के दृष्टांतों में मिठाई न खाते हुए व स्त्री भोग न करते हुए भी भोगों का होना कहा जाता है। यह मिथ्यात्व वासित अशुद्ध भाव का एक नमूना है।

स्वप्नं जस्य न सुधं च, उपभोगं तस्य संजुतं।
मनस्य विकलितं जेन, उपभोगं भाव समं जुतं॥ १०० ॥

अन्वयार्थ– (जस्य स्वप्नं सुधं न च) जिस किसी को स्वप्न शुद्ध न आते हों (तस्य उपभोगं संजुतं) उसका भाव उन भोगों के साथ रमा हुआ है (जेन मनस्य विकलितं) जिसके मन में घबड़ाहट

है, भोगों के लिये बेचैनी है (जुतं उपभोगं भाव समं) निश्चय से वह उपभोग करने वाले भाव के समान ही मलीन है।

भावार्थ- जिसके अन्तःकरण में विषय भोगों की चाह की वासना होती है, उसी को अशुद्ध खोटे विषय-भोग सम्बन्धी सपने आते हैं। उसका मन विषय-भोगों में अवश्य रागी है। नहीं तो कभी भी वैसे खोटे सपने न आवें। जिसके मन में विषय-सेवन की आकुलता है वह मन, वचन व काय से विषय भोग न करता हुआ भी मन से विषय-भोग करता हुआ भोगी के समान अशुद्ध या मलीन है। वास्तव में ग्रन्थकर्ता ने अशुद्ध भाव का अच्छा चित्रण किया है। जो विषयों से वैरागी होगा व आत्मानन्द का प्रेमी होगा, उसको विषय भोग सम्बन्धी सपने भी नहीं आएँगे। जिधर चित्त की प्रवृत्ति जागते हुए होती है, उसी प्रकार के स्वप्न आते हैं।

* * *

शुद्ध व अशुद्ध उपभोग

उपभोगं विविह जानंते, सुधं असुधं परं।
सुधं मुक्ति मार्गस्य, असुधं निगोयं पतं॥ १०१॥

अन्वयार्थ- (उपभोगं विविह जानंते) ज्ञानी दो प्रकार के उपभोगों को पहचानता है (सुधं परं असुधं) एक शुद्ध उपभोग दूसरा अशुद्ध उपभोग (सुधं मुक्ति मार्गस्य) शुद्ध उपभोग मोक्ष मार्ग है (असुधं निगोयं पतं) अशुद्ध उपभोग से निगोद में पतन होता है।

भावार्थ- भोगना या स्वाद लेना या रंजायमान होना दो प्रकार है - एक शुद्ध उपभोग व दूसरा अशुद्ध उपभोग। जहाँ अपने ही शुद्ध आत्मा का अनुभव या स्वाद या भोग किया जावे, वह शुद्ध उपभोग है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है, आत्मा बलवान होती है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। यह भोग मोक्ष का मार्ग है। परन्तु जो इन्द्रियों के विषयों में रंजायमानपना है, भोगों में आसक्त होकर उन्हीं में रुचि सहित वर्तता है, भोगाभिलाषी होकर भोगों के लिये आत्मज्ञान की परवाह न करके उचितानुचित चाहे जैसा कर्तव्य करता है, ऐसा भाव उपभोग निगोद की अज्ञान व पराधीन पर्याय में जीव को पटकने वाला है। ज्ञानी ऐसा जानकर अशुद्ध उपभोग से बचने की श्रद्धा व दृढ़ भावना कर लेता है।

सुधं उपभोगयं जेन, मति स्रुति न्यान चिंतनं।
अवधि मनपर्जयं सुधं, केवलं भाव संजुतं॥ १०२॥

अन्वयार्थ- (जेन सुधं उपभोगयं) जो शुद्ध भावों का उपभोग करता है वही (मति स्रुति न्यान चिंतनं) सम्यक् मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का चिंतवन करता है (अवधि मनपर्जयं सुधं केवलं) उसी के

अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान तथा शुद्ध केवलज्ञान प्रगट होता है (भाव संजुत) वही समभाव से युक्त होता है।

भावार्थ- शुद्ध आत्मा के भोग का फल यह है कि उसका मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान यथार्थ रहता है, उसका शास्त्र का जानना सफल है, क्योंकि वह आत्मा का अनुभव करता रहता है। इसी शुद्ध आत्मा के उपभोग से उसको सुअवधिज्ञान की तथा मनःपर्ययज्ञान की ऋद्धि पैदा हो जाती है तथा इसी शुद्ध आत्मिक आनन्द का उपभोग करते रहते वह क्षपकश्रेणी चढ़कर घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञानी हो जाता है। जो आत्मा का भोग करता है, उसी के परिणाम में समताभाव जागता रहता है। वही निराकुल जीवन बिताता है।

अष्यर स्वर विंजनं जेन, पद श्रुत चिंतनं सदा।
अवकासं न्यानमयं सुधं, उपभोगं न्यान उच्यते॥ १०३॥

अन्वयार्थ- (जेन सदा अष्यर स्वर विंजनं पद श्रुत चिंतनं) जो सदा जिनवाणी के अक्षर, स्वर, व्यंजन पद व वाक्यों का चिंतवन करता रहता है (अवकासं) और अवसर निकालकर (न्यानमय सुधं) ज्ञानमयी शुद्ध आत्मा का चिंतवन करता है (उपभोगं न्यान उच्यते) उसी को ज्ञान उपभोग कहा जाता है।

भावार्थ- आत्मज्ञान का व जिनवाणी का स्वाद लेना ज्ञान उपभोग है। जो अपना हित करना चाहे उसको सदा ही जिनवाणी के शब्दों का अर्थ सहित पठन, पाठन, मनन करना चाहिए, णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिये, जप करना चाहिए तथा तीनों काल प्रातः दोपहर व संध्या को सामायिक करते हुए शुद्ध आत्मा का अनुभव करने का अभ्यास करना चाहिये। ध्यान और स्वाध्याय करना हीं ज्ञान का उपभोग है। सम्यग्ज्ञान का बारम्बार भोग करना हितकारी है। सारसमुच्चय में कुलभद्राचार्य कहते हैं-

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातंकविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा॥ ६९॥

भावार्थ- आत्म हितैषियों को उचित है कि दुःखरूपी रोग के नाश करने वाले धर्मरूपी अमृत का सदा पान करते रहना चाहिए जिसके पान से जीवों को सदा परम सुख होता है। आत्मज्ञान का ध्यान द्वारा भोग सर्वोत्तम है। यदि चित्त न लगे तब शास्त्र द्वारा आत्मा का विचार करते रहना चाहिए। इन्द्रिय विषय का उपभोग अशुद्ध है - ज्ञान उपभोग शुद्ध उपभोग है।

जस्य उपभोग चित्तार्थं, तस्य भोगं समाचरेत्।
सुधं मुक्ति पथं जेन, असुधं दुर्गति भाजनं॥ १०४॥

अन्वयार्थ- (जस्य उपभोग चित्तार्थं) जिस प्रकार के उपभोग करने का चित्त में प्रयोजन हो (तस्य भोगं समाचरेत्) उसी प्रकार के भोग का आचरण करे (जेन सुधं मुक्तिपथं) जो कोई शुद्ध आत्मज्ञान

का उपभोग करता है, वह मोक्षमार्ग पर चलता है (असुधं दुर्गति भाजनं) जो कोई अशुद्ध इन्द्रियों के उपभोग में आसक्त होता है वह खोटी गति में जाता है।

भावार्थ– यहाँ यह बताया है कि जिस तरह का मन में उद्देश्य हो वैसा आचरण पालना चाहिए। उपभोग दो प्रकार के हैं– शुद्ध उपभोग से मोक्ष होगा, अशुद्ध उपभोग से संसार बढ़ेगा। यदि यह दृढ़ श्रद्धा हो कि यह संसार दुःखों का सागर है इससे छूटकर मोक्ष के परमानन्द को प्राप्त करना ठीक है, तो यही योग्य है कि शुद्ध आत्मज्ञान का उपभोग लिया जावे, शुद्धात्मा में रमणकर परमानन्द भोगा जावे या शास्त्रों के द्वारा आत्मज्ञान का स्वाद लिया जावे और जो मोक्ष का प्रयोजन नहीं है, संसार में ही भ्रमण करता है, तो फिर इंद्रियों का उपभोग जो अशुद्ध है व संसार का कारण बना हुआ है। इन्द्रियों की तृष्णा में डूबा हुआ जैसे अनादिकाल से संसार में भ्रमण करता रहा वैसे आगे भी भ्रमण करता रहेगा।

* * *

प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण

प्रमाणं दुविहं प्रोक्तं, जिनसासने च समं धुवं।
परोष्यं आदि जानाति, प्रत्यष्यं परमं बुधैः ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ– (प्रमाणं दुविहं जिनसासने प्रोक्तं) प्रमाण दो प्रकार का जिन आगम में कहा गया है (समं च धुवं) यह प्रमाण समता रूप है तथा निश्चय स्वरूप है (परोष्यं आदि जानाति) पहला परोक्ष प्रमाण है, उसको ज्ञानी जानता है (बुधैः परमं प्रत्यष्यं) महान् ज्ञानियों के द्वारा दूसरा उत्कृष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण जाना जाता है।

भावार्थ– जिसके द्वारा आत्मा व अनात्मा का निश्चय करें वह ज्ञान प्रमाण है, व्यवहार से प्रमाण के मुख्य दो भेद हैं– परोक्ष, प्रत्यक्ष। जो ज्ञान इन्द्रिय तथा मन के द्वारा होता है, जैसे - मतिज्ञान श्रुतज्ञान। जो ज्ञान बिना पर की सहायता से स्वयं आत्मा द्वारा होता है, वह प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष व उत्कृष्ट प्रत्यक्ष है। निश्चय से आत्मानुभवरूप श्रुतज्ञान समतारूप परोक्ष प्रमाण है जबकि प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभवरूप परम समतामयी केवलज्ञान है सो उत्तम प्रत्यक्ष प्रमाण है। स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी आत्मा का साक्षात्कार करता है, रागद्वेष रहित समतारूप है तथा यही श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष केवलज्ञान का कारण है। श्रुतज्ञान द्वारा आत्मध्यान से ही शुद्ध केवलज्ञान प्रगट होता है।

जस्य परोष्यं चिन्तंते, प्रत्यष्यं तस्य दिस्टते।
जिन उक्तं समं सुधं, प्रमाणं भाव समाचरेत्॥ १०६॥

अन्वयार्थ– (जस्य परोष्यं चिन्तंते) जो परोक्ष श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का चिंतवन करता है (तस्य प्रत्यष्यं दिस्टते) उसको प्रत्यक्ष आत्मा केवलज्ञानमयी प्रगट हो जाता है (जिन उक्तं समं सुधं) जिनेन्द्र ने कहा है कि दोनों प्रमाण ज्ञान समतारूप शुद्ध हैं (प्रमाणं भावसमाचरेत) हे भव्य जीवो ! भाव प्रमाण ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान में लीन हो।

भावार्थ– आत्मा का अनुभव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, समतारूप है तथा शुद्ध है क्योंकि उस समय रागद्वेष भाव नहीं होते हैं। यह आत्मानुभव ही जीव को क्षपकश्रेणी चढ़ा देता है और यह जीव शीघ्र ही सर्व ज्ञानावरण को क्षय करके पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान को पा लेता है। मोक्ष का साधक श्रुतज्ञान द्वारा प्राप्त शुद्ध आत्मा का अनुभव ही है। यही अनुभव कर्म बंधनों को काट देता है और जीव को मुक्त भवन में पहुँचा देता है।

परोष्यं न्यान सदभावं, प्रत्यष्यं न्यान उच्यते।
परोष्यं दिस्टते जीवा, दर्सनं तव सुनिस्वयं॥ १०७॥

अन्वयार्थ– (परोष्यं न्यान सद्भावं) जो स्वाभाविक श्रुतज्ञानमयी व आत्मानुभव रूप परोक्ष ज्ञान है (प्रत्यष्यं न्यान उच्यते) वही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है (परोष्यंदिस्टते जीवा तव सुनिस्वयं दर्सनं) जब तक परोक्ष आत्मानुभव दिखलाई पड़ता है, तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन तो अवश्य होता ही है।

भावार्थ– स्वाभाविक आत्मानुभव में इन्द्रिय व मन भी रुक जाते हैं। जब इन्द्रिय विषयों को ग्रहण करना छोड़े और मन नाना प्रकार विकल्पों को करना छोड़े, तब ही स्वात्मानुभव होता है। इसलिये इसे ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं, क्योंकि उस समय ज्ञान द्वारा अपना ही स्वाद ले रहा है। परोक्ष इसलिये कहते हैं कि यह ज्ञान श्रुतज्ञान है। सो श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से पैदा होता है। यह केवलज्ञान की तरह प्रत्यक्ष नहीं है, केवलज्ञान के होते हुए सर्व ज्ञानावरण का क्षय हो जाता है, इसलिए वही पूर्ण प्रत्यक्ष है।

परोष्यं आचरणं नित्यं, प्रत्यष्यं चरन संजुतं।
परोष्यं तप सहावेन, प्रत्यष्यं तप न्यानं धुवं॥ १०८॥

अन्वयार्थ– (नित्यं परोष्यं आचरणं) सदा परोक्ष श्रुतज्ञान में आचरण करता है सो (प्रत्यष्यं चरन संजुतं) प्रत्यक्ष आचरण कहलाता है (परोष्यं तप सहावेन) परोक्ष श्रुतज्ञान द्वारा तपमयी बर्ताव (प्रत्यष्यं तप न्यानं धुवं) प्रत्यक्ष निश्चय आत्मा ज्ञानमयी तप कहा जाता है।

भावार्थ– स्वरूपाचरण चारित्र आत्मानुभव में लीन होना है, अर्थात् परोक्ष श्रुतज्ञान में आचरण करना है। यही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष चारित्र कहाता है। परोक्ष श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वभाव में तपना है सो ही स्वरूपासक्त निश्चय प्रत्यक्ष तप है। आत्मा में चलना आचरण है, आत्मा में तपना तप है। जहाँ तक केवलज्ञान नहीं वहाँ तक श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा के निश्चय रूप का श्रद्धान व ज्ञान होता है। इसी आत्मा के श्रद्धान व ज्ञान में चलना निश्चय चारित्र है व इसी में तपना निश्चय ज्ञानमयी तप है।

उपभोगं परोष्यं न जानाति, सुद्ध भावं सुयं धुवं।
निर्गुनं गुनं न जानाति, मिथ्यात्वं सहकारिनं॥ १०९॥

अन्वयार्थ– (परोष्यं उपभोगं सुद्ध भावं धुवं न जानाति) पाँच इंद्रिय व मन द्वारा जहाँ का भोग व मन के विकल्पों का भोग है वह उपभोग शुद्ध आत्मिक निश्चय भाव को नहीं जानता है। (निर्गुनं मिथ्यात्वं सहकारिनं गुनं न जानाति) सम्यक्त्व गुण रहित भाव मिथ्यात्व के कारण से आत्मिक गुण को नहीं जान सकता है।

भावार्थ– जिस किसी की गाढ़ रुचि पाँच इंद्रियों के भोगों में होती है। उसका मन भी उन्हीं के अशुद्ध विचारों में लीन रहता है। उसके भावों में मिथ्यात्व कर्म के उदय से घोर अंधकार रहता है। उसका सम्यक्त्व गुण आच्छादित रहता है, इसलिये वह आत्मिक स्वभाव का श्रद्धान व ज्ञान न करता हुआ उसका अनुभव भी नहीं कर सकता है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव परोक्ष उपभोग में लीन रहता है,आत्मा का साक्षात भोग नहीं कर सकता है।

♣ ♣ ♣

सम्यक् आगम

मिथ्या मयं न दिस्टंते, समय मिथ्या न देसनं।
राग दोष विषयं जेन, समय मिथ्या संगीयते॥ ११०॥

अन्वयार्थ– (मिथ्या मयं समय मिथ्या देसनं न दिस्टंते) मिथ्या आगम, सम्यग्दर्शन तथा मिथ्यादर्शन का उपदेश नहीं दिखला सकता है (जेन राग दोष विषयं समय मिथ्या संगीयते) जिस आगम का विषय रागद्वेष प्राप्त करना हो वही मिथ्या आगम कहा जाता है।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन आत्मा की पर भावों से भिन्न प्रतीति है। मिथ्यादर्शन आत्मप्रतीति रहित है, इन दोनों का सच्चा स्वरूप जो दिखावे, वही सच्चा आगम है नहीं तो वह मिथ्या आगम है। मिथ्या आगम का स्वरूप है व जो मिथ्या संसार व भोगों की पुष्टि करे, जिसमें वीतराग विज्ञानमयी धर्म का

व आत्मज्ञान का यथार्थ उपदेश न हो। ऐसे मिथ्या आगम का ज्ञान कदापि मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है। सच्चे आगम से ही स्व-परका तथा सम्यक् व मिथ्यात्व का सच्चा स्वरूप प्रगट हो सकता है। मुमुक्षु को सत्य आगम का अभ्यास कर्तव्य है।

समयं सुद्ध जिनं उक्तं, ति अर्थ तीर्थंकरं कृतं।
समयं प्रवेस जेनापि, ते समयं सार्थं ध्रुवं॥ १११॥

अन्वयार्थ– (सुद्ध समयं जिनं उक्त) शुद्ध या निर्दोष आगम के वक्ता श्री जिनेन्द्र हैं (ति अर्थ तीर्थंकरं कृतं) संसार से तारने वाले रत्नत्रयमयी धर्म का कथन तीर्थंकरों ने किया है (जेनापि समयं प्रवेस) जो कोई उस जिन आगम में प्रवेश करता है (ते ध्रुवं समयं सार्थं) उसी ने ही निश्चय आत्मा का साधन किया है।

भावार्थ– श्री ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त २४ तीर्थङ्करों ने इस अवसर्पिणी काल में तीर्थ का प्रचार किया है - बताया है कि व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय धर्म ही भवसागर से पार करने वाला है। व्यवहार रत्नत्रय निमित्त कारण है, निश्चय रत्नत्रय उपादान कारण है। आत्मा का आत्मारूप श्रद्धान, ज्ञान व आचरण अर्थात् आत्मानुभव मात्र निश्चय रत्नत्रय है, यथार्थ देव शास्त्र गुरु का व तत्त्वार्थों का श्रद्धान व ज्ञान व उसके अनुसार साधु व श्रावक का चारित्र पालन व्यवहार रत्नत्रय है, व्यवहार के द्वारा वर्तन करते हुए जब आत्मानुभव होता है, तब ही सच्चा कारण बनता है, उसी से ही आत्मा शुद्ध होती जाती है। उत्पादन कारण उत्तर क्षण में स्वयं कार्य रूप हो जाता है। इसी रत्नत्रयमयी धर्म का कथन जिनागम में उन्हीं जिनेन्द्र के कथन के अनुकूल है। उस जिनागम में जो भले प्रकार प्रवेश करके उसका पारगामी होता है, वही निश्चय आत्मा का साधन करता है अर्थात् वही आत्मानुभव को पाकर शुद्ध हो जाता है।

ध्रुव समयं च जानाति, अनेयं राग बन्धनं।
दुर्बुद्धि विषया हौंति, समय मिथ्या स उच्यते॥ ११२॥

अन्वयार्थ– (ध्रुव समयं च जानाति) जिसमें निश्चय शुद्ध आत्मा का ज्ञान न हो (अनेयं राग बन्धनं) अनेक राग भावों में बाँधने वाली बातें हों (दुर्बुद्धि विषया हौंति) न जिसमें मिथ्या बुद्धि से लिखे गये विषय हों (समय मिथ्या स उच्यते) उसको मिथ्या आगम कहते हैं।

भावार्थ– मिथ्या आगम वह है जो संसार की वासना को व रागद्वेष को मिटाने की अपेक्षा बढ़ा देवे व जिसमें सच्चे अनेकान्तरूप पदार्थ का कथन न हो। जिसमें आत्मा को सर्व पर-भावों से रहित जैसा का तैसा न बताया हो, रागद्वेष की पुष्टि की गई हो, खोटी बुद्धिबल से अधर्म को धर्म बताया हो, मनोरंजक अनेक विषयों को कहा हो, जिस शास्त्र में पशु बलि को, रात्रि भोजन को, मांसाहार को व मांस के दान को धर्म बताया हो, जल स्नान मात्र से पाप की शुद्धि मानी हो, रागवर्द्धक नृत्य शृंगारादि से धर्म माना हो; वे सब कुशास्त्र हैं।

समयं च सुध सार्धं च, असमय भावनं कृतं।
समय मिथ्या जिनं उक्तं, संसारे दुष बीर्जयं॥ ११३॥

अन्वयार्थ– (समयं स सुध सार्धं च) आगम वही यथार्थ है जो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का साधन बतावें, परन्तु जो (असमय भावनं कृतं) शुद्धात्मा से विपरीत अशुद्ध आत्मा की व अनात्मा की भावना करावें वह (मिथ्या समय जिनं उक्तं) मिथ्या आगम है, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है (संसारे दुष बीर्जयं) वह संसार में दुःखों के उत्पन्न करने का बीज या कारण है।

भावार्थ– आगम वही है, जिससे ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जिस ज्ञान के बल से विवेक हो, भेद विज्ञान हो, आत्मा रागद्वेषादि से भिन्न ज्ञाता दृष्टा वीतराग आनन्दमय अपने ज्ञान में झलकने लग जावे। जो आगम ऐसे शुद्ध आत्मा को न दिखावे, किन्तु जिसके पढ़ने से रागद्वेषमयी आत्मा की भावना हो व मायाजालमयी संसार में ही उलझना हो। स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा व राजा-कथा में रंजायमानपना हो वह संसार-वर्द्धक मिथ्या आगम है। ऐसे आगम को पढ़ने से व मनन करने से राग, द्वेष, मोह बढ़ेगा, संसार बढ़ेगा, भव भ्रमण न हटेगा।

समयं सर्वन्य सुद्धं, न सार्धं भव्यलोकयं।
अन्यान व्रत क्रिया जेन, समय मिथ्या समाचरेत्॥ ११४॥

अन्वयार्थ– (समयं सर्वन्य सुद्धं च) आत्मा सर्वज्ञ स्वरूप है तथा रागद्वेषादि व कर्मादि रहित शुद्ध है (भव्यलोकयं साधं) भव्यजीव इसी का साधन करते हैं (अन्यान व्रत क्रिया जेन) जिसने आत्मज्ञान रहित व्रत पाले, चारित्र पाला उसने (मिथ्या समय समाचरेत्) मिथ्या आत्मा का ही सेवन किया था। मिथ्या आगम को ही जाना।

भावार्थ– यह आत्मा निश्चय से परमात्मा के समान सर्वज्ञ है तथा वीतराग है व आनन्दमयी है। संसार अवस्था में कर्म मल सहित है। इस कर्म मल को धोने के लिये भव्य लोग उद्यम करके अपने ही शुद्धात्मा का ध्यान लगाते हैं। इसी शुद्ध आत्मानुभव रूप ध्यान से आत्मा शुद्ध हो जाती है, जो आत्मा के यथार्थ ज्ञान तथा श्रद्धान को न रखते हुए अज्ञान सहित व्रत व चारित्र पालते हैं। उनके अशुद्ध आत्मा की ही भावना रहती है। किसी विषय भोग की या किसी कषाय की पुष्टि की भावना रहती है वे अशुद्ध आत्मा में ही चलते हैं, वे अशुद्ध-मिथ्या आगम का ही सेवन कर रहे हैं।

समयं दर्सनं न्यानं, चरनं तप सहकारिनो।
समयं प्रवेस अन्यानं, व्रत तप मिथ्या संजुतं॥ ११५॥

अन्वयार्थ– (समयं) सच्चा आगम वह है जो (दर्सनं न्यानं चरनं तप सहकारिनो) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप का सहकारी हो (व्रत तप मिथ्या संजुतं) मिथ्या व्रत, तप की प्रेरणा करने वाला (अन्यान समयं प्रवेस) अज्ञान आगम में प्रवेश है।

भावार्थ- सम्यग्दर्शनादि चार आराधना मोक्षमार्ग है। जिस आगम के मनन करने से इनके आचरण में प्रेरणा हो, आत्मज्ञान ध्यान में उत्तेजना हो, वही सच्चा सर्वज्ञ प्रणीत आगम है। परन्तु जो इससे विपरीत संसार वर्द्धक व आत्मज्ञान शून्य चारित्र व तप में प्रेरित करे यह अज्ञानमय मिथ्या आगम है। जो अपना कल्याण करना चाहें उनको उचित है कि मिथ्या आगम से बचकर सत्य आगम की शरण ग्रहण करें।

* * *

सम्यक्त्व बाधक सात प्रकृति कथन

सुधं च जिन उक्तं च, अप्पा परमप्प सुधयं।
षिउ उवसमं न सुधं च, प्रकृति मिथ्या समं धुवं॥ ११६॥

अन्वयार्थ- (सुधं न जिन उक्तं च) जिनेन्द्र भगवान का कथन शुद्ध है (अप्पा परमप्प सुधयं) आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही स्वभाव से शुद्ध हैं (षिउ उवसमं न सुधं च) क्षयोपशम भाव शुद्ध नहीं है (प्रकृति मिथ्या समं धुवं) क्योंकि वहाँ अवश्य मिथ्यात्व सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है।

भावार्थ- शुद्ध सम्यग्दर्शन वह है, जहाँ आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध जाने ऐसा ही जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। इससे कुछ भी कम श्रद्धान जहाँ हो वह शुद्ध या क्षायिक भाव नहीं है, किन्तु क्षयोपशम भाव है। मिश्र तीसरा गुणस्थान सम्यक् मिथ्यात्व है, वहाँ सत्य-असत्य दोनों का दही-गुड़ के स्वाद के समान मिश्रित स्वाद आता है। इस गुण स्थान को क्षयोपशम भाव कहते हैं, क्योंकि मिथ्यात्व का उदयाभावी क्षय तथा उपशम है, सम्यक् मिथ्यात्व का उदय है अथवा क्षयोपशम सम्यक्त्व शुद्ध सम्यक्त्व नहीं है वहाँ सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है, जिससे चल, मल, अगाढ़ दोष लगते हैं। दर्शन मोह की किसी भी प्रकृति के उदय से शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

अनेय तप तप्तानां, व्रत संजम क्रिया समं।
षिउ उवसमं न साधंते, मिथ्या छाया प्रक्रितिते॥ ११७॥

अन्वयार्थ- (अनेय तप तप्तानां व्रत संजमक्रिया समं) जो कोई व्रत, संयम, चारित्र के साथ अनेक प्रकार के तप तपते हैं, परन्तु शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं रखते, क्षयोपशम भाव रूप मिश्र श्रद्धान या मलीन श्रद्धान रखते हैं वे (षिउ उवसमं न साधंते) क्षयोपशम भाव के होने पर मोक्ष नहीं साध सकते, क्योंकि (मिथ्या छाया प्रक्रितिते) वहाँ मिथ्यात्व की छाया पड़ रही है।

भावार्थ- व्रत, चारित्र, तप आदि मोक्ष के साधक तब ही ही होंगे, जब शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन हो। यदि मिश्र या मलीन श्रद्धान होगा तो वे मिथ्यात्व की किसी भी प्रकृति के उदय से मोक्ष का साधन नहीं कर सकते हैं।

आसा स्नेह लोभं च, लाज भय गारव स्थितं।
विषयं राग समं छाया, षिउ उवसमं न सुद्धए॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ– (आसा स्नेह लोभं च लाज भय गारव स्थितं) जिसके भावों में संसार संबंधी आशा, स्नेह, लोभ, लज्जा व घमंड किसी प्रकार का है (विषयं राग समं छाया) वह विषयों के राग के साथ मिथ्यात्व की छाया है वह (षिउ उवसमं) क्षयोपशम भाव है (न सुद्धए) वह शुद्ध साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता।

भावार्थ– जो कोई किसी सांसारिक सुख की आशा से व किसी के स्नेहवश या कोई धनादि के लोभवश या किसी बड़े के भय से या अपना अभिमान साधने को या इंद्रिय विषय के राग से सच्चे धर्म को भी सेवन करता है, वह क्षयोपशम भाव में रहता हुआ सम्यकमि्थ्यात्व या सम्यक्प्रकृति के उदय से शुद्ध भाव को साधन नहीं कर सकता है। बिना निर्मल व शुद्ध सम्यक्त्व के कोई जीव संसार का बेड़ा पार नहीं कर सकता।

विकहा विमुक्त रागं च, उवसम संसार स्थितिं।
जदि षिपनं न सार्धंति, प्रकृति मिथ्या स उच्यते॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ– (विकहा विमुक्त रागं च) विकथाओं से छूटा हुआ धर्मानुराग है और (उवसम संसार स्थितिं) संसार की मर्यादा को भी कम कर दिया है (जदि षिपनं न सार्धंति) तो भी यदि क्षायिक सम्यक्त्व न हो सके तो (प्रकृति मिथ्या स उच्यते) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व का उदय कहा जायेगा।

भावार्थ– जो कोई स्त्री, भोजन, देश व राजाओं की कथाओं में रागी नहीं हैं, किन्तु धर्मानुरागी है व जिसका संसार बहुत-सा कट गया है, अर्थात् जो निकट भव्य है वह भी दर्शन मोहनीय की तीसरी प्रकृति सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व के उदय से क्षायिक सम्यक्त्व को नहीं साध सकता। चार अनन्तानुबंधी कषाय और तीन दर्शन मोह की प्रकृति जब तक मूल से क्षय नहीं होती है, तब तक क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता। बिना क्षायिक या शुद्ध सम्यक्त्व के कोई मोक्ष नहीं जा सकता।

मिथ्या समय मिथ्या च, प्रकृति मिथ्या न दिस्टते।
राग दोषं न चिंतन्ते, कषायं तिक्तंति जं बुधैः॥ १२० ॥

अन्वयार्थ– (मिथ्या समय मिथ्या च प्रकृति मिथ्या न दिस्टते) जहाँ मिथ्यात्व प्रकृति, सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति व सम्यक् प्रकृति इन तीनों प्रकार के मिथ्यात्व का उदय नहीं दिखलाई पड़े (रागदोषं न चिन्तन्ते) जो संसार के राग की व किसी के द्वेष की कभी चिन्ता न करे व (जं) जहाँ (बुधैः कषायं तिक्तंति) बुद्धिमानों ने कषायों का त्याग किया है,वही क्षायिक सम्यक्त्व है।

भावार्थ- क्षायिक सम्यक्त्व की घातक सात कर्म प्रकृतियाँ हैं, उनका क्षय हो जाने से ज्ञानी का रागद्वेष मन में नहीं ठहरता है। प्रयोजनवश राग या द्वेष करता है। परन्तु शीघ्र ही भूल जाता है। बिना अनन्तानुबन्धी कषाय के अत्यन्त कृष्ण व भयानक संसार सम्बन्धी रागद्वेष नहीं होता है।

कषायं जिन उक्तं च, चत्वारि अनन्त बंधनं।
तिक्तंते सुध दिस्टी च, मुक्ति गमनं च कारणं॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ- (जिन उक्तं च) श्री जिनेन्द्र ने कहा है कि (चत्वारि अनंत बंधनं कषायं) चार अनंतानुबंधी कषायों को (सुध दिस्टी च तिक्तंते) सम्यग्दृष्टि त्याग देता है (मुक्ति गमनं च कारणं) इसलिए कि वह मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

भावार्थ- मोक्ष वीतराग ज्ञानानन्दमय जीव की अवस्था है, उसकी प्राप्ति का उपाय भी वीतराग विज्ञानमयी आत्मिक भाव है। इस कारण से सम्यग्दृष्टि जीव के चार अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय नहीं होता है। क्योंकि ये अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ सम्यग्दर्शन को और स्वरूपाचरण चारित्र को रोकने वाले हैं। तथा अनन्त जो मिथ्यात्व भाव उसको पुष्ट करने वाले हैं या उसका साथ देने वाले हैं।

लोभं क्रोधं च मानं च, माया मिथ्या न दिस्टते।
कषायं चतु अनंतानं, तिक्तते सुध दिस्टितं॥ १२२ ॥

अन्वयार्थ- (सुध दिस्टितं मिथ्या लोभं क्रोधं च मानं च माया चतु अनंतानं कषायं न दिस्टते तिक्तते) सम्यग्दृष्टि के भीतर मिथ्यात्वभाव तथा चार अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का उदय नहीं दिखलाई पड़ता है। वह इनको त्यागता है, तब ही सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थ- अनादिकाल से संसारी जीव के सम्यक्त्वनामा गुण को पाँच कर्म प्रकृतियों ने ढंक रखा है - मिथ्यात्वकर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषाय। जब इनका उपशम होता है, तब सबसे पहले उपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब एक मिथ्यात्वी जीव सम्यक्त्वी कहलाता है।

* * *

अनंतानुबंधी लोभ

लोभं असुद्ध परिणामं, चिन्तनं अनंत न स्थितं।
उपभोगं लोभ तिक्तंति, सुद्धदिस्टि समाचरेत्॥ १२३ ॥

अन्वयार्थ- (लोभं असुद्ध परिणामं) लोभ मलीनभाव है (अनंत न स्थितं चिंतनं) जहाँ अनंत प्रकार के नास्तिक भावों का विचार आया करता है (उपभोगं लोभ तिक्तंति) संसार के भोगों का लोभ छोड़कर के (सुद्ध दिस्टि समाचरेत्) शुद्ध सम्यक्त्व भाव को ग्रहण करो।

भावार्थ- अनन्तानुबन्धी लोभ ऐसा मलीन भाव है कि उसके असर से यह जीव अज्ञानी रहता हुआ मोक्ष के तथा आत्मा के स्वाभाविक आनन्द का विश्वास नहीं करता है न उसको परलोक का ही विश्वास होता है। नास्तिक भाव का ऐसा प्रकाश रहता है कि उसे आत्मा का व परमात्मा का जरा भी श्रद्धान नहीं होता है। वह केवल इस शरीर के बने रहने का, इंद्रियों की लम्पटता का रागी रहता है। विषय भोगों की गाढ़ तृष्णा रखता हुआ वह धन कमाने का महान लोभी हो जाता है। न्याय अन्याय का विचार छोड़कर धन एकत्र करता है। उसको हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों से कुछ भी ग्लानि नहीं होती है। भोगों के लिये बड़े-बड़े पाप कर डालता है। संसार का लोभ ही अनन्तानुबंधी लोभ है। इसलिए उपदेश करते हैं कि यह संसार असार है, दुःखों का घर है, शरीर नाशवंत है व अपवित्र है, भोग अतृप्तिकारक है, ऐसा जानकर इस अनन्तानुबंधी लोभ को छोड़कर संसार के भोगों की श्रद्धा छोड़कर आत्मिक आनन्द के भोग की श्रद्धा करो। आत्मा के अविनाशी स्वभाव पर विश्वास लाओ और शुद्ध सम्यग्दर्शन का आचरण करो। अपने भावों में निर्मल आत्मिक श्रद्धान को पक्का जमाए रहो, यही इस भव व पर भव में सुख देने वाला है।

लोभं पुन्यार्थं जेन, परिनामं तिस्टते सदा।
अनंतानुलोभ सद्भावं, तिक्तते सुध दिस्टितं॥ १२४॥

अन्वयार्थ- (जेन पुन्यार्थं लोभं परिनामं सदा तिस्टते) जिसके भीतर पुण्य की प्राप्ति के लिए लोभ भाव सदा रहता है, उसके (अनंतानुलोभ सद्भावं) अनन्तानुबंधी लोभ का प्रकाश है, इसलिए (सुध दिस्टितं तिक्तते) सम्यग्दृष्टि पुण्य का लोभ भी छोड़ देता है।

भावार्थ- पुण्य कर्म संसार के साताकारी भोग सामग्री का निमित्त मिलाता है। जिसको भोगों के भोगने का लोभ होगा उसी के पुण्य के उपजाने का लोभ होगा। अनन्तानुबंधी लोभ कषाय के द्वारा मलीन भाव अनेक प्रकार धर्म का साधन करता है, साधु व श्रावक का आचरण बिलकुल ठीक पालता है, परन्तु अंतरंग वासना यही होती है कि इंद्रियों के भोगों का सुख मिले ऐसा पुण्य बन्ध हो जावे। सम्यग्दृष्टी तब ही होता है, जब भोगों को रोग जानता है। इन्द्रों के व चक्रवर्ती सम्राटों के भोग भी जिसे बन्धन दीखते हैं। आत्मा को पराधीन करने वाले मालूम पड़ते हैं। जब आत्मिक आनन्द के रस का स्वाद आता है और भोगों के स्वाद की विरसता परिणामों में झलक जाती है, तब ही सम्यग्दृष्टि का प्रकाश होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का सर्व धर्म साधन आत्मा को स्वाधीन-मुक्त करने के हेतु से ही होता है। वह पुण्य की कदापि वांछा नहीं करता है। पुण्य की वांछा रहना भी अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय का कार्य है।

लोभं स्रुत तपं कृत्वा, व्रत क्रिया अनेकधा।
न्यान हीनो अनन्तानं, तिक्तते सुध दिस्टितं॥ १२५॥

अन्वयार्थ- (अनन्तानं लोभं) अनंतानुबंधी लोभ सहित (स्रुत तपं कृत्वा व्रत क्रिया अनेकधा) शास्त्र अनेक प्रकार पढ़े, अनेक तरह के तप तपे व अनेक तरह के व्रत पाले तो भी (न्यानहीनो) आत्मज्ञान रहित है अतएव (सुध दिस्टितं तिक्तते) सम्यग्दृष्टि उसे त्याग देता है।

भावार्थ– जिसके अनन्तानुबन्धी लोभ का उदय है वह अंतरंग में विषय वासना के अभिप्राय से शास्त्र पाठ पढ़ता है, तप तपता है व व्रतों का आचरण करता है, उसको आत्मज्ञान नहीं हो पाता। अतएव उसका सारा धर्म साधन संसार का ही कारण है, मोक्ष का साधक नहीं है। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि ऐसे लोभ से बचा रहता है। सम्यक्त्वी को तो सिवाय निजात्म लाभ के और कोई भावना नहीं होती है।

लोभं मूल असुहस्य, स्रुतं भेद अनेकधा।
विस्वासं लोभ अनंतानं, तिक्तंते सुध साधवा॥ १२६॥

अन्वयार्थ– (लोभं) लोभ कषाय (अनेकधा भेद असुहस्य मूल स्रुत) अनेक तरह के भेद रूप अशुभ कार्यों का मूल शास्त्र में कहा गया है इसलिए (सुध साधवा) शुद्ध साधन करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव (अनंतानं लोभ विस्वासं तिक्तंते) अनंतानुबंधी लोभ का विश्वास छोड़ देते हैं।

भावार्थ– जितने भी पाप कार्य जगत में प्रसिद्ध हैं, उन सबका मूल कारण अनन्तानुबंधी लोभ है, इसी प्रकार की लोभ सहित श्रद्धा के वश प्राणी जुआ खेलते, मांस खाते, मदिरा पीते, शिकार खेलते, चोरी करते, वैश्यागमन करते, परस्त्री सेवन करते, झूठ बोलते, विश्वासघात करते, हर तरह पर को सताकर अपना स्वार्थ साधन करते हैं। नर्क निगोद जाने लायक बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह के सब भाव इसी कषायवश होते हैं। इसलिए शुद्धात्मा के साधन करने वालों के इस प्रकार की अनन्तानुबन्धी कषाय का त्याग ही होता है।

लोभं अनृत असत्यस्य, अचेतं असुह अनर्थयं।
अनंतानुलोभ भावेन, तिक्तते सुध साधवा॥ १२७॥

अन्वयार्थ–(अनंतानुलोभ भावेन) अनंतानुबंधी लोभ के भाव से (अनृत असत्यस्य लोभं) अनंत प्रकार के असत्य पदार्थों का लोभ होता है (अचेतं असुह अनर्थयं) जिन पदार्थों का लोभ होता है वे पदार्थ अज्ञान कारक, अशुभ तथा अनर्थक हैं अतएव (सुध साधवा तिक्तते) शुद्ध स्वभाव के साधन करने वाले ऐसे लोभ को त्याग देते हैं।

भावार्थ– जगत में अनन्त पर्याय या अवस्था विशेष होती हैं वे सब क्षणभंगुर हैं। उनमें फंस जाना अज्ञान है, बुरा है व वृथा है। जैसे देवगति के व मानवगति के सुखों में लुभा जाना। राज्य, धन, कुटुम्ब, जगत मात्र की अति तृष्णा रखना। ऐसी तृष्णा के वश यह प्राणी वृथा ही तीव्र पाप बाँध कर दुर्गति में चला जाता है। इस तृष्णा का मूल कारण अनंतानुबन्धी लोभ है। इसलिए सम्यग्दृष्टि ऐसे अज्ञान मूलक लोभ से बचे रहते हैं। वे जगत के क्षणभंगुर पदार्थों के लोभी नहीं होते हैं, उनको अपने सच्चे हितकारी मित्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है।

लोभं स्रुतं अनेकार्थं, चक्र इन्द्र नराधिपं।
अनेय भाव उत्पाद्यंते, तिक्तते सुध दिस्टितं ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थ– (अनेकार्थं स्रुतं चक्र इन्द्रनराधिपं लोभं) अनेक प्रकार के शास्त्रों के जानने का लोभ, चक्रवर्ती पद का लोभ, इन्द्र पद का लोभ, महाराज पद का लोभ (अनेय भाव उत्पाद्यंते) इत्यादि अनेक भावों को अनंतानुबंधी लोभ पैदा कर देता है अतएव (तिक्तते सुध दिस्टितं) सम्यग्दृष्टि ऐसे अनंतानुबंधी लोभ को त्याग देता है।

भावार्थ– लोभ अनेक प्रकार का होता है। किसी को यही राग होता है कि मैं अनेक शास्त्रों को जानकर ऐसा विद्वान बन जाऊँ कि मेरी बात हर कोई मान ले, मैं खूब पूजा प्रतिष्ठा कमाऊँ व ज्ञान के बल से अपना लौकिक स्वार्थ सिद्ध करूँ। किसी को चक्री पद का, किसी को इन्द्र पद का, किसी को नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र पद का, किसी को राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार का पद पाने का लोभ होता है। यह सब संसारवर्द्धक भाव है। अतएव सम्यग्दृष्टि के ऐसे लोभ का त्याग ही होता है, क्योंकि वह तो बारह भावनाओं के बल से सदा ही संसार से पीठ दिये हुए रहता है और मोक्ष के सामने चला जाता है।

लोभं कृतं जिन उक्तस्य, सुद्ध धर्मं सुधं धुवं।
आत्म परमात्म लब्धं च, तं लोभं मुक्तिगामिनो ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थ– (जिन उक्तस्य सुद्ध धर्मंसुधं धुवं आतमपरमात्म लब्धं च लोभं कृतं) जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए शुद्ध रत्नत्रयमयी निश्चय आत्मिक धर्म का राग कि यह अपना आत्मा परमात्मा तुल्य है, इसे परमात्मा रूप में कर देना चाहिए। ऐसा रागमयी लोभ जो किया जाता है (तं लोभं मुक्तिगामिनो) वह लोभ मोक्षगामी जीवों के होता है।

भावार्थ– मोक्षगामी महात्माओं के भीतर में संसार सम्बन्धी राग या लोभ तो कोई रहता नहीं। यदि नीची पदवी में कुछ राग है तो वह मात्र धर्मानुराग है कि मुझे शुद्ध आत्मा के स्वभाव का लाभ हो, मैं स्वयं परमात्मा के बराबर हूँ, परन्तु कर्मबन्ध के कारण से संसार अवस्था हो रही है, उसे मुझे दूर करना है और निजानन्दमयी निज पद प्राप्त करना है, ऐसा लोभ किसी अपेक्षा ग्रहण योग्य है परन्तु संसार का लोभ तो सर्वथा त्याग योग्य है। जहाँ तक धर्मानुराग है, वहाँ तक भी लोभ कषाय का उदय है परन्तु वह अनन्तानुबन्धी नहीं है, अनन्तानुबंधी लोभ तो सम्यग्दृष्टि के होता ही नहीं।

* * *

अनन्तानुबंधी क्रोध

क्रोधं कूउ भावेन, आरति रौद्र समं जुतं।
असत्य सहितो हिंसा, तिक्तते सुध दिस्टितं॥ १३० ॥

अन्वयार्थ– (क्रोधं) अनंतानुबंधी क्रोध का स्वरूप यह है कि (कूउ भावेन आरति रौद्र समं जुतं) द्वेष-पूर्ण भाव के साथ आर्त रौद्र ध्यान में लगे रहना (असत्य सहितो हिंसा) असत्य बकना व साथ ही हिंसा कर बैठना (सुध दिस्टितं तिक्तते) शुद्ध सम्यग्दृष्टि ऐसे क्रोध को त्याग देता है।

भावार्थ– अब अनन्तानुबंधी क्रोध को इसलिए कहा है कि संसार के भोगों की तीव्र अभिलाषा होते हुए जब उनकी प्राप्ति में कोई बाधक होता है, तब अनन्तानुबंधी क्रोध पैदा हो जाता है, तब अति दुष्ट भाव के साथ आर्त रौद्र ध्यान करता है। इष्ट के वियोग होने पर उसका कारण कर्म के उदय को न विचार कर किसी पर उस वियोग का दोषारोपण मानकर उसके साथ द्वेष रखकर उसको गालियाँ बकता है व कभी-कभी मार भी बैठता है। इसी तरह अनिष्ट के संयोग होने पर यदि चेतन पदार्थ स्त्री आदि हुए तो उनको बड़े द्वेष-भाव से देखता है। उनके नाश की चिन्ता करता है, नाश का उपाय भी करता है। यदि अनिष्ट अचेतन पदार्थ मकानादि का संयोग हुआ तो जिनके निमित्त से हुआ उनको जानकर उनसे द्वेषभाव रखता है, उनका बिगाड़ करता है। यदि कोई रोग हुआ तो औषधि के लिये दुःखित होता है, यदि कुछ विलम्ब होता है तो अतिशय क्रोधी बन जाता है। भोगों की तीव्र इच्छा भोगों के लिये भोग में बाधक पिता, भाई आदि की हिंसा कर डालता है। हिंसा करने कराने में, असत्य बोलकर ठगने ठगाने में, चोरी करने कराने में, परिग्रह बढ़ने व बढ़वाने में तीव्र रागी होने के कारण से जो कोई उसके इस स्वार्थ में बाधक या हानिकारक उसे मालूम पड़ते हैं, उनको कटुक वचन कहता है, तथा उनकी हिंसा भी कर देता है। यह सब अनन्तानुबंधी क्रोध का प्रकार है। जो जगत में धन, स्त्री, भूमि, राज्यवश अन्याय से दूसरों का घात कर डालते हैं। सम्यग्दृष्टि के ऐसा क्रोध नहीं होता है।

क्रोधं अनंतान दिस्टंते, असुहं सुह समं जुतं।
सरीरं दुष्य उत्पाद्यंते, थावर क्रोधानि तिक्तयं॥ १३१ ॥

अन्वयार्थ– (असुहं सुह समं जुत) अशुभ तथा शुभ कार्यों को करते हुए जहाँ (अनंतान क्रोधं दिस्टंते) अनंतानुबंधी क्रोध दिखलाई पड़े (सरीरं दुष्य उत्पाद्यंते) वहाँ शरीर में भी दुःख पैदा होता है (क्रोधानि तिक्तयं थावर) क्रोध न छोड़ने से अंत में स्थावर काय में चला जाता है।

भावार्थ– जिसके परिणामों में अनंतानुबंधी क्रोध को चाहे वह बाहर से हिंसादि पाप करे या चाहे वह पूजा पाठ जप, तप करे, उसको भावों के अनुसार ही फल मिलेगा। किसी का नाश करने के हेतु से कभी मंत्र, यंत्र, पूजा, पाठादि शुभ काम किये जाते हैं। द्वेषभाव के भीतर होते हुए क्रोध

की अग्नि शरीर को दुःखित रखती है, रुधिर सूख जाता है तथा क्रोध भाव की वासना न त्यागने से वह प्राणी स्थावर काय में जाकर जन्म धारण कर लेता है।

अप तेज वायुं च प्रिथी, वनस्पतीस्जथा।
विकलत्रयं उत्पाद्यंते, क्रोधं तिक्तंति साधवः ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ- अनंतानुबंधी क्रोध भाव जीव को (अप तेज वायुं च) जलकाय में, अग्निकाय में, वायुकाय में (जथा प्रिथी वनस्पती) तथा पृथ्वीकाय में और वनस्पति काय में तथा (विकलत्रयं उत्पाद्यंते) विकलत्रय में पैदा करा देता है। ऐसा जानकर (साधवः क्रोधं तिक्तंति) मोक्ष के साधने वाले मुमुक्षु जीव इस क्रोध का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- अनन्तानुबन्धी क्रोध परिणामों को कलुषित रखता है। कृष्णादि लेश्याएँ खोटी होती है। द्वेषभाव किसी पर हो जावे तो उसे दीर्घकाल तक व कभी-कभी जन्म जन्मान्तर तक नहीं त्यागता है, ऐसे क्रोध का फल यह होता है कि तिर्यंचायु बाँधकर एकेन्द्रियादि पर्याय में जाकर साधारण वनस्पति या निगोद में जाकर दीर्घकाल तक जन्म-मरण करता है या पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय में चला जाता है। कभी द्वेन्द्रिय लट आदि, तेन्द्रिय चींटी आदि, चतुरिन्द्रिय मक्खी आदि में जन्मता है। क्रोधभाव अति भयानक दुर्गति में पटक देता है। ऐसा जानकर ज्ञानीजन क्रोध का त्याग कर देते हैं।

उवसग्गं थावरं दिस्टा, विकलत्रय उत्पाद्यंते।
असुध भाव न कर्तव्यं, तिक्तते सुध साधवः ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थ- (थावरं उवसग्गं दिस्टा) स्थावर कायिक प्राणियों में घोर उपसर्ग देखा जाता है (विकलत्रय उत्पाद्यंते) विकलत्रय में भी उपसर्ग पैदा होता है (असुध भाव न कर्तव्यं) अशुद्ध द्वेष पूर्ण भाव न करना योग्य है (सुध साधवः तिक्तते) शुद्ध भाव के धारी मुमुक्षु जीव ऐसे क्रोध भाव का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- अनन्तानुबंधी क्रोधवश यह जीव जब पृथ्वी आदि स्थावरों में जन्मता है, तब वहाँ अचेतन कृत, पशुकृत व मानवकृत घोर कष्टों को बिना प्रतिकार के असहाय होता हुआ सहता है। पृथ्वी के जीव पत्थरों से, जल के विशेष दबाव से, आग के लगने से, पवन के वेग से, वनस्पति द्वारा खींचे जाने से मर जाते हैं। जलकाय के प्राणी पत्थरों की रगड़ से, आग से तप्त होने से, पवन के झोंकों से, वनस्पति द्वारा खींचे जाने से, परस्पर पानी की तरंगों से मरते हैं। वायुकाय के जीव पत्थरों की टक्करों से, पानी के पड़ने से, परस्पर वायु की रगड़ से, आग की गर्मी से वनस्पति द्वारा श्वास में लेने से मरते हैं। अग्निकाय के जीव पृथ्वी के दबाव से, जल के पड़ने से, वायु के तीव्र वेग से, वनस्पति की रगड़ से, परस्पर अग्नि की ज्वालाओं से प्राण देते हैं। वनस्पतिकाय के जीव पृथ्वी के पड़ने से, तीव्र जल के वेग से, तीव्र पवन से, आग लगने से, परस्पर वनस्पति के घात से मरते हैं।

इस तरह यह अचेतन कृत व परस्पर कृत उपसर्ग सहते हैं। इन पाँच स्थावरों का घात अन्य पशुओं द्वारा या मनुष्यों द्वारा हुआ करता है, यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है।

पशु जमीन खोदते हैं, पानी में नहाते व कल्लोल करते, हवा में दौड़ते, वनस्पति का छेदन-भेदन करते खाते हैं। मानव समाज पृथ्वी खोदती, हल चलाती, पानी को गर्म करती, पानी खींचती, हवा पंखों से लेती, आग जलाकर बुझाती, वनस्पति काटती, छेदती, रांधती है। इस तरह ये स्थावर जीव असहाय दीन दुःखी होते हुए घोर दुःख सहते हैं। उनके अनन्तानुबंधी क्रोध का उदय आ जाता है, परन्तु कुछ कर नहीं सकते, लाचार हो, घोर पीड़ा सहते हैं। स्थावर काय के ऊपर दयाभाव किसी विरले प्राणी के ही होता है। द्वेन्द्रियादि विकलत्रय कीट, चींटी पतंगादि बड़े-बड़े उपसर्ग सहते हैं। मकानों में दबकर, पैरों में कुचले जाकर, आग व दीपक में जलकर, वर्षा से, हवा के झोंकों से मरकर, अन्नादि भोज्य पदार्थ न पाकर, पक्षियों से चुगे जाने पर, परस्पर घात होने पर, सबल द्वारा खाये जाने पर, कढ़ाओं में जलने पर, घोर-घोर बाधा सहते हैं। पानी के प्रवाह में बह जाते हैं। गाड़ी के नीचे दबकर मर जाते हैं। आधा अंग कट जाता है, पग टूट जाता है। अति शीत, अति गर्मी पड़ती है, तड़फ-तड़फ कर प्राण देते हैं। उनके बिल या घोंसले बिगड़ जाते हैं। फावड़े से झुंड के झुंड मार डाले जाते हैं। जो ध्यानपूर्वक देखा जावे तो विदित होगा कि ये बिचारे कीटादि पशु व मानव द्वारा व अचेतन द्वारा घोर उपसर्ग सहते हैं, तब अनन्तानुबन्धी क्रोध आ जाता है। कहीं अवसर होता है तो वे अपनी रक्षार्थ द्वेषवश अन्य प्राणियों को काटते भी हैं, तो भी लाचार हो कुछ नहीं कर सकते है। मधुमक्खियों के छत्ते में रहते हुए भी आग की गर्मी से मरना पड़ता है। भयानक रीति से छत्ते के रस को निकालने से घोर कष्ट भोगना पड़ता है। यह स्थावर व विकलत्रय की पर्याय में जन्म होना अशुद्ध क्रोध भावों का फल है। ऐसा जानकर ज्ञानीजनों को ऐसा भाव न करना चाहिये, शुद्ध शांत भाव ही रखना चाहिये। किसी पर क्रोध करना घोर पापबंध का कारण है। उत्तम क्षमा धारकर सहनशील होना योग्य है।

कोहं अनेय उत्पाद्यंते, भावं असुहं न क्रीयते।
जदि भाव विचलंति, तिक्तते सुध साधवः ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थ– (कोहं अनेय असुहं भावं उत्पाद्यंते) क्रोध कषाय नाना प्रकार के अशुभ व खोटे भावों को पैदा कर देता है (न क्रीयते) जिन भावों को करना योग्य नहीं है (जदि भाव विचलंति) यदि क्रोध के वश कभी भावों में चंचलता हो, शुद्ध भावों से पतन हो तो (सुध साधवः तिक्तते) शुद्ध भाव के साधने वाले उस चंचल भाव को त्याग देते हैं।

भावार्थ– अनन्तानुबंधी क्रोध के उदय से इस प्राणी के भीतर बहुत ही विपरीत खोटे भाव पैदा हो जाते हैं। जिससे निःसंकोच दूसरों का घात कर डालता है। अपनी स्त्री, बहन, भौजाई, पुत्र, पुत्री के प्राण ले लेता है। क्रोध वश आप अपना अपघात कर डालता है। दूसरों को आपत्ति में डालने

के लिए नाना प्रकार षड्यंत्र रचता है। हिंसानन्दी रौद्र ध्यान से तीव्र पाप बाँधता है। क्रोध भावों को करना उचित नहीं है। इन भावों से तीव्र दुर्गति होती है। साधुजन या मोक्ष के साधक सम्यग्दृष्टि जीव इस क्रोध से बचने की पूरी सम्हाल रखते हैं। यदि किसी कारणवश क्रोध के उदय होते हुए भावों में चंचलता हो उठती है तो वे तुरन्त उसे सम्हाल लेते हैं। क्षमा की खड्ग से क्रोध का संहार कर देते हैं। क्रोध रूपी आग दीर्घकाल के संचय किये हुए पुण्य को जला देती है। क्षमा भाव ही उपकारक है, स्वपर हितकारक है—क्रोध स्वपर घातक है।

कोहाग्नि प्रजुलते जेन, उवसमं जल सिंचते।
षिउ उवसमं च सद्भावं, जोगिनो कम्म षयं करो॥ १३५॥

अन्वयार्थ– (कोहाग्नि जेन प्रजुलते) जब क्रोध की आग जीव को जलाने लगे तब (उवसमं जल सिंचते) शांत जल का सेवन करे (षिउ उवसमं च सद्भावं) क्षयोपशम भाव के होते हुए भी (जोगिनो कम्म षयं करो) योगी के कर्मों का क्षय होने लगता है।

भावार्थ– जब क्रोध की आग परिणामों में धधक उठे, तब उसको शांत भाव रूप जल से बुझाना चाहिये। ज्ञान की दृष्टि से विचारते हुए जिस पर क्रोध हुआ है, उस पर से द्वेष निकल जाता है। जब कोई हमारा काम बिगाड़ता है, तब ही उस पर क्रोध होता है। काम तब ही कोई बिगाड़ेगा जब हमने उसका कुछ बिगाड़ किया हो। यदि ऐसा मामला हो तब हमें अपने ही काम का बदला समझकर शांत हो जाना चाहिए। यदि कोई मूर्खता से काम बिगाड़ता है, तो अज्ञानी पर सज्जन को क्षमा ही करना उचित है। इत्यादि विचार करके शांत जल छिड़ककर क्रोध को जीतना चाहिए। सम्यग्दृष्टि के शांत भाव की भूमिका बन जाती है। इससे उसके कर्म की निर्जरा होने लगती है। मोहनीय कर्म का क्षयोपशम भाव सातवें गुणस्थान तक अथवा दसवें गुणस्थान तक रहता है, उस समय का शांत भाव कर्मों की निर्जरा करता है।

ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षयोपशम बारहवें गुणस्थान तक रहता है, वही वीतरागता रूप शांत भाव ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय-इन तीन घातिया कर्मों का क्षय कर देता है और केवल ज्ञान पैदा हो जाता है। प्रयोजन यह है कि शांत भाव हमारा हितकारी है, क्रोध भाव हमारा शत्रु है।

जिन उक्तं कोहं समनं, क्रीयते बुधै जनैः।
उन्मूलितं कर्म त्रिविधं च, जिनसासने मुक्तिगामिनो॥ १३६॥

अन्वयार्थ– (जिन उक्तं कोहं समनं) जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के अनुसार क्रोध का शमन (बुधै जनैः क्रीयते) बुद्धिमान मानवों को करना चाहिए (च त्रिविधं कर्म उन्मीलितं) और तीन प्रकार के कर्मों को उखाड़ फेंक देना चाहिए (जिनसासने मुक्तिगामिनो) इस तरह जिन शासन के कथनानुसार वह जीव मोक्ष गामी होता है।

भावार्थ– जिन शासन में कहा है कि जितना-जितना आत्मध्यान किया जायेगा उतना- उतना वीतरागभाव या विरक्तभाव बढ़ता जायेगा। इसलिए क्रोध को जीतने या नाश करने के लिए आत्म भावना करनी योग्य है। बुद्धिमान इस आत्मानुभव का अभ्यास सदा करते है। इसी के प्रताप से उनके रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नौकर्म सब क्षय हो जाते हैं, और यह आत्मा मोक्ष का भागी हो जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है-

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥ ३७॥

भावार्थ– जैसे-जैसे आत्मत्त्व अपने अनुभव में आता जायेगा वैसे-वैसे सहज प्राप्त विषय भी नहीं सुहायेंगे।

आत्मानुभव करते हुए जो सुख शांति का स्वाद आता है, वही कर्मों की निर्जरा करता है। वहीं पूज्यपाद जी कहते हैं।

आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतं। न चासौ खिद्यते योगीर्बहिर्दुखेष्वचेतनः॥ ४८॥

आत्मिक आनंद की अग्नि निरन्तर कर्मों के ईंधन को प्रचुरता से जलाने लगती है, उस समय ध्यानमग्न योगी बाहरी दुःखों के पड़ने पर भी बेखबर रहता है। वास्तव में आत्मध्यान ही क्रोध शमन का उपाय है।

जेतानि राग दोषानि, तेतानि असुह भावना।
मिथ्या सल्यं निकंदंति, उन्मूलितं कोह जोगिनः॥ १३७॥

अन्वयार्थ– (जेतानि राग दोषानि) जितने राग द्वेष भाव हैं (तेतानि असुह भावना) उतनी ही अशुभ भावनाएँ हैं (जोगिनः) आत्मध्यानी योगीगण (मिथ्या सल्यं निकंदंति) मिथ्याभाव की शल्य को बिलकुल दूर कर देते हैं (उन्मूलितं कोह) इसीलिए उन्होंने क्रोध को जड़ से उखाड़ डाला है।

भावार्थ– जिन योगियों की एकमात्र रुचि आत्मा की शुद्ध परिणति की तरफ हो गई है, वे वीतराग भाव में लीन रहते हैं। रागद्वेष न करते हुए अशुभ भावनाओं से दूर रहते हैं। उनके भीतर संसार की रुचि जो मिथ्या है, बिलकुल नहीं होती है। ऐसे शांत स्वभावी महात्मा क्रोध को क्षय कर डालते हैं।

♣ ♣ ♣

अनन्तानुबंधी मान

मानं असत्य न दिस्टंते, असास्वतं मानबंधनं।
मानं अनृत सहितेन, उन्मूलितं मान जोगिनः ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थ– योगियों के भीतर (असत्य मानं न दिस्टंते) असत्य व नाशवंत पदार्थों का मान नहीं देखा जाता है (मानबंधनं असास्वतं) मान करना क्षणभंगुर है (मानं अनृत सहितेन) मान जहाँ है, वहाँ मिथ्या भावना है (जोगिनः मान उन्मूलित) योगियों ने मान को जड़ से उखाड़ डाला है।

भावार्थ– मान के संबंध में कहते हैं कि यह मान करना बिलकुल असत्य है तथा क्षणभंगुर है। जिस धन, राज्य, अधिकार, रूप, बल, शास्त्र विद्या, जाति, कुल आदि नाशवंत व मिथ्या पदार्थों को लेकर मान किया जाता है, वे सब पदार्थ न तो स्थिर हैं और न यथार्थ मूल द्रव्य हैं। यह तो अवस्थाएँ हैं, जो बदलती रहती हैं। मिथ्यादृष्टि ही ऐसी मिथ्या भावना कर सकता है कि यह शरीर धनादि मेरा है व मैं इनके कारण महान हूँ। सम्यग्दृष्टि के सिवाय आत्मा के शुद्ध स्वभाव के और किसी में अपने मन की भावना नहीं होती है। यह संसार के मिथ्या व क्षणिक पदार्थों की अपेक्षा अभिमान नहीं करता है। योगियों ने इस मान को जड़ मूल से क्षय कर डाला है व इसके क्षय में प्रयत्नशील है। मान करना बिलकुल मूर्खता है, क्योंकि उन पर पदार्थों का संबंध हमारे साथ सदा रहने वाला नहीं है, या तो वे हमारे जीते जी नष्ट हो जायेंगे या हमको मरते हुए छोड़ना पड़ेगा।

मान बंधं च रागं च, क्रीयते असुहं सुहं।
जेतानि मान सद्भावं, तिक्तंति सुध दिस्टितं ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थ– (मानबंध च असुहं सुहं च रागं क्रीयते) मान कषाय के बन्धन में पड़ा हुआ प्राणी कभी अशुभ में मान का भाव व कभी शुभ में मान का भाव करता है (जेतानि मान सद्भावं) जितने भी मान कषाय के परिणाम हैं, उनको (सुध दिस्टितं तिक्तंति) सम्यग्दृष्टि छोड़ देता है।

भावार्थ– मानी प्राणी कभी तो अशुभ कार्यों में मान करता है, कभी शुभ कार्यों में मान करता है। किसी को हानि पहुँचाकर, असत्य बोल करके, काम सिद्ध करके, किसी को ठग करके, किसी की हिंसा करके, किसी परस्त्री को वश करके, जुए में जितवा करके, धन एकत्र करके, राज्य लाभ करके, कुटुम्ब की वृद्धि पर इत्यादि अशुभ पाप वर्धक कार्यों में अपनापन करके, साधु व श्रावक का चारित्र पाल करके अभिमान कर लेता है कि मैं बड़ा त्यागी हूँ, बड़ा दाता हूँ, बड़ा भक्त हूँ, ऐसा शुभ कार्यों में मान होता है। ये दोनों ही मान अशुद्ध हैं या मिथ्या हैं। सम्यग्दृष्टि इन सर्व प्रकार के मान को त्याग देता है, इसकी अहंमान्यता केवल अपने ही शुद्ध आत्मिक भाव में ही रहती है।

मानं च जिन उक्तं च, मानं प्रमान चिन्तनं।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, मानं प्रमान उच्यते॥ १४० ॥

अन्वयार्थ- (जिन उक्तं च मानं च मानं प्रमान चिन्तन) श्री जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ मान यह है जो मान परिमाण चिंतवन करे (अप्पापरमप्पयं तुल्यं मानं प्रमानउच्यते) आत्मा परमात्मा के बराबर है, ऐसा मानना ही परिमाण कहा जाता है।

भावार्थ- मान शब्द के अर्थ माप परिमाण भी हैं। जिनेन्द्र भगवान का यह कथन है कि ऐसी माप करो, विवेक ज्ञान से ऐसा समझो कि निश्चय से आत्मा का स्वभाव परमात्मा के बराबर है। हर एक आत्मा अपने सर्व गुणों की अपेक्षा व असंख्यात प्रदेशों की अपेक्षा परस्पर समान है। एक रत्ती का भी एक-दूसरे से अन्तर नहीं है। ऐसी माप ध्यान में रखना यही मान या परिमाण हितकारी है, कर्तव्य है, इसी को सच्चा मान कहते हैं। इन मान के द्वारा पर पदार्थों में मान भाव या अहंकार भाव को बिलकुल दूर रखना चाहिए अथवा मान के अर्थ प्रमाण के भी हैं। जो सम्यग्ज्ञान है, आत्मा का सच्चा आत्मिक ज्ञान है, वही प्रमाण है व वही मान है, यह आत्मज्ञान रूपी मान मोक्षमार्ग है।

मानं लोकलोकांतं, त्रिलोकं भुवनत्रयं।
केवलदर्सन न्यानं च, मानं सर्वन्य पूजते॥ १४१ ॥

अन्वयार्थ- (मानं लोकालोकांतं त्रिलोकं भुवनत्रयं) मान अर्थात् सम्यग्ज्ञान तीन लोक को तथा अलोक को देखने जानने वाला है (केवलदर्सन न्यानं च) वही केवलदर्शन व केवलज्ञान स्वरूप है (मानं सर्वन्य पूजते) ऐसे मान के धारी सर्वज्ञ भगवान हैं, जो पूजनीक अर्हंत हैं।

भावार्थ- मान के अर्थ सम्यग्ज्ञान के भी हैं, वह सम्यग्ज्ञान जब पूर्ण होता है, तब लोकालोक को देखता व जानता है, जिसके ऐसा मान होता है उसको सर्वज्ञ वीतराग अर्हंत कहते हैं। वे केवलदर्शन व केवलज्ञान के धारी हैं। उनको सदा पूजना योग्य है। जगत में अभिमानी की प्रतिष्ठा नहीं होती है। वह निरादर की दृष्टि से देखा जाता है। अतएव अभिमान तो धनादि व शरीर कुटुंबादि का करना योग्य नहीं है। परन्तु जिसके सच्चा मान अर्थात् ज्ञान हो, जो निर्विकारता के साथ लोकालोक को देखता जानता हो वह मानी सर्वज्ञ वीतराग तो पूजने योग्य है। ऐसा मान प्राप्त करना योग्य है, मिथ्या मान त्यागना योग्य है।

♣ ♣ ♣

अनन्तानुबंधी माया

माया अनृत अचेतस्य, असत्य माया समं जुतं।
सत्यं सुध न जानाति, तिक्तते सुध दिस्टितं ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थ– (अनृत अचेतस्य माया) मिथ्या रूप व अज्ञान रूप पदार्थों के संबंध में मायाचार करना (असत्य माया समं जुतं) मिथ्या माया के भावों के साथ वर्तन करना है (सत्यं सुध न जानाति) ऐसा मायाचार का कर्ता शुद्ध सत्य तत्त्व को नहीं जानता है (तिक्तते सुध दिस्टितं) सम्यग्दृष्टि इस मायाचार को त्याग देता है।

भावार्थ– यहाँ पर अनन्तानुबंधी माया का स्वरूप कहते हैं। जिसके यह मिथ्या तत्त्व सहित मिथ्या माया के भाव होते हैं, वह जगत के क्षणभंगुर पदार्थों में धन्य-धान्य स्त्री पुत्रादि में मोह करके उनको अपना हितकारी अज्ञान से मानकर उनके लिए नाना प्रकार प्रपंच रचता है। दूसरों को ठग करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। वह रात-दिन झूठी संसार की माया के लिए रागी रहता हुआ परिणामों को ऐसा कठोर व विकारी रखता है कि उसको शुद्ध आत्म तत्त्व का श्रद्धान व ज्ञान नहीं होता है। उसके भीतर सच्चा ज्ञान व वैराग्य पैदा नहीं होता है। जो आत्मा के हित का सच्चा प्रेमी होगा, वह दूसरों को अन्याय से ठग करके घोर पाप का बंध नहीं करेगा। मिथ्यादृष्टि की ऐसी ही भावना रहती है। सम्यग्दृष्टि की ऐसी भावना नहीं होती है।

माया कुन्यान समं प्रोक्तं, मिथ्या राग समं जुतं।
असुहं सुहं न वि जानाति, माया दुर्गति भाजनं ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थ– (माया कुन्यान समं प्रोक्तं) माया कुज्ञान के होते हुए ही कही गई है (मिथ्या राग समं जुतं) माया में मिथ्या राग भाव गर्भित है। मायाचारी (असुहं सुहं न वि जानाति) अशुभ को शुभ जानता है (माया दुर्गति भाजनं) यह माया कुगति पहुँचाने वाली है।

भावार्थ– अनन्तानुबंधी माया जिसके होगी वह सम्यग्ज्ञानी न होगा, वह कुज्ञानी होगा। उसको आत्मोन्नति का प्रेम न होकर जगत के क्षणभंगुर पदार्थों का प्रेम होगा। मायाचारी इस मिथ्या राग के कारण जो कार्य अपना बुरा करने वाले हैं, उनको हितकारी जान लेता है। जगत का नेह आत्मा का बाधक है उसे ही करने योग्य जानता है। बड़े-बड़े अनर्थ मायाचारी कर डालता है। ऐसी माया से तीव्र पाप का बंध होता है और यह जीव नर्क- निगोद का पात्र हो जाता है।

माया असुध भावस्य, परपंचं रमते सदा।
पर दव्वं पर पुद्‌गलार्थं च, तिक्तंति सुध दिस्टितं ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थ– (माया) मायाचारी (असुधभावस्य परपंचं रमते सदा) अशुद्ध भावों के जाल में सदा तत्पर रहता है (पर दव्वं पर पुद्‌गलार्थं च) उस मायाचारी का प्रयोजन पर-द्रव्य, स्त्री, पुत्रादि का स्वार्थ साधना या अपने शरीर का स्वार्थ साधना होता है (सुध दिस्टितं तिक्तंति) सम्यग्दृष्टि इस माया का त्याग कर देता है।

भावार्थ– माया के उदय से यह प्राणी कभी भी शुद्ध आत्मिक भाव का स्वाद नहीं पाता है। संसाराशक्त अशुद्ध भावों में पर को ठगने में सदा आसक्त रहता है। मायाचारी के मन के भीतर आत्महित का उद्देश्य नहीं होता। वह तो शरीरादि पर द्रव्य व स्त्री, पुत्रादि के मोह में फँसकर मायाचार के द्वारा धनादि का संग्रह करना चाहता है। जो माया अपने स्वरूप से परे रक्खे उस माया का सम्यग्दृष्टि त्याग कर देते हैं।

माया कूड कर्मस्य, कूड दिस्टि कूड भावना।
कूड कर्मानि कर्तव्यं, तिक्तंति सुध दिस्टितं ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थ– (माया) मायाचारी के (कूड कर्मस्य) मायाचारपूर्वक काम करने के लिए (कूड दिस्टि) मायाचार पूर्ण नजर रहती है व (कूड भावना) मायाचार की ही भावना रहती है। (कूड कर्मानि कर्तव्यं) मायाचारी का कर्तव्य ही मायाचार सहित कामों के करने का हो जाता है, इसलिए (सुध दिस्टितं तिक्तंति) सम्यग्दृष्टि इस माया को त्याग देते हैं।

भावार्थ– माया कषाय की तीव्रता से इस प्राणी के भीतर हर एक काम छल से करने का ही विचार रहता है। वह मायाचार पूर्ण दृष्टि से उसी तरह देखा करता है जैसे– बिल्ली चूहे के शिकार को देखा करती है व बगुला मछली को देखा करता है। अवसर पाकर हर एक को ठग लेता है। अपने गुरु व मित्र को भी नहीं छोड़ता। मायाचारी की आदत ही कपट करने की पड़ जाती है, उसका मन, वचन, काय एक रूप नहीं होता है। सोचता कुछ है, कहता कुछ है, करता कुछ है, इसलिए ज्ञानीजनों के भीतर ऐसी माया नहीं पाई जाती है।

माया दुर्गति उत्पन्नं, माया थावरं पुनः।
माया तिर्यंच जोनी च, माया तजंति जोगिनः ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थ– (माया दुर्गति उत्पन्नं) मायाचार के द्वारा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से तीव्र पाप तथा आयु बाँधकर यह जीव नरक निगोद की दुर्गति में पैदा हो जाता है (पुनः माया थावरं) तथा यह मायाचार ही स्थावर योनि में पटक देता है (माया तिर्यंच जोनी च) मायाचार से ही पशु गति में चला जाता है, इसलिए (जोगिनः माया तजंति) मुनीश्वर इस माया को छोड़ देते हैं।

भावार्थ- मायाचार करके जो दूसरे का धनादि हरण करते हैं, उसका कटुक फल राज्यदंडादि तो यहाँ भोगना पड़ता ही है, परन्तु जो अपने भीतर मायाचारपूर्ण परिणाम रहता है, उससे यह जीव नर्क व तिर्यंच आयु बाँधकर पीछे मरकर नरकगति में या पशुगति में चला जाता है। "माया तैर्यग्योनस्य" ऐसा तत्त्वार्थ सूत्र में कथन है कि मायाचारी के तिर्यंच आयु का बंध होता है। मायाचारी मरकर एकेन्द्रिय स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पतिकाय में पैदा हो जाता है अथवा पंचेन्द्रिय पशुओं में व दो इन्द्रिय विकलत्रय में पैदा होता है। मायाचार दुर्गति का कारण है, ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि कभी मायाचारी नहीं करते हैं। इसे दूर से ही त्याग देते हैं।

माया असैनी संजुक्तं, माया अचेत बंधनं।
माया कुदेव उत्पन्नं, माया तजंति जोगिनः ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ- (माया) मायाचारी (असैनी संजुक्तं) असैनी पैदा हो जाता है (माया अचेत बंधनं) मायाचार से अज्ञान व कष्ट होता है (माया कुदेव उत्पन्नं) मायाचारी कुदेवों में भी पैदा हो जाता है (जोगिनः माया तजंति) अतएव योगीगण ऐसी माया का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- मायाचारी बहुत कुटिलता मन में रखता है, इससे मरकर मन रहित असंज्ञी पैदा हो जाता है। असंज्ञी के तर्क-वितर्क करने की शक्ति ही नहीं होती है। मायाचार से ऐसा घोर ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हो जाता है, कि यह बहुत ही अज्ञानी व मूर्ख दशा में जन्मता है तथा उसको महान्-महान् कष्ट भोगने पड़ते हैं। कदाचित् देवगति बाँधी हो तो स्वर्गवासी देवों में पैदा न होकर तीन प्रकार के कुदेवों में पैदा होता है, भवनवासी, व्यंतर या ज्योतिषी हो जाता है। इस मायाचार के कटुक फल जानकर योगीगण उसका त्याग कर देते हैं।

माया सुधं जिन प्रोक्तं, त्रिलोक त्रिभुवन मयं।
ति अर्थ षट् कमलस्य, पंचदीप्ति प्रस्थितं ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थ- (माया सुधं जिन प्रोक्तं) जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि शुद्ध माया या लक्ष्मी (त्रिलोक त्रिभुवन मयं) तीन लोक के पदार्थ हैं, जिनसे तीन भुवन रचा हुआ है या (ति अर्थ) तीन पदार्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं (षट् कमलस्य) या छः अक्षरी मंत्ररूपी कमल है या (पंचदीप्ति प्रस्थितं) पाँच प्रकाशमान परमेष्ठी हैं या पाँच परमेष्ठी में पाए जाने वाले पाँच ज्ञान है।

भावार्थ- मायाचार कपट को छोड़कर शुद्ध माया को ग्रहण करना चाहिए। माया लक्ष्मी को भी कहते हैं। शुद्ध आत्मिक लक्ष्मी क्या-क्या है सो कहते हैं। प्रथम तो जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल; ये छः द्रव्य हैं। जिनसे ये तीन लोक बने हैं। लोकालोक इन्हीं छः द्रव्यों का समूह है। द्रव्यों के सच्चे स्वरूप को जानकर अपने जीव को सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभव करना। ऐसा भेदज्ञान व स्वानुभूति प्राप्त करना एक तो यह लक्ष्मी है। दूसरी लक्ष्मी रत्नत्रय है। जिसके ग्रहण से मोक्ष का लाभ होता है। तीसरी लक्ष्मी षट्कमल का ध्यान है। षट्कमल का

अर्थ जो हमारी समझ में आया सो लिखा जाता है। छः अक्षरी मंत्र को कमल में विराजमान करके ध्यान करना, आत्म लक्ष्मी का प्रकाशक है। वह मंत्र है "ॐ ह्रां ह्रीं ह्रुं ह्रौं ह्रः"। चौथी लक्ष्मी पाँच सम्यग्ज्ञानमयी पाँच दीप्ति हैं या पांच परमेष्ठी हैं। इन लक्ष्मियों को ग्रहण करके मायाचार कषाय का त्याग करना चाहिये।

माया न्यान समं जुक्तं, माया दर्सति दर्सनं।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, माया मुक्ति पंथं ध्रुवं॥ १४९॥

अन्वयार्थ– (माया) लक्ष्मी रूप माया वह है जो (न्यानसमं जुक्तं) ज्ञान को समता रूप व यथार्थ जाना जाय (मायादर्सति दर्सनं) लक्ष्मी रूपी माया सम्यग्दर्शन को देखने वाली है (अप्पा परमप्पयं तुल्यं माया) आत्मा परमात्मा के समान ऐसी आत्मज्ञानमयी माया या लक्ष्मी (मुक्ति पंथं) मोक्ष मार्ग है (ध्रुवं) ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

भावार्थ– इस श्लोक में भी माया को लक्ष्मी के अर्थ में लेकर कथन किया है, यथार्थ समता, रूप, रागद्वेष रहित सम्यग्ज्ञान एक लक्ष्मी है। यह यथार्थ ज्ञान ही आत्मा को देख सकता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन का अनुभव करने वाला यथार्थ ज्ञान ही है। मोक्ष मार्ग आत्मा का निश्चय से यह ज्ञान है कि यह हमारा आत्मा परमात्मा के बराबर है। आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव करना ही मोक्ष मार्ग है।

* * *

अविरत सम्यग्दृष्टि

त्रिमिथ्या चतु कषायं च, असुधं तिक्तंति जोगिनः।
अविरतं च जिनं प्रोक्तं, श्रावगं सुध दिस्टितं॥ १५०॥

अन्वयार्थ– (जोगिनः) योगीगण या मोक्ष के साधक (असुधं) आत्मा को अशुद्ध करने वाले (त्रिमिथ्या चतु कषायं च) तीन प्रकार के मिथ्यादर्शन तथा चार कषायों को (तिक्तंति) छोड़ चुके हैं। इसलिए (जिनं प्रोक्तं) जिनेन्द्र ने कहा है कि वे (सुध दिस्टितं श्रावगं) अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं।

भावार्थ– यहाँ यह बताया है कि चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक का है। जिसके व्रत न हो, किन्तु सम्यग्दर्शन यथार्थ हो यह शुद्ध सम्यग्दर्शन जब उदय होता है, तब इन्हीं तीन दर्शनमोह व चार अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम या क्षय हो जाता है। जिसके इस निश्चय सम्यग्दर्शन का लाभ है, वही मोक्ष का साधक या स्वात्मानुभव करने वाला योगी है।

सप्त प्रकृति विच्छेदो जत्र, सुध दिस्टि समाचरेत्।
सुधं च सुध पिच्छंतो, अविरत संमिक् दिस्टितं॥ १५१॥

अन्वयार्थ– (सप्त प्रकृति विच्छेदो) ऊपर कही हुई कर्म की सातों प्रकृतियों के उदय न होने से अर्थात् उपशम या क्षय से (सुध दिस्टि समाचरेत्) सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो जाता है, तब (सुधं च सुध पिच्छंतो) उसे शुद्ध व अशुद्ध तत्त्व की परीक्षा आ जाती है (अविरत संमिक् दिस्टित) वही अविरत सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ– कर्म की सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन होता है व इन्हीं के क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। तब शुद्ध आत्मिक श्रद्धा या रुचि या प्रतीति या आत्मानुभूति या स्वरूपाचरण रूप स्वप्रवृत्ति प्रकाशित हो जाती है। इस अपूर्व दृष्टि के प्रकाश से वह हर एक द्रव्य गुण पर्याय को यथार्थ समझता है; शुद्ध को शुद्ध, अशुद्ध को अशुद्ध समझता है। व्यवहार को व्यवहार, निश्चय को निश्चय जानता है। उसे कर्म सहित आत्मा की व कर्म रहित आत्मा की परीक्षा उसी तरह आ जाती है जैसे एक जौहरी को निर्दोष या सदोष रत्न की परीक्षा आ जाती है। व्रतों का नियम न होने पर भी यह सम्यक्त्वी सच्चा मोक्ष मार्गी है, इसलिए इसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यद्यपि वह पाँच अणुव्रतों का प्रतिज्ञाबद्ध धारी नहीं होता है तथापि उसके भावों में चार भावनाएँ दृढ़ बनी रहती हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, शांत भाव रहना, कषायों की तीव्रता न होना प्रशम भाव है। धर्मानुराग व संसार में वैराग्य रहना संवेग है, प्राणी मात्र पर दया रहना अनुकम्पा है। छः द्रव्यों की सत्ता में व उनकी परिणतियों में व सात तत्त्वों में दृढ़ विश्वास होना आस्तिक्य है। वह अहिंसा का नियम न लेते हुए भी अहिंसा का यथा-शक्ति पालक होता है, न्यायमार्गी दयालु व सदाचारी होता है।

अविरतं सुध दिस्टी च, सुद्ध तत्त्व प्रकासऐ।
सुधात्मा सुध भावस्य, असुधं सर्व तिक्तयं॥ १५२॥

अन्वयार्थ– (अविरतं सुध दिस्टी च सुद्ध तत्त्व प्रकासऐ) अविरत सम्यग्दृष्टि के भीतर शुद्ध आत्म तत्त्व का प्रकाश या अनुभव या दर्शन हो जाता है (सुधात्मा सुध भावस्य) उसके अन्तरंग में शुद्धात्मा झलक जाता है। वह शुद्ध भावों को अशुद्ध भावों से भिन्न जानकर (असुधं सर्व तिक्तयं) सर्व ही अशुद्ध भावों का त्यागी हो जाता है।

भावार्थ– ऐसा चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा कहलाता है। जिसने भीतर आत्मा के तत्त्व को सर्व रागादि भावों से, ज्ञानावरणादि कर्मों से व शरीरादि नौकर्मों से भिन्न अनुभव कर लिया है, जिसको परमात्मा की पहचान हो गई है, जो शुद्धोपयोग को ही शुद्ध भाव जानता है, शुभोपयोग, अशुभोपयोग दोनों को अशुद्ध भाव जानता है। उसकी श्रद्धा में जैसे हिंसादि पाप बंधकारक हैं, वैसे दान, पूजा, भक्ति, जप, तप आदि शुभ भाव भी बंधकारक हैं। ऐसा झलक गया है। निर्विकल्प निर्विकार मन, वचन, काय की गुप्तिरूप स्वसंवेदन स्वरूप एक शुद्ध भाव ही ग्रहण करने योग्य है।

ऐसी गाढ़ श्रद्धा उसे हो जाती है। वह अन्य सर्व अशुद्ध भावों की श्रद्धा की अपेक्षा त्यागी हो जाता है। वह संसार में किसी भी शुभ-अशुभ प्रवृत्ति को करना नहीं चाहता है, कषायों के उदय से लाचार हो गृहस्थ योग्य कार्य करता है। अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग, धर्म, दान, पूजा आदि करता है, तथापि मोक्ष मार्ग मात्र एक शुद्ध आत्म परिणति को ही मानता है।

सुध दिस्टि जथा प्रोक्तं, दिस्टते सास्वतं पदं।
दिस्टते मोष्यमार्गस्य, आत्मानं परमात्मानं॥ १५३॥

अन्वयार्थ- (जथा प्रोक्तं सुध दिस्टि) जैसी जिन शासन में कही गई है, ऐसी शुद्ध श्रद्धा या सम्यग्दृष्टि (सास्वतं पदं दिस्टते) अविनाशी आत्मा के निज पद को या निर्वाण को देख लेती है (मोष्यमार्गस्य दिस्टते) वह निर्वाण के मार्ग को भी देख लेती है (आत्मानं परमात्मानं) आत्मा को परमात्मा के समान ही एक रूप देख लेती है।

भावार्थ- यथार्थ निर्मल सम्यग्दर्शन का धारी आत्मा परम विवेकी हो जाता है। उसको अविनाशी सिद्ध पद अपने ही आप में झलकता है तथा उस पद की सिद्धि का मार्ग एक अभेद रत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्मानुभव है यह भी भले प्रकार झलकता है। उसकी शुद्ध दृष्टि में अपना आत्मा व परमात्मा समान प्रकाशित हो जाता है। अद्वैत भक्ति में वह आत्मलीन होता है, द्वैत भक्ति में वह परमात्मा के गुणानुवाद गाता है। तथापि समझता है कि मैं अपने आत्मा के ही गुण-गान कर रहा हूँ। जहाँ आत्मा अपने ही स्वरूप में ऐसा लीन हो जावे कि उसको सिवाय अपने आत्मा के और कुछ अनुभव में नहीं आवे। उसका ध्यान सर्व से हट जावे वही अद्वैत भक्ति है जो परम कल्याणकारिणी है।

दिस्टते देवदेवं च, दिस्टते ममलं धुवं।
दिस्टते सुध सर्वन्यं, दिस्टते न्यानमयं धुवं॥ १५४॥

अन्वयार्थ- (देवदेवं च दिस्टते) सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा देवों के देव अरहंत तथा सिद्ध परमात्मा में गाढ़ होती है (ममलं धुवं दिस्टते) उसकी श्रद्धा में झलकता है कि मेरा आत्मा अविनाशी एकाकार निरंजन निर्विकार है (सुध सर्वन्यं दिस्टते) वह वीतराग सर्वज्ञ भगवान को पहचान जाता है (न्यानमयं धुवं दिस्टते) वह ज्ञानाकार नित्य आत्मद्रव्य का प्रेमी हो जाता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि की रुचि या श्रद्धा व उसकी ज्ञान परिणति अत्यन्त स्वच्छ व निर्दोष हो जाती है। वास्तव में जिसके भीतर आत्मानुभूति से अविनाभावी निश्चय सम्यग्दर्शन जागृत हो जाता है, वही सच्चे देव को पहचानता है, वही अरहंत व सिद्ध भगवान को समझता है, वही अपने आत्मा को भी नित्य ज्ञानान्दमय परमात्मावत् जानता है। वह जानता है कि जैसे परमात्मा का स्वभाव सर्वज्ञ वीतरागमय है, वैसा मेरा स्वभाव भी सर्वज्ञ वीतरागमय है। उसकी निर्मल दृष्टि में सर्व जगत की आत्माएँ एक रूप शुद्ध दिखती हैं। उसके भीतर अपूर्व साम्यभाव प्रकाश हो जाता है। उसके भीतर

से रागद्वेष की कालिमा दूर हो जाती है। गृहस्थ में रहते हुए भी वह पूर्ण विरक्त रहता है, बाहर से रागी द्वेषी दिखता है, परन्तु भीतर से वह पूर्ण वैरागी व साम्यभाव का धारी है। वह जगत के कार्य करता हुआ भी अकर्ता है, भोगता हुआ भी अभोक्ता है।

श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं:-

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥ ४१॥

भावार्थ- जिसके भीतर दृढ़ प्रतीति आत्मतत्त्व की हो गई है वह सम्यग्दृष्टि बोलते हुए भी नहीं बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है। प्रयोजन यह कि उसका गाढ़ प्रेम निज स्वसमय प्रवृत्ति में व निजात्म रमण में है, इसलिए सर्व अन्य कार्यों को उदासीन भाव से करता है। किसी में भी आसक्त नहीं होता है।

दिस्टते त्ति अर्थ सुद्धं च, षट्कमलं पंच दीप्तयं।
आरति रौद्र परित्याज्यं, धर्म सुकलं च दिस्टते॥ १५५॥

अन्वयार्थ- सम्यग्दृष्टि को (सुद्धं च ति अर्थ दिस्टते) शुद्ध तीन पदार्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र दीख पड़ते हैं (षट्कमलं पंच दीप्तियं) वह शुद्ध छः कमल को व पाँच दीप्ति को देखता है (आरति रौद्र परित्याज्यं) आर्त रौद्रध्यान का उसके त्याग होता है (धर्म सुकलं च दिस्टते) धर्मध्यान व शुक्लध्यान वहाँ दिखलाई पड़ता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध अभेद रत्नत्रय का अनुभव करता है, वह कमल में स्थापित ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः इन छः अक्षरों के मंत्र द्वारा व पाँच परमेष्ठी द्वारा या पाँच ज्ञान द्वारा शुद्धात्मा का ही मनन करता है। उसके दुःखित परिणाम रूप आर्तध्यान तथा दुष्ट परिणाम रूप रौद्रध्यान नहीं होता है। उसके धर्मध्यान व शुक्लध्यान की मुख्यता है। यद्यपि पहले दो ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक व आर्तध्यान छठे तक कहा गया है, परन्तु इनकी मुख्यता मिथ्यादृष्टि के ही है। सम्यक्त्वी के सातवें तक धर्मध्यान फिर चौदहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान होता है। षट्कमल पाँच दीप्ति का अर्थ जो समझ में आया सो लिखा है। यदि दूसरा हो तो विद्वज्जन विचार लेवें।

दिस्टते च स्वयं रूपं, परमानंद नन्दितं।
चिदानंद मयं सुधं, अप्पा परमप्प दिस्टते॥ १५६॥

अन्वयार्थ- सम्यग्दृष्टि को (स्वयं रूपं च) अपना स्वभाव ही (परमानंद नंदितं) परम अतीन्द्रिय आनंद में मग्न (चिदानंद मयं सुधं दिस्टते) चैतन्य व आनंदमयी कर्मरहित शुद्ध दिखलाई पड़ता है, उसे (अप्पा परमप्प दिस्टते) उसे आत्मा व परमात्मा एक-सा अनुभव में आता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि शुद्ध निश्चय नय की प्रधानता से जब देखता है, तब उसे अपना आत्मा चैतन्यमयी, आनंदमयी सदा परमानंद का भोगी परमात्मा के तुल्य दिखाई पड़ता है। जब वह इसी तरह मनन करते-करते स्व स्वरूप में मग्न हो जाता है, तब उसे शुद्धात्मा के भोग का ही स्वाद आता है।

दिस्टते जिन उक्तं च, प्रोक्तं च भव्यलोकयं।
दिस्टतं सुद्ध समं सुद्धं, सुद्धदिस्टी च उच्यते॥ १५७॥

अन्वयार्थ- (जिन उक्तं च भव्यलोकयं प्रोक्तं दिस्टते) सम्यग्दृष्टि को पदार्थों का स्वरूप वैसा ही यथार्थ दिखलाई पड़ता है- जैसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है व जैसे गणधरादि देवों ने भव्य लोगों को द्वादशांग वाणी द्वारा समझाया है (सुद्ध दिस्टतं समं सुद्धं) जिसके शुद्ध सम्यग्दर्शन, समतारूप दोष रहित है वही (सुद्ध दिस्टी च उच्यते) सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि व्यवहार नय से छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थों का वैसा ही श्रद्धान रखता है, जैसा श्री जिनेन्द्र ने दिव्य ध्वनि से कहा था व जैसा गणधरों ने द्वादशांग में गूंथकर भव्य लोगों को बतलाया था। निश्चय नय से उसे शुद्ध आत्मा का दृढ़ श्रद्धान है। वह सर्व आत्माओं को एक समान देखता हुआ परम शुद्ध साम्यभाव में लीन हो जाता है।

देवं गुरं स्रुतं दिस्टं, जिन उक्तं जिनागमं।
दिस्टतं सयल विन्यानं, सुद्ध दिस्टि समं धुवं॥ १५८॥

अन्वयार्थ- (देवं गुरं स्रुतं दिस्टं) सम्यक्त्वी जीव ने सच्चे देव, गुरु तथा श्रुत का श्रद्धान कर लिया है (जिन उक्तं जिनागमं) उसको जिनेन्द्र कथित जिन आगम की गाढ़ रुचि हो गई है (सयल विन्यानं दिस्टतं) उसको शुद्ध भेद विज्ञान दिखलाई पड़ गया है (सुद्ध दिस्टि समं धुवं) वह शुद्ध आत्मदर्शन जो साम्यभाव व अविनाशी है, उसको रखने वाला है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि को जैसे छः द्रव्यादि का श्रद्धान है, वैसे उसे व्यवहार नय के अभिप्राय से सच्चे सर्वज्ञ वीतराग देव का, परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ गुरु का, पूर्वापर विरोध रहित स्याद्वादनय गर्भित शास्त्र का तथा जिन कथित सर्व जिन आगम का दृढ़ श्रद्धान है। उसी सम्यक्त्वी के भीतर यथार्थ भेद विज्ञान होता है, जिससे निज आत्मा को सर्व अन्य आत्माओं से व सर्व परद्रव्यों से भिन्न जानता है। उसी को निश्चय नय से परम समतारूप अविनाशी आत्मा प्रतीतिरूप शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है।

असुध दिस्टि न दिस्टंते, कुदेवं कुगुरस्तथा।
कुसास्त्रं कुन्यानं जेन, न दिस्टति सुद्ध दिस्टितं॥ १५९॥

अन्वयार्थ- (असुध दिस्टि न दिस्टंते) सम्यग्दृष्टि के भीतर मिथ्या श्रद्धान नहीं दिखलाई पड़ता है (जेन) इसी कारण से (सुद्ध दिस्टितं कुदेवं कुगुरस्तथा कुसास्त्रं कुन्यानं न दिस्टति) शुद्ध दोष रहित

सम्यग्दृष्टि जीव के रागी द्वेषी देव परिग्रहासक्त गुरु तथा एकान्त दूषित व कषाय पोषक शास्त्र का श्रद्धान नहीं होता है और न उसके पास कुमति, कुश्रुत, कुअवधि दिखलाई पड़ते हैं।

भावार्थ– सम्यग्दृष्टि वही है, जिसके मिथ्यादृष्टि न हो। तब वह स्वयं सिद्ध है कि वह कभी भी कुदेव, कुगुरु व कुशास्त्र का मानने वाला न होगा और न उसके तीन मिथ्या ज्ञान ही होंगे। वह तो यथार्थ ज्ञानी व यथार्थ श्रद्धानी रहता हुआ मोक्ष मार्ग पर चलने वाला है।

मिथ्या देव गुरं धर्मं, मिथ्या माया न दिस्टते।
सल्यं त्रिति मिथ्यातं, न दिस्टते सुध दिस्टितं॥ १६० ॥

अन्वयार्थ– (सुध दिस्टितं) सम्यग्दृष्टि के भीतर (मिथ्या देव गुरं धर्मं) मिथ्या देव, मिथ्या गुरु व मिथ्या धर्म की श्रद्धा बिलकुल नहीं होती है (मिथ्या माया न दिस्टते) न उसके भावों में मिथ्या उपाधि दिखलाई पड़ती है (त्रिसल्यं ति मिथ्यातं न दिस्टते) न वहाँ तीन शल्य और न तीन मिथ्यात्व झलकते हैं।

भावार्थ– सम्यग्दृष्टि भूलकर भी मिथ्या देव, गुरु, धर्म का रुचिमान नहीं हो सकता है, क्योंकि उसको संसार की मिथ्या उपाधि का प्रेम नहीं है। वह संसार को असार व त्यागने योग्य समझ चुका है, वह धन कुटुम्बादि के संयोग को आसक्ति बुद्धि से नहीं चाहता है। यह अन्तरात्मा शुद्ध भावों से ही धर्म का साधन करता है। माया शल्य रखकर, मिथ्या श्रद्धा की शल्य रखकर, आगामी भोग प्राप्ति रूप निदान शल्य रखकर कभी भी धर्म सेवन नहीं करता है, न उसके तीन दर्शन मोहनीय के उदय से होने वाले भाव होते हैं, न वहाँ मिथ्या दर्शन है, न मिथ्यात्व सम्यक् मिला हुआ भाव है और न सम्यक्त्व में कोई दोष लगाने वाला भाव है। ऐसा शुद्ध सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्गी है।

अदेवं अगुरं जेन, अधर्मं असुहं पदं।
संसार सरनि सरीस्य, न दिस्टते सुध दिस्टितं॥ १६१ ॥

अन्वयार्थ– (जेन) क्योंकि (अदेवं अगुरं अधर्मं असुहं पदं) कुदेव, कुगुरु, कुधर्म अशुद्ध पद हैं (संसार सरनि सरीरस्य) संसार मार्ग है व शरीर प्राप्ति के ही कारण हैं, इसलिए (सुध दिस्टितं न दिस्टते) सम्यग्दृष्टि उनकी श्रद्धा नहीं रखता है।

भावार्थ– सर्वज्ञ वीतराग सुदेव हैं, रागी, द्वेषी सब कुदेव हैं। निर्ग्रंथ वीतरागी सुगुरु हैं, परिग्रह धारी रागी, द्वेषी कुगुरु हैं, वीतराग विज्ञान सुधर्म है, रागद्वेष पोषक मार्ग कुधर्म है। ये कुदेव, कुगुरु व कुधर्म संसार के मार्ग में ले जाने वाले हैं, बार-बार शरीर की प्राप्ति के कारण हैं। ये स्वयं अशुद्ध पद हैं। रागद्वेष से मलीन हैं। जो स्वयं मलीन है वह दूसरों को शुद्ध करने में कारण कैसे हो सकता है। मैला पानी मैल को कैसे धो सकता है। इसलिए जो शुद्ध होने का इच्छुक सम्यग्दृष्टि है, वह संसार के बढ़ाने के कारण ऐसे कुदेव, कुगुरु व कुधर्म की श्रद्धा नहीं करता है, न इनकी भक्ति करता है।

राग दोषं न दिस्टंते, विकहा विसन न दिस्टते।
अबंभ भाव न दिस्टंते, न दिस्टते संसार कारणं॥ १६२॥

अन्वयार्थ– सम्यग्दृष्टि शुद्ध आत्मधर्म को ही शुद्ध धर्म मानता है। इसलिए उसकी श्रद्धा में व उसके निर्मल आत्मानुभव में (राग दोषं न दिस्टंते) रागद्वेष नहीं दिखलाई पड़ते हैं (विकहा विसन न दिस्टते) विकथा व व्यसन नहीं दिखलाई पड़ते हैं (अबंभ भाव न दिस्टंते) कुशील भाव नहीं दिखलाई पड़ते हैं (संसार कारणं न दिस्टते) इत्यादि और भी संसार के भ्रमण कराने वाले कारण नहीं दिखलाई पड़ते हैं।

भावार्थ– सम्यग्दृष्टि को दृढ़ श्रद्धान है कि जितने भी संसार के कारणीभूत भाव हैं वे त्यागने योग्य हैं। इसलिए वह रागद्वेष को, स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा व राजकथा को जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्या सेवन, शिकार खेलना, चोरी करना व परस्त्री सेवन करना। इन सात व्यसनों को आत्मलीन ब्रह्मचर्य के सिवाय सर्व ही परासक्ति रूप अब्रह्म भाव को व कुशील को कभी भी धर्म व ग्रहण करने योग्य नहीं मानता है। इन सबसे उसके भीतर वैराग्य रहता है। जब वह ध्यानमग्न होता है, तब उसके शुद्ध भाव में इन सब अशुद्ध भावों का झलकाव नहीं होता है।

कर्म त्रिविधि न पस्यंते, दोषं नंत न पस्यते।
न पस्यते मन पसरस्य, इन्द्री सुषं न पस्यते॥ १६३॥

अन्वयार्थ– सम्यग्दृष्टि के आत्मानुभव रूप धर्म में (कर्म त्रिविधि न पस्यंते) तीन प्रकार कर्म– भावकर्म, द्रव्यकर्म एवं नौकर्म नहीं दिखलाई पड़ते हैं (दोषं नंत न पस्यते) अनंत प्रकार के अशुद्ध भाव हैं वे नहीं दिखलाई पड़ते हैं (मन पसरस्य न पस्यते) मन का फैलाव या मन द्वारा होने वाले अनेक संकल्प विकल्प नहीं दिखलाई पड़ते हैं (इन्द्री सुषं न पस्यते) इन्द्रिय सुख नहीं दिखलाई पड़ता है।

भावार्थ– सम्यग्दृष्टि को दृढ़ श्रद्धान होता है कि रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नौकर्म, काम, भय, ग्लानि आदि अनेक दोष, मन के विचार, इन्द्रियों के द्वारा होने वाले सुख ये सब आत्मा के शुद्ध धर्म नहीं हैं। ये सब मोक्ष के कारण नहीं हैं। ये सब संसार के बढ़ाने वाले बन्ध के कारण हैं। ऐसा जानकर इन सबको त्यागने योग्य समझता है और जब ध्यान में मग्न होता है, तब उसके अनुभव में इन सबका पता नहीं चलता है। उसकी निर्विकल्प समाधि में एक शुद्ध आत्मा ही परमात्मा के तुल्य झलकता है। वास्तव में आत्मा का स्वाभाविक धर्म इन सबसे परे है। वहाँ मन, वचन, काय के कोई विकल्प नहीं होते हैं। समाधिशतक में श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं।

स्वबुद्धया यावद्ग्रहीयात् काय वाक् चेतसां त्रयं।
संसारस्तावदेते वां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥ ६२॥

भावार्थ– जब तक यह जीव मन, वचन, काय तीनों को व उनकी सर्व चेष्टाओं को आत्मा की चेष्टाएँ हैं व ये आत्मा हैं, ऐसा मानेगा, तब तक संसार बढ़ेगा। जब इनसे भिन्न आत्मा है, ऐसा अभ्यास

करेगा तब निर्वाण का लाभ कर सकेगा। वास्तव में आत्मा व मोक्षमार्ग मात्र स्वानुभवगम्य है मन मात्र गुणों को विचार में ला सकता है। वह एक-एक गुण का व पर्याय का विचार करेगा। सर्वांश पूर्ण आत्मद्रव्य का ग्रहण मन से यथार्थ नहीं हो सकता। जब मन स्थिर होगा व आप-आप में लयता प्राप्त होगी तब ही आत्मा का यथार्थ स्वाद आवेगा।

जेतानि कर्म संजुक्तं, प्रकृति भाव न दिस्टते।
न दिस्टते घाति कर्मस्य, पुण्यं पापं न दिस्टते॥ १६४॥

अन्वयार्थ– सम्यग्दृष्टि आत्मानुभवरूप धर्म में (जेतानि कर्म संजुक्तं प्रकृति भाव न दिस्टते) जितनी कर्म प्रकृतियों के भाव हैं सो कोई भी दिखलाई नहीं पड़ते हैं (घाति कर्मस्य न दिस्टते) न चार घातियाकर्म दिखलाई पड़ते हैं (पुण्यं पापं न दिस्टते) न पुण्य पाप कभी दिखलाई पड़ते हैं।

भावार्थ– आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही सम्यग्दृष्टि के अनुभव में आता है, वह जानता है कि आत्मा आत्मारूप है, उसमें कोई भी परभाव व परद्रव्य या परपर्याय का संबंध नहीं है। इसीलिए आठों कर्म प्रकृतियों के संबंध से जो कुछ भी जीव में असर पड़ सकते हैं वे कोई भी जीव में नहीं हैं। न वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय चार घातिया कर्म हैं; और न वहाँ सातावेदनीय शुभ नाम, शुभ गोत्र, शुभ आयु ऐसी चार पुण्य रूप अघातिया कर्म हैं। न वहाँ असातावेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र, अशुभ आयु ऐसे चार अघातिया रूप पाप कर्म हैं। ऐसा ही शुद्ध आत्मा सम्यग्दृष्टि के अनुभव में आता है।

न पस्यते त्रि कुन्यानं, कषायं विषय न पस्यते।
न पस्यते इन्द्रीन्यानं, न पस्यते बंध चौविहं॥ १६५॥

अन्वयार्थ– सम्यग्दृष्टि के आत्मानुभव रूपी धर्म में (त्रिकुन्यानं न पस्यते) तीन कुज्ञान नहीं दिखलाई पड़ते हैं (कषायं विषय न पस्यते) चार कषाय व पाँच इन्द्रियों की इच्छाएँ व विषय नहीं दिखलाई पड़ते हैं। (इन्द्री न्यानं न पस्यते) इन्द्रिय जनित ज्ञान भी नहीं दिखलाई पड़ता है (न पस्यते बंध चौविहं) न चार प्रकार कर्म का बंध दिखलाई पड़ता है।

भावार्थ– शुद्ध निश्चय नय से आत्मा में कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तीन कुज्ञान नहीं है न क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायें हैं, न स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द हैं, न इनकी इच्छाएँ हैं, न वहाँ पाँच इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान है, न वहाँ प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप चार प्रकार का कर्मबंध हैं। जब कर्मों का आत्मा से बंध होता है, तब चार बातें होती हैं। कर्मों में स्वभाव पड़ना प्रकृति बंध है जैसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मों में आत्मा के साथ ठहरने की मर्यादा पड़ना स्थितिबंध है। कर्मों में उदय होते हुए तीव्र या मंद फलदान शक्ति का पड़ना अनुभाग बंध है। कर्मों की वर्गणाओं की संख्या कि किस प्रकृति के कितने कर्म बंधे, सो प्रदेशबंध है। शुद्ध आत्मा में ऊपर लिखित कोई कर्म- जनित अवस्थाएँ नहीं हैं। ऐसा ही अनुभव सम्यग्दृष्टि को होता है। आत्मा में अतीन्द्रिय ज्ञान

है। इन्द्रियों द्वारा ज्ञान पराधीन होता है, सो आत्मा का स्वभाव नहीं है। इन्द्रिय जनित ज्ञान क्रमवर्ती है। एक इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है, वह दूसरी इन्द्रिय से नहीं होता है। जबकि आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान एक समय में सर्व पदार्थों के स्वरूप को जान सकता है।

ठिदि अनुभागं न पस्यंते, प्रकृति प्रदेश न पस्यते।
चौविहि बन्ध न पस्यंते, संसार सरनि न दिस्टते॥ १६६॥

अन्वयार्थ– सम्यग्दृष्टि के आत्मानुभव में (ठिदि अनुभागं न पस्यंते) स्थिति, अनुभाग बन्ध नहीं दिखलाई पड़ते हैं (प्रकृति प्रदेस न पस्यंते) न वहाँ प्रकृति, प्रदेश बंध दिखाई देते हैं (चौविहि बन्ध न पस्यंते) चार तरह का कर्म बंध नहीं दिखलाई पड़ता है। इसलिए (संसार सरनि न दिस्टते) संसार का मार्ग नहीं दिखलाई पड़ता है।

भावार्थ– आत्मा के शुद्ध स्वभाव में चार तरह का कर्म बंध नहीं है। आत्मा के कर्म का बंध कहना व्यवहार नय से है। कर्म पौद्‌गलिक जड़ है। आत्मा चैतन्य अमूर्तिक है। जब कर्मों का बंध आत्मा में नहीं है। तब संसार की चार गतियों में भ्रमण भी आत्मा में नहीं है क्योंकि सर्व ही भ्रमण का कारण कर्मों का उदय है। इसलिए आत्मा अपने स्वभाव में नित्य निश्चल रहने वाला है। उसके स्वभाव में बंध व मोक्ष की कल्पना ही नहीं है। ऐसे ही आत्मा के स्वभाव का अनुभव सम्यग्दृष्टि को होता है। वास्तव में निश्चयनय से आत्मा का स्वभाव परम निर्मल है। जैसा समयसार में स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं:-

जीवस्य णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संघदणं॥ ५५॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णो कम्मं चा वि से णत्थि॥ ५६॥
जीवस्य णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव कड्डया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणा वा॥ ५७॥
जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा न बंधठाणा वा।
णे वय उदयट्ठाणा णो मग्गण ठाणया केई॥ ५८॥
णो ठिदि बन्धट्ठाणा जीवस्य ण संकिलेस ठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धि ठाणा वा॥ ५९॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥ ६०॥

भावार्थ– शुद्ध निश्चय नय से इस जीव द्रव्य में न तो वर्ण है, न गंध है, न कोई रस है और न स्पर्श है। न रूप है, न शरीर है और न संस्थान (शरीर के आकार) हैं। न कोई संहनन (हड्डी विशेष)

है ॥५५ ॥ न इस जीव के राग है, न द्वेष है और न यहाँ मोह पाया जाता है, न कर्मास्रव के कारण मिथ्यात्व भाव, अविरति, कषाय तथा योग है, न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं न शरीरादि नौकर्म हैं ॥ ५६ ॥ न इस जीव के कोई वर्ग (एक कर्म परमाणु में फल दान शक्ति समूह) है, न वर्गणा (वर्गों का समूह) है और न कोई स्पर्द्धक (कर्म वर्गणा का समूह) है, न रागादि अध्यवसान या अभिप्राय है और न कोई कर्म रस रूप अनुभाग के स्थान हैं ॥ ५७ ॥ न इस जीव के कोई मन, वचन, काय द्वारा आत्मप्रदेश हलन-चलन रूप योग स्थान है, और न कर्मबंध के स्थान हैं। न कर्मों के उदय स्थान हैं और न गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक ऐसें चौदह भेद रूप मार्गणा स्थान हैं, जहाँ संसारी जीवों को ढूंढ़ा जाता है ॥५८ ॥ न इस जीव के कर्मों की काल की मर्यादा रूप स्थिति बन्ध स्थान है। न कोई अशुभोपयोग रूप संकलेश स्थान है न शुभोपयोग रूप विशुद्धि स्थान है और न संयम भाव की प्राप्ति रूप संयम लब्धि स्थान है ॥५९ ॥ न इस जीव के एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रियादि भेदरूप जीव समास है और न जीवों के भावों की क्रम से उन्नति रूप होने वाले दरजे मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशांतमोह, क्षीण मोह, सयोग केवली, अयोग केवली ऐसे चौदह गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्‌गल द्रव्य की अवस्थाएँ हैं।

अन्यानं वृत क्रिया जेन, स्रुतं अन्यान तपं कृतं।
अनेय कस्ट न दिस्टंते, न्यानहीनो न दिस्टते॥ १६७॥

अन्वयार्थ– (जेन अन्यानं व्रत क्रिया स्रुतं अन्यान तपं कृतं अनेय कष्ट न दिस्टंते) जो आत्मज्ञान रहित अज्ञान सहित व्रत आचरण करता है; शास्त्र का अभ्यास करता है व अज्ञान तप करता है उसको जो इस लोक में मानसिक व शारीरिक कष्ट होता है। तथा परलोक में जो कुछ कर्म के उदय से आकुलता रूप क्लेश होता है। यह सब इस लोक व परलोक संबंधी क्लेश सम्यग्दृष्टि के परिणामों में नहीं दिखलाई पड़ता है। (न्यानहीनो न दिस्टते) सम्यक्त्वी कभी आत्मज्ञान से शून्य नहीं दिखलाई पड़ता है।

भावार्थ– सम्यक्त्वी का जितना कुछ व्रताचरण, शास्त्र मनन तथा तप साधन है, सब निराकुल आनंदमय होता है व उसका फल भी निराकुलता का लाभ रूप साता का उदय होता है। उसको मिथ्यादृष्टि के समान शारीरिक व मानसिक कष्ट नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि जब उपवास आत्मानन्द के लाभ बिना किसी विषय की आशा से कष्ट सहकर करता है, तब सम्यक्त्वी आत्मानन्द का लाभ लेता हुआ वीतराग भाव के लिए बड़ी रुचि से करता है। सम्यक्त्वी के सदा सम्यग्ज्ञान रहता है। चाहे जिस अवस्था में रहे वह सोते हुए भी आत्मज्ञान की श्रद्धा से शून्य नहीं होता है।

अविरतं सुद्ध दिस्टी च, उपादेय गुन संजुतं।
मतिन्यानं च, संपूर्नं, उवएसं भव्यलोकयं॥ १६८॥

अन्वयार्थ- (अविरतं सुद्ध दिस्टी च) अविरत सम्यग्दृष्टि भी (उपादेय गुन संजुतं) ग्रहण करने योग्य गुणों का धारी होता है (संपूर्नं च मतिन्यानं) उसको यथार्थ मतिज्ञान होता है (उवएसं भव्यलोकयं) उसका उपदेश भी भव्य जीवों को यथार्थ होता है।

भावार्थ- चौथा गुणस्थानवर्ती भी सम्यग्दृष्टि पाँच व्रतों के नियमों को न रखता हुआ भी जितने गुण मोक्ष मार्ग में सहकारी हैं, उनका श्रद्धावान होता है। व यथाशक्ति उनकी प्राप्ति का उद्यम करता है, पाँच इन्द्रियों से जो कुछ वह जानता है, उसमें हेय व उपादेय बुद्धि यथार्थ करता है। वह इन्द्रियों के विषयों में लुब्धायमान व आसक्त नहीं होता है। वह भव्य जीवों को यथार्थ उपदेश देता है।

उवएसं च जिनं उक्तं, सुद्ध तत्त्व समं धुवं।
मिथ्या माया न दिस्टंते, उवएसं सास्वतं पदं॥ १६९॥

अन्वयार्थ- सम्यग्दृष्टि (जिन उक्तं च उवएसं) जिनेन्द्र भगवान ने जैसा कहा है वैसा यथार्थ उपदेश देता है (सुद्ध तत्त्व समं धुवं) वह अविनाशी, समता रूप, शुद्ध आत्मिक तत्त्व का उपदेश करता है (मिथ्या माया न दिस्टंते) उसकी वाणी में मिथ्यात्वमयी उपदेश नहीं दिखाई पड़ता है (उवएसं सास्वतं पदं) वह अविनाशी मोक्ष पद का उपदेश करता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि व्यवहार नय से जीवादि सात तत्त्वों का उपदेश जिनागम के अनुसार करता है तथा शुद्ध ध्रुव आत्मतत्त्व का भी उपदेश यथार्थ करता है। वह कभी भी मिथ्या तत्त्व का उपदेश नहीं देता है। जैसे वह मोक्षपद का उद्देश्य रखता है, वैसा वह दूसरों को बताता है।

उवएसं धर्म सुद्धं च, तत्त्व दर्व पदार्थकं।
उवएसं काय पंचास्तं, उवएसं व्रत संजमं॥ १७०॥

अन्वयार्थ- सम्यग्दृष्टि (सुद्धं धर्म च उवएसं) शुद्ध आत्मिक धर्म का ही उपदेश करता है (तत्त्व दर्व पदार्थकं काय पंचास्तं उवएसं) वह सात तत्त्व, छः द्रव्य, नौ पदार्थ व पाँच अस्तिकाय का यथार्थ उपदेश करता है (व्रत संजमं उवएसं) वह महाव्रत, अणुव्रत का व मुनि ग्रहस्थ के संयम का ही ठीक-ठीक उपदेश करता है।

भावार्थ- जैसे सम्यग्दृष्टि को सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय मुनि व श्रावक के व्रतों का ज्ञान व श्रद्धान होता है। वैसे ही वह उनका स्वरूप दूसरों को बताता है। इन सबका जानना मोक्ष मार्ग में सहायकारी है। इसी तरह वह निश्चय नय से शुद्ध आत्म तत्त्व को जानता है व अनुभवता है व वैसा ही उपदेश दूसरों को देता है। सम्यक्त्वी उपदेश देकर स्थितिकरण व प्रभावना अंग का पालन करता है।

उवएसं तपं सुधं, प्रतिमा एक दसानि च।
देव गुर धर्म सुद्धं च, दर्सनं न्यान संजुतं॥ १७१ ॥

अन्वयार्थ- (सुधं तपं एक दसानि च प्रतिमा) जो आत्मज्ञान सहित शुद्ध तप का ग्यारह प्रतिमाओं का (दर्सनं न्यान संजुत) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित (सुद्धं च देव गुर धर्म) वीतराग देव गुरु धर्म का (उवएसं) उपदेश करता है। वह सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि का वह उपदेश भी यथार्थ ही होता है। वह उपवास, ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग विविक्ति शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन बारह तपों को आत्मानुभव की सिद्धि करने के लिए उपदेश करता है। इसी हेतु से श्रावक की ग्यारह श्रेणियों का चारित्र बताता है। वे ११ श्रेणियाँ हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रि भोजन त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग। देव, गुरु, धर्म का सच्चा स्वरूप बताता है। जिनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की पूर्णता हो ऐसे सर्वज्ञ वीतराग भगवान को ही देव, निर्ग्रंथ वीतरागी रत्नत्रय के साधक को गुरु व रत्नत्रयमय परिणति को धर्म समझाता है।

उवएसं न्यान मयं सुधं, संमिक्तं सास्वतं पदं।
उवएसं सयल विन्यानं, न्यान सहकार उदेसनं॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानमयं सुधं संमिक्तं सास्वतं पदं उवएसं) वह सम्यग्दृष्टि उपदेश करता है कि आत्मज्ञानमयी भाव का अनुभव निश्चय सम्यक्त्व है व वही आत्मा का अविनाशी एक गुण है (उवएसं सयल विन्यानं) तथा वह सम्पूर्ण केवलज्ञान पाने का उपदेश करता है (न्यान सहकार उदेसनं) वह ज्ञान की जिन-जिन उपायों से वृद्धि हो उनका उपदेश करता है।

भावार्थ- सम्यक्त्वी का सर्व उपदेश यथार्थ होता है कि निश्चय सम्यक्त्व आत्मा का एक गुण है, जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव किया जाता है, वहीं उसका प्रकाश होता है। उस गुण का न कभी जन्म है न कभी नाश है, अनादिकाल से ऊपर कही हुई अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियों से आच्छादित रहता है। इनके हटने से प्रकाशित हो जाता है। केवलज्ञान जब तक प्रगट नहीं होता तब तक एक सम्यक्त्वी को जो जो उपाय केवलज्ञान के प्रकाश के लिये करने योग्य हैं, उन सर्व को बताता है। जैसे श्रावक व साधु का सर्व चारित्र जिससे बाहर से आकुलता घटती जाय, अन्तरंग में समता बढ़ती जावे व आत्मज्ञान की निर्मलता बढ़ते-बढ़ते धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान पैदा हो जावे।

♣ ♣ ♣

तीन प्रकार आत्मा

आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं च, पर अंतर बहिरप्पयं।
आत्मानं सुधात्मानं, परमात्मा परमं पदं॥ १७३॥

अन्वयार्थ- (आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं च) आत्मा के तीन भेद कहे गये हैं (परअंतर बहिरप्पयं) परमात्मा अन्तरात्मा और बहिरात्मा (आत्मानं सुधात्मानं परमात्मा परमं पदं) जो शरीरादि को आत्मा जानता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। जो शुद्ध आत्मा को ही आत्मा जानता है, वह अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि है। जो उत्कृष्ट पद में रहने वाला है, वह परमात्मा है।

भावार्थ- आत्मा के तीन भेद भी शास्त्रों में कथन किये हैं, इन तीनों पर्यायों की शक्ति आत्म-द्रव्य में है, जो शुद्ध आत्मा को श्रद्धा में न लाकर अशुद्ध को शुद्ध माने, आत्मा से बाहर जो कुछ है, उसको आत्मा मान मन, वचन, काय की किसी भी क्रिया को आत्मा जान ले, जो विषय सुख को सुख जाने वह बहिरात्मा है। जो आत्मा को स्वभाव से शुद्ध परमात्मा के समान जाने वह अंतरात्मा है, तथा जो चार घातिया कर्म से रहित अरहंत हैं व आठों कर्म रहित सिद्ध हैं, वे परमात्मा हैं। परमात्मा पद भाव की भावना रखते हुए हमें अंतरात्मा होकर व बहिरात्मापना त्यागकर मोक्ष का साधन करना चाहिये। समाधिशतक में श्री पूज्यपाद स्वामी. कहते हैं।

बहिरात्मा शरीरादौ, जातात्मभ्रांतिरान्तरः।
चित्त दोषात्मविभ्रांतिः परमात्माति निर्मलः॥ ५॥

भावार्थ- जिनको शरीर आदि में अर्थात् मन, वचन, काय की किसी भी अवस्था में आत्मापने की भ्रांति है, वह बहिरात्मा है। जिसके भावों से भ्रांति निकल गई है, जो रागादि दोषों को भी शुद्ध आत्मा के स्वभाव से भिन्न जानता है, वह अन्तरात्मा है तथा जो अति निर्मल आत्मा है, वह परमात्मा है।

मिथ्या त्रिति कुन्यानं च, सल्यं त्रिति न दिस्टते।
कषायं विषय दुस्टं च, राग दोषं न चिंतए॥ १७४॥

अन्वयार्थ- सम्यक्त्वी के भावों में (मिथ्या त्रिति कुन्यानं) तीन प्रकार मिथ्यात्व व तीन प्रकार कुज्ञान व (त्रिति सल्यं न दिस्टते) तीन प्रकार शल्य नहीं दिखलाई पड़ते हैं (कषायं विषय दुस्टं च राग दोषं न चिंतए) वह दुष्ट विषय कषायों की व राग द्वेष की भावना नहीं करता है।

भावार्थ- मिथ्यात्व, सम्यक्, मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति; इन तीन प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से श्रद्धान में जो मलीनता होती है, वह सम्यग्दृष्टि में नहीं होती है। न वहाँ कुमति, कुश्रुत व कुअवधिज्ञान होते हैं और न वहाँ माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्यें होती हैं। वह संसार में फंसाने

वाली व दुष्ट के समान जितना अधिक प्यार करो उतना अधिक आत्मा का बुरा करने वाली है। वह पाँचों इन्द्रियों का दास नहीं होता है और न वह क्रोध, मान, माया, लोभ की तीव्रता रखकर रागद्वेष भावों की भावना करता है। उसके भावना एक निज वीतराग भाव की रहती है।

प्रथमं उवएस संमत्तं, सुध सार्धं सदा बुधैः।
दर्सनं न्यान मयं सुधं, संमत्तं सास्वतं ध्रुवं॥ १७५॥

अन्वयार्थ– (बुधैः सदा प्रथमं संमत्तं उवएसं) बुद्धिमानों को सदा प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिए (सुध सार्धं) यह सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव है (दर्सनं न्यान मयं सास्वतं ध्रुवं संमत्तं) दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी निश्चल आत्मा का गुण सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ– हर एक जीव को जो अपना हित चाहता है, प्रथम ही श्री गुरु, सम्यग्दर्शन का उपदेश करते हैं क्योंकि धर्म की जड़ श्रद्धा है। बिना रुचि के कोई काम भी उत्तम रीति से प्रतिपादन नहीं होता है। रुचि सहित भोजन भी पचता है, रुचि सहित पढ़ना भी हितकर है, इसी तरह धर्म के साधन में प्रथम रुचि की जरूरत है। निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा के शुद्ध अविनाशी निश्चल स्वभाव का श्रद्धान करता है। यह आत्मा का एक गुण है। जब यह प्रकाशमान होता है तब ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। सम्यग्दर्शन के होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान व चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। तीनों ही रत्न सम्यक्त्व के साथ प्रकट हो जाते हैं। स्वात्मानुभवरूप सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्र सम्यक्त्व के होते हुए हो जाते हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समंतभद्र जी भी कहते हैं :

दर्शनं ज्ञान चरित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥ ३१॥

भावार्थ– ज्ञान और चारित्र से सम्यग्दर्शन की मुख्यतया उपासना की जाती है। कारण कि वह मोक्ष मार्ग में खेवटिया के समान है। उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र में सम्यक्पना आ जाता है।

♣ ♣ ♣

पच्चीस दोष रहित सम्यक्त्व

संमिक् दर्सनं सुद्धं, मिथ्यामोह विवर्जितं।
मूढत्रयादि मलं मुक्तं, संमत्तं संमिक् दर्सनं॥ १७६॥

अन्वयार्थ– (सुद्धं संमिक् दर्सनं मिथ्यामोह विवर्जितं) निर्दोष सम्यग्दर्शन वही है जहाँ मिथ्या पदार्थों का मोह नहीं हो (मूढत्रयादि मलं मुक्तं संमत्तं संमिक्दर्सनं) तीन मूढता आदि पच्चीस मल रहित जो रुचि है सो सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ– जगत के सब पदार्थ पर्यायरूप हैं, क्षणभंगुर हैं। धन, धान्य, स्त्री, पुत्रादि, मकान, वस्त्र पात्रादि देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं। इन पदार्थों की तरफ आसक्त बुद्धि मिथ्यात्व है। यह मिथ्या मोह जिसका छूट गया है, जिसको निश्चल आत्मा के शुद्ध स्वभाव की गाढ़ रुचि है उसी के सम्यग्दर्शन है। इसमें निर्दोषता पच्चीस दोषों के अभाव से आती है वे २५ दोष हैं - तीन मूढ़ता- लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, गुरुमूढ़ता; छः अनायतन - कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व इनके भक्तों की सेवा; आठ मद - जाति, धन, विद्या, रूप, अधिकार, तप, बल इनका घमंड करना, माता के पक्ष को जाति, पिता के पक्ष को कुल कहते हैं। आठ शंकादि दोष, आठ अंगों को न पालकर विपरीत भाव रखना।

१. निःशंकित अंग - जिनमत में शंका न रखना तथा इहलोक, परलोक, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण व अकस्मात् इन सात भयों को छोड़कर धर्म पालना।

२. निःकांक्षित अंग - इन्द्रियों के सुखों में सुखपने की श्रद्धा न रखना।

३. निर्विचिकित्सा अंग - रोगी, दुःखी आदि को व मलीन पदार्थों को देखकर ग्लानिभाव न रखना।

४. अमूढ़दृष्टि अंग - मूढ़ता से देखादेखी कोई अधर्म क्रिया को धर्म न समझ लेना।

५. उपगूहन अंग - धर्मात्माओं के दोषों की निन्दा न करना; अपने गुणों को बढ़ाना।

६. स्थितिकरण अंग - धर्म में अपने को व दूसरों को स्थिर करना।

७. वात्सल्य अंग - धर्मात्माओं से गौवत्स के समान प्रीति रखना।

८. प्रभावना अंग - धर्म का जगत में प्रकाश करना; धर्मोन्नति करना।

♣ ♣ ♣

तीन मूढ़ता

मूढत्रयं कथं जेन, संसारे भ्रमनं सदा।
कुन्यानं राग संबन्धं, मूढं दुर्गति बंधनं॥ १७७॥

अन्वयार्थ– (मूढत्रयं कथं जेन) मूढता जो तीन कही गई हैं उनमें फंसने से (संसारे सदा भ्रमनं) संसार में सदा भ्रमण होता है (कुन्यानं रागसंबंध मूढं) मिथ्याज्ञान में राग का संबंध जोड़ना मूढता है (दुर्गति बंधनं) इसके सेवन से कुगति का बंध होता है।

भावार्थ– सम्यग्ज्ञान का लाभ जिनसे न हो, किन्तु मिथ्याज्ञान की वृद्धि हो व मिथ्यात्व की पुष्टि हो व संसार के पदार्थों में राग अति बढ़ जावे, ऐसी भक्ति को मूढ़ता कहते हैं। इस मूढ़ता में फंसकर

प्राणी अयोग्य क्रियाएँ किया करता है, तीव्र कषाय से तीव्र पापों को बाँधता है और दुर्गति में चला जाता है।

* * *

लोक मूढ़ता

प्रथमं लोक मूढस्य, पाष्यिक धर्म संजुत्तं।
असत्यं अनृत जानाति, जिनद्रोही दुर्गतिभाजनं ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थ– (प्रथमं लोक मूढस्य पाष्यिक धर्म संजुत्तं) पहले लोकमूढ़ता का पक्ष लिए हुए अधर्म को जो धर्म मानता है वह (असत्यं अनृत जानाति) असत्य को सत्य मान लेता है वह (जिनद्रोही) जिनमत से विपरीत चलकर (दुर्गतिभाजनं) कुगति में चला जाता है।

लोकमूढ़ता का स्वरूप रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है :

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्नि पातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

भावार्थ– धर्म समझकर गंगा, नर्मदा आदि नदियों में तथा समुद्र में स्नान करना, बालू और पत्थरों का ढेर करना, पर्वत से गिरना और अग्नि में जलना लोकमूढ़ता कही जाती है। नदी आदि में स्नान हिंसाकारक है। अपघात पापमूल है। जिन क्रियाओं से अधर्म होता है, हिंसा होती है, पापबंध होता है उन लोगों की मानी हुई मिथ्या क्रियाओं को सच्ची मान करके उनका राग करना, देखादेखी करने लग जाना सो सब लोकमूढ़ता है। कलम दवात पूजना, तलवार पूजना, होई व होली पूजना आदि सब लोकमूढ़ता है। इसमें फंसकर तीव्र कषाय से यह प्राणी घोर पाप बांध लेता है। विधवा का सती होना तो सरासर अपघात है, घोर पाप है। इससे वह विधवा व उसके प्रेरक सब दुर्गति चले जाते हैं।

कुदेवं कुगुरं जेन, कुधर्मं राग बंधनं।
कुन्यानं सल्य संजुक्तं, मान्यते लोकमूढयं ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ– (लोकमूढयं) लोकमूढ़ता में फँसा हुआ जीव (कुदेवं कुगुरं जेन कुधर्मं रागबंधनं) कुदेवों से, कुगुरुओं से व कुधर्म से राग बाँध लेता है (कुन्यानं सल्य संजुक्तं मान्यते) मिथ्या, माया और निदान शल्यों में फंसा हुआ मिथ्याज्ञान को सच्चा मान लेता है।

भावार्थ– लोकमूढ़ता के कारण से ही यह जीव देवमूढ़ता व गुरुमूढ़ता में फंस जाता है। लोगों के बहकाने से देखादेखी जैसे वह नदी में स्नान को धर्म मानता है वैसे रागी- द्वेषी देवों की स्थापना

को देव व परिग्रहधारी संसारासक्त महंतों को गुरु मान कर भक्ति करने लग जाता है। उसके भीतर संसार का रागरूप, मिथ्याभाव, मायाचार तथा इस मूढ़ता से मुझे भोगादि मिलें इस निदान में फंस जाता है। जो बात मिथ्या है, संसारवर्द्धक है, रागद्वेष मूलक है उसे सत्य मान लेता है। ज्ञानी को लोकमूढ़ता से बचना चाहिए।

लोकमूढरतो जेन, पष्यधर्म प्रकाशये।
सुद्ध धर्म न जानाति, मिथ्या मूढ व्रतं तपं॥ १८० ॥

अन्वयार्थ– (जेन लोकमूढरतो) जो कोई लोकमूढ़ता में रुचिवान रहता है वह (पष्यधर्म प्रकासये) अपने पक्ष के लौकिक माने हुए अधर्म को धर्म कहता है (सुद्ध धर्म न जानाति) शुद्ध वीतरागमयी आत्महितरूप धर्म को नहीं पहचानता है (मिथ्या मूढ व्रतं तप) उसका सर्वव्रत पालना व तप करना मिथ्या है व मूढ़ता से भरा हुआ है।

भावार्थ– लोकमूढ़ता बड़ी बुरी वस्तु है। इसका पक्ष अज्ञान से जीवों को इतना भारी हो जाता है कि अनेक कष्ट सहकर, धन खर्च कर, नदियों के स्नान की यात्रा करते हैं और उस नदी स्नान से बड़ा धर्म होगा, पाप धुल जाएगा ऐसा वे लोकमूढ़ता में रत जीव प्रकाश भी करते हैं। जिससे जगत में लोगों की इस अधर्म की गाढ़ं रुचि हो जाती है, उनको वीतराग धर्म अच्छा नहीं लगता है। वे लोकमूढ़ता में फंसकर अज्ञान व्रत व तप करते रहते हैं। एकादशी का व्रत करके खूब मीठा मेवा आदि खाते हैं। दिन में भूखे रहकर रात्रि को चन्द्रमा देखकर खाते हैं। लकड़ी की धूनी जलाकर तप करते हैं, ये सब यथार्थ व्रत व तप नहीं हैं क्योंकि जब इन्द्रियों को वश में रखकर मन को धर्मध्यान में लगाया जाय तब ही एकादशी का व्रत हो सकता है। रात्रि को न कुछ खाकर दिन में एकभुक्त करना व्रत हो सकता है क्योंकि हिंसा का बचाव होता है। रात्रि खाना अधिक त्रस हिंसा का कारण है, उसे धर्म मानना मूढ़ता है।

♣ ♣ ♣

देव मूढ़ता

देव मूढं उत्पाद्यंते, अदेवं देव उच्यते।
असास्वतं अनृतं जेन, कुन्यानं रमते सदा॥ १८१ ॥

अन्वयार्थ– (देव मूढं उत्पाद्यंते) देवमूढता को पैदा करके (अदेवं देव उच्यते) कुदेव को देव कहा जाता है (असास्वतं अनृतं जेन) ये कुदेव स्वयं नाशवंत व मिथ्या हैं (कुन्यानं रमते सदा) मिथ्याज्ञानी सदा कुदेवों में रमता है।

भावार्थ– देवमूढ़ता को लोकमूढ़ता के कारण से अज्ञानी जीव अपने मन में पैदा कर लेता है तथा जो स्वयं रागी द्वेषी जन्म-मरण के फंदे में फंसे हुए हैं व मिथ्यात्व सहित हैं उनको देव मानकर पूजता है। मिथ्याज्ञान के कारण सांसारिक प्रयोजन के लोभ से उनमें देवपने की कल्पना कर लेता है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवता मूढमुच्यते॥ २३॥

भावार्थ– आशावान् होता हुआ किसी वस्तु को पाने की इच्छा से रागद्वेष रूपी मल से मलीन देवताओं की उपासना करना देवमूढ़ता कही जाती है। कुदेवों की भक्ति में फंस करके प्राणी सर्वज्ञ वीतराग देव की भक्ति में श्रद्धा नहीं ला सकता है। जो स्वयं संसारी है उसको पूजना व मानना संसारवृद्धि का ही कारण है, तथा वह पुण्य बंध का भी कारण नहीं है। पुण्य तो मंद कषाय से बँधता है, सो वीतराग सर्वज्ञ देव की भक्ति करने से ही पुण्य का लाभ हो सकता है।

देवमूढं च मूढत्वं, रागदोषं च संजुतं।
मान्यते जेन केनापि, दुर्गति भाजन ते नरा॥ १८२॥

अन्वयार्थ– (देवमूढं च मूढत्वं) देव मूढता बिल्कुल मूढता है (जेन केनापि रागदोषं च संजुतं मान्यते ते नरा दुर्गति भाजन) जो कोई भी रागद्वेष सहित देव को मानता है वह मानव कुगति को जाता है।

भावार्थ– कषाय की तीव्रता से नरक, निगोद, पशुगति का बंध हो जाता है। जो कोई भी रागी-द्वेषी कुदेवों की मान्यता करता है वह तीव्र लोभ के बिना नहीं करता है। इसलिए वह वृथा ही तीव्र पाप बाँधकर दुर्गति चला जाता है। लाभ कुछ नहीं होता।

देव मूढं च मूढं च, न्यानं कुन्यान पस्यते।
मान्यते लोकमूढस्य, मिथ्या माया निगोयं पतं॥ १८३॥

अन्वयार्थ– (देवमूढं मूढं च) देवमूढ़ता की मूर्खता के कारण (न्यानं कुन्यान पस्यते) यथार्थ ज्ञान को मिथ्याज्ञान देखता है (लोकमूढस्य) लोकमूढ़ता के वश हो (मिथ्या माया मान्यते) मिथ्या देवों की भक्ति को मानता है (निगोयं पतं) इसका फल निगोद में पतन है।

भावार्थ– देवमूढ़ता के मोह में फंसकर प्राणी का ज्ञान एक ऐसा विपरीत हो जाता है कि वह सच्चे देव का स्वरूप ठीक-ठीक बताने पर भी उस पर विश्वास नहीं लाता है, उसे रागीद्वेषी देव ही अच्छे लगते हैं, लोगों की देखादेखी मिथ्या देवों को पूजकर अज्ञानी निगोद में चला जाता है।

♣ ♣ ♣

पाखण्डी मूढ़ता

पाषण्डी मुढंपि जानाति, पाषण्ड विभ्रम जे रताः।
प्रपंचं पर पुद्गलार्थं च, जिनद्रोही दुर्गति भाजनं ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थ-- (जो पाषण्ड विभ्रम रताः) जो कोई मिथ्या साधुओं के भ्रम में फँस जाते हैं वे (पाषण्डी मुढंपि जानाति) गुरुमूढ़ता को अनुभव करते हैं (प्रपंचं पर पुद्गलार्थं) शरीरादि, धनादि के लिए। प्रपंच रचते हैं, वे (जिनद्रोही दुर्गति भाजनं) जिनेन्द्र के मत से विपरीत हैं और खोटी गति का बंध करते हैं।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पाखण्ड मूढ़ता को इस तरह कहा है :

सग्रन्थारंभहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखंडिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥

भावार्थ-- परिग्रह आरम्भ और हिंसा में लीन, संसार के चक्र में भ्रमण कराने वाले पाखण्डी साधु तपस्वियों का आदर, सम्मान, भक्ति आदि करना सो गुरुमूढ़ता है। निर्ग्रंथ आत्मध्यानी साधु को ही गुरु मानना योग्य है। उनके सिवाय अनेक भेषधारी साधु जगत में किसी न किसी लोभवश तपस्या करते हैं। सच्चे साधु के सिवाय अन्य को किसी लोभवश पूजना, मानना पाखण्डी मूढ़ता है।

पाषण्डी मूढ विस्वासं, लोकमूढं च दिस्टते।
विस्वासं जेवि कर्तव्यं, दुर्गति भाजन ते नराः ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थ-- (पाषण्डी मूढ विस्वासं) जो गुरुमूढ़ता का विश्वास करता है (लोकमूढं च दिस्टते) उसके लोकमूढ़ता भी दिखलाई पड़ती है (जेवि विस्वासं कर्तव्यं) जो कोई उनका विश्वास करते हैं (दुर्गति भाजन ते नराः) वे मानव कुगति को जाते हैं।

भावार्थ-- बहुधा लोकमूढ़ता को धर्म बताने वाले रागी द्वेषी संसारासक्त साधु होते हैं। इनका विश्वास कर लेने से प्राणी मूढ़ताई में फंसकर कुगति में चला जाता है।

पाषंडी वचन विस्वासं, प्रोक्तं अधर्मं स्रुतं।
अदेवं देव उक्तं च, विस्वासं नरयं पतं ॥ १८६ ॥

अन्वयार्थ-- (पाषंडी वचन विस्वासं अधर्मं स्रुतं प्रोक्तं) मिथ्या गुरुओं के वचनों पर विश्वास कर लेने से अधर्म को धर्म कहा हुआ मानना पड़ेगा (अदेवं देव उक्तं च) तथा कुदेव को देव मानना पड़ेगा (विस्वासं नरयं पतं) ऐसे रागद्वेषी देवों पर विश्वास लाने से नरक में जाना होगा।

भावार्थ- परिग्रहासक्त आत्मध्यान रहित कुगुरुओं को नहीं मानना चाहिए। क्योंकि यही कुदेवों की भक्ति में लगा देते हैं। वे उपदेश कर देते हैं कि अमुक कुदेव को पूजोगे तो तुमको पुत्र का व धन का लाभ होगा। बस ऐसे ही भविष्य के लोभ के कारण प्राणी कुदेव की भक्ति में फंस जाते हैं। जिससे तीव्र कर्म बाँधकर नरक में चले जाते हैं।

पाषंडी मूढ प्रोक्तं च, विकहा राग संजुतं।
दुर्बुद्धी जिनद्रोही च, विस्वासं संसार भाजनं॥ १८७॥

अन्वयार्थ- (पाषंडी मूढ विकहा राग संजुतं प्रोक्तं च) कुगुरुओं का मूर्खता भरा हुआ वचन विकथा के राग के लिए होता है। (दुर्बुद्धि जिनद्रोही च) वे मिथ्या बुद्धि को देखते हैं तथा जिनेन्द्र के मत से विपरीत हैं (विस्वासं संसार भाजनं) ऐसे गुरुओं का विश्वास करने वाला संसार में भ्रमण किया करता है।

भावार्थ- जो स्वयं आत्मज्ञान से शून्य हैं, वे संसारासक्त हैं वे अपने उपदेश में स्त्री- कथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा व राजकथा; इन चार विकथाओं में फंसाने वाले वचन कहते हैं। उनकी बुद्धि खोटी है, वे जिनेन्द्र के यथार्थ मत से विपरीत कहते हैं इसलिए वे हमारे लिए विश्वास के पात्र नहीं हैं। उनका विश्वास संसार में रुलाने वाला है।

पाषंडी मूढ संगानि, अनुमोयं वचन विभ्रमं।
कुन्यानं भाव संजुक्तं, दुर्गति गमनं न संसयः॥ १८८॥

अन्वयार्थ- (पाषंडी मूढ संगानि) जो मिथ्या साधुओं की संगति करते हैं (वचन विभ्रमं अनुमोयं) उनके वचनों के मायाजाल में रंजायमान होते हैं (कुन्यानं भाव संजुक्तं) उनका भाव कुज्ञान सहित हो जाता है (दुर्गति गमनं न संसयः) वे अवश्य कुगति को जायेंगे इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिए।

भावार्थ- कुगुरुओं की संगति से उनके मिथ्यात्व पोषक वचनों में जो अनुमोदना करते हैं, उनके कुज्ञान की वृद्धि हो जाती है, वे सम्यक्त्व की प्राप्ति से दूर भागते हुए मिथ्यात्व में फंसे हुए अवश्य खोटे कर्म बाँधकर कुगति में जाते हैं।

♣ ♣ ♣

छः अनायतन

अनायतन षट्कस्वैव, कुदेवं कुदेव धारिनं।
कुसास्त्रं कुसास्त्रधारी च, कुलिंगी कुलिंग धारिनं॥ १८९॥

अन्वयार्थ- (अनायतन षट्कस्वैव) छः अनायतन भी हैं (कुदेवं कुदेव धारिनं) कुदेव और उनके मानने वाले (कुसास्त्रं कुसास्त्रधारी च) कुशास्त्र और उनके मानने वाले (कुलिंगी कुलिंग धारिनं) कुगुरु और उनके मानने वाले इनकी संगति न करनी चाहिए।

भावार्थ- कुसंगति का बड़ा बुरा फल होता है। अपनी गाढ़ श्रद्धा में अन्तर न आवे इसलिए जो सच्चे धर्म के आयतन या स्थान नहीं हैं उनकी संगति करना उचित नहीं है। उनसे बचकर रहने से अपना सम्यक्त्व निर्मल रहेगा। इसलिए कुदेवों की संगति में बैठना, कुगुरुओं की संगति रखना तथा मिथ्या धर्म व राग पोषक शास्त्रों को पढ़ना-सुनना तथा कुदेवों के, कुगुरुओं के व कुशास्त्रों के मानने वालों की ऐसी संगति जिससे श्रद्धान चलायमान हो जावे, एक श्रद्धावान को न रखनी चाहिए। लौकिक प्रेम का व्यवहार करने में कोई हर्ज नहीं है। परन्तु उनकी श्रद्धा में व भक्ति में आप भी मिल जाना मिथ्या धर्म की अनुमोदना करना होगा व परिणामों को शुद्ध नहीं रख सकेगा। जहाँ वीतराग विज्ञानमयी धर्म मिले वही संगति करनी चाहिए।

कुदेवं जिनं उक्तं, राग दोष असुध भावना।
मिथ्या माया संजुक्तं, कुन्यानं कुदेव जानेहि॥ १९०॥

अन्वयार्थ- (जिनं उक्तं) जिनेन्द्र ने ऐसा कहा है कि (कुदेवं) कुदेव ये हैं जिनमें (रागदोष असुध भावना) रागद्वेष तथा अशुद्ध संसार लीन भाव हैं (मिथ्या माया संजुक्तं) वे मिथ्यात्व व माया सहित हैं या मिथ्या ऐश्वर्य में मगन हैं (कुन्यानं) मिथ्याज्ञान के धारी हैं, उनको (कुदेव जानेहि) कुदेव जानना चाहिए।

भावार्थ- जिनमें वीतरागता नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं, आत्मज्ञान नहीं, जो मिथ्यात्व में लीन हैं, मायाचार भी करते हैं, भोग सम्पदा में रात-दिन मगन हैं, राग-द्वेष में फंसे हैं, देवियों के राग में मग्न हैं, दूसरे देवों से ईर्ष्या करते हैं, अशुद्ध भावना जिनके हर समय पाई जाती है, जिनमें कुमति, कुश्रुत, कुअवधि है, वे सभी कुदेव हैं। यहाँ मिथ्यात्व सहित भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी व नव ग्रैवियक तक के देव सब आ गए। इनको यहाँ कुदेव कहा है। तब वे देव जो सम्यक्त्वी हैं वे सुदेव हो जाते हैं तथापि जहाँ सर्वज्ञ वीतराग को देव कहा है वहाँ सम्यक्त्वी देव भी अज्ञान व कषाय को रखते हुए पूजनीय देव नहीं हो सकते हैं। जगत के लोग बहुधा दुर्गा, काली, भवानी, भैरों आदि को पूजते हैं। उनकी अपेक्षा यहां कथन है कि जिनमें मिथ्यात्व की ही मुख्यता है। सौधर्म इन्द्र जो सम्यक्त्वी देव

है, उसको कोई भी लौकिक जन नहीं पूजते हैं। देवों की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि देव सुदेव हैं। वे चौथे गुणस्थान में होते हुए साधर्मी भाई के समान प्रतिष्ठा के योग्य हैं, वीतराग भगवान के समान पूजा के योग्य नहीं हैं।

इन्द्रियमयं कुदेवं, विषम विष सहिऊ जानि नियमेन।
कषायं वर्धनं नित्यं ध्यान रौद्रं च संजोगिनः॥ १९१॥

अन्वयार्थ– (इन्द्रियमयं कुदेवं) पाँचों इन्द्रियों रूपी कुदेव (विषम) भयानक हैं, समभाव रहित हैं (विष सहिऊ नियमेन जानि) उनको नियम से विष सहित जानना योग्य है (नित्यं कषायं वर्धनं) उनसे नित्य कषाय की बढ़वारी होती है (ध्यानरौद्रं च संजोगिनः) उनसे मन वचन काय योग रौद्रध्यानी होते हैं।

भावार्थ– यहाँ पर विषय कुदेवों का ही है। ऐसा तात्पर्य मालूम पड़ता है कि जिन कुदेवों को देव मानकर पूजा जाता है वे स्वयं इन्द्रियों के विजयी नहीं हैं। ये पाँच इन्द्रियाँ भी कुदेव हैं अर्थात् इनकी सेवा भी व इनके भीतर मग्नता भी हमारा बुरा करने वाली हैं। फिर जो इन इन्द्रियों के अधीन हों उन कुदेवों की भक्ति से हमारा आत्म कल्याण कैसे होगा। इन इन्द्रियों की चाहनाएँ विष से भी अधिक भयानक हैं। सर्प का विष तो एक जन्म में प्राण हरता है, परन्तु इन्द्रियों की चाह भव-भव में प्राण लेती है। इनके सेवन से लोभ कषाय बढ़ता जाता है व इनके विरोधकों से क्रोध कषाय बढ़ जाती है। इन्हीं के कारण हिंसा, मृषा, चोरी व परिग्रह की वृद्धि में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति अति वेग से हो जाती है।

मिथ्यादेवं अदेवं च, न्यानं कुन्यान पस्यते सर्वं।
सुह असुहं पि न बुज्झं, नहु जानादि लोयविवहारं॥ १९२॥

अन्वयार्थ– (मिथ्या देवं अदेवं च) मिथ्या व कल्पित माने हुए देव अदेव हैं (सर्वं न्यानं कुन्यान पस्यते) वे सब ज्ञान को कुज्ञान देखने वाले हैं अर्थात् ज्ञान नहीं है अथवा जो उनको मानते हैं उनको यथार्थ ज्ञान नहीं है, वे पूजक (सुहं असुहं पि न बुज्झं) अपना भला या बुरा नहीं पहचानते हैं (लोय विवहारं नहु जानादि) न वे लोकव्यवहार को जानते हैं।

भावार्थ– जिनमें देवपना बिल्कुल नहीं है ऐसे माने हुए कल्पित देव अनेक हैं। जिनमें कोई यथार्थ ज्ञान भी नहीं है उनको अज्ञानी लोग देव मानकर पूजते हैं। वे भक्तजन नहीं पहचानते हैं कि उनकी भक्ति से हम संसार को बढ़ा रहे हैं। अनंत संसार के कारणरूप मिथ्यात्व की जड़ मजबूत कर रहे हैं। वे नहीं जानते हैं कि सच्चा व्यवहार धर्म क्या है? सच्चा व्यवहार वही है जो निश्चय का किसी अपेक्षा साधक हो।

उत्पति नत्थि अदेवं, कृत कारित मूढ लोयस्य।
जे देवं पि कहंतेन ते सव्वे मूढ दुर्बुद्धीः॥ १९३॥

अन्वयार्थ- (अदेवं उत्पति नत्थि) अदेवों की तो देवगति में उत्पत्ति ही नहीं है (मूढ लोयस्य कृत कारित) मूर्ख अज्ञानी लोगों ने उनकी रचना की है व कराई है (जे देवं पि कहंतेन) जो कोई उनको देव कहते हैं (ते सव्वे मूढ दुर्बुद्धीः) वे सब मूढ हैं, बुद्धिरहित हैं।

भावार्थ- रागी द्वेषी देव अर्थात् कुदेव तो उनको कहेंगे जो देवगति में हैं। उनके सिवाय अन्य गति के व उससे अन्य जो हैं, जिनमें देवपने का अंश भी नहीं है - देव मानना अदेव है। जैसे - गाय, घोड़ा, गरुड़, हाथी को देव मानकर पूजना व पीपल को देव मानकर पूजना। जगत के लोगों ने बहुत से पदार्थों की पूजा चला दी है व चलवा दी है। उनको जो देव मानते हैं वे बुद्धि रहित हैं व संसार के विषय भोगों में आसक्त हैं।

श्री अमितगति महाराज ने श्रावकाचार में अदेव का कुछ स्वरूप कहा है -

मूशलं देहली चुल्ली पिप्पलश्चंपको जलं।
देवा यैरभिधीयंते वर्ज्यन्ते तैः परेऽत्रके॥ १६॥

भावार्थ- मूसल, देहली, चूल्हा, पीपल, चम्पा, जल आदि को जो देव कहते हैं जिनमें देवपना किसी तरह भी नहीं है, उनके देव मानने में और क्या बाकी रह गया?

कुदेव धारी पुरिसा, हिंडंति संसार दुष्य संजुत्तं।
थावर वियलेन्द्रिया, नरयं गच्छेह दुष संतत्ता॥ १९४॥

अन्वयार्थ- (कुदेव धारी पुरिसा) जो पुरुष कुदेवों के भक्त हैं वे (दुष्य संजुत्तं संसार हिंडंति) दुःखों से पीड़ित होकर इस संसार में भ्रमण करते हैं (थावर वियलेन्द्रिया) वे बार-बार एकेन्द्रिय स्थावर व द्वेन्द्रियादि विकलत्रय होते हैं (दुष संतत्ता नरयं गच्छेह) वे दुःखों से पीड़ित होते हुए नरक को जाते हैं।

भावार्थ- कुदेवों की भक्ति करने से तीव्र कषायों का झलकाव होता है, जिससे अशुभ आयु का बंध हो जाता है। इस कारण यह प्राणी कुगति में दुःखों को उठाता है। नरक, निगोद, पृथ्वीकायादि स्थावरों में दीर्घकाल तक जन्म-मरण करता है।

अदेवं जो वंदे पूजै, आराहि भत्ति भारेन।
सो दुग्गैपि सहंता, निगोयवासं मुणेयव्वो॥ १९५॥

अन्वयार्थ- (जो अदेवं वंदे पूजै भत्ति भारेन आराहि) जो कुदेवों को तथा अदेवों की वंदना करता है, पूजता है व भक्ति में भरके आराधना करता है (सो दुग्गैपि संहता) सो कुगति के दुःखों को सहन करते हुए (निगोयवास) निगोद में अनंतकाल वास करता है (मुणेयव्वो) ऐसा मानना योग्य है।

भावार्थ– सर्वज्ञ वीतराग सच्चे देवों को छोड़कर जो रागी-द्वेषी देवों को या कल्पित देवों को भक्ति सहित आराधेगा, पूजेगा तथा वंदना करेगा वह मिथ्यात्व की पुष्टि करने के कारण तीव्र कर्म बाँधकर दुर्गति के, नरकादि के दुःख सहेगा और निगोद में जाकर एकेन्द्रिय साधारण वनस्पति में जन्म लेकर अनन्तकाल में भी निगोद से न निकल सकेगा।

कुदेवं अदेवयत्वं, जो चिंतेई कुमय मयमंता।
चिंता सायर वूडं, संसारे सरनि ना लहे थाहं॥ १९६॥

अन्वयार्थ– (जो कुमय मयमंता कुदेवं अदेवयत्वं चिंतेइ) जो कुमति को धारण करने वाले कुदेव या अदेव का मन में चिंतवन भी करते हैं वे (चिंतासायर वूड) चिंता के सागर में डूबे रहते हैं (संसारे सरनि ना लहे थाहं) उनको संसार के मार्ग की थाह नहीं मिल सकती है।

भावार्थ– जो कोई यह चिंता किया करता है कि मैं अमुक कुदेव को या अदेव को पूजूँगा तो यह लाभ हो जाएगा, उसकी बुद्धि धर्म मार्ग से हटी रहती है। वे पुण्य पाप, कर्म को नहीं समझते हैं। वे उन्हीं को अपना भला या बुरा करने वाला मान लेते हैं। वे कभी भी संसार के मार्ग से हटकर मोक्ष मार्ग में नहीं जा सकते हैं। इनका संसार बहुत बड़ा हो जाता है। उनके भीतर मिथ्यात्व कर्म दृढ़ बन्धन कर लेता है व उनके मिथ्यात्व के बंध की सन्तान चला करती है।

कुलिंगी जे जीवा, ते अन्यान भासियं लोये।
मिथ्यात राग दोषं, सल्यं संजुत्त दुर्बुद्धी॥ १९७॥

अन्वयार्थ– (जे जीवा कुलिंगी) जो जीव मिथ्या वेषधारी साधु हैं (ते लोये अन्यान भासियं) वे लोक में अज्ञानी कहे गये हैं (मिथ्यात राग दोषं) उनको मिथ्यादर्शन का राग है (सल्यं संजुत्त दुर्बुद्धी) वे तीन शल्य सहित व मिथ्या बुद्धि सहित हैं।

भावार्थ– अब कुगुरु का स्वरूप कहते हैं। कुगुरुओं का भेष परिग्रह सहित होता है। अन्तरंग में उनके मिथ्याज्ञान भरा है, उनको संसारासक्ति रूप अगृहीत मिथ्यात्व का या कुदेवादि की पूजन संबंधी गृहीत मिथ्यात्व का राग होता है। वे माया, मिथ्या, निदान; तीन शल्य से मलीन होते हैं, उनकी बुद्धि निर्मल नहीं होती है। वे विषय कषायों की पुष्टि का ही उपदेश देंगे या एकांतवाद को ही बतायेंगे। उनको अनेकांतमय धर्म का ज्ञान ही नहीं होता है।

इन्द्री सुह संतुस्टा, कुलिंगी असुहभाव पयडथा।
विकहा विसन सहावं, कुलिंगी एरिसो होई॥ १९८॥

अन्वयार्थ– (इन्द्री सुह संतुस्टा) जो पाँच इन्द्रियों के सुखों में सन्तुष्ट हैं ऐसे (कुलिंगी) कुगुरु (असुहभाव पयडथा) अशुभ भावों में प्रवर्तने वाले हैं (विकहा विसन सहावं) उनका मन चार विकथाओं में व सात व्यसनों में फंसा रहता है (कुलिंगी एरिसो होई) कुगुरु ऐसे होते हैं।

भावार्थ– जो अपने को धर्मगुरु, महंत बाबा, गुसाईं आदि कहते हैं, परन्तु दिन-रात पाँचों इन्द्रियों के सुखों के भोगने में संतोष मानते हैं। अशुभ व खोटे भावों में सने रहते हैं। उनको स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा व राजकथा ही अच्छी लगती है। वे जुआ, मांस, मदिरा, शिकार, चोरी, वेश्या, पर-स्त्री; इन सात व्यसनों के भीतर ऐसे फंस जाते हैं कि ये उनकी बुरी आदतें बन जाती हैं, ऐसे कुगुरुओं का मानना अहितकारी है।

दुर्बुद्धी जिनद्रोही च, पयडै अन्यान लोक रंजेई।
सहिओ असुद्ध झानं कुलिंगी कुगुरु जानेहि॥ १९९॥

अन्वयार्थ– (दुर्बुद्धी जिनद्रोही च) जो मिथ्या बुद्धि सहित होते हैं व जिन धर्म से पराङ्मुख हैं (पयडै अन्यान लोक रंजेई) वे प्रकटपने अपने उपदेश से अज्ञानी लोगों को प्रसन्न रखते हैं (असुद्ध झानं सहिओ) उनके अशुद्ध ध्यान अर्थात् रौद्र और आर्तध्यान होते हैं (कुलिंगी कुगुरु जानेहि) ऐसे भेषी साधुओं को कुगुरु जानना चाहिए।

भावार्थ– जो भेषधारी साधु मिथ्यात्व सहित बुद्धि रखते हैं वे अनेकांत जिनमत से विपरीत भाव रखते हैं। वे अपनी मनोरंजक कथाओं से अज्ञानी लोगों को अपनी तरफ कर लेते हैं। उनसे हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी व परिग्रहानंदी रौद्रध्यान तथा इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, पीड़ा चिन्तवन व निदानबंध ऐसे चार आर्तध्यान होते हैं, उनको सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होता है। वे पत्थर की नाव के समान हैं। आप भी डूबते हैं व दूसरों को भी डुबाते हैं।

अप्पा परु न पिच्छई, मिच्छादिट्ठी असुह भावस्य।
दर्सन सुधि न जानै, परपंचं पर पुद्गलासत्तो॥ २००॥

अन्वयार्थ– (मिच्छादिट्ठि असुह भावस्य) वे मिथ्यादृष्टि कुगुरु अशुभ भावों में वर्तते हुए (अप्पा परु न पिच्छई) आत्मा तथा परमात्मा को नहीं पहचानते हैं (दर्सन सुधि न जानै) न वे सम्यग्दर्शन की शुद्धता को जानते हैं (परपंचं पर पुद्गलासत्तो) वे संसार के जाल में उलझे रहते हैं व अपने से भिन्न पुद्गल में या शरीरादि में आसक्त होते हैं।

भावार्थ– कुगुरु संसार के प्रपंच में व शरीरादि की शोभा में व विषय भोगों में उलझे रहते हैं। उनका ध्यान रात-दिन शरीर व उसके सुख की तरफ रहता है। वे मिथ्यादृष्टि जीव अशुभ भावों के कारण आत्मा तथा परमात्मा को नहीं पहचानते हैं। उनको सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होता है।

जो तस्स भत्ति भारे, मानै मिच्छादिस्टि ससहाओ।
सो मिच्छदिट्ठि सहिओ, अनमोयं निगोय वासम्मि॥ २०१॥

अन्वयार्थ– (जो भत्ति भारे तस्स मानै मिच्छादिस्टि ससहावो) जो कोई ऐसे कुगुरु को भक्ति के सार से नम्रीभूत हो मिथ्यात्व के दोषपूर्ण स्वभाव से मानता है (सो मिच्छदिट्ठ सहिओ अनमोयं)

सो मिथ्यादृष्टिधारी की अनुमोदना करता है (निगोय वासम्मि) उसका फल निगोद में जाकर बसना है।

भावार्थ– मिथ्यात्व एक घोर अंधेरा है। उसकी अनुमोदना व सराहना करना भी घोर पाप है। दूसरों को अन्धेरे में भेजने का कारण है। इसलिए जो कोई अज्ञानी मिथ्यात्व भाव में मरकर भक्तिपूर्वक ऐसे कुगुरुओं की मान्यता करता है वह साधारण वनस्पति कायरूप निगोद में जन्म पाकर अत्यन्त अज्ञानी हो जाता है। फिर मानव जन्म पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

कुलिंग संग जुत्तो, स्थानं जंति आयरो भंत्ति।
सो मिच्छा मय अन्यानी, थावर वियलिंदि नरय वासंमि॥ २०२॥

अन्वयार्थ– (कुलिंग संग जुत्तो) जो कोई कुगुरुओं की संगति करता है (स्थानं जंति) उनके स्थानों पर जाता है (आयरो भंत्ति) उनका आश्रय लेता है (सो मिच्छा मय अन्यानी) सो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है तथा (थावर वियलिंदि नरम वासंमि) स्थावर काय, विकलेन्द्रिय व नरक पर्याय में वास पाता है।

भावार्थ– जो कोई कुगुरुओं की संगति में रहता है, उनका आश्रय लेता है, उनके पास जाकर उनकी लोभ के वश भक्ति करता है सो मिथ्यात्व व अज्ञान की सराहना करने से स्वयं अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि होता है और तीव्र लोभ से नरकायु बाँधकर नरक में जन्मता है या तीव्र अज्ञान से एकेन्द्रिय पर्याय बाँधकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति काय में जन्मता है या द्वेन्द्रिय आदि पर्याय बाँधकर लट, चींटी, मक्खी आदि के शरीर को धारण करता है।

कुलिंग वयन स्रवनं, आलापं लोकरंजनं भंत्ती।
ते मूढा अन्यानी, दुग्गइ गइ भावनो हुंति॥ २०३॥

अन्वयार्थ– (कुलिंग वयन स्रवनं) कुगुरुओं के वचनों को जो सुनते हैं (आलापं) उनके साथ वार्तालाप करते हैं व (लोकरंजनं भंत्ती) लौकिक बातें करते हुए रंजायमान भी होते हैं (ते मूढा अन्यानी) वे मूर्ख अज्ञानी हैं (दुग्गई गइ भावनो हुंति) व दुर्गति गमन के भावधारी होते हैं।

भावार्थ– जो विषय कषायों में लीन हैं व अपने को महंत व गुरु मानते हैं उनके उपदेशों को न सुनना चाहिए, न उनसे चर्चा करनी चाहिए, न उनके साथ सांसारिक मोह व रागद्वेष पूर्ण बातें करके मन को प्रसन्न करना चाहिए। जो इसका ध्यान न रखकर कुगुरुओं के साथ हेलमेल आदि रखते हैं व अपने हित को न जानकर मूढ़ व अज्ञानी होते हुए ऐसे भावों में सन जाते हैं जिनसे कुगति में जाने लायक पाप बाँध लेते हैं। कुदेवों की संगति की तरह कुगुरुओं की संगति भी त्यागने योग्य है।

कुसास्त्रं पि साधं, विकहा विसनं पुन्य पावं च।
परिनामं जं असुधं, अस्तिति बंध कुसास्त्र जानेहि ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थ– (पि कुसास्त्रं साधं) जो कोई मिथ्या शास्त्रों की संगति करते हैं (विकहा विसनं) उनमें विकथा व व्यसनों की पुष्टि पाते हैं (पुन्य पावं च) साथ में पुण्य-पाप को भी सुनते हैं (परिनामं जं असुधं) जिनके सुनने से परिणाम अशुद्ध हो जाते हैं (अस्तिति बंध) ऐसे स्तोत्र व ऐसी रचनाओं को (कुसास्त्र जानेहि) कुशास्त्र जानना चाहिए।

भावार्थ– खोटे भावों से बनाये हुए स्तोत्र व ग्रन्थ, निबंध कथा आदि सब कुशास्त्र हैं। जिनके पढ़ने, सुनने से परिणाम वीतरागी होने की अपेक्षा रागद्वेष पूर्ण हो जावे, जिनमें स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा व राजकथा की पुष्टि हो व जिनमें जुआ, मांस, मदिरा, शिकार, चोरी, वेश्या, परस्त्रीगमन की तरफ प्रेरणा हो व जिनमें पुण्य-पाप भी अन्यथा प्रकार से दिखलाया हो, जिनमें पाप होता हो उनको पुण्य बताया हो, पशु यज्ञ व पशु बलि पापकारी है, रात्रि भोजन पापकारी है,नदी स्नान पापकारी है, सती होकर आग में जलना पापकारी है, उनको पुण्यदायक बताया हो ऐसे कुशास्त्रों की संगति भी ज्ञानी को न करना चाहिए।

जे वि कुसास्त्रं पठनं, इंद्री सुह जानि असुह लेस्याओ।
संसार सरनि हिंडै, जह जल सरनि ताल कीटाओ ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थ– (जेवि कुसास्त्रं पठनं) जो खोटे शास्त्रों को पढ़ते हैं (इंद्री सुह जानि) जिनमें इन्द्रियों के भोगों से उत्पन्न सुखों की वार्ताएँ हैं (असुह लेस्याओ) तथा कृष्ण, नील, कापोत तीन अशुभ लेश्याओं को उत्पन्न करने वाले हैं (संसार सरनि हिंडै) वे संसार के मार्ग में भ्रमण करेंगे (जह जल सरनि ताल कीटाओ) जैसे समुद्र के भीतर ताल का वृक्ष या फल या कीट या जंतु भ्रमण करते हैं।

भावार्थ– जिन शास्त्रों में इन्द्रिय सुखों में राग बढ़ाने वाली कथाएँ हों व जिनमें खोटे भावों को बढ़ाने की उत्तेजना हो, वे सब कुशास्त्र हैं। उनको जो राग सहित पढ़ते हैं उनके भावों में अशुभ राग पैदा हो जाता है। जिनसे वे कर्म बाँधकर संसार सागर में दीर्घकाल उसी तरह भ्रमण करेंगे जिस तरह समुद्र में गिरा हुआ ताल का वृक्ष या फल या कोई कीट भ्रमण करता है, उसको कहीं किनारा ही नहीं मिलता है।

क्रोध, मान, माया व लोभ कषायों से रंगी हुई मन, वचन, काय के योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। वे छः हैं। तीन अशुभ - कृष्ण, नील, कापोत इनमें अशुभतम, अशुभतर व अशुभ परिणाम होते हैं। तीन शुभ - जैसे पीत, पद्म, शुक्ल इनमें शुभ, शुभतर, शुभतम ऐसे परिणाम होते हैं। अशुभ पाप बंधक व शुभ पुण्य बंधक हैं।

अनायतन षट्कस्वैव, जो मानै मिच्छादिट्ठि सभावं।
सो मिच्छा मयेहि भारिऊ, संसारे दुहकारणं तंपी॥ २०६॥

अन्वयार्थ- (अनायतन षट्कस्वैव) ये जो छः अनायतन हैं (जो मिच्छादिट्ठि सभावं मानै) उनको जो मिथ्यादृष्टि स्वभावधारी मानेगा सो (मिच्छा मयेहि भारिऊ) मिथ्यात्व के मदसे भरा हुआ (संसारे दुहकारणं तंपी) संसार में दुःखों का कारण होगा।

भावार्थ- कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा कुदेवों के भक्त, कुगुरुओं के भक्त व कुशास्त्रों के भक्त ये छः धर्म के स्थान नहीं हैं। इसलिए अनायतन हैं। जो कोई मिथ्यादृष्टि इनकी संगति करेगा, वह मिथ्यात्व के घमंड से भरा हुआ घोर पाप कर्म को बाँधकर संसार में ही भ्रमण करेगा और अनेक तरह के कष्ट उठाएगा।

♣ ♣ ♣

शंकादि आठ दोष

संसय अस्ट दोसं, संका कंष्या चेंतनं चेंतं।
त्रिविदगिंच्छायमूढा, दिठि उवगोहनं दोसं॥ २०७॥
ठिदिकरनं वाछिलं, पहावना संसया हुंति।
सहकारं कुन्यानं, संसय दोस नरय वासंमि॥ २०८॥

अन्वयार्थ- (संसय अस्ट दोसं) शंकादि आठ दोष भी सम्यक्त्वी में नहीं होना चाहिए (संका कंष्या चेंतनं चेंतं) शंका तथा संसार सुख की अभिलाषा चित्त में रखना (त्रिविदिगंच्छायमूढा) निर्विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि न करना इसका अभाव अर्थात् ग्लानि करना, मूढताई से किसी भी धर्म क्रिया को न मानना, इसका अभाव (दिठि) मूढता से किसी भी कुधर्म को धर्म मान लेना (उवगोहनं दोसं) उपगूहन अंग में दोष लगाना (ठिदिकरनं) स्थितिकरण न होना (वाछिलं) वात्सल्य का न होना (पहावना) प्रभावना का अभाव (संसया हुंति सहकारं कुन्यानं) ये शंका आदि दोष कुज्ञान की सहायता से होते हैं (संसय दोस नरय वासंमि) इन शंकादि दोषों से जीव पाप कर्म बाँधकर नरक में वास करेंगे।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि में २५ दोष न होने चाहिए। तीन मूढ़ता व छः अनायतन का स्वरूप ऊपर कह चुके हैं। अब आठ शंकादि दोषों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं, उनको न पालना सो आठ दोष हैं; जैसे शरीर, मस्तक, दो भुजाएँ, दो टाँग, एक पीठ, एक पेट, एक कटिभाग, इन आठ अंगों से बना है। यदि वे न हों व इनमें का एक कोई अंग न हो तो वह शरीर हीन कहलाएगा अथवा वह अंगहीन कहलाएगा। इसी तरह जहाँ आठ अंग होंगे वहीं सम्यग्दर्शन कहलाएगा। अंगहीन

सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व रूप के समान ही है। मोक्ष का साधक आठ अंग सहित सम्यक्त्व ही होता है। अंगहीन सम्यक्त्व संसार का नाश नहीं कर सकता है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

नाङ्ग हीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

भावार्थ– जैसे अक्षर से कमती मंत्र सर्प के विष को दूर नहीं कर सकता है, वैसे ही अंगहीन सम्यग्दर्शन संसार की परिपाटी के कारण कर्म मल को नहीं काट सकता है। उन आठ अंगों का संक्षेप से स्वरूप यह है -

१. निःशंकित अंग-जिनमत के तत्त्वों में शंका न करना, क्योंकि प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का निश्चय हुए बिना सम्यक्त्व ही नहीं हो सकता है। यदि कभी कोई बात समझ में न आवे तो उसको ठीक मानते हुए भी विशेष ज्ञानी से समझने का उद्यम करना। दूसरा अर्थ इस अंग का यह है कि निर्भय होकर धर्म पालना व जीवन बिताना, कायर होकर जन्म नहीं बिताना। सात तरह के भय न करना।

१. इहलोक भय — मैं यदि अमुक धर्म पालूँगा तो लोग हँसेंगे, ऐसा भय करना।

२. परलोक भय — मरकर के कहीं दुर्गति में चला जाऊँगा तो क्या होगा, ऐसा भय।

३. वेदना भय — कहीं रोग आ जाएगा तो क्या करूँगा, ऐसा भय।

४. अरक्षा भय — मेरा कोई रक्षक नहीं है कैसे बचूँगा, ऐसा भय।

५. अगुप्ति — मेरा धन कोई चुरा लेगा तो क्या करूँगा, ऐसा भय।

६. मरण भय — मैं कहीं मर न जाऊँ, ऐसा भय।

७. अकस्मात् भय — कहीं दीवाल गिर पड़ेगी या कहीं गाड़ी से गिर जाऊँगा तो क्या होगा, ऐसा भय।

सम्यक्त्वी रोगादि से बचने को रक्षा का उचित उपाय करता है, परन्तु कायर नहीं होता। वीर सिपाही के समान जगत में धैर्य व साहस के साथ व दया के साथ जीवन बिताता है।

२. निःकांक्षित अंग — पुण्य के आधीन अतृप्तिकारक, तृष्णाकारक, नाशवंत, वियोग में दुःख उत्पादक, इन्द्रियों के सुखों में श्रद्धान न होना, रुचि न होना, अतींद्रिय आत्मिक सुख को ही सुख मानना।

३. निर्विचिकित्सा अंग — साधुओं व श्रावक-श्राविकाओं के रोगी व दुःखी शरीर को रत्नत्रय से पवित्र जानकर ग्लानि न करना, किन्तु गुणों में प्रीति करना तथा दीन, दुःखी, रोगी किसी भी मानव व पशु को देखकर ग्लानि न करना, कर्मोदय को विचारना, दया भाव लाकर घृणा छोड़कर सेवा करना।

४. अमूढ दृष्टि अंग – मिथ्यात्व के मार्ग में मूढता से रुचि न करना, वचन से सराहना न करनी शरीर से उनमें वर्तन न करना, सम्यदर्शन को बढ़ाने वाली मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ करना।

५. उपगूहन अंग – किसी अज्ञानी प्रमादी जीव से धर्म को पालते हुए भी कोई दोष हो जावे तो उसकी निंदा न करके उसको दूर करने की चेष्टा करना। धर्म की जगत में निंदा न हो इस हेतु धर्मात्मा के दोषों की निंदा न करना। इस अंग को उपवृंहण भी कहते हैं। अपने भीतर गुणों की बढ़वारी करना।

६. स्थितिकरण अंग – अपना मन व दूसरों का मन यदि सम्यग्दर्शन आदि धार्मिक भावों से दूर भागता हो तो उसको जिस तरह बने समझाकर धर्म में स्थिरीभूत करना। तन, मन, धन व विद्या द्वारा सेवा करके भी धर्मधारियों को धर्म साधन में दृढ़ करना।

७. वात्सल्य अंग – साधर्मी भाई बहिनों के साथ गोवत्स के समान सच्ची धर्म प्रीति करना व उनकी सेवा करनी।

८. प्रभावना अंग – मिथ्याज्ञान के अंधकार को जगत के भीतर से जिस तरह बने हटाकर सम्यग्ज्ञान का प्रभाव करना जिनधर्म को फैलाना, जिससे प्राणी जिनधर्म को उत्तम समझकर धारण कर सकें।

जे संसयरा जीवा, मनवयकायेन संसये जुत्तो।
ते असुह मिच्छ भावे, संसारे भ्रमनं वीयम्मि॥ २०९॥

अन्वयार्थ– (जे संसयरा जीवा) जो जीव शंकाशील रहते हैं (मनवयकायेन संसये जुत्तो) जिनका मन भी संशयवान है, वचन भी शंका से भरे हुए हैं व काय की क्रिया भी संशय सहित है (ते असुह मिच्छ भावे) वे प्राणी अशुभ मिथ्यात्व भाव सहित हैं तथा (संसारे भ्रमनं वीयम्मि) वे संसाररूपी भवन के बीज या मूल हैं।

भावार्थ– संशय बड़ा भारी दोष है। संशयवान को कभी भी सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती है। वह धर्म की श्रद्धा न लाता हुआ कभी उसका पालन न करेगा। और वृथा ही मरकर मिथ्यात्व के बीज से संसाररूपी वृक्ष को बढ़ायेगा या वह संसाररूपी महान भवन की नींव को जमाता ही जाएगा। इसलिए जो स्वहित करना चाहें उनको उचित है कि वे स्थूल परीक्षा तो ज्ञान के बल से धर्म की कर लें। अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु को परख लें। फिर गुरु व शास्त्र के उपदेश को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करके उस पर यथाशक्ति चलने का उद्यम करें। क्योंकि बिना आचरण किये हुए अपनी उन्नति नहीं हो सकती है। जब उन्नति होती जावे तो धर्म की विशेष श्रद्धा बढ़ती जाएगी। धर्म को श्रद्धापूर्वक आचरण करते हुए विशेष समझने का उद्यम करना योग्य है।

संसय दोस मिच्छा, संसैयारोपि दोष संजुत्ता।
ते दंसनं च भट्ठा, संसेयि न कहंमि सिज्झंतो॥ २१०॥

अन्वयार्थ– (संसय दोस मिच्छा) संशय दोष मिथ्यात्व का ही भेद है इसलिए (संसैयारोपि दोष संजुत्ता) संशय धरने वाले दुःखों से संतापित रहते हैं (ते दंसनं च भट्ठा) वे सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट रहते हैं (संसेयि न कहंमि सिज्झंतो) संशय रखने वाला किसी भी तरह सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ– संशय एक प्रकार का पाँच तरह के मिथ्यात्व का भेद है। संशयधारी शुद्ध आत्म धर्म को न पाकर सांसारिक आकुलताओं से यहाँ भी नहीं छूटते हैं व परभव में भी दुःख उठाते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव बहुत शास्त्रों को पढ़ने पर भी व बहुत व्रत, तप, संयम पालने पर भी आत्मशुद्धि नहीं कर सकते हैं।

* * *

आठ मद

मद्यं अस्ट स उक्तं, जाइ कूली स्वर रूप सहियानं।
अभिमानं अन्यानं अतपं बल सिलपि संतुट्ठं॥ २११॥

अन्वयार्थ– (मद्यं अस्ट स उक्तं) ये आठ मद कहे गए हैं (जाइ कूली स्वर रूप सहियानं) जाति मद, कुल मद, धन मद, रूप मद और (अभिमानं अन्यानं) अधिकार रूपी अज्ञानमद (अतपं बल सिलपि संतुट्ठं) तप मद, बल मद, शिल्प या विद्या मद में संतोष।

भावार्थ– सम्यक्त्व के २५ दोषों में आठ मद भी हैं। घमंड या अहंकार को मद कहते हैं। सम्यक्त्वी स्वभाव से वैरागी होता है। इसलिए वह नाशवंत अवस्थाओं में न तो रंजायमान होता है और न उनके रहते हुए कुछ अपना बड़प्पन मानता है। वह अभिमान नहीं करता है। जनता में आठ तरह के बल हैं। मिथ्यादृष्टि इन मदों में चूर होकर दूसरों को तुच्छ दृष्टि से देखता है वे मद इस प्रकार हैं –

१. जाति मद – माता के पक्ष को जाति कहते हैं। अपने मामा, नाना की तरफ ध्यान करके उनके धनवान, विद्वान आदि होते हुए, घमण्ड करना कि मेरे मामा व नाना का कौन सामना कर सकता है।

२. कुल मद – पिता के पक्ष को कुल कहते हैं - पिता, परपिता आदि के बड़प्पन, धनादि का चिंतवन कर घमण्ड करना कि हमारे समान कौन महान हो सकता है। प्रायः मूर्ख लोग अपने बाप-दादों के अभिमान में चूर होकर विवाहादि में हद से अधिक खर्च करके कर्जदार बन जाते हैं।

३. धन मद — धन अधिक रहते हुए धन रहितों को तुच्छ समझना उनको किसी भी सम्मति में पूछना नहीं।

४. रूप मद — शरीर सुन्दर होते हुए भी अभिमान करके अपने से कम रूपवानों को तुच्छ समझना।

५. अधिकार मद — अपना अधिकार व अपनी आज्ञा अधिक हो तो उनका घमण्ड करना कि मैं चाहे जिसको नीचा दिखा सकता हूँ।

६. तप मद — उपवास, रस त्याग व ध्यान का अभ्यास अधिक करने की शक्ति होने पर अभिमान करना दूसरों को छोटा समझना।

७. बल मद — शरीर में बल अधिक होने पर निर्बलों को सताना, अपनी ताकत का बहुत ही घमण्ड करना।

८. शिल्प या विद्या मद — अधिक विद्वान व शिल्पकला के जानकार होने पर घमण्ड करना कि मेरे सामने कौन मुकाबला कर सकता है। वे आठ मद सम्यक्त्वी के नहीं होते हैं। ये दोष हैं।

मद्यंपि असुह भावं, रागादि दोषं असुह पयडत्थो।
सो मद्यपा स उत्तं स किरिया नरय वासंमि॥ २१२॥

अन्वयार्थ– (मद्यंपि असुह भावं) मद्यपान करना भी अशुभोपयोग है (रागादि दोषं असुह पयडत्थो) इस मद के कारण रागद्वेष आदि दोष होते हैं, पाँच इन्द्रियों के विषयों की बातों का प्रकाश हुआ करता है (सो मद्यपा स उत्तं) मदधारी मदिरा पान करने वाले के समान कहा गया है (स किरिया नरय वासंमि) मद करके जो कुछ भी आचरण है सो नरक वास में भेजने वाला है।

भावार्थ– आठों तरह का मद करना एक तरह के मद्य को पीकर उन्मत्त हो जाना है। जैसे नशा पीकर प्राणी उन्मत्त व बावला हो जाता है, अपना हित व अहित का विचार नहीं करता है। उसी प्रकार मद करने वाला अंधा हो जाता है। जिन बातों से अपना अभिमान प्राप्त हो उनमें तो राग करता है, जिनसे अभिमान पोषने में हानि पड़े उनसे द्वेष करता है। पाँच इन्द्रियों के भोगों में लिप्त रहते हुए अभिमान की बातें करता है। मैंने अमुक विषय भोगे दूसरा कौन मेरे समान है। मदधारी की सर्व क्रिया मान को लिए हुए होती है मद करने का भाव तीव्र मान के उदय से होता है, इसीलिए इनको अशुभ भाव कहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत तीन अशुभ लेश्या के भाव मदधारी के होते हैं, इससे वह नरकायु बाँधकर नरक चला जाता है।

मल पच्चीस वियानं तिक्तंपि भाव सुध परिनामं।
सो सुध दिट्ठि भनिऊ दंसन मल विवज्जिओ सुधो ॥ २१३ ॥

अन्वयार्थ– (मल पच्चीस वियानं) इस तरह पच्चीस दोषों को जानकर (तिक्तंपि भाव सुध परिनामं) जो छोड़ देते हैं उनके भावों में शुद्ध परिणाम रहते हैं (दंसन मल विवज्जिओ सुधो) जो इस सम्यग्दर्शन के मलों से रहित शुद्ध हैं (सो सुध दिट्ठि भनिऊ) सो ही सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

भावार्थ– ऊपर लिखे प्रमाण तीन मूढ़ता, छः अनायतन, आठ शंकादिमल व आठ मद, इस तरह २५ मल हैं जो श्रद्धा को मैला करने वाले हैं। ज्ञानी को ज्ञान बल से विचार कर इनका त्याग करना चाहिए। तब ही निर्मूल परिणाम होंगे व तब ही वह जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कहलाएगा। निर्मल जल जैसे मल को धो सकता है, उसी तरह निर्मल सम्यक्त्व भाव कर्ममल को दूर कर सकता है।

* * *

सम्यक्त्व फल

सम्मत्तरयन सुधो, जानै पिच्छेइ दंसनं सुधं।
सो सुध दिट्ठि जीवो, अचिरेन लहंति निव्वानं ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थ– (सम्मत्तरयन सुधो) जो निर्दोष सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का धारी है (सुध दंसनं जानै पिच्छेइ) सो आत्म प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन को जानता है व देखता है (सो सुध दिट्ठि जीवो) वह सम्यग्दृष्टि जीव (अचिरेन लहंति निव्वानं) शीघ्र ही मोक्ष को पाता है।

भावार्थ– ऊपर कहे हुए पच्चीस दोषों से रहित जो कोई व्यवहार सम्यग्दर्शन को पालता है। देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति रखता है; जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वों को जानकर उनका दृढ़ श्रद्धान रखता है, तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन आत्मानुभव को पहचानता है। वह सम्यग्दृष्टि सच्चा मोक्षमार्गी हो जाता है। उसकी सच्ची लगन आत्मा की स्वाधीनता पर जम जाती है। वह कुछ ही भवों में निर्वाणपुरी का नाथ हो जाता है।

दंसन दिठि संजुत्तं, जानै पिच्छेइ सुध सम्मत्तं।
सो भव्यजीव सुधं, अचिरेन निव्वुए जंति ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ– (दंसन दिठि संजुत्तं) सम्यग्दर्शन सहित जो कोई (सुध संमत्तं जानै पिच्छेइ) शुद्ध आत्मानुभव रूप सम्यग्दर्शन को जानता है व देखता है (सो सुधं भव्यजीव अचिरेन निव्वुए जंति) सो भव्यजीव शुद्ध होता हुआ शीघ्र ही निर्वाण को चला जाता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि जीव ही यथार्थ शुद्धात्मा का ध्यान कर सकता है और आत्मध्यान के बल से कर्मों का क्षय कर बहुत ही शीघ्र मुक्त हो जाता है।

अप्पा परु पिच्छंतो, परचवै वि अप्प सुध सभावं।
अप्पा सुधप्पानं, परमप्पा लहै निव्वानं॥ २१६॥

अन्वयार्थ- (अप्पा परु पिच्छंतो) जो आत्मा और अनात्मा को जानकर (अप्प सुध सभावं परचवै वि) अपने शुद्ध स्वभाव का ही अनुभव करता है (अप्पा सुधप्पानं परमप्पा निव्वानं लहै) वह आत्मा, शुद्ध आत्मा या परमात्मा होकर निर्वाण को पाता है।

भावार्थ- प्रथम तो अपने आत्मा को सर्व आत्माओं से पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल इन सबसे तथा कर्मों के उदय से निमित्त से होने वाले अपने विभाव भावों से जो कोई पृथक् जानता है फिर ग्रहण करने योग्य व ध्यान करने योग्य अपने शुद्धात्मा को ही अपने भाव में स्थापित कर अन्य सबसे मन का संबंध छोड़ देता है, वही सम्यग्दृष्टि जीव आत्मध्यान के द्वारा कर्मों से रहित होकर परमात्मा हो जाता है और निर्वाण का स्वामी हो जाता है।

* * *

सम्यक्त्व के आठ लक्षण

मूलगुनं ए अट्ठा संव्वेओ निव्वेय सम संजुत्ता।
निन्दा गरुहा नाए उवसम संजुत्त भत्तिभारेन॥ २१७॥
वाच्छिल्लं अनुकम्पा, अट्ठ गुनं संजुत्त सम्मत्तं।
सद्दहै सुध भावं, सम्मत्तं निम्मलं सुधं॥ २१८॥

अन्वयार्थ- (ए अट्ठा मूलगुनं) ये आठ सम्यक्त्व के मूल लक्षण हैं (संव्वेओ निव्वेय) संवेग, निर्वेद (सम संजुत्ता) जो सम्यक्त्व के साथ में हो (नाए निन्दा गरुहा) दुःख भाव रहित निन्दा तथा गर्हा (उवसम संजुत्त भत्ति भारेन) उपशम भाव, भक्ति (वाच्छिल्लं अनुकम्पा) वात्सल्य और अनुकम्पा (अट्ठ गुनं संजुत्त सम्मत्तं) इन आठ गुणों सहित सम्यग्दर्शन को (सुध भावं सद्दहै) जो निश्चय से शुद्ध आत्मिक भाव है श्रद्धान करता है (निम्मलं सुधं सम्मत्तं) उसी के दोष रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि जीव के भीतर आठ गुण ऐसे होते हैं कि जिनसे यह पहचाना जा सकता है कि इन गुणों का धारी सम्यग्दृष्टि है। वे आठ लक्षण ये हैं —

१. संवेग - आत्मा को संसार पतन से बचाने के लिए धर्म में प्रीति।

२. निर्वेद - संसार, शरीर व भोगों से वैराग्य भाव होना।

ये दोनों गुण मिथ्या दृष्टि के भी होते हैं। वैसे न होकर सम्यग्दृष्टि के जैसे होना चाहिए वैसे होना।

३. निन्दा - अपने में गुण होते हुए भी अपनी निन्दा दूसरों से करना।

४. गर्हा - अपने में गुण होते हुए भी अपनी निन्दा अपने मन में करना।

इन दोनों गुणों को भी प्रसन्नता से करें, मन में दुःख मानकर न करें। केवल मार्दव गुण प्रकट करे, अभिमान मिटा दें।

५. उपशम - क्रोधादि कषायों की मंदता रखकर शांत भाव रखना।

६. भक्ति - देव, धर्म, शास्त्र, गुरु में परम प्रेम सहित भक्ति करना।

७. वात्सल्य - धर्मात्माओं से गाय और बछड़े के समान प्रेम रखना।

८. अनुकम्पा - दूसरों के कष्ट देखकर कांप जाना, दया प्रगट करना व यथाशक्ति दुःखों को दूर करना, इन आठ गुणों को रखता हुआ जो शुद्ध आत्मिक श्रद्धा रखता है वही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

* * *

संवेग

संवेओ सुद्धार्थं, जानै पिच्छेइ दंसनं सहसा।
चरनंपि दुविह भेयं, सहकारेन तवंपि संवेओ॥ २१९॥
संवेउ सुयं वेगी, षिउ उवसमंपि सुध संवेओ।
सम्मत्त सुयं चरनं, संवेओ सुधमप्पानं॥ २२०॥

अन्वयार्थ- (संवेओ सुद्धार्थं) संवेग अर्थात् पूरा वेग अर्थात् जोर सो संवेग है, धर्म में पूरा उत्साह सो संवेग है, संवेग भावधारी (सहसा दंसनं दुविहभेयं चरनंपि सहकारेन तवंपि जानै पिच्छेइ संवेओ) बहुत बल के साथ उत्तम प्रकार से सम्यग्दर्शन के विषय भूत सात तत्त्वों को देव, धर्म, गुरु को आत्मा व अनात्मा को जानता है, उनमें श्रद्धान रखता है तथा दो तरह के मुनि व श्रावक के आचरण को पहचानता है तथा साथ में बारह प्रकार के तप को भी जानता है सो संवेग व्यवहार नय से है। (सुयं वेगी संवेउ) निश्चय से आत्मा के वेग को रखने वाला- आत्मबली संवेग भाव को रखने वाला है (उवसमंपि सुध संवेओ) क्षायिक सम्यक्त्व व उपशम सम्यक्त्व ही शुद्ध संवेग भाव है (सम्मत्त सुयं चरनं) सम्यग्दर्शन के भाव में स्वयं आचरण करना संवेग है (सुधमप्पानं संवेओ) तथा शुद्ध आत्मारूप होना ही संवेग है।

भावार्थ- व्यवहार नय से धर्म के सर्व प्रकार के भेदों में अत्यन्त प्रीति भाव संवेग है। निश्चयनय से निज आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण भाव ही संवेग है। वहाँ निश्चय सम्यक्त्व, निश्चय ज्ञान व निश्चय चारित्र तीनों की एकता है। जहाँ आत्मबल को निजात्मा के रसास्वाद में लगा दिया जावे सो संवेग भाव है। यह सम्यक्त्वी का मुख्य लक्षण है।

* * *

निर्वेद

निव्वेओ निस्सल्लो, लोयायासेहि सुध अवयासो।
दंसन न्यान पहानो, चरनं सुधं पि हवे निव्वेओ॥ २२१॥

अन्वयार्थ- (निव्वेओ) निर्वेद या वैराग्य भाव (निस्सल्लो) शल्य रहित है (लोयायासेहि सुध अवयासो) लोक की आशाओं से शुद्ध निर्मल है (दंसन न्यान पहानो) जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रधान हैं (सुधं पि चरनं निव्वेओ हवे) शुद्ध चारित्र भी निर्वेद है।

भावार्थ- निर्वेद संसार शरीर भोगों से उदासीन भाव को कहते हैं। संसार की चारों ही गतियों में क्लेश है। शरीर क्षणिक व अपवित्र है, भोग रोगवत् आतापकारी है। ऐसा जहाँ सच्चा वैराग्य हो वहाँ निर्वेद गुण है। जहाँ जगत के पदार्थों की आशा-तृष्णा बिल्कुल न हो, इन्द्र-चक्रवर्ती आदि के भोग भी त्याज्य ही भासते हों, आकाश के समान निर्मलता हो, जहाँ सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हो, आत्मा का दृढ़ता से श्रद्धान व ज्ञान हो, जहाँ स्वरूपाचरण रूप शुद्ध चारित्र हो वहाँ निर्वेद भाव होता है।

निव्वेओ निरु निश्चय, जानइ पिच्छेइ सुध संमत्तं।
अप्पा सुधप्पानं, परमप्पा निवेउ निव्वानं॥ २२२॥

अन्वयार्थ- (निव्वेओ) निर्वेद गुण (निरु) निश्चय से (निश्चय) ममता रहित है, धनादि रहित है, पर पदार्थ से रहित है (सुध संमत्तं जानइ पिच्छेइ) शुद्ध आत्मा को जानने देखने वाला है (अप्पा सुधप्पानं परमप्पा निव्वानं निवेउ) आत्मा, शुद्धात्मा, परमात्मा निर्वाण सब निर्वेद स्वरूप हैं।

भावार्थ- निश्चय से निर्वेद गुण पर पदार्थों के संकल्प व ममत्व से रहित एक ऐसे निर्विकल्प आत्मा का परिणाम है, जहाँ भीतर से अपने ही शुद्ध आत्मा का दर्शन व ज्ञान होता है। उसे आत्मा रूप कहो, चाहे शुद्धात्मा रूप कहो, चाहे परमात्मा रूप कहो, चाहे निर्वाण रूप कहो, सब एक ही बात है। जहाँ आत्मा आपसे आप में तल्लीन है, सर्व पर-पदार्थों से व सर्व कर्मजनित भावों से शून्य है वहीं निर्वेद गुण का अनुभव है।

निव्वेओ निद्दंदो, निः लोहो निव्वियार निकलेसो।
सुध सहावे सुरदो, संमत्तं गुनं जानि निव्वेओ॥ २२३॥

अन्वयार्थ– निर्वेद गुण निश्चय से (निव्वेओ) वेद या काम भाव रहित है (निद्दंदो) निर्द्वन्द्व है, एक अद्वैत आत्मभाव है (निःलोहो) लोभ रहित है (निव्वियार) विकार रहित है (निकलेसो) क्लेश रहित है (सुध सहावे सुरदो) शुद्ध आत्मा के स्वभाव में रमण रूप है ऐसे (संमत्तं गुनं निव्वेओ जानि) सम्यग्दर्शन के गुण निर्वेद को जानो।

भावार्थ– आत्मा का अपने ही शुद्ध स्वरूप में रमण रूप एक अद्वैतभाव जहाँ ध्याता को सिवाय आत्मरस के स्वाद के अन्य स्वाद नहीं आ रहा है, निर्वेदभाव है, जहाँ न कामभाव का विकार है न कोई उपाधि है न कोई क्रोधादि दोष हैं, न जहाँ कोई आकुलता, दुःख या चिन्ता है। यही सच्चा सम्यक्त्व गुण का लक्षण निर्वेद है।

* * *

निन्दा गर्हा

कुन्यानं निंदंतो, सल्यं निंदंति कसाय मिच्छत्तं।
निंदंति असुहभावं, अनृत असत्य सयल निंदंति॥ २२४॥

अन्वयार्थ– निन्दा गर्हा गुण का धारी वही सम्यग्दृष्टि है जो (कुन्यानं निंदंतो) कुज्ञान की निंदा करता है (सल्यं कषाय मिच्छत्तं निंदंति) जो शल्य व कषाय एवं मिथ्यात्व की निंदा करता है (असुहभावं निंदंति) जो अशुभ भावों की निंदा करता है (अनृत असत्य सयल निंदंति) सो सर्व असत्य व बनावटी व कल्पित पदार्थ या भावों की निंदा करता है।

भावार्थ– निन्दा गर्हा गुण का भाव यह नहीं है कि पर-मानव की निंदा की जावे। जहाँ दोषों की निन्दा हो वहीं निन्दा गर्हा है। सम्यक्त्वी नहीं चाहता है कि मेरे भीतर ये औगुण हों इसलिए इनकी मन से निन्दा करता है तथा यदि कोई दोष अपने भीतर हो जावे तो दूसरों के सामने भी अपनी निंदा करता है। वे दोष हैं– मिथ्याज्ञान-माया, मिथ्या, निदान, शल्य, कषाय, अशुभ भाव, असत्य भाषण आदि।

निंदंति असुह वयनं इंदी विषयम्मि सयल निंदंति।
निंदंति राय दोसं, परिनामं असुह निंदंति॥ २२५॥

अन्वयार्थ– (असुह वयनं निंदंति) सम्यग्दृष्टि अशुभ वचनों की निन्दा करता है (इंदी विषयम्मि सयल निंदंति) सर्व ही इंद्रिय विषयों की प्रवृत्ति की निन्दा करता है (राय दोसं निंदंति) अपने राग द्वेष भावों की निन्दा करता है (असुह परिनामं निंदंति) अपने अशुभ भावों की निंदा करता रहता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि अपने भावों की व अपने वचन व काय की क्रिया की बहुत सम्हाल रखता है, तो भी कषाय के उदय से जो अशुभ वचन निकल जावे व इन्द्रियों के भोग में प्रवृत्ति हो जावे व रागद्वेष भाव हो जावे या और कोई अशुभ भाव हो जावे तो उनकी सदा निन्दा गर्हा करता रहता है। यह सम्यक्त्वी का गुण है।

निंदंति गरुह नाए, सरीरं, असुहं च सरनि संसारे।
दुविहि असत्यं, सहियं, अन्यानं व्रत तप क्रियं च॥ २२६ ॥

अन्वयार्थ- (सरीरं असुहं च सरनि संसारे) इस संसार में भ्रमण कराने वाला इस अशुभ शरीर का सम्बन्ध है (असत्यं सहियं दुविहि) तथा असत्य सहित कुबुद्धि है (अन्यानं व्रत, तप क्रियं च) तथा आत्म-ज्ञान रहित व्रत, तप व क्रियाएँ हैं (निंदंति गरुह नाए) ऐसा सम्यग्दृष्टि निंदा गर्हा करता रहता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि यह भावना भाता है कि मेरे आत्मा के साथ शरीर का संबंध ठीक नहीं है। मेरी कभी मिथ्या संसारासक्त बुद्धि न हो, कभी मैं अज्ञान व्रत, तप, क्रिया न करूँ।

जस्स न न्यान सहावं, व्रत तप क्रियं च सहन उवसग्गं।
न्यान सहावेन बिना, सयलंपि अनेय निंदंति॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ- (जस्स न न्यान सहावं) जिसके भीतर ज्ञान स्वभावी आत्मा का प्रकाश नहीं है (व्रत तप क्रियं च सहन उवसग्गं) उसका व्रत करना, तप पालना, क्रिया करना, उपसर्ग सहना निष्फल है (न्यान सहावेन बिना) आत्मज्ञान स्वभाव के प्रकाश बिना (अनेय सयलंपि निंदंति) अन्य अनेक प्रकार सर्व ही चारित्र निन्दा के योग्य हैं।

भावार्थ- आत्मध्यान व आत्मानुभव की वृद्धि के लिए बाहरी व्रत, तप, क्रिया व श्रावक व मुनि का चारित्र निमित्त साधक है। यदि कोई आत्म-ज्ञान रहित हो करके व्रतादि करे तो वह मोक्षमार्ग नहीं, संसार मार्ग है, इसलिये निन्दनीय है।

♣ ♣ ♣

उपशम भाव

उवसम ऊर्ध सहावं, उवसम संजुत्त सुध सम्मत्तं।
षिउ उवसमं पि सुधं, उवसम गुन लहंति निव्वानं॥ २२८ ॥

अन्वयार्थ- (उवसम ऊर्ध सहावं) उपशम या शांत भाव भी उत्कृष्ट स्वभाव है (उवसम संजुत्त सुध सम्मत्तं) उपशम भाव सहित ही शुद्ध क्षायिक या उपशम सम्यक्त्व होता है (षिउ उवसमं पि सुधं)

क्षयोपशम सम्यक्त्व भी उपशम भाव से ही शुद्ध कहलाता है (उवसम गुन निव्वानं लहंति) जिस सम्यक्त्वी के शांत गुण होता है, वही निर्वाण प्राप्त करता है।

भावार्थ- कषाय की मंदता या शांत भाव बड़ा ही उत्तम गुण है, जो हर एक उपशम, क्षायिक या क्षयोपशम सम्यक्त्वी के होता ही है। इसी से सम्यक्त्व की महिमा है। इसी गुण से मुक्ति होती है। चार अनन्तानुबंधी कषाय व दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व व क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व या एक सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से छह के उपशम या क्षय से क्षयोपसम सम्यक्त्व होता है।

उवसम सहिओ जीवो, संसार सरीर भोग विरदोय।
मिच्छा मय कुन्यानं, रागं दोसं पि विषय उवसंतो॥ २२९॥

अन्वयार्थ- (उवसम सहिओ जीवो) जो जीव उपशम या शांत भाव सहित होता है वही (संसारं सरीर भोग विरदोय) संसार शरीर तथा भोगों से विरक्त होता है (मिच्छा मय कुन्यानं रागं दोसं पि विषय उवसंतो) उसका मिथ्यात्व भाव, अज्ञान भाव, रागद्वेष तथा विषय वांछा सब शांत हो जाते हैं।

भावार्थ- शांत परिणामी सम्यक्त्वी अवश्य असार संसार, अशुचि नाशवंत शरीर व तृष्णावर्द्धक भोगों से उदास होता है। उसके भीतर से नियम से मिथ्यात्व, अज्ञान व अनन्तानुबंधी संबंधी रागद्वेष व विषयों की इच्छा का भाव ये सब अस्त हो जाते हैं।

कषायं उवसंतो, रागादि, दोष सयल परिचत्तो।
संसार सरनि विरदो, उवसंतो विविह असुहाए॥ २३०॥

अन्वयार्थ- (कषायं उवसंतो) उपशम गुणधारी सम्यक्त्वी के सर्व कषायें शांत व मंद रहती हैं (सयल रागादि दोस परिचत्तो) यह सब रागादि दोषों की तीव्रता से रहित होता है (संसार सरनि विरदो) और संसार भ्रमण से विरक्त होता है (विविह असुहाए उवसंतो) यह नाना प्रकार अशुभ भावों को शांत कर चुका है।

भावार्थ- संसार भ्रमण को त्यागने योग्य समझने वाला सम्यक्त्वी होता है। यह राग द्वेषादि कषायों को व सर्व अशुभ भावों को त्यागने योग्य समझकर उनसे बचता है। मोक्ष मार्ग पर ध्यान लगाये हुए वह शांत चित्त रहता है।

उवसंत षीन मोहो, मिथ्या दंसनेहि उवसमो चरनो।
चौगई गमनागमनो, उवसंतो लहै निव्वानं॥ २३१॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या दंसनेहि उवसमो चरनो) मिथ्यादर्शन के क्षय होने से जो चारित्र पाला जाता है, उसके द्वारा (उवसंत षीन मोहो) मोह उपशांत हो जाता है या क्षीण हो जाता है तब (चौगई गमनागमनो

उवसंतो लहै निव्वान) उसका चारों गतियों में भ्रमण बन्द हो जाता है और वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थ- पहले उपशम सम्यक्त्व होता है, फिर क्षयोपशम, फिर क्षायिक होता है। तब मिथ्यात्व का क्षय हो जाता है। ऐसा सम्यक्त्वी मुनिव्रत धारकर ध्यान बल से कभी उपशम श्रेणी चढ़ता है, तब ग्यारहवें गुणस्थान पर जाकर उपशांत मोही कहा जाता है, फिर पलटकर आठवें से वह क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हुए दसवें से बारहवें में आकर क्षीण मोह कहाता है। फिर वही केवली होकर अरहंत हो जाता है। आयु पर्यंत शरीर में रहता है, फिर अवश्य निर्वाण का लाभ होता है और तब चार गति का भ्रमण बिलकुल बन्द हो जाता है।

* * *

भक्ति गुण

भत्ती दंसन न्यानं, चरनं चारित्र दुविहि भत्तीए।
तव भत्ती सहकारं, सम्मत्तं सुध भत्तीओ॥ २३२॥

अन्वयार्थ- (दंसन न्यानं भत्ती) सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की ओर प्रेमपूर्वक आराधन दर्शन-ज्ञान भक्ति है (दुविहि चारित्र चरनं भत्तीए) निश्चय तथा व्यवहार दो प्रकार चारित्र पालना चारित्र भक्ति है (तव भत्ती सहकारं) साथ में तप करने की तरफ उत्साह रूप भक्ति चाहिए (सम्मत्तं सुध भत्तीओ) इस तरह सम्यग्दृष्टि के शुद्ध भक्ति गुण होता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि बड़ी श्रद्धा व बड़ी भक्ति से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप इन चार आराधनाओं की भक्ति रखता है, यही सम्यक्त्वी का शुद्ध भक्ति गुण है।

भत्ती अनंत न्यानं, मल रहिओ सुध दंसनं भत्ती।
भत्ती सुध सहावं, सुधं सम्मत्त भत्ति सो दिट्ठि॥ २३३॥

अन्वयार्थ- (भत्ती अनंत न्यानं) आत्मा के अनन्त ज्ञान की तरफ भक्ति रखना (मल रहिओ सुध दंसनं भत्ती) मेरा सम्यक्त्व भाव पच्चीस मल रहित शुद्ध रहे ऐसी भक्ति रखना (भत्ती सुधसहावं) शुद्ध आत्मा के स्वाभाविक गुणों की भक्ति रखना (सो सुधं सम्मत्त भत्ति दिट्ठि) सो शुद्ध सम्यक्त्व भक्ति है, ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ- भक्ति, श्रद्धापूर्वक सेवा व आराधना को कहते हैं। सम्यग्दृष्टि के शुद्ध भक्तिगुण यह होता है कि वह आत्मा के अनंतज्ञान की प्राप्ति की भावना भाता है तथा पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यक्त्व के पाने की रुचि रखता है तथा मेरा शुद्ध आत्मा का स्वभाव प्रगट हो ऐसी शुद्ध भक्ति का प्रकाश रखता है।

न्यानमयी भत्तीनं, अप्पा परमप्प सुध भत्तीए।
मिच्छात दोष रहियं, भत्ती पुन लहंति निव्वानं॥ २३४॥

अन्वयार्थ- (न्यानमयी भत्तीनं) आत्मज्ञानमयी आराधना उसे कहते हैं, जहाँ (अप्पा परमप्प सुध भत्तीए) ऐसी शुद्ध आराधना हो कि मेरा आत्मा ही निश्चय से परमात्मा रूप है (मिच्छात दोष रहियं) उसमें कोई पर पदार्थ में परमाणु मात्र राग रूप मिथ्यात्व का दोष न हो (पुन भत्ती निव्वानं लहंति) ऐसी पवित्र भक्ति निर्वाण को ले जाती है।

भावार्थ- निर्वाण की कारणरूप शुद्ध ज्ञानमयी भक्ति वह है, जहाँ सम्यक्त्वपूर्वक अपने आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव किया जावे। आत्मा में तन्मयता ही प्राप्त की जावे। आत्मानुभव निश्चय से मोक्ष मार्ग है।

♣ ♣ ♣

वात्सल्य गुण

वाच्छल्लं विन्यानं, विन्यान सरुव सम्मत्तं।
अप्पा पर विन्यानं परचवे वि अप्प सुध सभावं॥ २३५॥

अन्वयार्थ- (वाच्छल्लं विन्यानं) भेद विज्ञान में प्रेम सो ही वात्सल्य गुण है (विन्यान सरुव सम्मत्तं) सम्यग्दर्शन भेद ज्ञान स्वरूप है (अप्पा पर विन्यानं) आत्मा को पर से भिन्न जानना भेद विज्ञान है। (अप्प सुधसभावं परचवे वि) तब ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप का परिचय या अनुभव होता है।

भावार्थ- निश्चय प्रेम भाव भेद विज्ञान से रखना वात्सल्य गुण है। आत्मा को सर्व रागादि भावों से व कर्मों से व शरीरादि से भिन्न देखना भेद विज्ञान है। यही सम्यग्दर्शन या सच्चा श्रद्धान है। इसी के द्वारा स्वानुभव होता है, जो असली मोक्ष मार्ग है।

अप्पा सुधप्पानं, विन्यानं करंति भावमय गहनं।
लब्धं परमप्पानं, विन्यानं लहंति निव्वानं॥ २३६॥

अन्वयार्थ- (अप्पा सुधप्पानं विन्यानं भावमय गहनं करंति) आत्मा ही निश्चय से शुद्धात्मा है ऐसा विशेष ज्ञान जहाँ-जहाँ भावपूर्वक किया जाता है (परमप्पानं लब्धं) तप परमात्मा की प्राप्ति होती है (विन्यानं निव्वानं लहंति) वास्तव में भेद विज्ञान निर्वाण को प्राप्त कराता है।

भावार्थ– भेद विज्ञान में प्रेम ही वात्सल्य गुण है। जैसे– तिलों में तेल और भूसी का अलग-अलग ज्ञान ही तैल की प्राप्ति कराता है। वैसे इस कर्म से मिश्रित आत्मा में कर्मों से भिन्न आत्मा शुद्ध परमात्मा के समान है, ऐसा ज्ञान ही परमात्मा का स्वभाव प्रकाश कराता है।

♣ ♣ ♣

अनुकम्पा गुण

अनुकंपा जीवानं, थावर वियलेंदिय सयलमप्पानं।
अनुकंप भाव विसुधं असत्य सहितोपि विवरीदो॥ २३७॥

अन्वयार्थ– (अनुकंपा जीवानं थावर वियलेंदिय सयलमप्पानं) समस्त जीवों पर दया भाव अनुकम्पा है। स्थावर एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक विकलत्रय जंतु तथा पंचेन्द्रिय जीव सर्व ही प्राणियों पर करुणा भाव (असत्यसहितोपि विवरीदो) यद्यपि असत्य राग सहित है, तो भी असत्य से विपरीत है (अनुकंप भाव विसुधं) निश्चय अनुकंपा शुद्ध आत्मिक भाव है।

भावार्थ– दयाभाव एक प्रकार का शुभ राग है, सो कषाय सहित भाव है सो सत्य वीतराग आत्मिक भाव से विरुद्ध है, इसलिए असत्य है तो भी वह अप्रशस्त नहीं है अहितकारी नहीं है, इसलिए विरुद्ध नहीं है। सराग सम्यक्त्वी के ऐसा दया भाव होता है कि वह सर्व प्राणी मात्र पर करुणा करके उनका दुःख मेटना चाहता है। किसी भी स्थावर व त्रस प्राणी को व्यर्थ दुःखित नहीं करता है। किन्तु उनका यथा शक्ति उपकार करता है। वीतराग सम्यक्त्वी के यह अनुकम्पा गुण स्वात्म दयारूप शुद्ध वीतराग भाव है, जिससे आत्मा की हिंसा रागादि से न हो।

अनुकंप भाव विसुधं, अप्प सरुवं च चेयना भावं।
अनृत असत्य सहियं, तिक्तंति अनुकंप भावेन॥ २३८॥

अन्वयार्थ– (अनुकंप भाव विसुधं) निश्चय अनुकम्पा आत्मा का शुद्ध वीतराग भाव है (अप्प सरुवं च चेयना भावं) वह आत्मा का निज स्वाभाविक चैतन्य भाव है (अनुकम्प भावेन अनृत असत्य सहियं तिक्तंति) इस निश्चय अनुकंपा के भाव से मिथ्या व क्षणिक राग सहित भाव का त्याग हो जाता है।

भावार्थ– सरागी के जो पर-जीवों की रक्षा का भाव है, वह एक क्षणिक व शुद्ध भाव की अपेक्षा असत्य भाव है। जब यह सम्यक्त्वी वीतराग भाव में तन्मय होता है, तब वहाँ शुद्ध चैतन्य आत्मिक स्वभाव का अनुभव होता है, वहाँ सराग अनुकम्पा नहीं होती है। वही निश्चय आत्म दया निर्वाण का हेतु है।

दर्सति सुध तत्त्वं, अयं च अप्प गुनेहि दर्सति।
अप्पा परमप्पानं, अनुकंपा लहंति निव्वानं॥ २३९ ॥

अन्वयार्थ– (सुध तत्त्वं दर्सति) निश्चय अनुकम्पा शुद्ध आत्म तत्त्व को देखती है (अयं च अप्प गुनेहि दर्सति) वह आत्मा को आत्मिक गुण रूप ही अनुभव कराती है (अप्पा परमप्पानं) कि यह आत्मा परमात्मा रूप है (अनुकम्पा निव्वानं लहंति) ऐसी अनुकम्पा निर्वाण में ले जाती है।

भावार्थ– वीतरागी सम्यक्त्वी के जो सर्व रागद्वेष छोड़कर अपने ही स्वरूप में स्थित होकर आत्मानुभव करना है, यही आत्म दया अनुकम्पा है, यह अवश्य मोक्ष पद दायक है।

* * *

आठ मूल गुण

मूलगुनं ए अट्ठा जानै पिच्छेई सुध सम्मत्तं।
मिछात राग रहियं, अप्पा परमप्पयं सुधं॥ २४० ॥

अन्वयार्थ– (ए अट्ठा मूलगुनं) ये आठ मूल गुण होते हैं (सुध सम्मत्तं जानै पिच्छेई) शुद्ध सम्यक्त्वी उनको जानता है व निश्चय में रखता है (मिच्छात राग रहियं) वह मिथ्यात्व के राग का त्यागी है (अप्पा परमप्पयं सुधं) अपने आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध अनुभव करता है।

भावार्थ– आत्मज्ञानी मिथ्यात्व रहित निर्दोष सम्यक्त्व पालने वाला भाव सहित परमोपकारी जानकर इन आठ मूलगुणों को पालता है। वह मदिरा, मांस, मधु का सेवन नहीं करता है तथा पाँच उदुम्बर फलों से बचता है, क्योंकि उनमें त्रस जीव होते हैं, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में भी कहा है।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पचोदुम्बर फलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरति कामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥ ६१ ॥

भावार्थ– जो हिंसा से विरक्त होना चाहे; उनको प्रथम ही मदिरा, मांस, मधु व पाँच उदम्बर फलों को उद्यम करके छोड़ देना चाहिये।

तिक्तंतिमूल अट्ठा, पंचुम्बर मद्य मांस मधु पेयं।
तिक्तंति भव्य जीवा, क्रिया मल विवज्जओ सुधो॥ २४१ ॥

अन्वयार्थ– (मूल अट्ठा तिक्तंति) इन आठ मूल बातों को छोड़ दें (पंचुम्बर मद्य मांस मधु पेयं) पाँच उदुम्बर फल, मदिरा, मांस व मधु का पान (क्रिया मल विवज्जिओ सुधो भव्य जीवा तिक्तंति) जो क्रिया के दोष से रहित शुद्ध आचरण के पालने वाले भव्य जीव हैं, वे इन आठों को त्याग देते हैं।

भावार्थ- ये आठ बातें हिंसा को पुष्ट करने वाली व आचार को मलीन पापी व दोषी बनाने वाली हैं। अतएव शुद्ध क्रिया के पालक भव्य जीव इन आठों का अवश्य त्याग कर देते हैं।

बड़ पीपल पिलषूनं, पाकर उदंबरं जाने।
त्रस जीवाउप्पत्ती, तिक्तंति सव्व सावयाहुंति॥ २४२॥

अन्वयार्थ- (बड़ पीपल पिलषूनं पाकर उदंबरं जाने) पाँच उदुम्बर फल, बड़ का फल, पीपल का फल, गूलर फल, पिलखन फल और अंजीर को जानो (त्रस जीवा उप्पत्ती) इनमें त्रस द्वेन्द्रियादि पैदा होते हैं (हुंति सव्व सावया तिक्तंति) सर्व ही सच्चे श्रावक इनका त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- इन पाँच फलों में प्रत्यक्ष त्रस जीव देखने में आते हैं, अथवा कभी देखने में न आवें तो भी उनमें त्रस की उत्पत्ति की योनि है। अतएव त्रस हिंसा से बचने के लिए श्रावकगण इन फलों को गीला व सूखा कभी नहीं खाते। क्योंकि सूखे में त्रस कलेवर सूखा हुआ मांस ही साथ में होगा।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में सूखे खाने की भी मनाई है।

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छन्नत्रसानि शुष्काणि!
भजतस्तान्यपि हिंसा, विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥ ७३॥

भावार्थ- यदि इन फलों में किसी काल त्रस जीव न दिखलाई पड़े व ये फूल सूख जावे तो भी इनको खाने से विशेष रागरूपी हिंसा अवश्य होगी। इसलिए सूखे भी न खाना चाहिए।

मद्यं व असुह भावं, असुहं आलाप विकह सभावं।
मोह मय मान सहियं, मद्यं मानं च असुह मयमंतं॥ २४३॥

अन्वयार्थ- (मद्यं च असुह भावं) मदिरा अशुभ भावों को उत्पन्न करती है (असुहं आलाप विकह सभावं) मदिरा से अशुभ बकबक करता है व विकथाएँ करने लगता है (मोह मय मान सहियं) मदिरापान से मोहमयी नशा चढ़ जाता है (मद्यं मानं च असुह मयमंतं) मदिरा पीना व मान भाव में हो जाना अशुभ मद्यपना ही है।

भावार्थ- यद्यपि मदिरापान में त्रस जीवों का घोर घात होता है, इसलिए मदिरा त्रस हिंसा का कारण है तथापि इसमें और भी दोष हैं। मदिरा पीने से भाव बिगड़ जाते हैं। यद्वा तद्वा बकने लगता है। स्त्री, भोजन, लोक व राजाओं की मनोरंजक कथाएँ कहने लगता है। गहलता भाव पैदा हो जाता है, जिससे माता को स्त्री समझने लगता है। मैं बड़ा हूँ ऐसा एक अभिमान भी पैदा हो जाता है, जैसे मदिरा का पीना अशुभ है वैसे मान भाव में रमना अशुभ है। मानी को भी मोह का नशा चढ़ जाता है। मानी भी मदिरापानी के समान है या मदिरापानी मानी के समान है।

तिक्तंति मद्य पानं, ममता भावेन मिच्छ सहियानं।
पुन्यं भोय निमित्तं, करंति ममता मद्यपा हुंति॥ २४४॥

अन्वयार्थ– (मद्यपानं तिक्तंति) श्रावकों को मदिरा-पान छोड़ देना चाहिए (ममता भावेन मिच्छ सहियानं) साथ में ममता भावमयी मिथ्यात्व का भी त्याग करना चाहिए (ममता मद्यपा हुंति भोय निमित्तं पुन्यं करंति) जो ममता रूपी मदिरा के पीने वाले हैं, वे भोगों के मिलने के हेतु से पुण्य कर्म करते हैं।

भावार्थ– श्रावकों को मदिरा पीना तो छोड़ना ही चाहिए। साथ में संसार व इन्द्रिय-विषय रागरूपी ममत्व को भी छोड़ देना चाहिए, यह भी मिथ्यात्व है। जिनको भोगों की तृष्णा का मद होता है, वे पूजा, पाठ, जप, तप व्रतादि भी भोगों की प्राप्ति के लिए करते हैं। वीतराग भाव के लिए नहीं।

मांसं च असुह भावं, भावं पंचम्मि थावरं सहियं।
असुधं परिनामं, मांस दोस विरहिओ जीवो॥ २४५॥

अन्वयार्थ– (मांस दोस विरहिओ जीवो) जो जीव मांस के दोष से बचना चाहता है उसको (मांसं च असुह भावं) मांस के त्याग के साथ अशुभ हिंसक भाव को भी त्यागना चाहिए (पंचम्मि थावरं सहियं भावं) तथा पाँच प्रकार स्थावरों की निरर्गल हिंसा के भाव को भी त्यागना चाहिए (असुधं परिनामं मांस) वास्तव में आत्मा के अशुद्ध हिंसक परिणाम भी मांस है।

भावार्थ– श्रावकों को मांस का तो त्याग उचित ही है, परन्तु उनको हिंसक परपीड़ा कारक भाव को भी त्यागना चाहिये। जैसे मांसाहार में पशुपीड़ा का दोष है, वैसे ही हिंसक अशुद्ध भावों में परपीड़ा का दोष है व आत्मा में द्वेषभाव है। अतएव श्रावक गृहस्थों को उचित है कि वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति पाँच प्रकार एकेन्द्रियों पर भी दया-भाव रखें तथा इनकी हिंसा न करें।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है–

स्तोकैकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्य विषयाणाम्।
शेषस्थावरमारण विरमणमपि भवति करणीयम्॥ ७७॥

भावार्थ– गृहस्थ से एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग नहीं हो सकता है। इसलिए यदि योग्य रीति से यत्नाचारपूर्वक कार्य करते हुए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है, तो होओ, परन्तु इसके अतिरिक्त व्यर्थ और असावधानी से कार्य करने में जो एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है उसका तो अवश्य ही त्याग होना चाहिए।

पुग्गला एइन्दीया, भरितं आहारपान एइन्दी।
मांस दोष बेइंदी, रष्यंतो सुध भावेन॥ २४६॥

अन्वयार्थ- (मांस दोष बेइंदी) यद्यपि द्वेन्द्रियादि प्राणियों के कलेवर के भक्षण में मांस का दोष आता है तथापि (एइन्दीया पुग्गला आहार पान भरितं) एकेंद्रिय पुद्गलों से ही सर्व आहारपान बनता है, अतएव (सुध भावेन एइन्दी रष्यंतो) शुद्ध दया-भाव से एकेन्द्रियों की भी रक्षा करना चाहिए।

भावार्थ- यद्यपि एकेन्द्रिय स्थावरों के कलेवर को मांस नहीं कहते, किन्तु द्वेन्द्रियादि के कलेवर को मांस कहते हैं, तथापि गृहस्थी का सर्व ही आहार-पान एकेंद्रिय सहित पुद्गलों से बनता है। गीली मिट्टी, सचित्त पानी, अग्नि, वायु, साग, भाजी, फल आदि सर्व ही स्थावर एकेन्द्रिय हैं, इनका उपयोग भोजन पान में करना ही पड़ता है। दयावान श्रावकों को उचित है कि इनकी वृथा हिंसा न करें। इन पर भी दया भाव रखकर मतलब से अधिक पृथ्वी न खोदें न प्रयोग में लावें न अधिक पानी फेंके न वृथा आग जलावे न हवा लेवे न फल सागादि अधिक बरते।

महुरं मधुर सहावं, स्वादं विचलंति महुर उप्पत्ती।
तिक्तंति सुध भावं, मूलं अवगुनं पि तिक्तंति॥ २४७॥

अन्वयार्थ- (महुरं मधुर सहावं) मीठे फलादि का मीठा स्वभाव होता है (स्वादं विचलंति महुर उप्पत्ती) जब उनका स्वाद बिगड़ जावे, तब उनके रस में मद्यपना पैदा हो जाता है (सुध भावं तिक्तंति) अतएव निर्दोष भाव के धारी उसका भी त्याग कर देते हैं (मूलं अवगुनं पि तिक्तंति) आठ मूल गुणों के अतिचार भी छोड़ देते हैं।

भावार्थ- इस गाथा में यह संकेत किया है कि आठ मूलगुणों को जो अतिचार रहित पालना चाहें उनको उनके अतिचार भी बचाने चाहिए। जैसे रस चलित फलादि में मदिरा का दोष आता है।

मदिरा के अतिचार- अफीम, गांजा, भांगादि सब नशे त्यागना, रस चलित फलादि न लेना; मदिरा संसर्गित औषधि न लेना।

मांस के अतिचार- मर्यादा का आहार करना। दो घड़ी भीतर का छना जल पीना, कढ़ी, दाल, चांवल छः घंटे के भीतर तक, रोटी, पूरी, रंधा हुआ साग दिन भर तक, मिठाई, सुहाल, लाडू आदि २४ घंटे तक, पानी बिना घी अन्न से बनी मिठाई आटे के समान। शीत में ७ दिन, गर्मी में ५ दिन, वर्षा में ३ दिन तक बूरा घर का बना शीत में एक मास, गर्मी में १५ दिन, वर्षा में ७ दिन तक का वर्तना चाहिये।

दूध ४८ मिनिट के भीतर छानकर गर्म करके ओंटा हुआ २४ घंटे तक, उसी का बना दही २४ घंटे तक, उसी की बनी लोणी ४८ मिनट के भीतर, ओंटाकर जो घी निकले वह जहां तक रस चलित न हो वहाँ तक घी व तेल वरते। रात्रि को आहार से यथाशक्ति बचें।

मधु के अतिचार- सर्व पुष्प जाति को न खावे जैसे - गोभी, कचनार आदि को।

पाँच उदुम्बर फल के अतिचार- कोई बंद फल को तोड़े बिना न खावे, देखकर खावे। सड़े-गले फलादि को न खावे, कीट सहित फलादि न खावे। इस तरह दयावानों को अतिचारों से बचना चाहिये।

♣ ♣ ♣

रत्नत्रय स्वरूप

रयनत्तयपि जोई, दंसन न्यानेन सुध चरनानि।
चिंतंति भव्य जीवा, अप्पा समयं च सुध दिट्ठीऊ॥ २४८॥

अन्वयार्थ– (रयनत्तयं पि जोई) श्रावकों को रत्नत्रय धर्म पर भी ध्यान देना चाहिए (दंसन न्यानेन चरनानि सुध) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की शुद्धता रत्नत्रय धर्म है (सुध दिट्ठीऊ भव्य जीवा) सम्यग्दृष्टि भव्य जीव (अप्पा समयं च चिंतंति) अपने आत्मा को समय या शुद्ध आत्म पदार्थ चिंतन करते हैं।

भावार्थ– श्रावकों को व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय पर भी विचारना चाहिए। सात तत्त्वों का श्रद्धान व ज्ञान तथा श्रावक के बारह व्रत पालना व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है, जबकि निश्चय से श्रद्धा व ज्ञान सहित निज शुद्धात्मा में रमणता ही रत्नत्रय धर्म है। सम्यग्दृष्टि सदा अपने आत्मा की शुद्ध रूप से भावना किया करते हैं।

दंसन भेय चउक्कं, चष्यं अचष्य अवहि संजुत्तं।
केवलदंसन सुधं, दंसन धरनं च सुध संमत्तं॥ २४९॥

अन्वयार्थ– (दंसन धरनं च सुध संमत्तं) निज आत्मा का अभेद व सामान्य रूप से निर्विकल्प देखना आत्मदर्शन है व यही शुद्ध सम्यग्दर्शन है (दंसन भेय चउक्कं) इस दर्शन के चार भेद हैं (चष्यं अचष्यं अवहि संजुत्तं सुधं केवल दंसन) चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा शुद्ध केवलदर्शन।

भावार्थ– हर एक दर्शन में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। आत्मा जब किसी पदार्थ के जानने को सन्मुख होता है और पदार्थ का आकार नहीं झलकता तब तक दर्शन है। वहाँ आत्मा की ही तरफ सामान्यपने का लक्ष्य है। आँख के द्वारा जो दर्शन हो वह चक्षुदर्शन है। आँख के सिवाय चार इन्द्रियों व मन से हो वह अचक्षु दर्शन है। अवधिज्ञान के पूर्व हो वह अवधिदर्शन है। केवलज्ञानी के दर्शनावरण कर्म रहित शुद्ध अनंत दर्शन है।

दंसेई मोष्य मग्गं, मल रहियं राग मिच्छ परिचत्तं।
दंसेई अप्प रुवं, अप्पा परमप्पयं सुधं॥ २५०॥

अन्वयार्थ– (मोष्य मग्गं दंसेइ मल रहियं रागमिच्छ परिचत्त) जो कोई निर्दोष व मिथ्यात्व भाव रहित मोक्षमार्ग का श्रद्धान करता है (अप्परुवं अप्पा परमप्पयं सुधं दंसेइ) तथा जो अपने रूप को ऐसा श्रद्धान करे कि यह मेरा आत्मा परमात्मा के समान शुद्ध है, वह सम्यग्दर्शन का धारी है।

भावार्थ- इसके पूर्व गाथा में दर्शन का अर्थ सामान्य देखना लेकर के कथन किया है। यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धान लेकर कथन किया है। मिथ्यात्व भाव रहित निर्दोष रत्नत्रय धर्म ही मोक्षमार्ग है तथा मेरा आत्मा निश्चय से परमात्मा तुल्य है, यही श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

संमिक् दर्सन सुधं, अदंसन सयल दोष परिचत्तं।
दंसेइ तिहुवनग्गं, विंदस्थं दंसनं सुधं ॥ २५१ ॥

अन्वयार्थ- (सुधं संमिक् दर्सन) सम्यग्दर्शन शुद्ध है (अदंसन सयलदोष परिचत्तं) उसमें मिथ्यादर्शन संबंधी सर्व दोष नहीं है (सुधं दंसनं तिहुवनग्गं विंदस्थं दंसेइ) शुद्ध सम्यग्दर्शन तीन भुवन के अग्र विराजित ॐ मंत्र के बिंदु दोष स्थान से लक्षित सिद्ध परमात्मा का स्वरूप देखता है।

भावार्थ- मिथ्यादर्शन के जितने दोष चल, मल, अगाढ़ आदि हैं, उनसे रहित जो सिद्धात्मा के समान अपने आत्मा की श्रद्धा सो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्व ॐ शब्द के बिंदु स्थान से जिस शुद्धात्मा का बोध होता है; उसको अपने आत्मा में अनुभव करता है। सब अरहंत समान होने पर किसी को कम किसी को अधिक मानना, चल दोष है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा (ग्लानि) मिथ्यात्व की मन से प्रशंसा व वचन से स्तुति ये पाँच मल दोष हैं। अपने चैत्यालय से अधिक प्रीति दूसरे चैत्यालय से कम प्रीति, अगाढ़ दोष का दृष्टांत है।

अनंत दर्सन दर्सं, केवलदर्सन तिलोय संजुत्तं।
लोय अवलोय दर्सं, अनंत दर्सन दर्सनं सुधं ॥ २५२ ॥

अन्वयार्थ- (अनंत दर्सन दर्सं) सम्यग्दृष्टि अनंत दर्शन का विश्वास रखता है (केवलदर्सन तिलोय संजुत्तं लोय अवलोय दर्सं) यही केवलदर्शन है जो तीन लोक सहित लोकालोक को देखने वाला है (अनंत दर्सन दर्सनं सुधं) अनंत दर्शन है, उसमें दर्शनावरण का उदय नहीं है।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन धारी को यह दृढ़ विश्वास है कि आत्मा का स्वभाव केवल या अनंत दर्शन है, जो सर्व को एक काल देखने वाला है।

ममलं दंसन दिट्ठी, मलं न पिच्छेइ सयल दोस परिचत्तं।
पिच्छे परमप्पानं, तिविहं कम्मं न पिच्छेइ ॥ २५३ ॥

अन्वयार्थ- (ममलं दंसन दिट्ठी) निर्मल सम्यग्दर्शन (मलं न पिच्छेइ) किसी दोष की तरफ दृष्टि नहीं रखता है (सयल दोस परिचत्तं परमप्पानं पिच्छे) वह सकल दोषों से रहित परमात्मा को श्रद्धापूर्वक देखता है (तिविहं कम्मं न पिच्छेइ) तीन प्रकार के कर्मों पर दृष्टि नहीं रखता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि शुद्ध निश्चय नय से अपने ही आत्मा को निर्दोष परमात्मा के समान रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नौकर्म से भिन्न जानता है, श्रद्धान रखता है तथा उसका मगन हो अनुभव करता है।

दसनं दिट्ठि सदिट्ठिं, कम्ममल मिच्छ दोस परिगलियं।
गलियं कुन्यान रागं, जं तिमिरं दिनकरं तेजं॥ २५४॥

अन्वयार्थ– (दंसन दिट्ठि सदिट्ठि) सम्यग्दर्शन उसे जानना चाहिए, जहाँ (कम्ममल दोस मिच्छ परिगलियं) मिथ्यात्व कर्ममल दोष का अभाव हो गया हो (कुन्यान रागं गलियं) व जहाँ मिथ्याज्ञान व संसार का राग न रहा हो (जं तिमिरं दिनकरं तेजं) जैसे सूर्य के तेज के प्रकाश के सामने अंधकार नहीं रहता है।

भावार्थ– जैसे सूर्य के उदय होते ही रात्रि का सब अंधकार नष्ट हो जाता है, वैसे सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है, उसके प्रगट होते ही मिथ्या श्रद्धान, मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र या रागभाव बिला जाता है। पहले संसार के क्षणिक सुखों पर व उनके कारणों पर दृष्टि थी, सम्यक्त्व होते ही यह दृष्टि जाती रही; मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख पर व उसके कारणों पर दृष्टि हो गई। इसी का नाम अंधकार गया और प्रकाश प्रगटा।

दंसनदिट्ठि स दिट्ठिं, विहडै कम्मान मिच्छ सुह असुहं।
विहडै मान कषायं, जं सीहं दिट्ठि गयंद जूहेहिं॥ २५५॥

अन्वयार्थ– (दंसनदिट्ठि स दिट्ठिं) सम्यग्दर्शन का प्रकाश उसे कहते हैं (विहडै कम्मान मिच्छ सुह असुहं) जहाँ मिथ्यात्व सहित शुभ व अशुभ कार्य बंद हो जाते हैं (विहडै मान कषायं) जहाँ शरीर धनादि का मद भाव भी नहीं रहता है (जं सीहं दिट्ठि गयंद जूहेहिं) जैसे सिंह को देखकर हाथी के समूह भाग जाते हैं।

भावार्थ– जैसे सिंह के सामने हाथी समूह नहीं ठहरते हैं, वैसे सम्यग्दर्शन के सामने मिथ्याभाव सहित शुभ व अशुभ कार्य व मद भाव नहीं ठहरते हैं। सांसारिक वासना सहित पुण्य कर्म मिथ्यात्व सहित है। आत्मा के शुद्ध भावों की प्राप्ति के लिए किया हुआ पुण्य कार्य सम्यक्त्व सहित है। सम्यक्त्वी की मान्यता निजात्म तत्त्व में हो जाती है। तब सर्व ही पर भावों में आत्मापने मानने का मान भाव सर्वथा दूर हो जाता है।

दंसन सुधि निमित्तं, दंसन दिट्ठि धरेहि भावेन।
दंसेइ तिहुवनग्गं, दंसन धरनं च मुक्ति गमनं च॥ २५६॥

अन्वयार्थ– (दंसन सुधि निमित्त) सम्यग्दर्शन की शुद्धता के निमित्त (दंसन दिट्ठि धरेहि भावेन) सम्यग्दर्शन का दृढ़ता से पालन भाव सहित करना चाहिए (तिहुवनग्गं दंसेइ) तीन भुवन के अग्र विराजित सिद्ध स्वरूप का मनन करना चाहिए (दंसन धरनं च मुक्ति गमनं च) जो सम्यग्दर्शन का धारी है वह अवश्य मोक्षगामी है।

भावार्थ- एक बार सम्यग्दर्शन का लाभ हो जाने पर वह कभी मलीन न हो, वह कभी छूटे नहीं, इसलिए शुद्धात्मा का मनन व अनुभव का अभ्यास करते रहना चाहिये। यह सम्यग्दर्शन बड़ा उपकारी है, इसी के प्रताप से मोक्ष होता है।

न्यानमयं अप्पानं, न्यानं तिलोय सयल संजुत्तं।
अन्यान तिमिर हरनं, न्यानं उदेसं च सयल विलयंमि॥ २५७॥

अन्वयार्थ- (न्यानमयं अप्पानं) सम्यग्ज्ञान की भावना में ज्ञानमयी आत्मा को जानना चाहिये (न्यानं तिलोय सयल संजुत्त) आत्मा में ज्ञान सर्व त्रिलोक के पदार्थों को जानने वाला है (अन्यान तिमिर हरनं) वह ज्ञान अज्ञान के अंधकार को दूर कर देता है (न्यानं उदेसं च सयल विलयंमि) ज्ञान के प्रकाश होते ही वह सब अंधेरा नाश हो जाता है।

भावार्थ- आत्मा सर्व ज्ञेयों को जानने में समर्थ केवलज्ञानमयी है, ऐसा संशय रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान के प्रकाश होते ही मिथ्याज्ञान का अंधेरा बिला जाता है।

न्यानं तिलोय सारं, न्यानं दंसेइ दंसनं मग्गं।
जानदि लोय पमानं, न्यान सहावेन सुधमप्पानं॥ २५८॥

अन्वयार्थ- (न्यानं तिलोय सारं) सम्यग्ज्ञान तीन लोक में सार है (न्यानं दंसेइ दंसनं मग्गं) ज्ञान ही सम्यग्दर्शन के मार्ग को देखता है (जानदि लोय पमानं) ज्ञान ही लोकाकाश प्रमाण आत्मा को या सर्वलोक के पदार्थों को जानता है (न्यान सहावेन सुधमप्पानं) ज्ञान स्वभाव में रमण करने से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान ही विस्तार से सम्यग्दर्शन के विषयभूत छः द्रव्य व सात तत्त्वों को जानता है। यही ज्ञान सार है, इसी से केवलज्ञान होता है, जो सर्व को जानता है। यही ज्ञान लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी शुद्ध आत्मा को ज्ञान स्वभाव में देखता-जानता है व अनुभव करता है।

न्यानं न्यान सरुवं, जानदि पिच्छेइ सुधमप्पानं।
अप्पा सुधप्पानं, परमप्पा न्यान संजुत्तं॥ २५९॥

अन्वयार्थ- (न्यानं न्यान सरुवं सुधमप्पानं जानदि पिच्छेइ) सम्यग्ज्ञान ही ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा को जानता देखता है (अप्पा सुधप्पानं परमप्पा न्यान संजुत्त) कि यही आत्मा शुद्ध स्वरूप में है, परमात्मा के समान है व ज्ञान सहित है।

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान ही अपने इस आत्मा को द्रव्यदृष्टि से परमात्मा के समान ज्ञानमयी जानकर अनुभव करता है।

न्यान बलेन जीवो, अप्पा सुधप्प हवेइ परमप्पा।
न्यान सहावं जानदि, मुक्ति पंथं सिध ससरुवं॥ २६०॥

अन्वयार्थ– (न्यान बलेन जीवो सुधप्प अप्पा परमप्पा हवेइ) सम्यग्ज्ञान के बल से ही यह जीव जो निश्चय से शुद्ध स्वरूपी आत्मा है सो परमात्मा हो जाता है (मुक्ति पंथं सुध ससरुवं न्यान सहावं जानदि) ज्ञान के बल से मोक्षमार्ग को जानता है कि वह शुद्ध ज्ञान स्वभावी अपना ही स्वभाव है।

भावार्थ– सम्यग्ज्ञान के ही द्वारा जीव आत्मानुभवरूप निश्चय मोक्षमार्ग को समझता है व इसी के अभ्यास से कि मैं शुद्ध आत्मा हूँ यह आत्मा परमात्मा हो जाता है।

न्यानं जिनेहि भनियं, रुवातीतं च विक्त लोयस्य।
न्यानं तिलोय सारं, नायव्वो गुरुपसाएन॥ २६१॥

अन्वयार्थ– (न्यानं जिनेहि भनियं) ज्ञान का स्वभाव ही श्री जिनेन्द्र ने कहा है (रुवातीतं च विक्त लोयस्य) वह अमूर्तिक है तथापि उनमें सब लोक प्रगट हैं (न्यानं तिलोय सारं) यह ज्ञान तीन लोक में सार है (गुरुपसाएन नायव्वो) यह ज्ञान का स्वरूप श्री गुरु के प्रसाद से जानने योग्य है।

भावार्थ– सम्यग्ज्ञान पूर्णरूप से केवलज्ञान है, जो आवरण रहित व शुद्ध है व लोकालोक ज्ञायक है, उस ज्ञान की प्रगटता का कारण आत्मज्ञान है। यही सार है, क्योंकि इसी से अपने परमात्म स्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यह आत्मज्ञान श्री गुरु आत्मज्ञानी की संगति से शीघ्र व ठीक-ठीक मिलता है।

न्यानं दंसन सम्मं, सम भावना हवदि चारित्तं।
चरनंपि सुध चरनं, दुविहि चरनं मुनेयव्वा॥ २६२॥

अन्वयार्थ– (न्यानं दंसन सम्मं) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक काल होते हैं (सम भावना चारित्तं हवदि) समभाव का होना चारित्र है (चरनं पि सुध चरनं) वह चारित्र भी शुद्धात्मा में रमणरूप है (दुविहि चरनं मुनेयव्वा) उस चारित्र को दो प्रकार जानना चाहिये- एक सम्यक्त्वाचरण दूसरा संयमाचरण।

भावार्थ– जिस समय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है, उसी समय जो कुछ ज्ञान था, वह सम्यग्ज्ञान हो जाता है। जैसे दीपक और प्रकाश का एक समय है, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रकाश का एक समय है। रागद्वेष छोड़कर समता भाव में रहना ही सम्यक्चारित्र है। यह शुद्धात्मा में रमणरूप है। सम्यक् स्वरूप में चलना सम्यक् आचरण है। मन व इन्द्रिय निरोध रूप संयम में चलना संयम आचरण है। श्री प्रवचनसार में चारित्र का स्वरूप बताया है।

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो॥ ७॥

भावार्थ– चारित्र ही निश्चय से धर्म है। धर्म समभाव को ही कहा गया है। मोह व रागद्वेष रहित जो आत्मा का परिणाम सो ही समभाव है।

सम्मत्त चरन पढमं, संजम चरनं पि होइ दुतियं च।
सम्मत्त चरन सुधं, पच्छादो संजमं चरनं॥ २६३॥

अन्वयार्थ– (सम्मत्त चरन पढमं) पहला सम्यक्त्वाचरण है (दुतियं च संजम चरनं पि होइ) दूसरा संयमाचरण है (सम्मत्त चरन सुधं) सम्यग्दर्शनाचार शुद्धात्मा में रमण रूप है (पच्छादो संजमं चरनं) स्वरूपाचरण चारित्र के पीछे इन्द्रिय व मन के निरोध से संयमाचरण होता है।

भावार्थ– सम्यक्त्व के प्रगट होने के साथ ही अनन्तानुबन्धी कषाय के चले जाने से स्वरूपाचरण या स्वरूप में रमण करने की शक्ति पैदा हो जाती है, फिर पीछे जब श्रावक की या मुनि की प्रतिज्ञा रूप व्रताचरण होता है, तब संयमाचरण होता है। ऐसा भेद होने पर भी जहाँ समभाव है, वहाँ सम्यक्त्वाचरण भी है, संयमाचरण भी है।

सम्मत्त चरन चरियं, दंसन न्यानेन सुध भावं च।
कम्ममल पयडिमुक्कं, अचिरेन लहंति निव्वानं॥ २६४॥

अन्वयार्थ– (दंसन न्यानेन सुध भावं च सम्मत्त चरन चरियं) सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित शुद्ध भावों के साथ जब सम्यक्त्वाचरण का अभ्यास किया जाता है, तब (कम्ममल पयडि मुक्कं) कर्म प्रकृतियों का मल छूटता जाता है (अचिरेन निव्वानं लहंति) और यह जीव शीघ्र ही निर्वाण का लाभ प्राप्त करता है।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित शुद्ध भावों के साथ जब सम्यक्त्वाचरण का अभ्यास किया जाता है, तब (कम्ममल पयडि मुक्कं) कर्म प्रकृतियों का मल छूटता जाता है (अचिरेन निव्वानं लहंति) और यह जीव शीघ्र ही निर्वाण का लाभ प्राप्त करता है।

♣ ♣ ♣

चार दान

उक्तं दान चउक्कं, न्यानं आहार भेषजं भनियं।
अभयं भयं न दिट्ठं, दानं चत्तारि पत्त दातव्यं॥ २६५॥

अन्वयार्थ– (दान चउक्कं उक्त) जिन शासन में चार दान कहे गए हैं (न्यानं आहार भेषजं भनियं) ज्ञान दान, आहार दान, तथा औषधि दान (अभयं भयं न दिट्ठं) चौथा अभयदान जहाँ किसी को भय न बताया जावे (दानं चत्तारि पत्त दातव्यं) इन चार दानों को पात्रों को देना योग्य है।

भावार्थ– धर्म की भक्ति की अपेक्षा श्रावकों को पात्र दान करना चाहिए। जिसमें रत्नत्रय धर्म है, उनको ही पात्र कहते हैं। उन्हें श्रद्धा व भक्ति व विनय सहित चार दान देने चाहिए। भोजन का दान, औषधि का दान, शास्त्र का दान तथा आश्रय दान या अभयदान। जिनवाणी में ये चार ही सुदान कहे गए हैं। इनके सिवाय धर्मापेक्षा और कोई दान नहीं है।

पत्तं तिविह पयारं, जिनरुवी उत्किट्ठ सावम्मि।
अविरतिया विन्नेयं, दानं पत्तस्स भावना सुधं॥ २६६॥

अन्वयार्थ– (पत्तं तिविह पयारं) पात्र तीन प्रकार के होते हैं (जिनरुवी उत्किट्ठ सावम्मि अविरतिया विन्नेयं) पहले जिनेन्द्र के समान रूपधारी निर्ग्रंथ मुनि उत्तम पात्र व उत्कृष्ट पात्र हैं, मध्यम पात्र सर्व श्रावक हैं। (पहली प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक) जघन्य - अविरत सम्यग्दृष्टि जानने योग्य हैं (भावना सुधं पत्तरस दानं) शुद्ध भावों के साथ पात्रों को दान करना योग्य है।

भावार्थ– पात्र तीन प्रकार के होते हैं (जिनरुवी उत्किट्ठ सावम्मि अविरतिया विन्नेयं) पहले जिनेन्द्र के समान रूपधारी निर्ग्रंथ मुनि उत्तम पात्र व उत्कृष्ट पात्र हैं, मध्यम पात्र सर्व श्रावक हैं। पहली प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि जानने योग्य हैं (भावना सुधं पत्तरस दानं) शुद्ध भावों के साथ पात्रों को दान करना योग्य है।

जिनरुवी जिनलिंगं, कम्मं षिपति तिविह जोएन।
तारन तरन संमत्थं, जिन उवइट्ठं पयत्तेन॥ २६७॥

अन्वयार्थ– (जिनरुवी जिनलिंगं) उत्तम पात्र जिन समान रूपधारी निर्ग्रंथ जिन लिंग रूप हैं (तिविह जोएन कम्मं षिपति) जो मन, वचन, काय की गुप्तिमयी योग से कर्मों की निर्जरा करते हैं (तारन तरन संमत्थं) वे आप भी संसार सागर से तरते हैं व दूसरों को भी तारते हैं (जिन उवइट्ठं पयत्तेन) वे जिनेन्द्र के उपदेश के अनुसार मोक्ष मार्ग का यत्न करते हैं।

भावार्थ- उत्तम दान के पात्र दिगम्बर जैन मुनि हैं, जिनके भाव भी वीतराग विज्ञानमयी हैं, जो आत्मध्यान से कर्मों की निर्जरा करते हैं, जिनका सर्व चारित्र जिनेन्द्र शासन के अनुसार है, उसी का वे साधन करते हैं, वे जहाज के समान तारण तरण परमोपकारी हैं।

रयनत्तय संजुक्तं, झानं झायंति सुधमप्पानं।
आरति रौद्र न दिट्ठं, धम्मं सुक्कं च झान संजुत्तं॥ २६८॥

अन्वयार्थ- (रयनत्तय संजुत्तं सुधमप्पानं झानं झायंति) वे उत्तम पात्र मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सहित शुद्ध आत्मा का ध्यान ध्याते हैं (आरति रौद्र न दिट्ठं) उनके भावों में आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान भी नहीं दिखलाई पड़ता है (धम्मं सुक्कं च झान संजुत्तं) उनके धर्म व शुक्ल ध्यान की ही भावना है।

भावार्थ- उत्तम पात्र व्यवहार रत्नत्रय के आश्रय से निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं व संसार के कारणीभूत आर्त व रौद्र ध्यान से बचते हैं, धर्मध्यान में रमते हैं व शुक्ल ध्यान की प्राप्ति की भावना करते हैं।

षिउ उवसम संजुत्तं, अवधें दिस्टंति न्यान सभावं।
मनपज्जय चिंतंतो रिजु विपुल मइ न्यान संपन्नं॥ २६९॥

अन्वयार्थ- (षिउ उवसम संजुत्तं) उन साधुओं के क्षयोपशम चारित्र होता है (अवधें न्यान सभावं दिस्टंति) वे अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम करके अवधिज्ञानी हो जाते हैं (रिजु विपुलमइ न्यान संपन्नं मनपज्जय चिंतंतो) तथा मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ऋजुमति व विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान सहित होकर दूसरे के मन के सूक्ष्म पदार्थ को जान लेते हैं।

भावार्थ- यहाँ दान के प्रकरण में मुख्यता से छठे व सातवें गुणस्थानवर्ती साधुओं का ही उल्लेख है। उनके अवधि व मनःपर्यय ज्ञान हो जाना संभव है। उनके संज्वलन देशघातीय कषायों का उदय है, शेष का उदय नहीं है, इसलिए क्षयोपशम चारित्र है।

कम्मं घाय विमुक्कं, मुक्कं मिच्छत्त दोस अन्यानं।
संमिक् दर्सन सुधं, केवल भावं च भावेन॥ २७०॥

अन्वयार्थ- (कम्मं घाय विमुक्कं) वे उत्तम पात्र साधु कर्ममल को छुड़ाते हैं (मिच्छत्त दोस अन्यानं मुक्कं) उनके मिथ्यात्व तथा अज्ञान का दोष नहीं होता है (संमिक् दर्सन सुधं) वे दोष रहित शुद्ध सम्यक्त्व को पालते हैं (केवल भावेन भावं च) मात्र शुद्ध आत्मिक भाव से आत्मिक भाव की भावना करते हैं।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित ही जो व्यवहार चारित्र के द्वारा शुद्ध आत्मिक परिणति में रमण रूप निश्चय चारित्र का साधन करते हैं, वे ही उत्तम पात्र कर्ममल को छुड़ाते हैं ।

उत्किस्ट सावयानं, पडिमा एकादसं च वय पंचं।
पालंति सुध भावं, सुध सम्मत्त भावना सुधं॥ २७१ ॥

अन्वयार्थ- (उत्किस्ट सावयानं) उत्कृष्ट श्रावक को आदि लेकर (पडिमा एकादसं च वय पंचं सुध भावं पालंति) ग्यारह प्रतिमाधारी शुद्ध भाव से पाँच अणुव्रतों को पालते हैं वे मध्यम पात्र हैं (सुध सम्मत्त भावना सुधं) जिनके निर्दोष सम्यग्दर्शन होता है उसी के बल से वे शुद्धात्मा की भावना भाते हैं।

भावार्थ- पहली दर्शन प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक के धारी श्रावक मध्यम पात्र हैं। ये पाँच अहिंसादि व्रतों को एकदेश अधिक पालते है। तथा ये सब सम्यग्दृष्टि होते हैं। इनके शुद्ध आत्मिक भावना की मुख्यता है।

अविरतिया विन्नेयं, सुधं दिट्ठी च सुध भावेन।
मिच्छत्तं अन्यानं, परिहारो पुन्न पावं च॥ २७२ ॥

अन्वयार्थ- (अविरतिया विन्नेयं) व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र जानने योग्य हैं (सुध भावेन च सुधं दिट्ठी) जिनके शुद्धात्मा की भावना सहित शुद्ध सम्यग्दृष्टि होती है (मिच्छत्तं अन्यानं पुन्न पावं च परिहारो) उनके मिथ्यात्व व अज्ञान नहीं होता है तथा वे पुण्य व पाप दोनों के त्यागी होते हैं ।

भावार्थ- अविरत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व को भली प्रकार पालते हैं, और शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं। उनके भावों में संसार का राग नहीं है। वे सर्व ही शुभ व अशुभ कर्मों से उदास हैं। उनको इन्द्रादि पद की चाह नहीं है। वे केवल मोक्ष पद की ही भावना रखते हैं। इसी से वे पुण्य कर्म के भी अंतरंग से त्यागी हैं।

पत्तं तिविहि स उत्तं, दानं चत्वारि दिंति भावेन।
विन्यान न्यान सुधं, दत्तं पत्तं मुनेअव्वा॥ २७३ ॥

अन्वयार्थ- (स तिविहि पत्तं उत्तं) इस तरह तीन प्रकार के पात्र कहे गए हैं (भावेन चत्वारि दानं दिंति) जो भावपूर्वक इनको चार प्रकार दान देते हैं (विन्यान न्यान सुधं) तथा जिनको भेद विज्ञान है व शुद्ध आत्मा का ज्ञान है ऐसे दातारों का (दानं पत्तं मुनेअव्वा) पात्र दान जानना चाहिए।

भावार्थ- जो स्वयं आत्मज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, वे यदि भक्तिपूर्वक तीन प्रकार के पात्रों को व इनमें से किसी को दान करते हैं, तो उस दान को पात्र दान जानना योग्य है।

पत्तं च सुध भावं, दत्तं सुध सहाव संजुत्तं।
दत्तं पत्तं च समं, दानं सुधं च मुनेअव्वा ॥ २७४ ॥

अन्वयार्थ– (पत्तं च सुध भावं) जहाँ शुद्ध सम्यक्त्व भाव के धारी पात्र हों (दत्तं सुध सहाव संजुत्तं) व दातार भी शुद्ध स्वभाव के ज्ञाता हों (दत्तं पत्तं च समं) जहाँ दाता व पात्र दोनों समान सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी हों (सुधं दानं च मुनेअव्वा) उसे ही शुद्ध पात्रदान जानना योग्य है।

भावार्थ– प्रशंसनीय शुद्ध पात्र दान वही है जहाँ सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी दातार आत्मा की भावना करता हुआ, कोई पुण्य की आशा न करता हुआ, सम्यग्दृष्टि पात्रों को दान देता है। जैसे श्री ऋषभदेव भगवान पात्र व राजा श्रेयांस सरीखे सम्यग्दृष्टि दातार। ऐसा ही शुद्ध दान है।

न्यान दान समत्थं, अन्यानं तिक्त सव्वहा सव्वे।
आलाप वचन असुहं, तिक्तंति असुध भावेन॥ २७५ ॥

अन्वयार्थ– (न्यानदान समत्थं) ज्ञान दान करने को वही समर्थ है जो (सव्वहा सव्वे अन्यानं तिक्त) सर्व या सर्व अज्ञान का स्वयं त्यागी हो (असुध भावेन असुहं आलाप वचन तिक्तंति) जो शुद्ध भावों के साथ रहता हुआ अशुभ बकबाद रूपी वचन नहीं बोलता है।

भावार्थ– ज्ञानी ही ज्ञान दान कर सकता है। ज्ञानी में मिथ्या ज्ञान व मिथ्या वचन विलास न होना चाहिये। उसके भावों में शुद्ध आत्मज्ञान होना चाहिये।

मतिन्यानी मति दत्तं, सुतन्यानं च भावना जुत्तं।
दत्तं पत्त विसेसं, दानं ममलबुधि संपन्न॥ २७६ ॥

अन्वयार्थ– (मतिन्यानी मति दत्तं) विशेष बुद्धिमान सुबुद्धि देता है (सुतन्यानं च-भावना जुत्तं) श्रुतज्ञानी शुद्ध भावना का दान करता है (पत्त विसेसं दत्तं) योग्य पात्र को दिया हुआ (दानं ममलबुधि सम्पन्न) दान निर्मल ज्ञान दान है।

भावार्थ– ज्ञान दान का वर्णन करते हैं, कि जिसकी बुद्धि प्रवीण हो उसे योग्य पात्र को सुबुद्धि दान या मतिज्ञान बताना चाहिये। तथा जो शास्त्रज्ञान का अधिकारी हो उसे शास्त्रज्ञान देकर शुद्धात्मा की भावना का उपाय बताना चाहिये। जैसा पात्र हो उसको वैसा दान करना चाहिये।

न्यानी न्यान सरुवं, अन्मोयं दत्त पत्त विसेषं।
अन्यानी अलहन्तो, न दत्तं न्यान दान अपत्तं॥ २७७ ॥

अन्वयार्थ– (न्यानी न्यान सरुवं) ज्ञान स्वभाव का प्रकाश जिससे हो वह ज्ञान दान है (दत्त पत्त विसेषं अन्मोयं) जिस दान को देते हुए दाता व पात्र विशेष दोनों को आनंद हो (अन्यानी अलहन्तो) मूढ ज्ञानी लेना नहीं चाहता है। (अपत्तं न्यानदान न दत्तं) ऐसे अपात्र को ज्ञान दान नहीं देना योग्य है।

भावार्थ- जो शिष्य शिक्षा प्राप्त करना चाहे वही गुरु से प्रेमपूर्वक शिक्षा ले सकता है। जिसको ज्ञान प्राप्ति की रुचि नहीं है, उसको ज्ञान बताना निरर्थक होगा। क्योंकि उसको ग्रहण करने की रुचि नहीं है। जिसको ज्ञान की रुचि हो वही ज्ञानदान के योग्य है। अपात्र को ज्ञानदान देना, ज्ञानदान नहीं है।

दानं न्यान स उत्तं, न्यानी पत्तस्य दान संजुत्तं।
दत्तं पत्तं च सुधं, ममलं दानं च दत्त पत्तं च॥ २७८॥

अन्वयार्थ- (न्यान दानं स उत्तं) वही ज्ञानदान कहा गया है (पत्तस्य न्यानी दान संजुत्तं) जहाँ पात्र को ज्ञान का लाभ हो जावे (दत्तं पत्तं च सुधं) जहाँ दाता और पात्र दोनों ज्ञान के प्रेमी शुद्ध भाव के हों (ममलं दानं च दत्त पत्तं च) वही निर्मल ज्ञान दोनों दातार के द्वारा पात्र को दिया गया।

भावार्थ- शुद्ध ज्ञानदान वही है जहाँ आत्मज्ञान के प्रेमी पात्र को आत्मज्ञानी द्वारा दातार द्वारा शुद्ध आत्मज्ञान का लाभ कराया जावे।

अन्यान मयं अपत्तं, वचनं आलाप रंजनं जाने।
न वि दत्तं न सुपत्तं, दत्तं पत्तं च समायरहि॥ २७९॥

अन्वयार्थ- (अन्यान मयं अपत्त) जो मिथ्याज्ञान में आरूढ़ है, वह अपात्र है (आलाप वचनं रंजनं जाने) वह बकवादमयी विकथाओं में रंजायमान होना जानता है (समायरहि दत्तं पत्तं च न वि दत्तं न सुपत्तं) जो आत्मा की समाधि से रहित दाता व पात्र हैं वे न दाता हैं और न सुपात्र हैं।

भावार्थ- ज्ञानदान दाता भी सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी आत्मानुभवी होना चाहिये तथा पात्र भी ऐसा ही आत्मज्ञानी होना चाहिये, तब तो वह सुपात्र को किया हुआ ज्ञानदान है। जहाँ दाता व पात्र दोनों मिथ्यादृष्टि हों व एक सम्यग्दृष्टि हो व एक मिथ्यादृष्टि हो तो भी वह पात्रदान नहीं है। जो मूढ़ जग के प्रपंच में फंसे हैं तथा जो स्त्री भोजनादि विकथाओं में ही प्रसन्न होते हैं वे आत्मज्ञान लेने के अधिकारी नहीं हैं। अतएव अपात्र हैं।

जे सुध दिट्ठि सुधं, जानदि पिच्छेइ सुध सम्मत्तं।
दत्तं पत्तं तं पिय, अन्मोयं सुग्गए लहई॥ २८०॥

अन्वयार्थ- (जे सुध दिट्ठि सुधं) जो कोई शुद्ध सम्यग्दृष्टि है (सुध सम्मत्तं जानदि पिच्छेइ) शुद्ध सम्यग्दर्शन को जानते हैं व अनुभव करते हैं (तं पिय दत्तं पत्त) वे ही दाता तथा पात्र हैं (अन्मोयं सुग्गए लहई) जो ऐसे दातार व पात्र की अनुमोदना करते हैं वे सुगति में जाते हैं।

भावार्थ- प्रशंसनीय पात्रदान वही है, जहाँ दाता व पात्र दोनों शुद्ध सम्यक्त्वी व आत्मज्ञानी हैं। ऐसे दान के करने, कराने व अनुमोदना करने वाले सुगति ही प्राप्त करते हैं।

भेषज दान स उत्तं, संसारे सरनि व्याधि मुक्तस्य।
भेषज जिन उवएसं, जिनवयनंपि सार्धं तंपि॥ २८१॥

अन्वयार्थ- (स भेषज दान उत्त) वह औषधिदान कहा गया है (संसारे सरनि व्याधि मुक्तस्य जिन उवएसं भेषज) जहाँ संसार में भ्रमणरूपी राग की मुक्ति के लिए जिनेन्द्र के उपदेश रूपी औषधि को ग्रहण किया जाय (जिनवयनंपि सार्धं तं पि) जिनेन्द्र के वचनों को धारण भी किया जाय और उनके अनुसार साधन भी किया जाय।

भावार्थ- साधारण रूप में रोगियों को औषधि देना औषधिदान है। यहाँ गम्भीर दृष्टि से विचार करके कहा गया है कि इस संसारी प्राणी को संसार के भ्रमण का भयंकर रोग लगा है। उस रोग की औषधि जिनवाणी का पढ़ना, सुनना, मनन करना, धारना तथा उसके अनुसार आचरण करना है। जो संसार रोग से छूटना चाहें उनको स्वयं भी ऐसा करना चाहिये तथा दूसरे भाई-बहिनों को भी यही औषधि बतानी चाहिये।

* * *

छः द्रव्य नव तत्त्व कथन

भेषज दान जिनुत्तं, दव्वं षट् काय पंचत्थं।
नव पयत्थ पदार्थं, तत्तं सप्तं च सुद्ध जानत्थं॥ २८२॥
एरिस गुनेहि सुधं, जानदि रुव भेय विन्यानं।
सद्दहंति जिन उत्तं, भेषज दान पयासेई॥ २८३॥

अन्वयार्थ- (भेषज दान जिनुत्तं) औषधिदान जिनेन्द्र के द्वारा कहा गया है (पयत्थ च सुद्ध जानत्थं षट् दव्वं पंचत्थं काय नव पदार्थं सप्तं तत्त) जहाँ पदार्थ के ज्ञान के लिए व शुद्ध आत्मा के ध्यान के लिये छः द्रव्यों को, पाँच अस्तिकायों को, नव पदार्थों को तथा सात तत्त्वों को जाना जाय (एरिस गुनेहि सुधं रुव भेयविन्यानं जानदि) इन गुणों से युक्त शुद्ध आत्मा के स्वभाव को बताने वाले भेदविज्ञान को जानता है (जिन उत्तं सद्दहंति) तथा जिन कथित मार्ग पर श्रद्धान रखता है (भेषज दान पयासेई) वही औषधि दान को प्रकाश करने योग्य है।

भावार्थ- अपने अज्ञानरूपी रोग को मिटाने के लिये व रागद्वेष रूपी रोग को दूर करने के लिये आत्मध्यान रूपी औषधि पीने के लिये यह जरूरी है कि छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व व नौ पदार्थों को जाना जावे व उन पर श्रद्धान लाया जावे तथा भेद विज्ञान द्वारा आत्मा को भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से भिन्न जानकर शुद्धात्मानुभव किया जावे। जो ऐसा है वह अपने को औषधिदान

देता है तथा वही दूसरों को भी औषधिदान करने का अधिकारी है। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये छः द्रव्यादि का ज्ञान श्रद्धान कारण है।

छः द्रव्य-- जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल।

जीव-- जिसमें चेतना गुण हो वह जीव है। जीव स्वभाव से अमूर्तिक शुद्ध सिद्ध के समान है, कर्म संयोग के कारण संसार में त्रस स्थावर रूप में पाया जाता है।

पुद्गल-- स्पर्श, रस, गंध और वर्ण गुण जिनमें हों वह मूर्तिक पुद्गल है। सबसे छोटा पुद्गल अविभागी परमाणु है, उनसे बने हुए अनेक प्रकार के सूक्ष्म व स्थूल स्कंध होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु भी स्कंध है। कार्मणवर्गणा व तैजसवर्गणा जिनसे संसारी जीवों का कार्मण शरीर तथा तैजस शरीर बनता है, सूक्ष्म स्कंध है। आहारक वर्गणाओं के स्कंधों से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर बनते हैं। भाषा वर्गणा के स्कंधों से भाषा बनती है तथा मनोवर्गणा के स्कंधों से द्रव्य मन कमलाकार बनता है।

धर्मास्तिकाय-- एक अमूर्तिक लोकव्यापी द्रव्य है जो जीव तथा पुद्गल के गमन में उदासीन निमित्त है।

अधर्मास्तिकाय-- एक अमूर्तिक लोकव्यापी द्रव्य है, जो जीव तथा पुद्गल के ठहरने में सहकारी है।

आकाश-- अनंत है, सर्व द्रव्यों को स्थान देता है। जहाँ तक और पाँच द्रव्य पाये जाते हैं, वहाँ तक लोकाकाश है, शेष अलोकाकाश है।

काल-- द्रव्यों की अवस्था पलटने में सहायक है। ये कालाणु लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों पर अलग-अलग रत्नों के समान फैले हैं। [illegible] की सहायता से पर्यायें पलटती हैं। ये कभी मिलते नहीं, इस कारण इनको काय रहित कहते हैं।

पाँच अस्तिकाय-- काल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं। क्योंकि वे एक प्रदेश से अधिक जगह घेरते हैं। जितने आकाश को अविभागी पुद्गल परमाणु रोके उसको प्रदेश कहते हैं। यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है, तो भी उसमें मिलने की शक्ति है, इससे कायवान है। कालाणु नहीं मिलते हैं, इससे कायरहित हैं।

सात तत्त्व-- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, जीव अजीव तत्त्वों में छहों द्रव्य गर्भित हैं।

आस्रव तत्त्व-- मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय व योगों से कर्मवर्गणाएँ आती हैं। जिन भावों से आती हैं वे भाव आस्रव हैं, उनका आना द्रव्य आस्रव है।

बंध तत्त्व— आए हुए कर्मों का आत्मा के साथ ठहर जाना बंध है। जिन भावों से बंधते हैं वह भाव बंध है, उनका बंधना द्रव्य बंध है।

संवर तत्त्व— कर्मों के आने के रुकने को संवरतत्त्व कहते हैं। जिन भावों से कर्म रुकते हैं, वह भाव संवर है। कर्मों का रुकना सो द्रव्य संवर है।

निर्जरा तत्त्व— संचित कर्मों का एकदेश क्षय होना सो निर्जरा है।

मोक्ष तत्त्व— सर्व कर्मों का छूटना मोक्ष तत्त्व है। जिन भावों से कर्म छूटते हैं वह भाव मोक्ष है। कर्मों का छूटना द्रव्य मोक्ष है।

नौ पदार्थ— सात तत्त्वों में पुण्य-पाप मिलाने से नौ पदार्थ होते हैं। शुभ कर्म को पुण्य, अशुभ कर्मों को पाप कहते हैं, वे आस्रव व बंध में गर्भित हैं।

पत्त कुपत्तं जानदि, भेषज उवएस सुधमप्पानं।
जे भव्य जीव साहं, ते जर मरन विनासेई॥ २८४॥

अन्वयार्थ– (पत्त कुपत्तं जानदि) जो पात्र, कुपात्र को पहचानता है और (भेषज उवएस सुधमप्पानं) शुद्ध आत्मा का अनुभव कराने के लिये उपदेश रूपी औषधि देता है (जे भव्य जीव साहं) उसका ग्रहण कर जो भव्य जीव साधन करता है (ते जर मरन विनासेई) वह जरा व मरण का नाश कर देता है।

भावार्थ– जो अरुचिवान है वह कुपात्र या अपात्र है। जो ज्ञान का प्यासा रुचिवान है, वही पात्र है। जो अज्ञान मेटकर ज्ञानी होना चाहता है, उसको ज्ञानोपदेश रूपी औषधि देनी चाहिये। रुचिवान भव्य उसे ग्रहण करके निज शुद्ध आत्मा का अनुभव करेगा। जिससे संसार का जन्म-मरण रोग मिट जायेगा।

आहारदान सुधं, न्यानं आहार दिंति पत्तस्य।
तिक्तंति जीव आहारं, न्यान आहार कुनय भव महनं॥ २८५॥

अन्वयार्थ– (सुधं आहारदान पत्तस्य न्यानं आहार दिंति) शुद्ध आहारदान यह है कि पात्र को ज्ञान का आहार दिया जावे (जीव आहारं तिक्तंति) स्थावर जीवों के घात से बना आहार त्याग कराया जावे (न्यान आहार कुनय भव महनं) ज्ञान का भोजन खिलाना मिथ्यानय से प्राप्त अज्ञान को व संसार के भय को दूर करने वाला है।

भावार्थ– साधारणतया पात्रों को शुद्ध भोजन देना सो आहारदान है। परन्तु वह केवल शरीर की रक्षा करने वाला व क्षुधा की बाधा को कुछ काल के लिये मेटने वाला है। परन्तु यदि इस आहार की तरफ से लक्ष्य हटाकर पात्र को आत्मज्ञान का आहार दिया जावे तो उसको सच्ची तृप्ति हो। उसका संसार भय मिटे व मिथ्याज्ञान हटे। यही शुद्ध आहारदान है।

आहारदान सुधं, पत्तं जो देई भाव सुधीये।
सो भव दुष्य विनासै, पत्तं आहार न्यान ससहावं ॥ २८६ ॥

अन्वयार्थ- (जो भाव सुधीये पत्तं सुधं आहारदान देई) जो कोई शुद्ध भाव करके पात्रों को शुद्ध आहार दान अर्थात् आत्मज्ञान देता है (सो ससहावं न्यान आहार पत्तं भव दुष्य विनासै) जो स्वाभाविक आत्मज्ञान का आहार पात्र को देकर उसका सांसारिक दुःख नाश कर देता है।

भावार्थ- जिस ज्ञानदान से पात्र को उस आत्मानुभव का लाभ हो जावे, जिससे वह कर्म की निर्जरा करके संसार के दुःखों से छूट जावे, वह ज्ञानदान ही शुद्ध आहारदान है। यह आत्मा की क्षुधा को मेटने वाला है, उसको परमानंद प्राप्त कराने वाला है।

अभयं च दान जुत्तं, पत्तं जो देइ भाव सुध संजुत्तं।
सो संचियं विनासै, अभयदानं च भय रहियं ॥ २८७ ॥

अन्वयार्थ- (अभयं च दान जुत्तं जो भाव सुध संजुत्तं पत्तं देइ) इस योग्य अभयदान को जो कोई भावों की शुद्धि से पात्रों को देता है (सो संचियं विनासै) सो अपने संचित कर्मों को नाश करता है (अभयदानं च भय रहियं) अभयदान निर्भय करने वाला है।

भावार्थ- साधारणतया पात्रों को योग्य आश्रय देना अभयदान है, जिससे शरीर को कोई भय न रहे। यहाँ गंभीर वर्णन है कि अभयदान वह दान है, जिससे पात्र को ऐसा निज आत्मा का दृढ़ श्रद्धान हो जावे कि उसका सर्व भय मिट जावे और वह आत्म श्रद्धा पाकर आत्मानुभव कर सके। यही सच्चा अभयदान सर्व शंकाओं को मेटने वाला है। ऐसा दान जो कोई करता है, उसके भावों में रत्नत्रय का तीव्र अनुराग होता है, वीतरागता पर झुकाव होता है। उसके परिणामों में जितने अंश वीतरागता होती है, उतने अंश पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

अभयं दानं उत्तं, अभयं दानंपि भाव संजुत्तं।
चिंतंति अभयदानं, दानं फलं मुक्ति गमनं च ॥ २८८ ॥

अन्वयार्थ- (अभयं दानं उत्तं) अभयदान ऐसा कहा गया है (भाव संजुत्तं अभयं दानं पि) जहाँ शुद्ध भाव सहित आत्मा को निर्भय किया जाय (अभयदानं चिंतंति) सम्यग्दृष्टि इस शुद्ध अभयदान का विचार करते रहते हैं (दानं फलं मुक्ति गमनं च) ऐसे दान का फल मुक्ति में जाना है।

भावार्थ- अपने आत्मा के स्वभाव का जहाँ विचार है तथा अनुभव है, वहाँ आत्मा की रागादि भावों से रक्षा है, सच्चा अभयदान है। यह दान मोक्ष का कारण है। ज्ञानी जीव जैसे अपने आत्मा को ऐसा अभयदान देते हैं, वैसे वह दूसरे पात्रों को भी बताते हैं वे भी आत्मिक निःशंक भाव पाकर मोक्ष के पात्र होते हैं।

ए चारि दान उत्तं, जानि वि जो देइ पत्त कुपत्तं।
जो देइ जस्य अत्थि, दानं उवएस जिनवरिंदेहि॥ २८९ ॥

अन्वयार्थ- (ए चारि दानं उत्त) इस तरह ये चार दान कहे गए हैं (जो पत्त कुपत्तं जानि वि देइ) जो पात्र-अपात्र का विचार कर देता है (जो देइ जस्य अत्थि) ऐसा दातार का कल्याण होता है (दानं उवएस जिनवरिंदेहि) यह दान का उपदेश श्री जिनेन्द्रों ने दिया है।

भावार्थ- श्रावक को उचित है कि वे निरंतर चार प्रकार का दान श्रद्धा व भक्तिपूर्वक पात्रों को करें तथा करुणाभावपूर्वक दुःखितों को करें। दान करना गृहस्थ का मुख्य धर्म है। सब दानों का सार आत्मज्ञान का दान है। जो इस दान को देता है, वह महान दातार है, ऐसा यहाँ तात्पर्य है। वही सच्चा औषधि, अभय व आहारदान है। मोक्ष में किसी को चला देना बड़ा भारी उपकार है वह बड़ा दान है।

♣ ♣ ♣

जल गालन

जल गालन उवएसं, प्रथमं सम्मत्त सुध भावस्स।
चित्तं सुध गलंतं, पच्छिदो जलं च गालम्मि॥ २९० ॥

अन्वयार्थ- (जल गालन उवएसं) श्रावकों को पानी छानकर पीने का उपदेश है (प्रथमं सुध भावस्स सम्मत्त) प्रथम यह आवश्यक है कि उनके भावों में शुद्ध सम्यग्दर्शन हो (चित्तं सुध गलंतं) व अपने चित्त से दोषों को हटाकर साफ करें, चित्त को छाने (पच्छिदो जलं च गालम्मि) फिर पानी को छानकर पीवें।

भावार्थ- यहाँ पर यह भाव है कि कोई अपने को जैनी मानकर मात्र पानी छानकर पिया करे, किन्तु न उसका मिथ्यात्व गया हो, न उसका चित्त शुद्ध हो तो वह जल गालन प्रतिज्ञा का सच्चा पालने वाला नहीं है। सच्चा जल गालन यह है कि वह बाहरी कुदेवादि का पूजन व आरंभ शरीरादि में आत्मबुद्धि, इन दोनों प्रकार के मिथ्या श्रद्धान को छोड़कर सच्चा श्रद्धावान बने तथा वह अपने मन में से खोटे भावों को, हिंसक भावों को, क्रोधादि कषायों की तीव्रता को हटाकर मन शुद्ध करे। ऐसा करता हुआ यदि वह छना पानी पीता है तो वह यथार्थ जल गालन व्रत पालता है। पानी को दोहरे छन्ने से छानना चाहिये। छानने के पीछे जीवानी को यत्न के साथ जहाँ से पानी भरा है, वहीं पहुँचाना चाहिये, जिससे त्रस जन्तु न मरें। ऐसा छाना पानी दो घड़ी (४८ मिनिट) तक पिया जा सकता है, पीछे फिर छानने योग्य हो जाता है। फिर छानकर जीवानी एकत्रित करता रहे, जब पानी फिर भरने जावे

तब डोल में डालकर पहुंचा दे। पानी को लवंगादि से प्राशुक कर लिया जावे, जिससे वर्ण व स्वाद बदल जावे तो वह पानी छः घंटे तक चलता है। यदि गर्म किया जावे तो १२ घंटे तक, यदि उबाल लिया जावे तो २४ घंटे तक चलता है। इस मर्यादा के भीतर इस जल को वर्त लेवें, फिर छान के काम लायक नहीं।

मन सुधं चितगालं, भाव सुधं च चेयना भावं।
चेयन सहित सुभावं, जलगालन तंपि जानेहि॥ २९१॥

अन्वयार्थ- (मन सुधं चितगालं) मन को शुद्ध रखना चित्त का छानना है (भाव सुधं च चेयना भावं) शुद्ध भाव में होकर चेतना का अनुभव करना (चेयन सहित सुभावं) चेतना सहित स्वभाव में लय हो जाना (तंपि जल गालन जानेहि) इसको भी जल गालन जानो।

भावार्थ- यहाँ निश्चय प्रधान कथन है। इस आत्मा का स्वभाव निर्मल जल के समान शुद्ध है। उसमें से रागादि मल निकालकर उसको निर्मल करना व उसी के शुद्ध चैतन्यभाव में रमना सच्चा जल गालन है। व्यवहार में मन के भीतर से कुभावों को हटाना मन का छानना है या मन की शुद्धि है।

♣ ♣ ♣

रात्रि भोजन त्याग-अनस्तमित व्रत

अनस्तमितं उवएसं, पढमं सम्मत्त चरन संजुत्तं।
जस्य नअनस्तं दिट्ठं, तस्ययं मिथ्यादि भावमप्पानं॥ २९२॥

अन्वयार्थ- (अनस्तमितं उवएसं) रात्रि भोजन त्याग का उपदेश करते हैं (पढमं सम्मत्त चरन संजुत्तं) प्रथम तो श्रावक को सम्यग्दर्शन व अपने योग्य आचरण सहित होना चाहिये (जस्य दिट्ठं न अनस्तं) जिसके मिथ्यादर्शन अस्त न हो (तस्ययं मिथ्यादि भावमप्पानं) उसकी ही आत्मा में मिथ्यारागादि भाव न होंगे।

भावार्थ- साधारण रूप में रात्रि को भोजन न करना यह गृहस्थ श्रावक का अनस्तमित व्रत है। यहाँ यह भाव है कि यदि कोई जैनी रात्रि को तो न खावे, परन्तु कुदेवादि की श्रद्धा का व अन्तरंग मिथ्यात्व का त्यागी न हो तथा जिसका व्यवहार आचार ठीक न हो, असत्यवादी हो व मिथ्या व्यवहार चोरी, विश्वासघात, वेश्या रमणादि करता हो तो उसकी शोभा नहीं है। इससे रात्रि भोजन त्यागी को मिथ्यात्व का त्यागी होकर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है।

अप्पानं मप्पानं, सुधप्पा भाव विमल परमप्पा।
एयं जिनेहि भनियं, अनस्तमितं तंपि जानेहि ॥ २९३ ॥

अन्वयार्थ– (अप्पानं मप्पानं) जो आत्मा को आत्मा जाने (सुधप्पा भाव विमल परमप्पा) कि यह निश्चय से शुद्ध स्वरूप है, जिसका भाव मल रहित परमात्मा में श्रद्धा, ज्ञान व अनुभव सहित है (तंपि अनस्तमितं जानेहि) उसको भी रात्रि भोजन का त्यागी जानो (एयं जिनेहि भनियं) ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

भावार्थ– व्यवहार में जो रात्रि में भोजन नहीं करता है, निश्चय से जिसकी आत्मा में अन्धकार न हो, जो आत्मज्ञानी आत्मानन्द का स्वाद आत्मा की निर्मल ज्योति में लेता हो, वह भी रात्रि भोजन का त्यागी है।

एयं आहार जुत्तं, न्यानं आहार नेय संजुत्तं।
अनस्तमितं बेघडियं, निस्चय विवहार संजदो सुधो ॥ २९४ ॥

अन्वयार्थ– (एयं आहार जुत्त) इस प्रकार जो योग्य आहार लेवे कि (बेघडियं अनस्तमित) व्यवहार में दो घड़ी या ४८ मिनिट दिन रहते भोजन कर ले व (न्यानं आहार नेय संजुत्तं) निश्चय से अनेक प्रकार सम्यग्ज्ञान का आहार लेता हो सो (निस्वय विवहार संजदो सुधो) निश्चय व्यवहार दोनों रूप से रात्रि भोजन का त्यागी शुद्ध संयमी है।

भावार्थ– गृहस्थ को दो घड़ी दिन रहने पर व दो घड़ी दिन निकल आने पर भोजनपान करना, यह यथार्थ रात्रि भोजन त्याग व्रत है। व्यवहार व्रत को पालते हुए उसे निश्चय व्रत भी पालना चाहिये। उसे मिथ्याज्ञान को हटाने के लिये जिनवाणी द्वारा सम्यग्ज्ञान का मनन करना चाहिये, तथा आत्मा का मनन व अनुभव करना चाहिये, रागादि भाव त्यागना चाहिये, यह निश्चय रात्रि भोजन त्याग व्रत है।

अठ दह किरियानं, अविरइ सम्माइट्ठि संकलियं।
उवएसं उज्झायं, अविरइ पालंति सुध भावेन ॥ २९५ ॥

अन्वयार्थ– (अठ दह किरियानं) ऊपर लिखित अठारह क्रियाओं से (अविरइ सम्माइट्ठि संकलियं) अविरत सम्यग्दृष्टि संयुक्त होता है (उज्झायं उवएसं) ऐसा उपाध्याय परमेष्ठी का उपदेश है (अविरइ सुध भावेन पालंति) अविरित सम्यग्दृष्टि शुद्ध भावों से अठारह नियमों को पालता है।

भावार्थ– श्रावक की तिरेपन क्रियाएँ प्रसिद्ध हैं, उनमें अठारह क्रियाओं का अभ्यास चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि को करना योग्य है। श्रावक की तिरेपन क्रियाएँ इस भांति कही गई हैं :–

गुनवय तवसमपडिमा, दाणं जलगालणं च अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया॥

भावार्थ- आठ मूल गुण + बारह व्रत + बारह तप + १ समता भाव + ग्यारह प्रतिमाएँ + चार दान + १ जल गालन + १ रात्रि भोजन त्याग + ३ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र = ५३। इनमें से नीचे लिखी अठारह क्रियाओं को अविरति सम्यग्दृष्टि पालता है, जिनका वर्णन मुख्य-मुख्य ऊपर किया जा चुका है। आठ मूलगुण ८ + तीन रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ३ + चार दान ४ + जल गालन + रात्रि भोजन त्याग + समता भाव के लिये जिन आगम पाठ = १८।

♣ ♣ ♣

उपाध्याय उपदेश कथन

उज्झायं उवएसं, जिन उत्तंपि जिनवरिंदेहि।
जे साहंति जिनुत्तं, अचिरेन निव्वुए जंति॥ २९६॥

अन्वयार्थ- (उज्झायं उवएसं) उपाध्याय परमेष्ठी वही उपदेश करते हैं (जिनवरिंदेहि जिन उत्तंपि) जो तीर्थंकरों का कहा हुआ है व गणधरों द्वारा व्याख्यान किया गया है (जे जिनुत्तं साहंति) जो श्री जिनेन्द्र के कथन के अनुसार साधन करते हैं (अचिरेन निव्वुए जंति) वे शीघ्र निर्वाण पाते हैं।

भावार्थ- श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत तीर्थंकरों ने जो तत्त्वोपदेश किया है, वैसा ही गणधरों द्वारा व्याख्यान किया गया है। वैसा ही परम्परा से आचार्यों के द्वारा चला आ रहा है। वैसा ही उपदेश श्री उपाध्याय परमेष्ठी करते हैं। जो शुद्ध सरलभाव से उस कथन पर श्रद्धा लाकर आचरण करने लग जाता है, वह अवश्य निर्वाण को पाता है।

उज्झायं उवएसं, न्यान सहावेन जिनवर मएन।
जिन उत्तं सुत जुत्तं, उज्झायं उवएसनं तंपि॥ २९७॥

अन्वयार्थ- (उज्झायं उवएसं) उपाध्याय परमेष्ठी ऐसा उपदेश करते हैं (न्यान सहावेन जिनवर मएन) जैसा ज्ञान स्वभाव के द्वारा जिनेन्द्रों ने, तीर्थंकरों ने व अन्य तत्सदृश अरहंतों ने जाना है (जिन उत्तं सुत जुत्तं) जो जिनेन्द्र का उपदेश है, वही शास्त्रों में आचार्यों ने लिखा है (तंपि उज्झायं उवएसनं) उसी का ही उपाध्याय उपदेश करते हैं।

भावार्थ- उपाध्याय का उपदेश परम्परा अरहंतों के कथन के अनुसार ही होता है।

उज्झाय पयडि जुत्तं, आचरनं पयडि भाव संजुत्तं।
मति न्यान सुध सुधं, स्रुत न्यानं च चिंतनं तंपि॥ २९८॥

अन्वयार्थ- (उज्झाय पयडि जुत्त) उपाध्याय परमेष्ठी प्रतिमा या श्रेणी संयुक्त होते हैं (पयडि भाव संजुत्तं आचरन) व श्रेणी के भाव के अनुसार आचरण पालते हैं (मति न्यान सुध) उनका मतिज्ञान शुद्ध होता है (सुधं स्रुत न्यानं च तंपि चिंतन) तथा उनका श्रुतज्ञान भी शुद्ध होता है, उसी का ही वे चिन्तवन करते हैं।

भावार्थ- उपाध्याय पदधारी प्रमत्त तथा अप्रमत्त छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती साधु होते हैं। वे उन गुणस्थानों के अनुसार द्रव्य व भाव चारित्र का पालन करते हैं। उनके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान सम्यग्दर्शन सहित शुद्ध होता है। वे आगम का विशेष विचार किया करते हैं।

मइ सुइ न्यान उवन्नं, न्यान सहावेन भावना जुत्तं।
जं चिय न्यान सहावं, तं चिय सुधंपि भावना हुंति॥ २९९॥

अन्वयार्थ- (मइ सुइ न्यान उवन्नं) उपाध्याय को विशेष मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान होता है (न्यान सहावेन भावना जुत्त) वे अपने आगमज्ञान के स्वभाव से तत्त्व की भावना करते रहते हैं (जं चिय न्यान सहावं तं चिय सुधंपि भावना हुंति) जितना अधिक उनका ज्ञान स्वभाव प्रकट होता है, उतनी ही शुद्ध उनकी आत्मज्ञान की भावना होती है।

भावार्थ- उपाध्याय परमेष्ठी के दो ज्ञान तो नियम से होते ही हैं, मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, उनकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होती है व वे बहुत शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं। वे निरन्तर आगम का मनन करते रहते हैं। अधिक ज्ञान होने से उनकी आत्म भावना भी बहुत शुद्ध होती है।

स्रुतं न्यान उववन्नं, अनुमात्र व्रत भावना एन।
सुध सहाव संजुत्तं, अनुव्रिति व्रत संग्रहनं॥ ३००॥

अन्वयार्थ- (स्रुतं न्यान उववन्न) श्रुतज्ञान में ऐसा उपदेश है (सुध सहाव संजुत्तं अनुमात्र व्रत भावना एन) कि जो शुद्ध भाव को धारण करता है, उसको अणु रूप से व्रतों का भाव भी रखना योग्य है (अनुव्रिति व्रत संग्रहनं) इसलिए अणुव्रती श्रावक पंचम गुणस्थानवर्ती व्रतों को धारण करता है।

भावार्थ- शास्त्र बताता है कि सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मिक भावना में ही संतोष मानकर न बैठे रहना चाहिए किन्तु वीतरागता की वृद्धि के लिए अणुव्रत श्रावकों के व्रतों को धारण करना चाहिये, जिससे परिणाम अधिक विरक्त हों। अधिक विरक्तता से आत्मानुभव अधिक निर्मल होता है।

♣ ♣ ♣

ग्यारह प्रतिमा

दंसन व सामाई, पोसह सचित्त राय भत्तीए।
बंभारंभ परिग्रह, अनुमन उद्दिस्ट देस विरदोया॥ ३०१॥

अन्वयार्थ- (देस विरदोया) देशविरत पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ या प्रतिमाएँ या प्रतिज्ञाएँ होती हैं (दंसन वय सामाई) १. दर्शन प्रतिमा २. व्रत प्रतिमा ३. सामायिक प्रतिमा (पोसह सचित्त राय भत्तीए) ४. प्रोषधोपवास प्रतिमा ५. सचित्त त्याग प्रतिमा ६. रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा (बंभारंभ परिग्रह) ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा ८. आरंभ त्याग प्रतिमा ९. परिग्रह त्याग प्रतिमा (अनुमन उद्दिस्ट) १०. अनुमति त्याग प्रतिमा ११. उद्दिस्ट त्याग प्रतिमा।

भावार्थ- इन प्रतिमाओं में चारित्र बढ़ता जाता है। पहली प्रतिमा का दूसरी में छूटता नहीं है। पहली प्रतिमाओं का चारित्र पालते हुए आगे की प्रतिमाओं का चारित्र पालन किया जाता है। ऐसा ही रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है।

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रम विवृद्धाः॥ १३६॥

भावार्थ- गणधरादि देवों ने श्रावक के जो पद बताये हैं, इनमें हर एक प्रतिमा का चारित्र पूर्व चारित्र के साथ क्रम से बढ़ता हुआ रहता है। ये श्रेणियाँ धीरे-धीरे सुगमता से चारित्र बढ़ाने की व कषाय घटाने की बड़ी ही उपयोगी रीतियाँ हैं। इनको क्रम से उत्तीर्ण करता हुआ मुनि पद को सुगमता से पाल सकता है।

पडिमा एक दसयं, पडिमा संसार दुष्य षय करनं।
पडिमा सुधप्पानं, दंसन दंसेइ सुधमप्पानं॥ ३०२॥

अन्वयार्थ- (पडिमा एक दसयं) प्रतिमाएँ ग्यारह हैं (पडिमा संसार दुष्य षय करनं) ये प्रतिमाएँ संसार के दुःखों का क्षय करने वाली हैं (पडिमा सुधप्पानं) ये प्रतिमाएँ शुद्धात्मा को झलकाने वाली हैं (दंसन दंसेइ सुधमप्पानं) प्रतिमा पालते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है, वह शुद्धात्मा का अनुभव करता है।

भावार्थ- केवल बाहरी चारित्र बढ़ाने का नाम प्रतिमाएँ नहीं होता है, किन्तु जैसे-जैसे बाहरी चारित्र बढ़े वैसे-वैसे ध्यान सामायिक, आत्ममनन, आत्मानुभव की वृद्धि करने की जरूरत है। इसी अभ्यास से कर्म का क्षय होकर सांसारिक दुःख कम होंगे तथा शुद्धात्मा का लाभ होगा। बाहरी चारित्र व्यवहार से चारित्र कहा जाता है, निश्चय से तो आत्मरमण रूप ही चारित्र है।

पडिमा नाम स उत्तं, ति अर्थं सुधं च परम तत्त्वानं।
ममात्मा सुकिय सुभावं, अप्पा परमप्प सुध सं पडिमा॥ ३०३॥

अन्वयार्थ– (पडिमा नाम स उत्त) प्रतिमा उसे कहा गया है जहाँ (ति अर्थं सुधं च परम तत्त्वानं) रत्नत्रय धर्म को तथा शुद्ध उत्कृष्ट आत्म तत्त्व को मनन किया जावे (ममात्मा सुकिय सुभावं सुध अप्पा परमप्प सं पडिमा) यह अनुभव किया जावे कि मेरी आत्मा का अपना ही स्वभाव शुद्ध स्वरूपी परमात्मा है। ऐसा स्वरूपाचरण चारित्र हो, तब प्रतिमा कही जाती है।

भावार्थ– प्रतिमा के नियमों के पालने का हेतु एक निमित्त साधक है। वास्तव में प्रतिमा उसी के कहलाएगी जो निश्चय रत्नत्रय के स्वरूप को परमात्मा के समान निश्चय में लाकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है। बिना अंतरंग में वीतरागता की वृद्धि हुए प्रतिमारोहण नाम नहीं पाता है।

पडिमा नाम स उत्तं, डण्ड कपाटेन ति अर्थ संजुत्तं।
विंद स्थानं सविंदं, अप्पा परमप्प सुध पडिमानं॥ ३०४॥

अन्वयार्थ– (पडिमा नाम स उत्त) प्रतिमा नाम उसी को कहा गया है जो जाने कि (ति अर्थ संजुत्तं डण्ड कपाटेन) रत्नत्रय के स्वामी अरहंत को दण्ड कपाट करना पड़ता है (विंद स्थानं संविंद) जो ॐ के बिंदु स्थान से लक्षित सिद्ध परमात्मा का अनुभव करता है (अप्पा परमप्प सुध पडिमानं) जहाँ आत्मा परमात्मारूप अनुभव किया जावे वही शुद्ध प्रतिमा है।

भावार्थ– प्रतिमा को पालने वाला वही है, जो अरहंत व सिद्ध के स्वरूप को पहचानता हो, उनकी स्तुति करता है, अरहंत के किसी-किसी के केवलि समुद्घात होता है। जब आयुकर्म कम व शेष-कर्म की स्थिति अधिक रहती है, तब आत्मा फैलता है। पहले समय में दण्डरूप लम्बा जाता है, दूसरे समय में किवाड़े रूप हो जाता है, तीसरे समय में प्रतररूप हो जाता है, चौथे समय में लोकपूर्ण हो जाता है। चार समय में फैलता है व चार समय में ही सिकुड़कर शरीराकार हो जाता है। अरहंत शरीर सहित परमात्मा हैं, सिद्ध शरीर रहित परमात्मा है।

♣ ♣ ♣

पहली दर्शन प्रतिमा

पडिमा नाम विसेसं, दंसन पडिमा च दंसए सुधं।
दंसेइ मोष्य मग्गं, दंसन पडिमा इमो भनियं॥ ३०५॥

अन्वयार्थ– (पडिमा नाम विसेसं दंसन पडिमा च सुधं दंसए) प्रतिमाओं के भेदों में पहली दर्शन प्रतिमा है, जो शुद्ध आत्मा पर दृढ़ विश्वास रखने वाली है (मोष्य मग्गं दंसेइ) जिसका पक्का विश्वास मोक्षमार्ग है (दंसन पडिमा इमो भनियं) उसी को दर्शन प्रतिमा कहते हैं।

भावार्थ- जहाँ पच्चीस दोषों को टालकर सम्यग्दर्शन को शुद्ध पाला जावे व मोक्षमार्ग रत्नत्रय धर्म ही है, वह आत्मा की एक शुद्ध परिणति है, ऐसा पक्का श्रद्धान हो और आत्मा के मनन का व चिंतवन का अभ्यास हो वही दर्शन प्रतिमा है।

दंसन सहाव सुधं, पिच्छइ जानेइ सुध सम्मत्तं।
दंसन न्यान रुवं, लोयालोयं च दंसनं पडिमा॥ ३०६॥

अन्वयार्थ- (सुधं दंसन सहाव सुध सम्मत्तं पिच्छइ जानेइ) शुद्ध दर्शन प्रतिमा का यह स्वभाव है कि वह शुद्ध सम्यग्दर्शन को जाने और श्रद्धा करे तथा आचरण करे (न्यानरुवं दंसेइ) आत्मा को ज्ञान स्वरूपी श्रद्धा करे (लोयालोयं च दंसनं पडिमा) तथा इस प्रतिमावाला लोक, अलोक का स्वरूप शास्त्र द्वारा जाने कि ये छः द्रव्यमयी हैं।

भावार्थ- दर्शन प्रतिमाधारी को जिनवाणी पर दृढ़ श्रद्धान होता है। वह छः द्रव्यों का ठीक-ठीक स्वरूप जानता है कि यह लोक उन्हीं का समुदाय है, वे नित्य अनित्य स्वरूप हैं तथा इनके भीतर शुद्ध आत्मा के स्वरूप को ज्ञानानंदमयी पहचानता व अनुभव करता है।

दंसन पडिमा दंसइ, केवल दंसेइ न्यान संजुक्तं।
लोयालोय पयासं, अवलोयं दंसनं पडिमा॥ ३०७॥

अन्वयार्थ- (दंसन पडिमा दंसइ) दर्शन प्रतिमा पक्का श्रद्धान रखती है (केवल न्यान संजुक्तं लोयालोय पयासं अवलोयं दंसइ) यह शुद्ध निरावरण ज्ञान संयुक्त आत्मा को लोक-अलोक का प्रकाशक है, ऐसा श्रद्धान रखती है (दंसन पडिमा) सो ही दर्शन प्रतिमा है।

भावार्थ- दर्शन प्रतिमा में अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञानमयी स्वभाव का पक्का श्रद्धान होता है।

दंसन अनंत न्यानं, अनंत वीरिय अनंत सुषाई।
दंसेइ तिहुवनग्गं, दंसन पडिमा इमो भनियं॥ ३०८॥

अन्वयार्थ- (दंसन अनंत न्यानं अनंत वीरिय अनंत सुषाई तिहुवनग्गं दंसेइ) अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य व अनंत सुखमयी सिद्धात्मा को तीन लोक के अग्रभाग में विराजे हैं, ऐसा श्रद्धान करे (इमो दंसनं पडिमा भनियं) उसे दर्शन प्रतिमा कहा गया है।

भावार्थ- परमात्मा अरहंत व सिद्ध को जो यथार्थ पहचानता है व अपने आत्मा को निश्चय से परमात्मा के समान जानता है, ऐसा श्रद्धालु दर्शन प्रतिमा वाला है।

दर्शन प्रतिमा में चारित्र यह होना चाहिये कि वह पाँच परमेष्ठी की भक्ति करे, स्तुति करे, शास्त्र पढ़े, सामायिक करे तथा सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों को बचावे, सम्यक्त्व का निर्मल आचरण करे, आठ मूल गुण पाले तथा सात व्यसनों से बचे, जुआ, मांस, मद्य, शिकार, चोरी, वेश्या व परस्त्री गमन

अथवा मांस, मद्य मधु त्याग और पाँच अहिंसादि अणुव्रतों को स्थूलपने पाले। यह चारित्र के मार्ग पर आरूढ़ है। तब ही इसको देशविरत गुणस्थान में प्रथम प्रतिमा कहा गया है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीर भोग निर्विण्णः।
पंच गुरु चरण शरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथ गृह्यः॥ १३७॥

दर्शन प्रतिमाधारी वह है, जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष हो, जो संसार, शरीर व भोगों से वैरागी हो, जो पाँच परमेष्ठी के चरणकमल का भ्रमर हो तथा मोक्षतत्त्व के मार्ग पर चल रहा हो, जो व्रत प्रतिमा में पाँच अणुव्रतों को निरतिचार पालता हो। उनके निरतिचार पालन का यथाशक्ति अभ्यास दर्शनप्रतिमा वाला करता है।

* * *

व्रत प्रतिमा

वय पडिमा उवएसं, व्रतं जानेहि अप्प सभावं।
अप्पा अप्पे सुरई, वय पडिमा संजदो सुधो॥ ३०९॥

अन्वयार्थ- (वय पडिमा उवएसं) अब व्रत प्रतिमा का उपदेश करते हैं (अप्प सभावं व्रतं जानेहि) जो आत्मा के भावों में व्रतों को जानता है (अप्पा अप्पे सुरई) जिसका आत्मा आत्मा में लवलीन है (सुधो संजदो वयपडिमा) शुद्ध संयम को पालने वाला व्रत प्रतिमाधारी है।

भावार्थ- व्रत प्रतिमा वाला बारह व्रतों को आत्मिक भावों की शुद्धिपूर्वक पालता है। परिणामों को कषाय रहित व इच्छा रहित करने के लिए बारह व्रत निमित्त कारण है। ऐसा विश्वास रखता है। केवल बाहरी व्रतों को भावों की शुद्धि बिना व्रत नहीं जानता है। वह आत्मानुभव का अभ्यासी होता है। मन इन्द्रिय को रोकने वाला व छः कायों के जीवों की यथाशक्ति हिंसा बचाने वाला संयमी ही व्रती होता है।

वयं च व्रत संजुत्तं, भाव विसुध विमुक्क वावारे।
अप्प सरुवे सुरदो, अप्पानं झान सुरदोयं॥ ३१०॥

अन्वयार्थ- (वयं च व्रत संजुत्तं) व्रत प्रतिमावाला व्रत सहित होता है (भावविसुध विमुक्क वावारे) निर्मल भावों से अयोग्य व्यापार को नहीं करता है (अप्प सरुवे सुरदो) वह आत्मा के स्वरूप में लीन होता है (अप्पानं झान सुरदोयं) तथा आत्मा का ध्यान भले प्रकार प्रेम से करता है।

भावार्थ- व्रत प्रतिमावाला बारह व्रतों को पालता है। वह हिंसाकारी व्यापारों से अलग रहता है, मुख्यता से आत्मा का ध्यान करता है।

परपंचं नहु दिट्ठिदि, पर पुग्गलं च भाव तिक्तंति।
अन्यान मिच्छ भावं, तिक्तं सयल दोस सभावं॥ ३११॥

अन्वयार्थ- (परपंचं नहु दिट्ठिदि) जिस व्रती के व्यवहार में प्रपंच, मायाचार व ठगाई नहीं दिखलाई पड़ती है (पर पुग्गलं च भाव तिक्तंति) पुद्गल या शरीर के मोह संबंधी सर्व भावों को शरीर को पर जान कर त्याग दिया है (अन्यान मिच्छ भावं सयल दोस सभावं तिक्त) जिसने मिथ्याज्ञान व मिथ्याभावों को त्यागा है और सर्व दोषों के अस्तित्व से चित्त को हटा लिया है।

भावार्थ- व्रती का आचरण सत्य व अहिंसा पर अवलम्बित होता हुआ मायाचार से रहित होता है। उसको शरीर के साथ झूठा मोह नहीं होता है। वह धनादि परिग्रह के लिए अत्याचार नहीं करता है। परिणामों में करुणा भाव व मृदुता का संचार रहता है।

अप्पानं व्रत पिच्छदि, अप्पा परमप्प सुध सभावं।
न्यानमई ससहावं, अत्थि धुवं चेयना पडिमा॥ ३१२॥

अन्वयार्थ- (अप्पा परमप्प सुध सभावं अप्पानं व्रत पिच्छदि) व्रती आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध भावों से जानकर आत्मिक व्रत पर दृष्टि रखता है, उसके भावों में (न्यान मई ससहावं चेयना पडिमा धुवं अत्थि) ज्ञानमयी आत्मिक स्वभावरूप चेतना की प्रतिमा ध्रुवरूप से रहती है।

भावार्थ- व्रती दृढ़ता से आत्मा को परमात्मा के समान जान कर तैसा ही अनुभव करता है। उसके भावों में यह भाव दृढ़ता से ध्रुव रूप से अंकित हो गया है कि मेरा शुद्ध चैतन्य भाव है। इसी भाव में यह बड़े ऐक्य भाव के साथ ध्यान में तल्लीन होता है। मानो चेतना का स्वरूप उसके अन्दर यथार्थ रूप से छा जाता है। श्री रत्नकरंड श्रावकाचार में व्रत प्रतिमा का स्वरूप कहा है।

निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः॥ १३८॥

भावार्थ- जो माया, मिथ्या, निदान इन शल्यों से रहित होकर पाँच अणुव्रतों को अतिचार रहित पालता है तथा सात शीलों को भी पालता है, वह व्रत प्रतिमाधारी कहा गया है।

बारह व्रत कथन- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इन पिछले सात को सात शील कहते हैं।

पाँच अणुव्रत- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग। मुनि इन पाँच व्रतों को पूर्ण रूप से पालते हैं। श्रावक व्रती एकदेश शक्ति के अनुसार पालता है, क्योंकि वह अभी गृहस्थ है, आरंभ व परिग्रह का त्यागी नहीं है। श्री तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार कुछ कथन लिखा है-

मुनियों का धर्म है कि इन व्रतों के पालने के लिये हरएक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएं भावें। श्रावकों को भी उन पर यथाशक्ति ध्यान देना चाहिये।

अहिंसा व्रत की ५ भावनाएँ—

"वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान भोजनानि पंच।"

१. वचन गुप्ति— वचनों की सम्हाल कि कहीं हिंसात्मक वचन न निकले।

२. मनगुप्ति—मन में हिंसात्मक भावों को न लाने की सम्हाल।

३. ईर्या समिति— ४ हाथ आगे जमीन देखकर चलने का व्यवहार।

४. आदान निक्षेपण समिति— किसी वस्तु को उठाना या धरना तो देखकर उठाना व धरना।

५. आलोकित पान भोजन— देखकर भोजन पान करना।

सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ—

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच।"

१. क्रोध का त्याग - क्रोध को वश रखे बिना असत्य वचन नहीं बच सकता।

२. लोभ का त्याग - लोभ के वशीभूत हो असत्य वचन बोला जाता है।

३. भय का त्याग - भय के करण भी असत्य कथन हो जाता है।

४. हास्य का त्याग - हंसी मसखरी में भी झूठ कहा जाता है।

५. अनुवीचि भाषण - शास्त्रों के अनुकूल वचन बोलने की सम्हाल।

अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ—

"शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच।"

१. शून्यागार - किसी का माल न हो ऐसे स्थान पर ठहरना।

२. विमोचितावास - ऊजड़ छोड़े हुए मकान में ठहरना।

३. परोपरोधाकरण - जहाँ कोई मना करे वहाँ न ठहरना अथवा आप जहाँ हो दूसरे को आने से नहीं रोकना।

४. भैक्ष्यशुद्धि - भोजन शुद्ध अंतराय टालकर लेना।

५. सधर्माविसंवाद - साधर्मियों से झगड़ा न करना, इससे धर्म का लोप होता है।

ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ—

"स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाःपंच"

१. स्त्री राग कथा श्रवणत्याग - स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथा सुनना कहना त्याग।

२. तन्मनोहरांग निरीक्षण त्याग - उनके मनोहर अंग देखने का त्याग।

३. पूर्वरतानुस्मरण त्याग - पूर्व किये हुए भोगों के स्मरण का त्याग।

४. वृष्येष्ट रस त्याग - पौष्टिक कामोद्दीपक रस खाने का त्याग।

५. स्व शरीर संस्कार त्याग - अपने शरीर के श्रृंगार करने का त्याग।

परिग्रह त्याग व्रत की पाँच भावनाएँ—

"मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच।"

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र पाँचों इंद्रियों के अच्छे-बुरे पदार्थों के मिलने पर रागद्वेष न करके समताभाव रखना।

पाँच अणुव्रत का स्वरूप—

संकल्पी हिंसा का त्याग-आरंभी हिंसा का त्याग नहीं, यथाशक्ति कम करना। जो हिंसा पशुबलि, शिकार, मांसाहार आदि के लिये होती है, वह संकल्पी है। आरंभी हिंसा तीन प्रकार है। उद्यमी - जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः प्रकार के आजीविका के साधनों में करनी पड़ती है। गृहारंभी - जो रोटी, पानी, मकान, बाग, कूपादिके के लिये करनी पड़ती है। विरोधी - जो दुष्टों के व शत्रुओं के आक्रमण पर रक्षार्थ करनी पड़ती है। इस तरह का व्यवहार रखना कि संकल्पी से बचे व आरंभी का यत्न रखें, वृथा न करें, अहिंसा अणुव्रत है। राज्यदंडादिके योग्य असत्य न कहना सत्य अणुव्रत है। गिरी पड़ी भूली बिसरी किसी की वस्तु न लेना अचौर्य अणुव्रत है। विवाहिता स्त्री से संतोष रखकर परस्त्री का त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। घर, जमीन, रुपया, पैसा, गाय, भैंसादि परिग्रह का इच्छानुसार जीवनपर्यंत प्रमाण कर लेना परिग्रह प्रमाण व्रत है।

तीन गुणव्रत - १. दिग्व्रत-जन्मभर के लिये दस दिशाओं में जाने का प्रमाण लौकिक कार्यों के लिये। २. देशव्रत- इसी में घटाकर नित्य प्रमाण करना ३. अनर्थ दंड त्याग व्रत- पाँच प्रकार के व्यर्थ पाप न करना। पापोपदेश—पाप करने का उपदेश देना, हिंसादान—हिंसाकारी शस्त्रादि मांगे देना, दुश्रुति—खोटी कथाएं कहना-सुनना, अपध्यान—दूसरों का बुरा विचारना, प्रमादचर्या—प्रमाद से अधिक पानी फेंकना, वृक्ष तोड़ना आदि।

चार शिक्षाव्रत - १. सामायिक-प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल तीन, दो व एक काल एकांत में बैठकर शांति से ध्यान करना, २. प्रोषधोपवास - अष्टमी चौदस को उपवास या एकासन करना, ३. भोगोपभोग परिमाण - भोग उपभोग की वस्तुओं का नित्य प्रमाण करना, ४. अतिथि संविभाग-पात्रों को दान देकर आहार करना।

श्रावक व्रती यह भी भावना भाता है कि मेरा मरण समाधि सहित शांति से हो। यह उसका सल्लेखना व्रत है।

व्रत प्रतिमाधारी पाँच अणुव्रतों के अतीचारों को नियम से बचाता है। शेष के अतीचारों के बचाने का यथाशक्ति उद्यम करता है, आगे की प्रतिमाओं में बचाने का नियम है।

अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतीचार–

"बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।"

१. बन्ध-कषाय में किसी मानव या पशु को बंधन में डाल देना, पिंजरे में रोक रखना।

२. वध-कषाय सहित लाठी, चाबुकादि से मारना।

३. छेद- अंग-उपंग कषाय से छेद डालना।

४. अति भारारोपण-कषाय से अधिक बोझा लाद देना।

५. अन्नपान निरोध-कषाय से अन्नपान रोकना, कम देना।

सत्य अणुव्रत के पाँच अतीचार–

"मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्रभेदाः।"

१. मिथ्योपदेश - झूठ कहने का उपदेश देना।

२. रहोभ्याख्यान - स्त्री पुरुष की एकांत चेष्टा का वर्णन करना।

३. कूट लेख क्रिया-झूठा लेख लिखना व झूठी गवाही देना।

४. न्यासापहार-धरोहर को असत्य कहकर ले लेना।

५. साकार मंत्र भेद-चार आदमियों की सलाह को अंगों के आकार से जानकर कह देना।

अचौर्य अणुव्रत के अतीचार–

"स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।"

१. स्तेन प्रयोग - चोरी करने का रास्ता बतलाना।

२. तदाहृतादान - चोरी का लाया हुआ माल ले लेना।

३. विरुद्ध राज्यातिक्रम - विरुद्ध राज्य होने पर मर्यादा को टालकर लेन-देन करना।

४. हीनाधिक मानोन्मान-कमती-बढ़ती तौल नापकर देना-लेना।

५. प्रतिरूपक व्यवहार - झूठा रुपया चलाना व खरी में खोटी मिलाकर खरी कहकर बेचना।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतीचार–

"परविवाहकरणेत्वरिकापरिग्रहीतापरिग्रहीतागमनानंगक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः।"

१. पर विवाहकरण - अपने पुत्र-पुत्री के सिवाय दूसरों की सगाई मिलाना।

२. इत्वरिका परिग्रहीता गमन - व्यभिचारिणी विवाही स्त्री के पास जाना आना।

३. इत्वरिका अपरिग्रहीता गमन - व्यभिचारिणी अविवाहित वेश्यादिके पास जाना आना।

४. अनंगक्रीड़ा - काम के अंग छोड़ अन्य अंगों से काम क्रीड़ा करना।

५. कामतीव्राभिनिवेश-कामभोग की तीव्र लालसा रखनी।

परिग्रह प्रमाण व्रत के अतीचार—

"क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः।"

दस प्रकार के परिग्रह के पांच जोड़े हैं। प्रत्येक जोड़े में एक को बढ़ाकर दूसरे को घटाना।

१. क्षेत्र वास्तु- जगह व मकान, २. 'हिरण्य सुवर्ण-चांदी सोना, ३. धनधान्य-गाय, भैंस व अनाज; ४. दासी दास, ५. कुप्यभांड-कपड़े बर्तन।

दिग्व्रत के अतीचार—

"ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि।"

१. ऊर्ध्व व्यतिक्रम - ऊपर की मर्यादा को उल्लंघ जाना।

२. अधो व्यतिक्रम - नीचे की मर्यादा को उल्लंघ जाना।

३. तिर्यग्व्यतिक्रम - आठ दिशाओं की मर्यादा को उल्लंघ जाना।

४. क्षेत्रवृद्धि - एक तरफ कम करके दूसरी तरफ मर्यादा बढ़ा लेना।

५. स्मृत्यन्तराधान - मर्यादा को भूल जाना।

देशव्रत के अतीचार—

"आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः।"

१. आनयन - मर्यादा से बाहर से मँगाना।

२. प्रेष्य प्रयोग - मर्यादा के बाहर भेजना।

३. शब्दानुपात - मर्यादा के बाहर से बात कर लेना।

४. रूपानुपात - मर्यादा के बाहर रूप दिखाकर काम बता देना।

५. पुद्गलक्षेप - पुद्गल पत्र कङ्कर फेंककर मतलब बता देना।

अनर्थदण्ड व्रत के अतीचार—

"कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्य्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि।"

१. कंदर्प - भांड वचन, असभ्य वचन बकना।

२. कौत्कुच्य - भांड वचनों के साथ काय की कुचेष्टा भी करनी।

३. मौखर्य्य - बहुत बकवाद करना।

४. असमीक्ष्याधिकरण - बिना विचारे काम करना।

५. उपभोग परिभोगानर्थक्य - भोग उपभोग की वस्तुओं को वृथा अधिक संग्रह करना।

सामायिक व्रत के अतीचार--

"योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि।"

१. योगदुःप्रणिधान - मन, वचन व काय का दुष्ट प्रवर्तन।

२. अनादर - आदर व प्रेम से सामयिक न करना।

३. स्मृत्यनुपस्थान - सामायिक क्रिया व पाठ जाप को भूल जाना।

प्रोषधोपवास व्रत के अतीचार--

"अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि।"

१. अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग - बिना देखे, बिना झाड़े मलमूत्र व वस्तु रखना।

२. अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान - बिना देखे बिना झाड़े वस्तु उठाना।

३. अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण - बिना देखे बिना झाड़े चटाई बिछाना।

४. अनादर - उपवास आदर से न करना।

५. स्मृत्यनुपस्थान - धर्म क्रियाओं को भूल जाना।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतीचार--

"सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः।"

१. सचित - छोड़े हुये सचित्त को भूल से ले लेना।

२. सचित्त सम्बन्ध-छोड़े हुये सचित्त से सम्बन्धित वस्तु लेना।

३. सचित्त सन्मिश्र - सचित्त में अचित्त मिलाकर लेना।

४. अभिषव - कामोद्दीपक पदार्थ लेना।

५. दुःपक्वाहार - कम व अधिक पका पदार्थ लेना।

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार--

"सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्य्यकालातिक्रमाः।"

१. सचित्त निक्षेप - सचित्त पर रखी वस्तु मुनि को देना।

२. सचित्त अपिधान - सचित्त से ढकी वस्तु देना।

३. परव्यपदेश - आप दान न देकर दूसरे को दान के लिये कह देना।

४. मात्सर्य - ईर्षाभाव से दान देना।

५. कालातिक्रम - काल उल्लंघ करके देरी से देना।

सल्लेखना व्रत के अतीचार—

"जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि।"

१. जीवित आशंसा - अधिक जीने की इच्छा रखना।

२. मरणाशंसा - जल्दी मरना चाहना।

३. मित्रानुराग - मित्रों से सांसारिक राग बताना।

४. सुखानुबंध - सांसारिक सुखों को याद करना।

५. निदान - आगामी भोग चाहना।

व्रत प्रतिमावाला इन व्रतों को बड़े भाव से पालता है।

* * *

सामायिक प्रतिमा

सामाइयं च उत्तं, अप्पा परमप्पा सम्म संजुत्तं।
समय ति अर्थं सुधं, समतं सामाइयं जाने॥ ३१३॥

अन्वयार्थ— (सामाइयं च उत्तं) सामायिक प्रतिमा को कहते हैं (अप्पा परमप्पासम्म संजुत्तं)जो सम्यग्दर्शन सहित हो व आत्मा को परमात्मा रूप जाने (सुधं अर्थं समय ति) शुद्ध आत्मा को समतारूप करे (समतं सामाइयं जाने) साम्यभाव को सामायिक जानो।

भावार्थ— समय नाम आत्मा का है। जहाँ आत्मा संबंधी भाव हो अथवा जहाँ रागद्वेष छोड़कर समताभाव हो, शुद्धात्मा रूप आपको जानकर अनुभव किया जावे वही सामायिक है।

ति अर्थं सुध सुधं, सम सामाइयं च संसुधं।
परिनै सुध ति अर्थं, परिनामं सुध समय सुधं च॥ ३१४॥

अन्वयार्थ— (ति अर्थं सुध सुधं) जहाँ रत्नत्रय धर्म का निश्चय नय से शुद्ध विचार हो (सम सामाइयं संसुधं च) जहाँ समताभाव हो वही शुद्ध सामायिक है। (सुध ति अर्थं परिनै) जहाँ शुद्ध

रत्नत्रय रूप परिणमन हो (परिनामं सुध समय सुधं च) जहाँ परिणाम शुद्ध हो व आत्मा शुद्ध हो वही सामायिक है।

भावार्थ– निश्चय रत्नत्रय शुद्ध आत्मानुभव रूप ही एक शुद्ध परिणमन है। वहीं समता भाव है, वही आत्मा की शुद्धता है, वही सच्ची सामायिक है।

समरुवं सम दिट्ठं, सम सामाइयं च जिन उत्तं।
मन चवलं सुध थिरं, अप्प सरुवं च सुध सम समयं॥ ३१५॥

अन्वयार्थ– (समरुवं सम दिट्ठं) जहाँ समतामयी रूप हो, समतामयी दृष्टि हो (सम सामाइयं च जिन उत्तं) जहाँ समभाव हो उसी को सामायिक श्री जिनेन्द्र ने कहा है (मन चवलं सुध थिरं) जहाँ चंचल मन स्थिर हो व शुद्धोपयोग में लीन हो (अप्प सरुवं च सुध सम समयं) जहाँ आत्मा का स्वरूप शुद्ध समता रूप अनुभव में आवे वही सामायिक है।

भावार्थ– सामायिक करने वाले का स्वरूप व आसन व दृष्टि सब सौम्य होना चाहिये। भाव भी शांत हो, मन भी स्थिर हो। आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमणता हो वही सामायिक है।

इस प्रतिमा का स्वरूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ऐसा कहा है–

चतुरावर्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिकी द्विनिषद्यस्त्रियोग शुद्ध स्त्रिसंध्यमभिवन्दी॥ १३९॥

भावार्थ– जो चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त करता है, चार-चार प्रणाम करता है, कार्योत्सर्ग में स्थित होता है, अंतरंग-बहिरंग परिग्रह की चिंता से परे रहता है, खड्गासन और पद्मासन इन दो आसनों में से कोई एक आसन लगाता है, मन, वचन, काय के व्यापारों को शुद्ध रखता है, त्रिकाल वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है।

इस तीसरी श्रेणी में श्रावक सवेरे, दोपहर व सांझ तीनों समय दो-दो घड़ी या ४८ मिनट हर समय में सामायिक करे, कभी अंतर्मुहूर्त भी कर सकता है। इसकी सामान्य विधि यह है—पूर्व या उत्तर में खड़ा होकर पहले नौ णमोकार मंत्र पढ़कर भूमि में दंडवत् करे, सामायिक करते समय अपने शरीर पर जो हो उसके सिवाय सर्व परिग्रह का त्याग कर दे, फिर खड़े होकर नौ या तीन दफे णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त, एक शिरोनति करे। जोड़े हुए हाथों को बाएँ से दाहिने घुमाने को आवर्त व मस्तक झुकाकर दोनों जोड़े हुए हाथ लगाने को शिरोनति कहते हैं। फिर हाथ लटका के खड़े हुए दाहिनी दिशा पर पलटकर पूर्व के समान नौ या तीन दफे मंत्र पढ़कर तीन आवर्त एक शिरोनति करे, ऐसा ही पीछे करे, ऐसा ही बाएँ करे। इससे चारों तरफ सर्व पूज्यनीयों को नमस्कार हो जाता है। फिर आसन से बैठकर या खड़े होकर सामायिक पाठ पढ़ें, जाप दें, १२ भावना विचारे, आत्मध्यान

करे, अंत में खड़े हो नौ बार मंत्र पढ़कर दंडवत् करे। इस विधि से बड़े भाव से तीनों काल सामायिक करना ही चाहिये।

* * *

प्रोषधोपवास प्रतिमा

पोसह पडिमा उत्तं, पूर्व सहकार कारनं सुधं।
जिन उत्तं सुध दिट्ठं, अप्प सहावेन भावना सुधं॥ ३१६॥

अन्वयार्थ- (पोसह पडिमा उत्तं) प्रोषध प्रतिमा को कहते हैं (पूर्व सहकार कारनं सुधं) शास्त्रों की सहायता से शुद्ध भावों का कारण मिलावे (जिनउत्तं सुधदिट्ठं) जिनेन्द्र ने जैसा कहा है शुद्ध दृष्टि रखे, आरंभ न करे। (अप्प सहावेन भावना सुधं) आत्मा के स्वभाव को ध्यान में लेकर उपवास के दिन शुद्ध भावना रखे।

भावार्थ- उपवास जब तक का लिया हो तब तक सर्व कामकाज छोड़कर आत्मध्यान करे या जिनागम को पढ़े।

पूर्वं जिनेहि भनियं, सहकारेन पोसहं सुधं।
जं करेइ चिंतवनं, झानं झायंति धम्म सुक्कानं॥ ३१७॥

अन्वयार्थ- (पूर्वं जिनेहि भनियं) ग्यारह अंग १४ पूर्व जिनेन्द्र ने कहे हैं (सहकारेन पोसहं सुधं) उन शास्त्रों के रहस्य की सहायता से शुद्ध प्रोषधव्रत होगा (जं चिंतवनं करेइ) जो कुछ चिंतवन करे वह आगम का भाव हो (झानं झायंति धम्म सुक्कानं) धर्म ध्यान को ध्यावे व शुक्ल ध्यान की भावना करे।

भावार्थ- श्रावकों को धर्म ध्यान हो सकता है, परन्तु शुक्ल ध्यान नहीं। तथापि यह भावना करे कि कब वह समय आवे जब शुक्ल ध्यान प्राप्त हो सके। ध्यान में जब मन न लगे तो आगम का विचार करे।

पोसह पडिमा एसो, पूर्व सहकार सुध चरनानि।
चेयन भाव संजुत्तं, पोसह पडिमा इमो भनियं॥ ३१८॥

अन्वयार्थ- (पोसह पडिमा एसो) प्रोषध प्रतिमा यह है कि (पूर्व सहकार सुध चरनानि) शास्त्रों की मदद से शुद्ध आचार रखे (चेयन भाव संजुत्तं) उपवास के दिन चेतन स्वरूप में ही भावना रखे (पोसह पडिमा इमो भनियं) इसे प्रोषध प्रतिमा कहते हैं।

भावार्थ- आगम का मनन व आत्म मनन करते हुए ही उपवास के समय को बिताना चाहिये।

इसका स्वरूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस प्रकार है–

> **पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि, मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।**
> **प्रोषध नियम विधायी, प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥ १४० ॥**

भावार्थ- जो महिने-महिने चारों ही पर्वों में अर्थात् दो अष्टमी और दो चतुर्दशी के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर शुभ ध्यान में तत्पर होता हुआ प्रोषध के नियम को पूरा करे वह प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी है। प्रोषध के दिन धर्मध्यान में ही बितावें। शक्ति अनुसार तीन तरह से उपवास किया जा सकता है – १६ पहर, १२ पहर या ८ पहर। इस आठ पहर में आरंभ का त्याग है। भोजन पान का १२ पहर त्याग होगा।

दूसरी रीति यह है कि १६ पहर उपवास करे, तब पहले व पिछले दिन एकासन, बीच में उपवास करे। यही पहली विधि में भी है। मध्यम में जल सिवाय तीन प्रकार आहार छोड़े, जघन्य में १६ पहर धर्मध्यान करता हुआ बीच में एक भुक्त भी कर ले। जिस तरह आर्तध्यान न हो, परिणाम ध्यान स्वाध्याय में लगे उस तरह प्रोषध करे।

♣ ♣ ♣

सचित्त त्याग प्रतिमा

> **सचित्त चित्त सुधं, चेयन भावेन सुध सम्मतं।**
> **सचित्त चेयनत्वं, धम्मं झानं सचित्त भावेन॥ ३१९ ॥**

अन्वयार्थ- (सचित्त चित्त सुधं) सचित्त त्याग प्रतिमाधारी चित्त को भी शुद्ध रखे, राग रहित रखे (चेयन भावेन सुध सम्मतं) चेतना की भावना करता हुआ सम्यग्दर्शन शुद्ध पाले (सचित्त चेयनत्वं) अपना चित्त चेतन परिणति में जोड़े (सचित्त भावेन धम्म झानं) चेतना के परिणाम सहित धर्मध्यान करे।

भावार्थ- सचित्त पदार्थों को यह प्रतिमाधारी नहीं खाता है, यह तो व्यवहार कथन है। यहाँ गंभीर कथन यह है कि जो अपना चित्त शुद्ध करके चेतना की भावना में रोक करके धर्म ध्यान करे, वही इस प्रतिमा को ठीक-ठीक पालने वाला है।

चेयन सुध सहावं, अप्प परमप्प चेयना रुवं।
गय संकप्प वियप्पं, चेयन पडिमा धुवं लोए॥ ३२०॥

अन्वयार्थ– (चेयन सुध सहावं) आत्मा का स्वभाव शुद्ध है (अप्प परमप्प चेयना रुवं) आत्मा परमात्मा के समान चेतना रूप है (गय संकप्प वियप्पं) जहाँ संकल्प विकल्प छोड़कर आत्मा में ही रमा जावे (लोए सुवं चेयन पडिमा) लोक में निश्चय से चेतन प्रतिमा या सचित्त प्रतिमा है।

भावार्थ– सचित्त प्रतिमा का भाव यही लिया गया है कि चेतना सहित शुद्ध भाव में रमना इसी से इसे चेतन प्रतिमा भी कहा है।

मिथ्या मय कुन्यानं, रागादि दोष विषय मुक्तानं।
हरितं सचित्त सवनं, तिक्तं सुध भाव संजुत्तं॥ ३२१॥

अन्वयार्थ– (मिथ्यामय कुन्यानं रागादि दोष विषय मुक्तानं) अन्तरंग में तो इस प्रतिमाधारी ने मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, रागद्वेष विषयों की वांछा छोड़ दी है (हरितं सचित्त सवनं सुध भाव तिक्तं संजुत्तं) बाहर में वीतराग निर्वांछक भाव सहित सर्व ही हरित को व सर्व ही जलादि सचित्त को त्याग कर दिया है।

भावार्थ– सचित्त प्रतिमाधारी वही है, जो एकेन्द्रिय जीव सहित हरित वनस्पति को नहीं खाता है व कच्चे अप्राशुक पानी को नहीं पीता है। सचित्त के खाने का त्यागी है। सूखी बनाई हुई, छिन्न-भिन्न की गई व लवणादि से मिली हुई वनस्पति को प्राशुक या गर्म जल को ही लेता है। यहाँ भाव यह है कि जो केवल बाहर से ऐसा विवेक रखे, परन्तु अंतरंग में जिह्वा इन्द्रिय का राग न जीते व मिथ्या श्रद्धान व मिथ्याज्ञान रखे, अर्थात् आत्मा सम्बन्धी अनुभव का प्रेम न हो तो वह यथार्थ प्रतिमा नहीं है। अंतरंग व बहिरंग शुद्ध भावधारी को ही सचित्त प्रतिमावान कहते हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है–

मूलफलशाकशाखा करीर कन्दप्रसून बीजानि।
नामानि योत्ति सोयं, सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥ १४१॥

भावार्थ– जो कच्चे अप्राशुक मूल, फल, शाक, शाखा, करीर (कोंपल), कन्द, फूल बीज नहीं खाता है, यह दया की मूर्ति सचित्त त्याग प्रतिमाधारी है।

♣ ♣ ♣

रात्रि भोजन त्याग या अनुराग भक्ति प्रतिमा

अनुरागं अप्पानं, रागादि मिच्छ भाव परिहरनं।
अप्पा परमप्पानं, अनुरागं पडिमा संसुधं॥ ३२२॥

अन्वयार्थ- (रागादि मिच्छ भाव परिहरनं) जहाँ रागादि मिथ्याभावों का त्याग हो (अप्पानं अनुरागं) अपने आत्मा पर प्रेम हो (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव किया जावे (संसुधं अनुरागं पडिमा) वही परम शुद्ध अनुराग भक्ति प्रतिमा है।

भावार्थ- यद्यपि ग्यारह प्रतिमाओं के नाम जो स्वामी ने ऊपर की गाथा में गिनाए हैं, उनमें रात्रि भोजन त्याग ही प्रतिमा का नाम लिखा है, परन्तु इस गाथा में इसका नाम अनुराग भक्ति लेकर कथन किया है कि जिसका राग संसार के मिथ्या प्रपंचजाल से छूटकर अपने आत्मा के निश्चय स्वरूप पर हो, वही छठी प्रतिमा का धारी है।

अनुरागं भत्तीए, सुध सरुवेन भत्तिभारेन।
अनुराग भत्ति एसा, उवइट्ठं जिनवरिंदेहि॥ ३२३॥

अन्वयार्थ- (भत्ति भारेन सुध सरुवेन अनुरागं भत्तीए) जो भक्ति के भार से भरा हुआ शुद्ध स्वरूप में अनुराग सहित प्रेम करता है। वही (एसा अनुराग भत्ति) वही अनुराग भक्ति प्रतिमाधारी है (जिनवरिंदेहि उवइट्ठं) ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

भावार्थ- परम भक्ति व परम प्रेम जिसका निज आत्मा के चिंतवन में हो, जिससे वह रात्रि का समय आत्मभक्ति में ही बितावे, खानपानादि के प्रपंच में न बितावे वही अनुराग भक्ति प्रतिमाधारी है।

स्वामी को यह इष्ट है कि रात्रि भोजन पहले ही छोड़ देना चाहिये, इसी से यहाँ इस रूप में ऊँचा कथन है। स्वामी समन्तभद्राचार्य का मत है कि यहाँ पूर्ण रात्रि भोजन का त्याग है, इसके पहले यथाशक्ति त्याग है अथवा यहाँ कराने का भी त्याग है, पहले करने का ही त्याग था। कहा है—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥ १४२॥

भावार्थ- जो जीवों पर दया भाव लाता हुआ रात्रि में अन्न, पान, मोदकादि खाद्य तथा चाटने योग्य पदार्थ नहीं खाता है, वह रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा का धारी है।

♣ ♣ ♣

ब्रह्मचर्य प्रतिमा

बंभं बंभ सरुवं, अप्पा परमप्प तुल्य संसुधं।
तिक्तं अबंभ रुवं, दहविहि अबंभ भाव तिक्तंति॥ ३२४॥

अन्वयार्थ– (बंभं बंभ सरुवं) ब्रह्मचर्य प्रतिमा ब्रह्म स्वरूप है जहाँ (अप्पा परमप्प तुल्य संसुधं) अपने आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध ध्याया जावे (अबंभ रुवं तिक्त) पुद्गलादि से रागभाव छोड़ा जावे (दहविहि अबंभ भाव तिक्तंति) तथा दस प्रकार अब्रह्म या कुशील का भाव छोड़ा जावे।

भावार्थ– ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप यह है कि सर्वपुद्गलादि से ममता त्याग अपने ब्रह्म स्वभाव से रत हुआ जीव तथा बाहर में दस प्रकार अब्रह्म या कुशील का भाव छोड़ा जावे। काम विकार दूर किया जावे।

इत्थी संसग्गी पणिदस्स भोयण गंधमल्ल संप्ठपं।
सयणासणभूसणयं छट्ठं पुण गीय पाइपं चेव॥ १३॥
अत्थस्स पओगे कुसील संसग्गि राय सेवाय।
रतीविय संयरणं दस शील विराहणा भणिया॥ १४॥

भावार्थ– १. स्त्रियों के साथ राग भाव, २. पंचेंद्रियों को उद्दीपितकारी रसों का गृद्धि सहित भोजन, ३. सुगंध माला तेल अतर से शरीर को श्रृंगारित करना, ४. मुलायम कामभाव जागृत करने वाले शय्या व आसनों पर सोना बैठना, ५. शरीर को शोभित करने वाले आभूषण पहनना, ६. गीत वादित्र में रंजायमान होना, ७. सुवर्णादि द्रव्य का संचय रखना, ८. कुशील पुरुषों की व कुशीली स्त्रियों की संगति रखना, ९. राजाओं के दरबार की सेवा, १०. रात्रि को सैर करना। ये दस कारण शील को भ्रष्ट करने वाले कहे गए हैं। इन निमित्तों से ब्रह्मचारी को बचना चाहिये। सादे वैराग्ययुक्त वस्त्र रखने चाहिये, गहना नहीं पहनना चाहिये, वैराग्ययुक्त आसनों पर सोना-बैठना चाहिये, सुसंगति रखनी चाहिये, अपनी गांठ में मोहरें आदि नहीं रखने चाहिये, कदाचित् परिणाम कुशील पर चले जावें व द्रव्य खरच करदे, भोजन सादा व सात्विक करे, गाने-बजाने का शौक न रखे इत्यादि।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है–

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥ १४३॥

भावार्थ– जो मल के बीजभूत, मल को उत्पन्न करने वाले, मल को बहाने वाले, दुर्गंधयुक्त व ग्लानि युक्त अंग को देखकर कामसेवन से विरक्त होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी है।

हावभाव स उत्तं, विभ्रम कटाष्य निरीष्यनं सव्वं।
उमयन मयन स उत्तं, मोहन वसीकरन भाव तिक्तंति ॥ ३२५ ॥

अन्वयार्थ- (विभ्रम कटाष्य निरीष्यनं सव्वं हावभाव स उत्तं) जो श्रृंगार बताना व टेढ़ी दृष्टि से देखना; कुशीलोद्पादक चेष्टा करना, उसको हावभाव कहा गया है (उमयन मयन स उत्तं) ब्रह्मभाव को त्याग कराने वाला कामभाव वह कहा गया है जो (मोहन वसीकरन भाव तिक्तंति) मोहन व वशीकरण के भाव करे, स्त्रियों के मन को जीतने का भाव करे, इन सब भावों को त्यागना चाहिये।

भावार्थ- ब्रह्मचारी को न स्वयं हावभाव करना चाहिये, न स्त्रियों के हावभाव को देखना चाहिये, और न मोहन वसीकरन के कभी भाव करने चाहिये। कामभाव का विकार मन से दूर करना चाहिये।

विकहा वसन स उत्तं, उवभोगं च भाव अनंतानं।
तिक्तंति असुध भावं, बंभं प्रतिमा मुनेयव्वा ॥३२६ ॥

अन्वयार्थ- (विकहा वसन स उत्तं) जो ब्रह्मचर्य घातक विकथाओं को कहने की आदत कही गई है (उपभोगं च अनंतानं भाव) उसके भीतर लगने से अनंत प्रकार के कुशील भावों का उपभोग होता है। (असुध भावं तिक्तंति) जो कुकथाओं संबंधी अशुद्ध भाव को छोड़ देते हैं(बंभं प्रतिमा मुनेयव्वा)उन्हीं के ब्रह्मचर्य प्रतिमा जानने योग्य है।

भावार्थ- सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक ऐसी स्त्री, भोजन व रागवर्द्धक कथाओं को नहीं करता है, न सुनता है, न नाटक खेल तमाशे देखता है, जिनसे कुशील न सेवते हुये भी अनेक प्रकार कुशील की अनुमोदना के भाव हो जावे, विकार पैदा हो जावे। धर्म कथा में ही अनुरक्त रहता है।

बंभं चरित्त सुधं, चेयन वंतो य न्यान सम्पन्नो।
अप्पा सुधप्पानं, परमप्पा परम जोएन ॥ ३२७ ॥

अन्वयार्थ- (सुधं बंभं चरित्त) शुद्ध व निश्चय ब्रह्मचर्य प्रतिमा यह है कि (चेयनवंतो य न्यान सम्पन्नो) चेतना स्वरूप आत्मा के ज्ञान से पूर्ण होकर (अप्पा सुधप्पानं परमप्पा परम जोएन) आत्मा को शुद्ध स्वरूप परमात्मामय परमयोगाभ्यास के बल से ध्याया जावे।

भावार्थ- अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा में लय होना शुद्ध ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। कुशील का त्याग व्यवहार ब्रह्मचर्य है।

* * *

आरंभ त्याग प्रतिमा

आरम्भं सुध सहावं, सुध सम्मत्त न्यान संजुत्तं।
आरंभं अप्पानं, सुधं ज्ञानं च सुध भावेन ॥ ३२८ ॥

अन्वयार्थ- (सुध सहावं आरम्भं) आरंभ त्याग प्रतिमावाला सांसारिक आरंभ छोड़कर शुद्ध स्वभाव के रमण का आरंभ करता है (सुध सम्मत्त न्यान संजुत्तं) वह शुद्ध सम्यग्दर्शन तथा शुद्ध ज्ञान

सहित होता है (सुध भावेन अप्पानं आरंभं च सुधं झानं) वह शुद्ध भावों से आत्मा के मनन का आरंभ करता है, तथा शुद्ध ध्यान का आरंभ करता है।

भावार्थ- खेती व्यापारादि सर्व आरंभ को छोड़कर जो धर्मध्यान का आरंभ, तत्त्वविचार मुख्यता से करता है, वह आरंभ त्याग प्रतिमाधारी है।

सुधं सुध सरुवं, अप्पा परमप्प अप्पयं सुधं।
आरंभं धम्म झानं, आरंभ प्रतिमा मुनेयव्वा।। ३२९ ।।

अन्वयार्थ- (सुधं सुध सरुवं) परम शुद्ध जिसका स्वरूप है (अप्पा परमप्पअप्पयं सुधं) ऐसा आत्मा सो ही परमात्मा का अपना शुद्ध स्वरूप है, ऐसा समझकर (धम्मं झानं आरंभं) धर्मध्यान का उद्योग जहाँ किया जाता है (आरंभ प्रतिमा मुनेयव्वा) उसे आरंभ त्याग प्रतिमा जानना चाहिये।

भावार्थ- शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव के परम उद्योगवान को आठवीं प्रतिमावाला कहते हैं।

आरंभं तिक्तंति, मिथ्या कुन्यान सयल दुर्बुद्धि।
तिक्तंति मनस्य पसरो, सर्वं असुहस्य तिक्तंति।। ३३० ।।

अन्वयार्थ- (आरंभं तिक्तंति)आरंभ त्याग प्रतिमाधारी सर्व आरंभ को रोटी-पानी गृह बाहर के सर्व आरंभ को छोड़ देता है (मिथ्या कुन्यान सयल दुर्बुद्धि तिक्तंति) मिथ्या श्रद्धान, मिथ्या ज्ञान व माया, मिथ्या, निदान शल्य तथा दुर्बुद्धि इन सबों को जो त्याग देता है (मनस्य पसरो तिक्तंति) मन के फैलाव को छोड़ देता है (सर्वं असुहस्य तिक्तंति) सर्व ही अशुभ कार्यों को छोड़ देता है।

भावार्थ- आरंभ त्याग प्रतिमाधारी सर्व प्रकार के लौकिक आरंभ को व मिथ्या श्रद्धान ज्ञान को व शल्यों को व अशुभ भावों को छोड़ देता है। मन में इस बात की चिंता नहीं करता है कि मुझे आरंभ करना है व कराना है। उसे कृतकारित का त्याग है, अनुमति का त्याग नहीं है, आरंभी हिंसा जिनसे हो ऐसे सर्व आरंभ का त्याग है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

सेवाकृषिवाणिज्य प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपात हेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ।। १४४ ।।

भावार्थ- जो प्राणीघात के कारण सेवा, कृषि, व्यापार आदि आरंभ से विरक्त होता है। सो यह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी है।

असत्य सहित आरम्भं, अनृत अचेत आरम्भं तिक्तंति।
तिक्तंति राय दोसं, संसारे सरनि तिक्तं च॥ ३३१॥

अन्वयार्थ- (असत्य सहित आरम्भं) वह जगत का झूठा सर्व आरम्भ (अनृत अचेत आरम्भ तिक्तंति) व मिथ्या जड़ पदार्थों का सर्व आरम्भ त्याग देता है (राय दोसं तिक्तंति) रागद्वेष को छोड़ देता है (संसारे सरनि तिक्तं च) संसार में भ्रमण कराने वाले भावों को त्याग देता है।

भावार्थ- यह श्रावक जगत के सर्वलौकिक आरम्भों को बिलकुल त्याग देता है, न करता है, न कराता है, घर का, बाहर का, सर्व ही उठाना, धरना, माल लाना, बेचना, कूटना, पीसना, लेन, देन, विक्रय, खरीद आदि; विवाह शादी में जाना, गमी में जाना सवारी पर चढ़ना आदि सर्व त्याग कर देता है। वह भूमि देखकर दयापूर्वक चलता है। आरम्भी हिंसा न हो यही उसका मुख्य व्रत है। केवल धर्म कार्यों को ही करता है।

आरंभं देव गुरं, धम्म झानं च ममल सुधं च।
आरम्भं न्यानमइयो, आरम्भ प्रतिमा धुवं निस्वं॥ ३३२॥

अन्वयार्थ- (आरंभं देव गुरं) इस श्रावक के आरम्भ देव व गुरु की भक्ति है (ममलं च सुधं च धम्म झानं) रागद्वेष छोड़कर शुद्ध धर्मध्यान का आरम्भ है (न्यान मइयो आरंभं) तथा ज्ञान के साधन का; शास्त्र के मनन का आरम्भ है (आरम्भ प्रतिमा धुवं निस्वं) सो ही वास्तव में आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी है।

भावार्थ- यह श्रावक देव पूजा करता है, गुरु सेवा करता है, शास्त्र का पठन-पाठन करता है। सामायिक व धर्मध्यान करता है और भी धर्मोन्नति के काम करता है।

* * *

परिग्रह त्याग प्रतिमा

परपुग्गलं न ग्रहनं, मिच्छा परभाव दोस विवरीदो।
ग्रहन दंसनं न्यानं, चरनंपि दुविह संजदो ग्रहनं॥ ३३३॥

अन्वयार्थ- (पर पुग्गलं न ग्रहनं) जो सर्व परिग्रह की ममता त्यागकर पर पुद्गलों को नहीं ग्रहण करता है रुपया पैसा आदि नहीं रखता है। (मिच्छा परभाव दोस विवरीदो) जो मिथ्या रागादि परभावों के दोषों से विपरीत रहता है (दंसन न्यानं ग्रहनं) अपने सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान स्वभाव को ग्रहण किये रहता है (दुविह चरनं पि ग्रहनं) तथा व्यवहार व निश्चय दोनों प्रकार के चारित्र को भी ग्रहण करता है (संजदो) ऐसा संयमी श्रावक होता है।

भावार्थ- नौमी परिग्रह त्याग प्रतिमावाला सर्व जायदाद को बाँट देता है तथा दान में लगा देता है। घर त्याग कर धर्मशाला व नसिया में रहता है, एक दो बर्तन व कुछ आवश्यक वस्त्र रख लेता है, निमंत्रण से भोजन कर लेता है, और अपना सर्व समय रत्नत्रय के साधन में, धर्म भावना में बिताता है।

रत्नकरंड श्रावकाचार में कहा है-

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्त परिग्रहाद्विरतः॥ १४५॥

भावार्थ- जो बाहरी क्षेत्र मकान आदि दस प्रकार के परिग्रहों की ममता को छोड़ करके ममता रहित भाव में रत होता हुआ अपने स्वरूप में स्थिर रहता है तथा सन्तोष वृत्ति धारण करता है, वह सचित्त परिग्रह से विरक्त श्रावक है।

पुग्गल प्रमान करनं, सेसं संसार सरनि विवरीदो।
अप्प सहावे निलऊ, सुधप्पा सुध विमल भावेन॥ ३३४॥

अन्वयार्थ- (पुग्गल प्रमान करनं) जो शरीर की रक्षार्थ कुछ वस्त्रादि का प्रमाण रख लेता है (सेसं संसार सरनि विवरीदो) शेष सर्व संसार के मार्ग से उदास होकर छोड़ देता है (सुधप्पा अप्प सहावे सुध विमल भावेन निलऊ) अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव में शुद्ध वीतरागभाव के साथ लीन रहता है।

भावार्थ- कुछ वस्त्र व बर्तन रखकर शेष परिग्रह को त्यागकर जो विरक्त हो जाता है। और परम श्रद्धा से शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन रहता है सो परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी है।

* * *

अनुमति त्याग प्रतिमा

अन्यान मती न दत्तं, मिच्छा दुर्बुद्धि सयल विवरीदो।
मति न्यानं उवएसं, केवल भावे मुनेयव्वा॥ ३३५॥

अन्वयार्थ- (मिच्छा दुर्बुद्धि सयल विवरीदो) जो श्रावक मिथ्यात्वभाव, कुबुद्धि आदि सकल सांसारिक भावों से विरक्त है (अन्यान मती न दत्तं) दूसरों को लौकिक कार्यों की सम्मति नहीं देता है (न्यानं मति उवएसं) जो ज्ञान बढ़ाने का ही उपदेश देता है (केवल भावे मुनेयव्वा) वह केवल शुद्ध भाव की ही भावना करता है। उसे अनुमति त्याग प्रतिमाधारी जानना चाहिये।

भावार्थ- नौमी प्रतिमा तक कोई लौकिक कार्यों में सलाह पूछता था तो गुण, दोष, लाभ-हानि बता देता था। अब यह इस प्रपंच को भी छोड़ता है। किसी को लौकिक कार्यों को सम्मति नहीं देता है। केवल धर्मोपदेश देता है तथा स्वयं आत्मिक भावना में रत रहता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥ १४६॥

भावार्थ- जो आरम्भ में, परिग्रह में व इस लोक सम्बन्धी कार्यों में अनुमति नहीं देता है वह समबुद्धिधारी निश्चय से अनुमति त्याग प्रतिमा का धारी मानना योग्य है।

* * *

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

उद्दिट्ठं सुध दिट्ठं, डंडकपाटेन भावना सुधं।
लब्धं जं च सहावं, अप्पा झानं च चितनं सुधं॥ ३३६॥

अन्वयार्थ- (उद्दिट्ठं सुध दिट्ठ) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी शुद्ध दृष्टि रखता है। (डंडकपाटेन सुधं भावना) मन, वचन, काय की गुप्ति रूप से शुद्ध भावना रखता है (जं च सहावं लब्धं) जिसने मायाचार का स्वभाव त्याग दिया है (सुधं अप्पा झानं च चिंतनं) जिसके शुद्ध आत्मध्यान का ही अभ्यास है।

भावार्थ- उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी अपने लिये किए हुए आहार को ग्रहण नहीं करता है। जो आहार गृहस्थों ने अपने कुटुम्ब के लिये बनाया हो उसी में से भिक्षा द्वारा मिलने पर लेता है। यह मायाचार छोड़ कर शुद्ध भोजन की खोज करता है व तीन गुप्ति को पाल के शुद्ध आत्मा की भावना रखता है और धर्मध्यान में लगा रहता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है-

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकंठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखंडधरः ॥ १४७॥

भावार्थ- जो घर से मुनि के पास वन में जाकर गुरु के निकट व्रत धारण करके तप करता हुआ भिक्षा से भोजन करता है व खंड वस्त्र का धारी है वह उत्कृष्ट श्रावक होता है। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी मोरपिच्छिका जीवदयार्थ, कमंडल शौचार्थ रखता है। एक लंगोट व एक खंड वस्त्र जिससे पूरा अंग न ढके, रखता है। कोई अनेक घर से एकत्र कर अंत घर में भोजन करता है। वह भोजन पात्र भी रखता है। कोई एक घर में ही थाली में जीमता है। ऐसे को क्षुल्लक कहते हैं। जो केवल लंगोट रखता है; केशों का लोंच करता है, मुनिवत् काष्ट का कमंडल रखता है, भिक्षा से श्रावक के घर बैठकर

हाथ में भोजन रखे जाने पर भोजन करता है, यह ऐलक है। यह मुनि की क्रियाओं का अभ्यासी होता है।

प्रतिमा दह एकत्वं, सुधं भावं च सुध झानस्य।
अप्पा परमप्पानं, ममलं धुव दंसनं सुधं॥ ३३७॥

अन्वयार्थ- (दहएकत्वं प्रतिमा) ये ग्यारह प्रतिमाएँ हैं (सुधं भावं च सुध झानस्य) इनमें सबके शुद्ध भाव तथा शुद्ध ध्यान रहता है (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप भाते हैं (ममलं धुव सुधं दंसनं) उनके निर्मल निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है।

भावार्थ- ये श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। सर्व ही श्रावक शुद्ध भावों के पहचानने वाले व धर्मध्यान में रत होते हैं। शुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं। आत्मा के अनुभव के परम अभ्यासी होते हैं।

♣ ♣ ♣

पाँच अणुव्रत निरूपण

हिंसा तिक्त अहिंसा, अनृत तिक्तं च व्रितं ससहावं।
स्तेयं अदत्त तिक्तं, दत्तं जानेहि सुध सम्मत्तं॥ ३३८॥
तुरियं अबंभ तिक्तं, बंभ चरनस्य चेयनं सुधं।
परपुग्गल परिमानं, न्यान सहावं च अप्प सभावं॥ ३३९॥

अन्वयार्थ- (सुध सम्मत्तं) शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी श्रावक (हिंसा तिक्त अहिंसा) हिंसा पाप को छोड़कर अहिंसा अणुव्रत पालता है (अनृत तिक्तं च व्रितं ससहावं) असत्य त्याग कर सत्य बोलने का स्वभाव रखता है (स्तेयं अदत्त तिक्तं) स्तेय अर्थात् बिना दी हुई वस्तु ग्रहण का त्याग करे (दत्तं जानेहि) दी हुई वस्तु को लेता है यह अचौर्यव्रत जानो (तुरियं अबंभ तिक्तं) चौथे व्रत में कुशील को त्याग कर (बंभ चरनस्य चेयनं सुधं) शुद्ध चेतनामयी ब्रह्मचर्य व्रत को पालता है (पर पुग्गल परिमानं) परिग्रह का प्रमाण कर लेता है (न्यान सहाव च अप्प सभावं) तथा निश्चय से अपने ज्ञान स्वरूप को ही अपना जानता है।

भावार्थ- संकल्पी हिंसा को त्याग करके अहिंसा अणुव्रत, स्थूल असत्य को त्यागकर सत्य अणुव्रत, चोरी को त्याग कर अचौर्यव्रत; पर स्त्री को त्याग कर ब्रह्मचर्य अणुव्रत तथा परिग्रह का प्रमाण इन पाँच अणुव्रतों को श्रावक व्यवहार नय से पालता है, निश्चय नय से वह अपने आत्मा के स्वभाव में रत रहता है।

एयं अनुव्वयाइं, जानै ममलं च न्यान मय सुधं।
अप्पा सुधप्पानं परमप्पा लहै निव्वानं॥ ३४० ॥

अन्वयार्थ- (एयं अनुव्वयाइं) इन पाँच अणुव्रतों को (ममलं सुधं च न्यान मय जानै) जो दोष रहित शुद्ध ज्ञान पूर्वक समझता है (अप्पा सुधप्पानं) आत्मा को शुद्ध स्वरूप जानता है (परमप्पा लहै निव्वानं) तथा परमात्मा का ध्यान करके निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थ- अणुव्रती श्रावक पाँच अणुव्रतों का यथार्थ स्वरूप जानकर पालता है तथा निश्चय से अपने 'आत्मा को परमात्मा रूप ध्याता है व निर्वाण के लिये उद्योग करता रहता है।

* * *

अहिंसा अणुव्रत

असत्य सहितो हिंसा, अन्यानं सहित मिच्छ परिनामो।
रागादि दोष सहियं, हिंसापरो च दुष्य संजुत्ता॥ ३४१ ॥

अन्वयार्थ- (असत्य सहितो हिंसा) जहाँ असत्य भाव सहित हिंसा है, अर्थात् वृथा संकल्पी हिंसा है (अन्यानं सहित मिच्छ परिनामो) व अज्ञान सहित मिथ्या परिणाम है (रागादि दोष सहियं) व हिंसा सम्बन्धी रागदोष है (हिंसा परो च दुष्य संजुत्ता) जो हिंसा में लीन है वह दुःखों का पात्र है।

भावार्थ- मिथ्याज्ञान से मिथ्या रागदोष होता है। अज्ञानी जीव मिथ्या श्रद्धान के वशीभूत होकर वृथा मानवों को व पशुओं को सताते हैं। देवी-देवताओं के मठों पर पशुबलि करते हैं, शिकार खेलते हैं, मांसाहार के लिये पशुघात करते हैं। हिंसा से प्राणियों को बड़ा कष्ट होता है। हिंसक भाव घोर पापबंध कारक है, जिसका फल दुःख है।

मय मान विषयरुवं, न्यानविना कस्टं च तवयरनं।
व्रत संजम किरियानं, हिंसायं सयल दोष तिक्तं च॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थ- (मय मान विषयरुवं) मदमान या विषयों की वांछा से (तवयरनं न्यानविना कस्टं च) तप करना ज्ञान बिना केवल मात्र कष्ट सहना है (हिंसायं सयल दोष तिक्तं च) हिंसा संबंधी सर्व दोष छोड़कर (व्रत संयम किरयानं) व्रत, संयम या क्रिया पालना चाहिये।

भावार्थ- जहाँ मान, बढ़ाई के लिये व विषयभोग पाने के लिये तपादि पालन किया जाता है। वहाँ आत्मज्ञान के बिना सर्वसाधन मात्र कष्ट सहना है। वहाँ भावों में कषाय होने से हिंसा ही है। जहाँ भाव हिंसा छोड़कर वीतराग भाव से व्रत, नियम क्रिया पाली जावे वही अहिंसा अणुव्रत है।

अहिंसा सुध स उत्तं, अयं अप्पा परमप्प जान समतुल्यं।
ह्रींकारं थिर भावं, न्यान सहावेन अहिंसओ सुधं॥ ३४३॥

अन्वयार्थ– (स सुध अहिंसा उत्तं) वही शुद्ध या निश्चय अहिंसा कही गई है जहाँ (अयं अप्पा परमप्प जान समतुल्यं) यह भावना की जावे कि यह आत्मा परमात्मा की जाति होने से उन्हीं के समान शुद्ध है (ह्रींकारं थिरभावं) जहाँ ह्रीं मंत्र के द्वारा ध्यान में थिर हुआ जावे (न्यान सहावेन सुधं अहिंसओ) वही ज्ञान स्वभाव से निश्चय अहिंसा है।

भावार्थ– राग द्वेष मोह का अभाव सो अहिंसा है। इस अहिंसा का लाभ तब ही होता है। जब निश्चय नय से आत्मा को परमात्मा के समान जानकर उसका ध्यान ह्रीं मंत्र के द्वारा करे, वीतराग भाव ही निश्चय भाव अहिंसा है।

आयम पुरान सुधं, अष्यर सुर विंजनं पद सरुवं।
चिंतंति सुध भावं, अप्प सहावेन अहिंसओ भनियं॥ ३४४॥

अन्वयार्थ– (अष्यर सुर विंजनं पद सरुवं) अक्षर स्वर व्यंजनों से बने हुये पदों से निर्मित (सुधं आयम पुरान चिंतंति) शुद्ध आगम पुराण को जो चिंतवन करना है तथा (अप्प सहावेन सुधं भावं) आत्मा के स्वाभाविक शुद्ध भाव को मनन करना है। (अहिंसओ भनियं) वह भी अहिंसा कहा गया है।

भावार्थ– शुद्ध जिनागम को शुद्धता के साथ पढ़ना व अर्थ का विचारना तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव का मनन करना, राग द्वेष मोह को हटाने वाला है, जिनसे आत्मा की हिंसा होती है। इसलिये शास्त्र, स्वाध्याय व सामायिक भी अहिंसा का साधक है।

थावर वियलिंदीया, असेनि सेनि सयल उपपत्ती।
ससंक न्यान रुवं, अहिंसओ लहै निव्वानं॥ ३४५॥

अन्वयार्थ– (थावर वियलिंदीया) पाँच प्रकार स्थावर द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, व चतुरिन्द्रिय तीन विकलत्रय (सेनि असेनि सयल उपपत्ती) मन रहित पंचेन्द्रिय असैनी, मन सहित पंचेन्द्रिय सैनी इन सब जीवों की उत्पत्ति को (न्यान रुवं ससंक) जो ज्ञान स्वभाव से जानकर रक्षा करता है (अहिंसओ लहै निव्वानं) वह अहिंसाव्रतधारी निर्वाण को पाता है।

भावार्थ– अहिंसा व्रत के पालने वाले को जीव जाति को पहचानना चाहिये। तीन लोक में जो स्थावर व त्रस जीव हैं, उन पर दया भाव लाकर निर्मल ज्ञान भाव से मैत्री भाव रखते हुए उनकी रक्षा करना अहिंसा है। इसको जो पूर्ण पालता है, वह निर्वाण का पात्र है।

♣ ♣ ♣

सत्य अणुव्रत

अनृत अचेत भावं, अलियं जानेहि असुध ससहावं।
जिन उत्तं न वि दिट्ठं, अनृत तिक्तंति सव्वहासव्वे ॥ ३४६ ॥

अन्वयार्थ- (अनृत अचेत भावं) असत्य बोलना अज्ञान भाव है (अलियं असुधससहावं जानेहि) असत्य भाव आत्मा का अशुद्ध भाव है ऐसा जानो (जिन उत्तं न वि दिट्ठं) असत्यवादी श्री जिनेन्द्र कथन पर दृष्टि नहीं रखता है, अणुव्रती (सव्वहा सव्वे अनृत तिक्तंति) सर्वथा सर्व असत्य को त्याग देता है।

भावार्थ- असत्य बोलना तब ही होता है, जब भावों में दूसरे का अहित भाव हो व अपना स्वार्थ साधन हो। यह हिंसक भाव आत्मा के स्वभाव का घातक अशुद्ध भाव है व ज्ञानमयी स्वभाव से विपरीत है। असत्यवादी को शास्त्र के वचनों की भी परवाह नहीं रहती है। जिनवाणी के विरुद्ध भी कह देता है। सत्य अणुव्रती को दूसरे को दुःखदाई असत्य वचन त्यागना चाहिए व शास्त्रोक्त वचन कहना चाहिये।

न्यानेन विना भावं, अनेय विभ्रम अनेय श्रुतं जाने।
उच्छाह कस्ट अनेयं, अनृत तिक्तंति सरनि संसारे ॥ ३४७ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानेन विना भावं) आत्मज्ञान के बिना जो भाव है, सो (अनेय विभ्रम अनेय श्रुतं जाने) अनेक मिथ्या बातों को व अनेक मिथ्या शास्त्रों को बना लेता है, उनको जान लेता है (उच्छाह कस्ट अनेयं) तथा उनमें आनंद मानता है, जिसका फल अनेक कष्ट पाना है (संसारे सरनि अनृत तिक्तंति) या संसार में भ्रमण कराने वाले ऐसे असत्य को अणुव्रती छोड़ देता है।

भावार्थ- जगत के प्राणी मिथ्या बातों से पूर्ण अनेक मिथ्या शास्त्रों को बनाकर स्वार्थ साधन करते हैं, हिंसामयी धर्म चला देते हैं। उसको स्वयं पालकर व दूसरों से पलवाकर आनंद मानते हैं। यह मिथ्या पाखंड बहुत पापबंध करने वाला व संसार में भ्रमण कराने वाला है। ज्ञानी श्रावक ऐसे असत्य को कभी नहीं मानते न ऐसे असत्य का प्रचार करते।

व्रितं उपएस उत्तं, न्यानमई सुद्ध दंसनं सुधं।
मिथ्यात राग रहियं, व्रितं जानेहि सयल दोसं चइ उवनं ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थ- (व्रितं उवएस उत्तं) सत्य का उपदेश ऐसा कहा गया है (न्यानमई सुद्धदंसनं सुधं) जहाँ ज्ञानमयी शुद्ध भाव हो व शुद्ध सम्यग्दर्शन हो (मिथ्यात राग रहियं) जहाँ मिथ्यात्व का राग बिलकुल न हो (सयल दोसं चइ उवनं व्रितं जानेहि) सर्व दोषों से रहित सत्यव्रत को जानो।

भावार्थ- सत्यव्रती का श्रद्धान व ज्ञान शुद्ध निर्दोष होता है। वह कभी मिथ्यात्व वर्द्धक बातों का राग नहीं करता है, न वैसा उपदेश देता है, न अनुमोदना करता है, जहाँ पर पीड़ा सम्बन्धी व आत्मा के अहित सम्बन्धी भाव न हो, वही सत्यव्रत है। सत्यव्रती सदा स्वपर हितकारी व शास्त्रोक्त वचन बोलता है।

व्रितं अनेय भेयं, सारं संसार सरनि मुक्तस्य।
व्रितं तिलोय मइयो, नंत चतुस्टय मुक्ति संजुत्तं॥ ३४९॥

अन्वयार्थ- (व्रितं अनेय भेयं) सत्य के अनेक भेद हैं (संसार सरनि मुक्तस्य तिलोयमइओ सारं व्रितं) संसार के मार्ग से छुड़ाने के लिये तीन लोक में सार यह सत्यव्रत है (नंत चतुस्टय मुक्ति संजुत्तं) इसी सत्यव्रत के पालने से अनंत चतुष्टय सहित मोक्ष का फल होता है।

भावार्थ- सत्य के अनेक भेद हैं तो भी चार प्रकार का सत्य है। यह चार प्रकार असत्य के त्याग से होता है। चार प्रकार असत्य हैं-

(१) जो वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से हो, उसको कहना नहीं है।

(२) जो वस्तु परद्रव्य क्षेत्रकाल भाव से न हो, उसको कहना नहीं है।

(३) वस्तु हो तो कुछ कहना कुछ।

(४) गर्हित अर्थात् कठोर हास्यरूप सूत्र विरुद्ध वचन, छेदन, भेदन, मारनकारक सावधे वचन तथा भयकारी, शोककारी, कलहकारी, अप्रिय वचन; इन चार प्रकार असत्य को छोड़कर सत्य वचन कहना योग्य है। सत्य व्रत तीन लोक में सार है। जो अपनी व्रत प्रतिज्ञा के नियम पर दृढ़ रहते हैं, उपसर्ग पड़ने पर भी पालते हैं वे देवों द्वारा व जगत द्वारा पूजे जाते हैं; वे शीघ्र कर्म काटकर मुक्त हो जाते हैं। सत्य पर दृढ़ रहना महान व्रत है।

♣ ♣ ♣

अचौर्य अणुव्रत

अस्तेयं पद रहियं, जिन उक्तं च लोपनं जाने।
अनेय व्रतधारी, अस्तेय ससहाव रहिएन॥ ३५०॥

अन्वयार्थ- (पद रहियं जिन उक्तं च लोपनं अस्तेयं जाने) आगम के पदों को और का और अर्थ करके जिन आगम के कथन को छिपाना चोरी जानो तथा (ससहाव रहिएन अनेय व्रतधारी अस्तेय) आत्म स्वभाव में रमण न करके आत्मज्ञान रहित अनेक व्रतों को पालना भी चोरी है।

भावार्थ- शास्त्र के अर्थ को लोपना बड़ी भारी चोरी है, वैसे ही अपने को व्रती मान करके भी मिथ्यात्वी होना व्रत के स्वभाव को लोप करना है, इसलिये चोरी है, अपने आत्मा को ठगना है। व्रतों के धारण करने का फल आत्मा का मनन है। जहाँ अपने को व्रती माना जावे व आत्मा का मनन न हो तो वह अपने आत्मा को वंचित करना है व लोगों को भी ठगना है। वे धोखे में आकर व्रती मान लेंगे, जबकि वह सच्चा व्रती नहीं है। इन भावों की चोरी को छोड़ना अणुव्रती को ही बहुत आवश्यक है।

अस्तेयं अन्यानं, न्यानमइ अद सहाव गोपंति।
अन्यानं मिच्छत्तं, तिक्तं अस्तेय विषय सुह रहियं॥ ३५१॥

अन्वयार्थ- (अस्तेयं अन्यानं) अज्ञान भाव रखना भी चोरी है (न्यानमइ अद सहाव गोपंति) क्योंकि वह ज्ञानमयी आत्मा के स्वभाव को छिपा रहा है, उसकी निधि को लोप कर रहा है (अन्यानं मिच्छत्तं अस्तेय तिक्तं) इसलिये अज्ञान व मिथ्यात्व रूप चोरी को छोड़ना चाहिये (विषय सुह रहियं) विषयों के सुख की लम्पटता को मिटाना चाहिये।

भावार्थ- आत्मा के सम्यक्ज्ञान का लोपना भी चोरी है। अचौर्य अणुव्रती को आत्मज्ञानी होना चाहिये, मिथ्यात्वभाव व अज्ञानभाव नहीं होना चाहिये। उसको विषयों का अंधा नहीं होना चाहिये, चोरी का कारण धन की अधिक तृष्णा है। जो लोग जिह्वा लम्पटी, स्त्री भोग लम्पटी, वस्त्राभूषण लम्पटी होते हैं वे चोरी व अन्याय से धन एकत्र करते हैं। इसलिये विषयों की लम्पटता का त्याग चोरी का त्याग है।

अस्तेय तिक्तंति सुद्धं, वर सम्मत्तन्यान दंसन समग्गं।
सहकारे तव जुत्तं, चौविहि आराहना मयं सुद्धं॥ ३५२॥

अन्वयार्थ- (अस्तेय तिक्तंति सुद्धं) जो चोरी के भाव को आत्मा के गुणों को लोप करने वाले भाव को छोड़ते हैं, वे शुद्ध व्रती (वर सम्मत्त न्यान दंसन समग्गं) निर्मल उत्तम सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित होकर (सहाकारे तव जुत्तं) इन दर्शन ज्ञान की सहायता से तप करते हैं। (चौविहि आराहना मयं सुद्धं) वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप; इन चार प्रकार की आराधना को शुद्धता से पालते हैं।

भावार्थ- आत्मा का आराधन तथा चार आराधना का आराधन सच्ची आराधना है। जो इस आराधना को छोड़कर पुद्‌गल के तरफ लवलीन होते हैं, राग द्वेषमय होते हैं, विषयवासना में जाते हैं। वे अपराधी होते हैं। अपगता राधा आराधना यस्मात्, उन्होंने आराधना छोड़ी घर में गए अतएव चोर भए, अपराधी भए, वे बंध में भी पड़ते हैं, इसलिये निश्चय से वही अचौर्य व्रती है, जो चार प्रकार की आराधना में व आत्मा की आराधना में उपयुक्त है।

न्यान सहावे निस्चं, लोकालोकेन लोकितं सुद्धं।
जिन उत्तं सद्दहनं, मिथ्या मय षण्डनं सुद्धं॥ ३५३॥

अन्वयार्थ- (लोकालोकेन लोकितं सुद्धं न्यान सहावे निस्चं) लोक तथा अलोक को देखने वाले शुद्ध ज्ञान स्वभाव का यथार्थ निश्चय तथा (जिन उत्तं सद्दहनं) जिनेन्द्र कथित तत्त्वों का श्रद्धान और (मिथ्यामय षण्डनं सुद्धं) मिथ्यात्व का खण्डन शुद्ध सम्यक्त्व ग्रहण अचौर्य व्रत है।

भावार्थ- आत्मा जिससे लोप न हो, आत्मा की सम्पत्ति की रक्षा हो वही अचौर्य व्रत है। अतएव मिथ्या श्रद्धान को हटाकर सम्यग्दर्शन रखना। जिनवाणी पर श्रद्धा लाना व आत्मा के लोकालोक ज्ञाता स्वभाव का निश्चय होना अचौर्य व्रत है।

अप्प सरुवं दिट्ठं, अप्पा परमप्प न्यान ससरुवं।
रागादि विषय विरयं, संसुद्धं चेयना रुवं॥ ३५४॥

अन्वयार्थ- निश्चय अचौर्यव्रत यह है कि (अप्प सरुवं दिट्ठं) आत्मा के स्वभाव को देखना कि (अप्पा परमप्प न्यान ससरुवं) यह आत्मा परमात्मा के समान ज्ञान स्वरूपी है तथा (रागादि विषय विरयं) रागादि विषय विकारों को त्याग कर (संसुद्धं चेयना रुवं) परम शुद्ध चेतना के स्वभाव में लय होता है।

भावार्थ- निज आत्मा को जैसा का तैसा परमात्म स्वभाव रूप श्रद्धान में लाकर वीतराग भाव सहित ज्ञान चेतना रूप होना निश्चय अचौर्य व्रत है।

* * *

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

अबंभ तिक्तं च उत्तं, दहविहि परिनाम विकह सहाव संजुत्तं।
मन मक्कड चवल सहावं, अबंभ जानेहि नरय वासंमि॥ ३५५॥

अन्वयार्थ- (अबंभ तिक्तं च उत्तं) अब्रह्म के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं (दहविहि परिनाम विकह सहाव संजुत्तं मन मक्कड चवल सहावं अबंभ जानेहि) दस प्रकार परिणामों के साथ व विकथा स्वभाव के साथ मन संबंधी चंचलता के स्वभाव को अब्रह्म जानो (नरय वासंमि) यह नरकवास का कारण है।

भावार्थ- जहाँ मन में आकुलता-व्याकुलता चञ्चलता अथिरता हो, वही अब्रह्म भाव है। यह चपलता इस प्रकार कुशील प्रेरक भावों में लगने से होती है। वे दस भाव ३२४ गाथा में ब्रह्मचर्य

प्रतिमा में कहे गये हैं। स्त्री, भोजन, देश व राजाओं की विकथाओं में काम भाव की जागृति होती है। जब मन विकथा में रंजायमान होता है, तब चपलता रहती है। भावों में काम का विकार होना ही अब्रह्म भाव है। यह भाव तीव्र पापबन्धकारक व नरक का द्वार है।

मिथ्यात राग जुत्तं, विषय च विसन संजुत्तं नेयं।
परिनामं विचलंतो, तिक्तं च मन वयन कायेन॥ ३५६ ॥

अन्वयार्थ– (मिथ्यात राग जुत्तं) मिथ्या श्रद्धान व मिथ्या राग सहित (विषय विसन संजुत्तं च नेयं परिनामं विचलंतो) इन्द्रियों के विषय व सात व्यसनों की प्रेरणा से भाव चलविचल व चपल हो जाते हैं। (मन वचन कायेन तिक्तं च) इसीलिये इन सब चपलता के कारणों को मन, वचन, काय से छोड़ देना चाहिये।

भावार्थ– मन को काम विकार में, फँसाने वाले जो-जो भाव हैं, ब्रह्मचर्य पालने वालों को उन सबको मन, वचन, काय से त्यागना चाहिये। वे हैं– मिथ्या श्रद्धान जिससे मानव को इंद्रिय सुख में ही आस्था होती है, सच्चे अतीन्द्रिय सुख को नहीं पहचानता है। (२) इन्द्रियों के विषयों का तीव्र राग, (३) जुआदि सात व्यसनों की आदत। यदि इनको छोड़ दिया जावे तो परिणाम गृहस्थ के मर्यादित स्व-स्त्री संतोष में रह सकते हैं।

बंभं बंभ सरुवं, वर दंसन न्यानेन सुध चरनानि ।
अप्पा परमप्पानं, न्यान सहावेन बंभ चरनानं॥ ३५७ ॥

अन्वयार्थ– (बंभं बंभ सरुवं) ब्रह्मचर्य व्रत में निश्चय ब्रह्मचर्य का स्वरूप यह है कि (वर दंसन न्यानेन सुध चरनानि) निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व निश्चय शुद्ध चारित्र को पाला जावे (अप्पा परमप्पानं न्यान सहावेन) आत्मा को परमात्मा रूप निश्चय करके ज्ञान स्वभाव में लीन रहा जावे (बंभ चरनानं) यह निश्चय ब्रह्मचर्य व्रत है।

भावार्थ– अपने आत्मा का स्वभाव परब्रह्म परमात्म स्वरूप है। उसी में कल्लोल करना, उससे बाहर न जाना निश्चय ब्रह्मचर्य व्रत है।

बंभं अबंभ तिक्तं, मिथ्या मय सयल दोस विरयं च।
बंभं सुद्ध सरुवं, अप्प सहावं च दिट्ठं॥ ३५८ ॥

अन्वयार्थ– (अबंभ तिक्तं बंभ) अब्रह्म भाव का त्याग ब्रह्मचर्य (मिथ्या मय सयल दोस विरयं च) मिथ्यात्व भाव, मदभाव आदि सर्वरागादि दोषों का त्याग ब्रह्मभाव है तथा (सुद्ध सरुवं बंभं) आत्मा का शुद्ध स्वभाव ब्रह्म है (अप्प सहावं च जिन दिट्ठं) अपने आत्मा का निज स्वभाव में रहना ब्रह्मचर्य है। ऐसा जिनेन्द्र ने देखा है।

भावार्थ– आत्मा का शुद्ध स्वभाव ब्रह्म स्वभाव है। इसमें लय होकर रमना ब्रह्मचर्य व्रत है। रागादि दोषों का त्याग करना इसीलिये जरूरी है।

बंभं चरन समत्थं दुविहिं चारित्त चरन मयमेयं।
अद सहाव सरुवं, बंभं चरन अनुव्वया हुंति॥ ३५९॥

अन्वयार्थ– (बंभं चरन समत्थं) वही ब्रह्मचर्य के पालने को समर्थ है (मयमेय दुविहिं चारित्त चरन) जो आनंदपूर्वक निश्चय व्यवहार चारित्र को आचरण करता है (अद सहाव सरुवं) आत्मा के स्वभाव में रमता है (बंभं चरन अनुव्वया हुंति) वही ब्रह्मचर्य अणुव्रती होता है।

भावार्थ– ब्रह्मचर्य अणुव्रती व्यवहार में स्वस्त्री में संतोषपूर्वक वर्तता है। अन्य प्रकार कुशील के भावों से विरक्त रहता है। निश्चय से वह अपने आत्मा के स्वभाव का मनन करता है।

* * *

परिग्रह प्रमाण अणुव्रत

पर पुग्गल परमानं, पुग्गल भावेन सयल तिक्तं च।
भावे एक दुतियं, पुग्गल परमान सेष संसारे॥ ३६०॥

अन्वयार्थ– (पर पुग्गल परमानं) परिग्रह परिमाण व्रत यह है कि (पुग्गल भावेन सयल तिक्तं च) पुद्‌गल स्वरूप सर्व वस्तुओं को जानकर आत्मा से भिन्न मानकर उनसे ममता छोड़े (एक दुतियं भावे) एक अद्वैत अनुपम निज आत्मा को ही अपना मानकर भावै, आवश्यकतानुसार (पुग्गल परमान सेष संसारे) सर्व प्रकार से सर्व मकान जमीनादि पदार्थों को प्रमाण कर ले शेष का त्याग कर दे।

भावार्थ– इस व्रत का स्वरूप यह है कि सम्यग्दृष्टि अपनी आत्मिक सम्पदा को ही अपना परिग्रह जानता है और सर्व को पर जानकर उनसे ममता त्यागता है। गृहस्थ में रहने के कारण दस प्रकार के परिग्रह का प्रमाण कर लेता है, शेष का त्याग कर देता है।

१. क्षेत्र या खेत-जमीन, २. मकान, ३. चाँदी; ४. सोना जवाहरात, ५. धन– गाय, भैंस, घोड़े आदि, ६. धान्य– अनाज अपने कुटुम्ब के खाने योग्य कितना संग्रह करूंगा, ७. दासी, ८. दास, ९. कपड़े, १०. बर्तन।

मय मिथ्यात विमुक्कं, मुक्कं संसार सरनि जे भावं।
मुक्कं कषाय विषयं, मुक्कं अन्यान सयल दोष परिचत्तं॥ ३६१॥

अन्वयार्थ– (मद मिथ्यात विमुक्कं) पाँचवाँ अणुव्रती परिग्रह का मद व उनका अहंकार ममकार रूप मिथ्यात्त्व भाव छोड़ देता है (मुक्कं संसार सरनि जे भावं) संसार भ्रमण कराने वाले ममत्व भाव

को त्याग देता है (मुक्कं कषाय विषयं) तीव्र कषाय व विषय वासना को त्याग देता है (मुक्कं अन्यान सयल दोष परिचत्तं) व मिथ्याज्ञान संबंधी सर्व दोष के प्रचार को छोड़ देता है।

भावार्थ- अणुव्रती श्रावक सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होता है, श्रद्धा में परमाणु मात्र भी पर पदार्थ को अपना नहीं जानता है, वह पूर्ण वैरागी है। इसलिये उपस्थित परिग्रह में भी न मद है न ममत्व है न आपापना है। संसार में भ्रमण का कारण मोह है सो उसके नहीं है। विषय वांछा भी कषाय के उदय से है, वह इसे भी नहीं चाहता है। परिणामों में अतिमंद कषाय है।

अप्प सहावं निलयं, वर सम्मत्त न्यान दंसनं सुधं।
न्यानेन न्यान समयं, पुग्गल परमान सव्वहा सव्वे॥ ३६२॥

अन्वयार्थ- (अप्प सहावं निलयं) यह श्रावक आत्मा के स्वभाव में लीन रहता है (वर सम्मत्त न्यान दंसनं सुधं) इसके भावों में शुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रहता है (न्यानेन न्यानसमयं) ज्ञान के द्वारा ज्ञानमयी आत्मा को अनुभवता है (पुग्गल परमान सव्वहा सव्वे) तथा सर्व प्रकार सर्व आवश्यक परिग्रह का प्रमाण कर लेता है।

भावार्थ- यह ज्ञानी श्रावक यद्यपि आवश्यक परिग्रह का प्रमाण कर लेता है। तथापि ऐसा वैरागी है कि रत्नत्रय स्वरूप निज आत्मा के स्वभाव में रमण करने का अभ्यासी होता है।

परदव्वं नहु दिट्ठिदि, पर पुग्गल परमान चिंतति।
मिथ्या सल्य निकंदं, षिउ उवसम संजदो सुद्धो॥ ३६३॥

अन्वयार्थ- (परदव्वं नहु दिट्ठिदि) पर द्रव्य की तरफ ममता जरा भी नहीं रखता है (पर पुग्गल परमान चिंतति) मात्र परिग्रह को जो प्रमाण किया है, उसी की चिंता रखता है (मिथ्या सल्य निकंदं) मिथ्यात्व की शल्य निकाल डाली है (षिउ उवसम संजदो सुद्धो) यह चारित्र की अपेक्षा संयमासंयमी क्षयोपशम भावधारी निर्मल संयमी है।

भावार्थ- इस व्रती की दृष्टि आत्मा ही की तरफ रहती है। जितना परिग्रह का प्रमाण किया है, उसी के भीतर इच्छा व चिंता रखता है। उसके सिवाय इच्छा व चिंता नहीं करता है। इसमें मिथ्यात्व भाव नहीं है। जो परिग्रह है उसको भी पर जानता है। यह देशव्रती पंचम गुणस्थानी संयमासंयमी क्षयोपशम भाव का धारी है।

अप्पा अप्प सरुवं, अप्पा परमप्प जानि सभावं।
पर पुग्गल परमानं, न्यानमइ नंत चतुष्ट संजुत्तं॥ ३६४॥

अन्वयार्थ- (अप्पा अप्प सरुवं) यह व्रती आत्मा में आत्मा का स्वभाव पहचानता है। (अप्पा परमप्प जानि सभावं) आत्मा को ही स्वरूप से परमात्मा रूप जानता है (पर पुग्गल परमानं) परिग्रह

का प्रमाण रखता हुआ भी पुद्गल को पर ही मानता है। (न्यान मइ नंत चतुष्ट संजुत्त) ज्ञानमयी अनंत चतुष्टय धारी आत्मा है इस भाव को भी रखता है।

भावार्थ- यह पंचम अणुव्रतधारी मुख्यता से अपनी आत्मा को परमात्मा रूप जानकर उसी में अनंत ज्ञानादि सम्पदा को अपनी मानता है। भाव से सर्व पर से विरक्त रहता है।

एयं अनुव्वयाइं, परम सरुवेन अद सहाव संजुत्तं।
अप्पा अप्पम्मि रओ, अनुव्वयं धरंति सुध ससहावं॥ ३६५॥

अन्वयार्थ- (एयं अनुव्वयाइं) इस प्रकार ये पाँच अणुव्रत हैं सो (परम सरुवेन अद सहाव संजुत्तं) निश्चय से आत्मा के स्वभाव रूप ही हैं। (अप्पा अप्पम्मि रओ) जहाँ आत्मा, आत्मा में ही रत है वहाँ (ससहावं अनुव्वयं धरंति) स्वाभाविक निश्चय अणुव्रतों का धारण है।

भावार्थ- निश्चय से अणुव्रतों का धारण आत्मानुभव रूप है। जो निज आत्मा के स्वभाव में रत है, वही रागद्वेष छोड़ने से अहिंसाव्रती है, वही असत्य पुद्गल से विरक्त रहने से व सत्य स्वरूप में रमने से सत्यव्रती है, वही अपने धन में संतोष मानने से तथा पर परमाणु मात्र से रागभाव न करने से अचौर्य व्रती है, वही ब्रह्मस्वरूप में लीन होने से ब्रह्मचर्य व्रती है; वही पर परिग्रह से ममता रहित होने से परिग्रह का त्यागी है।

भावे च धम्म संजुत्तं, भावे तव अवयास संपन्नो।
भावेन भाव सुद्धं, अनुव्वया एरिसो सुद्धो॥ ३६६॥

अन्वयार्थ- (भावे च धम्म संजुत्तं) भाव में ही धर्म रहता है (भावे तव अवयास संपन्नो) भाव में ही अपने आत्मा का स्वभाव झलकता है (भावेन भाव सुद्धं) भाव से ही भावों की शुद्धि होती है (अनुव्वया एरिसो सुद्धो) इस कारण निश्चय शुद्ध अणुव्रत आत्मा के शुद्ध स्वभाव में ही है।

भावार्थ- धर्म आत्मा का स्वभाव है। सर्व ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व चारित्र व्रत तप आदि आत्मा में ही है। अणुव्रत भी आत्मा में ही है। जब आत्मा का भाव शुद्ध है, अहिंसक है, सत्यरूप है, अस्तेयरूप, ब्रह्ममय है, परिग्रह रहित है, तब ही वह भाव व्रतरूप है। प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है, इससे भावों में एकदेश शुद्धता होने से अणुव्रत है। जो कोई बाहरी अणुव्रत पाले परन्तु अंतरंग में भाव रूपी व्रतों को न पहचाने-शुद्ध आत्मरमण को न जाने तो वह सच्चा अणुव्रती श्रावक नहीं है।

♣ ♣ ♣

दशलक्षण धर्म

दहविहि धम्मं झायदि, वर उत्तमषिमा न्यान संजुत्तं।
मद्दव अज्जव सुद्धं, सत्तं सउच्च संजम तप त्यागं॥ ३६७॥
आकिंचन बंभवयं, दहविहि धम्मं च सुद्ध चरनानि।
झायंति सुध झानं, न्यान सहावेन धम्म संजुत्तं॥ ३६८॥

अन्वयार्थ- (दहविहि धम्मं झायदि) सम्यग्दृष्टि दस प्रकार धर्म को ध्याता है (वर उत्तमषिमा न्यान संजुत्तं) ज्ञान सहित श्रेष्ठ उत्तम क्षमा को (सुद्धं मद्दव अज्जव) उत्तम मार्दव को, उत्तम आर्जव को (सत्तं सउच्च संजम तप त्यागं) उत्तम सत्य उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम दान या त्याग को (आकिंचन बंभवयं) उत्तम आकिंचन्य को, उत्तम ब्रह्मचर्य को (दहविहि धम्मं च सुद्ध चरनानि) इस प्रकार दशविधि धर्म को शुद्ध आचरण करता हुआ (न्यान सहावेन धम्म संजुत्तं सुध झानं झायंति) ज्ञान स्वभाव से धर्म सहित शुद्ध धर्मध्यान को ध्याता है।

भावार्थ- ज्ञानी व्रती दशलाक्षणी धर्म को ध्याता है। यद्यपि इसका पूर्ण पालन साधु करते हैं, तथापि गृहस्थी एकदेश पालन करता है। भावना पूर्ण धर्मों की माता है। इन धर्मों में उत्तम विशेषण इसीलिये है कि इनका श्रेष्ठ रूप से पालन साधुजन करते हैं। कष्ट व उपसर्ग पड़ने पर भी क्रोध न करना उत्तम क्षमा है। अपमानित होने पर भी मान न करना उत्तम मार्दव है। अनेक कष्टों के होने पर भी मायाचार न करना उत्तम आर्जव है। प्राण जाते हुये भी शास्त्र विरुद्ध वचन न कहना उत्तम सत्य है। घोर कष्ट पड़ने पर भी लोभ से मलीन भाव न लाना उत्तम शौच है। पूर्ण प्रकार इंद्रिय व मन को दमन करना व छः कायके जीवों की दया पालना उत्तम संयम है। भले प्रकार आत्मज्ञानपूर्वक तप करना उत्तम तप है। ज्ञान का व प्राणी दया का दान भले प्रकार देना उत्तम त्याग है। परिग्रह का पूर्ण त्याग उत्तम आकिंचन्य है। पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन उत्तम ब्रह्मचर्य है। इनको ध्यान में रखकर व्रती जन आत्मध्यान करते हैं।

उत्तम ऊर्ध सहावं, षिम षिपनिक स्रेणिलय सभावं।
मद्दव मग उवएसं, अज्जव उवसमइ सरनि संसारे॥ ३६९॥
सत्तं सद्भाव रुवं, सौचं विमल निम्मलं भावं।
संजम मन संजमनं, तव पुन अप्प सहाव निद्दिट्ठं॥ ३७०॥
त्यागं न्यान सहावं, आकिंचन धम्म धुरा वर धरनं।
बंभं बंभ सरुवं, न्यान मयं दहविहि धम्मं॥ ३७१॥

अन्वयार्थ- (उत्तम ऊर्ध सहावं) श्रेष्ठ स्वभाव के लिये उत्तम विशेषण है (षिम षिपनिक स्रेणिलय सभावं) ऐसी क्षमा क्षपणक जो निर्ग्रंथ साधु उनका प्राप्त स्वभाव है (मद्दव मग उवएसं) मार्दव धर्म

से वे साधु विनयपूर्वक पवित्र उपदेश करते हैं (अज्जव उवसमइ सरनि संसारे) आर्जव धर्म से सरल भाव से वे संसार मार्ग को शांत करते हैं-कम करते हैं (सत्तं सद्भाव रुवं) सत्य धर्म आत्मा का नित्य स्वभाव है (सौचं विमल निम्मलं भावं) शौच धर्म निर्मल संतोष रूप भाव है (संजम मन संजमनं) मन का भले प्रकार निरोध सो संयम है (तव पुनअप्प सहाव निद्दिट्ठ) तथा आत्मा के स्वभाव में तपना तप कहा गया है (त्यागं न्यान सहावं) अपने ज्ञान स्वभाव में ठहरना यही पर का त्याग है। (आकिंचन धम्म धुरा वर धरनं) आंकिचन्य धर्म-धर्म की श्रेष्ठ धुरा है, जो ममता रहित भाव उसको धरना है (बंभं बंभ सरुवं) ब्रह्मचर्य तो ब्रह्म जो आत्मा उसका स्वभाव ही है (न्यानमयं दहविहि धम्मं) ये दस प्रकार धर्म ज्ञानमय आत्मा के स्वभाव हैं।

भावार्थ– यहाँ आत्मा के रमण में ही दसों धर्म बता दिये हैं। कषाय रहित आत्मा का भाव उत्तम क्षमा है, मान रहित परिणाम मार्दव है, शांत भाव आत्मा के सन्मुख भाव आर्जव है, नित्य आत्म स्वभाव सत्य है, लोभ रहित शुद्ध भाव शौच है, मन का निरोध संयम है; आत्मध्यान तप है, पर का त्याग आत्मा का स्वभाव है, निर्ममत्व भाव आकिंचन्य है, ब्रह्म में लीनता ब्रह्मचर्य है।

दहविहि धम्म उवएसं, धरयति धम्मं च जान परमत्थं।
परिनाम सुद्ध करनं, धरयंति धम्मं मुनेयव्वा॥ ३७२ ॥

अन्वयार्थ– (दहविहि धम्म उवएसं) इस तरह दस प्रकार धर्म का उपदेश है (परमत्थं जान च धम्मं धरयति) ज्ञानी उनके निश्चय स्वरूप को जानकर इन धर्मों को धारता है (परिनाम सुद्ध करनं) परिणामों का शुद्ध करना ही (धम्मं धरयंति मुनेयव्वा) धर्म को धरना जानना चाहिये।

भावार्थ– जो धारण किया जावे वह धर्म है। इस तरह इन दस धर्मों को निश्चय से जानकर धारना चाहिये।

तव वय भावन जुत्तं, भावन भावंति दोष परिचत्तं।
अनुवय वयं च धरनं षय करनं सव्व दुष्यानं॥ ३७३ ॥

अन्वयार्थ– (तव वय भावन जुत्त) व्रत व तप की भावना सहित (दोष परिचत्तं भावन भावंति) जो दोष रहित भावना भाते हैं (अनुवय वयं च धरनं) पाँच अणुव्रत व सात शीलव्रत को धारते हैं (सव्व दुष्यानं षय करनं) उनके सर्व दुःख क्षय हो जाते हैं।

भावार्थ– जो श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रतों को पालते हुए साधुओं के पाँच महाव्रत पालने की भावना करते हैं, साधु पद में पहुँचने की उत्कंठा रखते हैं– बारह प्रकार तप का अभ्यास यथायोग्य उपवास ऊनोदर आदि करते हुये भले प्रकार तपस्वी होने का उत्साह रखते हैं और जो निरंतर आत्मा की भावना किया करते हैं, वे कर्मों का क्षय करते हैं। उनको नरक

व पशु के दुःख कभी नहीं होते हैं। इस भव से तो वे स्वर्ग में जाते हैं, परम्परा मोक्ष के भागी होते हैं।

अनुवयं च धरनं, अयं वय तव क्रिया विसेषं।
सेषंपि भावना सुधं, महावय भावना भावं॥ ३७३॥ १ प्रक्षेप
न्यान सहावं सुद्धं, मति श्रुतन्यानसंजदो सुद्धो।
अवहि उवन्नं भावं, महावय भावना संकरनं॥ ३७४॥

अन्वयार्थ- (मति श्रुत न्यान संजदो सुद्धो) मतिज्ञान का धारी निर्दोष संयम को पालने वाला (सुद्धं न्यान सहावं) शुद्ध ज्ञान स्वभाव को ध्याने वाला (महावय भावना संकरनं) महाव्रत के भावों में पलट जाता है, अर्थात् महाव्रती हो जाता है (अवहि उवन्नं भावं) जहाँ भावों में अवधिज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ- श्रावक के बारह व्रतों को पालते हुये व आत्मा की शुद्ध भावना करते हुये यह जीव धीरे-धीरे बाहरी व भीतरी चारित्र में बढ़ता जाता है, ग्यारहवीं प्रतिमा तक पहुँच जाता है। फिर वहाँ सर्व वस्त्रादि परिग्रह त्यागकर जब व्यवहार में पाँच महाव्रतों को धारण करता है व सामायिक चारित्र को धारने की प्रतिज्ञा करता है और आत्मध्यान में बैठ जाता है, तब यह पाँचवें देश विरत गुणस्थान से एकदम सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में पहुँच जाता है। और यथार्थ भावलिंगी आत्मध्यानी साधु हो जाता है। यदि भावों की वृद्धि होती है, तो साधु के अवधिज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। यद्यपि श्रावकों के अवधिज्ञान का निषेध नहीं है, परन्तु क्वचित् होता है। साधुओं के ध्यान की निर्मलता से शीघ्र हो जाना सम्भव है।

अप्पं अप्प सहावं, अप्पा परमप्प ज्ञान संजुत्तं।
चिंतंतो परमप्पयं, अहिंसा वयं महावयं हुंति॥ ३७५॥

अन्वयार्थ- (अप्पं अप्प सहावं) जहाँ आत्मा अपने स्वभाव में है (अप्पा परमप्प ज्ञान संजुत्तं) अथवा आत्मा परमात्मा का ध्यान कर रहा है (चिन्तंतो परमप्पयं) या परम पद जो मोक्ष है, उसका मनन करता है (अहिंसा वयं महावयं हुंति) उसी के अहिंसाव्रत महाव्रत होता है।

भावार्थ- जिस समय आत्मा अपने आपको परमात्मा के समान शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा- अविनाशी अनुभव करता है, उसका लक्ष्यबिंदु मोक्ष है, तब वह पूर्ण अहिंसा महाव्रत को पाल रहा है, क्योंकि न तो वहाँ राग द्वेष मोह है, जिनसे भावों की हिंसा हो और न वहाँ कोई मन, वचन, काय द्वारा बाहरी आरंभ है, जिससे द्रव्य हिंसा हो। साधुजन ऐसे महाव्रत के धारी होते हैं।

एकं जिनं सरुवं, जिन रुवं जिनवरं दिट्ठि सभावं।
जिनयतिकं मति सुद्धं, सुधं सम्मत्त सुद्धं ससरुवं ॥३७६ ॥

अन्वयार्थ- (एकं जिन सरुवं) एक ही जिनेन्द्र का स्वरूप (जिन रुवं) जिन रूप दिगम्बर और शुद्ध भावमयी है ऐसा (जिन वरं दिट्ठि सभावं) जिनेन्द्रों ने कहा है (जिनयतिकं) ऐसा ही रूप जैन के यति का होता है (मति सुध्दं) जिनकी बुद्धि शुद्ध होती है (सुधं सम्मत्त) उनमें निश्चय सम्यग्दर्शन होता है (सुद्धं ससरुवं) उनका निज अन्तरंगरूप शुद्ध होता है।

भावार्थ- यहाँ द्रव्यलिंग व भावलिंगधारी जैन साधु का कथन किया है। उनका द्रव्य भेष बाहरी स्वरूप श्री तीर्थंकर भगवान के समान सर्व परिग्रह से रहित नग्न दिगम्बर होता है तथा उनका अंतरंग भाव भी राग-द्वेष-मोह से रहित शुद्ध सम्यग्दर्शनमयी आत्मानुभव रूप होता है।

जिनयं घाय चउक्कं, जिनयं संसार सरनि मोहंधं।
कम्ममल पयडि जिनयं, अप्पा परमप्प सुद्ध ससरुवं ॥ ३७७ ॥

अन्वयार्थ- जिन उसको कहते हैं जिसने (घाय चउक्कं जिनयं) चार घातिया कर्मों को जीत लिया है (संसार सरनि मोहंधं जिनयं) व जिसने संसार के मार्ग में भ्रमण कराने वाले अंध मोह को जीत लिया है (कम्ममल पयडि जिनयं) व कर्म मल प्रकृतियों को जीत लिया है (अप्पा परमप्प सुद्ध ससरुवं) तथा जिसका आत्मा परमात्मा रूप शुद्ध अपने ही स्वभाव में होता है।

भावार्थ- जिस जिनेन्द्र के समान जैन साधु का स्वरूप होता है, वह वास्तव में जिनेन्द्र है, क्योंकि उन्होंने ज्ञानावरण को क्षय करके अनंतज्ञान, दर्शनावरण को क्षय करके अनंत दर्शन, मोह को क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र, अन्तराय को क्षय करके अनंत बल प्राप्त कर लिया है। अब मोह का बल कुछ भी उन्हें जीत नहीं सकता है। उन्होंने मोह के सर्व बल का संहार कर दिया है। शेष अघातीय कर्म भी जली हुई रस्सी के समान हो गए हैं; शीघ्र ही छूट जायेंगे। उनको भी वे जीत चुके हैं तथा जो अपनी शुद्ध परिणति में तल्लीन हो आत्मानन्द का स्वाद ले रहे हैं।

जिनयं कुन्यान सुभावं, मय मिथ्यात सल्य तिविहं च।
जिनयं कषाय भावं, जिन रुवी सुध साधओ निस्वं ॥ ३७८ ॥

अन्वयार्थ- जिनेन्द्र के समान (जिन रुवी) जिन लिंग के धारक साधु (कुन्यान सुभावं जिनयं) कुज्ञान भाव को जीतने वाले हैं (च मय मित्थात सल्य तिविहं कषाय भावं जिनयं) तथा आठ मद, मिथ्यात्व, माया, मिथ्या, निदान तीन प्रकार शल्य तथा क्रोधादि कषायों को जीतने वाले हैं तथा (सुध निस्वं साधुओ) शुद्ध निश्चय आत्म स्वभाव के साधन करने वाले हैं।

भावार्थ- जिनके समान चलकर जिन समान होने की भावना करने वाले जैन साधु सर्व प्रकार कुमति, कुश्रुत, कुअवधि से रहित होते हैं। उनमें न किसी प्रकार का मद होता है, न पर्याय बुद्धि का अहंकार रूप मिथ्यात्व होता है, न भीतर शल्य के समान चुभने वाले माया, मिथ्या, निदान भाव होते हैं, न क्रोधादि कषायों का झलकाव होता है। वे आत्मिक शुद्ध स्वभाव के साधन करने वाले होते हैं। निश्चय रत्नत्रयमयी मोक्षमार्ग को जो साधै सो साधु होता है।

न्यान सहाव स उत्तं, न्यानं न्यानेन न्यान संसुद्धं।
न्यानं ममल सरुवं, जं रयनं दियरं तेजं॥ ३७९॥

अन्वयार्थ- (न्यान सहाव स उत्तं) उसे ही ज्ञान स्वभाव कहते हैं जहाँ (न्यानं न्यानेन न्यान संसुद्धं) ज्ञान आत्मज्ञान के द्वारा शुद्ध ज्ञान रूप परिणमन करे (न्यानं ममल सरुवं) ज्ञान का स्वभाव सर्व मल से रहित है (जं रयनं दिनयरं तेजं) जैसे सूर्य का तेज रात्रि के अंधकार से रहित है।

भावार्थ- जिस ज्ञान स्वभाव में साधुजन रमण करते हैं, वह ज्ञान स्वभाव शुद्ध आत्मिक ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन है। अर्थात् ज्ञान चेतना रूप है। जहाँ ज्ञानानन्द का अनुभव आता है, उस स्वानुभव रूप ज्ञान में संकल्प-विकल्प व रागद्वेषादि का कोई भी मल नहीं है, वह बिलकुल शुद्ध है, जैसे सूर्य का तेज रात्रि के अन्धियारे के बिना शुद्ध होता है। संकल्प-विकल्प का होना ज्ञान सूर्य के लिये रात्रि को जगाना है।

रुवं अरुव सुद्धं, रुवातीतं च विगत रुवेन।
विन्यान न्यान रुवं, जिनरुवी साधओ सुद्धं॥ ३८०॥

अन्वयार्थ- (जिनरुवी) जिन के समान अंतरंग बहिरंग परिग्रह रहित लिंग के धारी साधु (सुद्धं रुवं साधओ) शुद्ध आत्म स्वभाव को साधन करने वाले होते हैं वह स्वभाव (अरुव सुद्धं) वर्णादि रहित शुद्ध अमूर्तिक है (रुवातीतं) रूपातीत है (च विगतरुवेन) तथा जिसमें सर्व पौद्गलिक विकार रागादि भाव नहीं है (विन्यान न्यान रुवं) वह भेद ज्ञान द्वारा अनुभव करने योग्य ज्ञान स्वभाव है।

भावार्थ- यहाँ साधु के भावलिंग का कथन किया है कि वे साधु अमूर्तिक शुद्ध सिद्ध समान वीतराग ज्ञानानंदमयी आत्मा को भेद विज्ञान के द्वारा उस सर्व पर से भिन्न जानकर अनुभव करते हैं। यहाँ जिनका स्वरूप भाव की अपेक्षा से है।

मूलगुनं संसुद्धं, उत्तरगुन सुध धरंति साहूनं।
साहू साधंति अर्थं पंचार्थं पंच न्यान संसुद्धं॥ ३८१॥

अन्वयार्थ- (साहू) साधु महाराज (साहूनं संसुद्धं मूलगुनं सुध उत्तरगुन धरंति) साधुओं के शुद्ध अट्ठाईस मूलगुण व शुद्ध उत्तरगुण धारण करते हैं (ति अर्थं पंचार्थं पंच न्यान संसुद्धं साधं) वे तीन

पदार्थ रत्नत्रय धर्म पाँच पदार्थ पाँच परमेष्ठी पद व शुद्ध मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों को साधन करते हैं।

भावार्थ– साधुओं के प्रसिद्ध अट्ठाईस मूलगुण इस प्रकार हैं– पाँच महाव्रत अहिंसादि + पाँच समिति ईर्या समिति आदि + पाँच इन्द्रियों का दमन + छः आवश्यक नित्य कर्म - समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग + केशलोंच + स्नान का त्याग; दंत धोवन का त्याग + एक बार भोजन + खड़े हुए भोजन + भूमि शयन + वस्त्र त्याग। इन्हीं के सूक्ष्म भेद ८४ लाख उत्तर गुण होते हैं। साधु मूलगुणों को निर्दोष पालते हुए उत्तरगुणों की प्राप्ति का साधन करते हैं, रत्नत्रय धर्म को व्यवहार व निश्चयनय द्वारा यथार्थ जानकर पालते हैं। वे अरहंत, सिद्ध, आचार्य; उपाध्याय व साधु इन पाँचों पदों में यथासम्भव उन्नति करते जाते हैं। तथा ये ही मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान को यथासम्भव वृद्धि करते व प्राप्त करते हैं। साधु वे ही हैं, जो धर्म का साधन करके निज अविनाशी पद पर पहुँच जावें। उत्तरगुणों का वर्णन मूलाचार में इस प्रकार है–

पाणिवह मुसावादं अदत्त मेहुण परिग्गहं चेव।
कोहमदमायलोहा भय अरदिरदी दुगुंछा य॥ १०२४॥
मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसण पमदो य।
पिसुणत्तणमण्णाणं अणिग्गहो इंदियाणं च॥ १०२५॥

भावार्थ– १. हिंसा, २. झूठ, ३. चोरी, ४. अब्रह्म, ५. परिग्रह, ६. क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. भय, ११. अरति, १२. रति, १३. जुगुप्सा, १४. मन, १५. वचन, १६. और काय सम्बन्धी पाप क्रिया, १७. मिथ्या-दर्शन, १८. प्रमाद, १९. पैशून्य, २०. अज्ञान, २१. इन्द्रियों के अनिग्रह (न रुकना)।

नोट – यहाँ अंगुल का भाव मलीनता झलकता है। ये २१ भेद मूल हैं।

अदिकमणं वदिकमणं अदिचारो तहेव अणाचारो।
एदेहिं चदूहि पूणो सावज्जो होइ गुणियव्वो॥ १०२६॥

भावार्थ– अतिक्रम (विषयाभिलाषा), प्रतिक्रम (विशेष इच्छा कि संयम उल्लघैं) ३ अतीचार, अनाचार; इन चार से गुणा करने से २१ के ८४ भेद हुए।

पुढविदगागणिमारुयपत्तेयाणंतकाइया चेव।
वियतियचदूपंचिंदिय अण्णोण्णवधाव दस गुणिदा॥ १०२७॥

भावार्थ– १. पृथ्वी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायुकायिक, ५. प्रत्येक वनस्पति, ६. साधारण वनस्पति, ७. द्वेन्द्रिय, ८. तेन्द्रिय, ९. चौन्द्रिय, १०. पंचेन्द्रिय। इनके आपस में घात सम्भव है। इससे १० को १० से गुणा करने से १०० हुए। ऊपर ८४ को १०० से गुणा करने से ८४०० भेद हुए–

इत्थीसंसग्गी पणिदरसभोयण गंधमल्लसंठप्पं।
सयणासणभूसयणं छट्टं पुम गीयवाइयं चेव ॥ १०२८ ॥
अत्थस्स संपओगो कुसील संसग्गि रायसेवा य।
रत्ती वि य संयरणं दस सीलविराहणा भणिया ॥ १०२९ ॥

भावार्थ– १. स्त्रियों के साथ स्नेह, २. पुष्ट आहार का ग्रहण, ३. सुगन्ध माला आदि का ग्रहण, ४. कोमल शय्या आसन, ५. आभूषण धारण, ६. गीत वादित्र, ७. धन का संग्रह; ८. कुशीलों की संगति, ९. राज सेवा या राग से वर्तन, १०. रात्रि को चलना। ये दस शील की विराधनाएँ हैं। ऊपर के ८४०० को इन १० से गुणा करने पर ८४००० उत्तर गुण हुए।

आकंपिय अणुमणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाकुलियं बहुजणमसक्त तस्सेवी ॥ १०३० ॥

भावार्थ– १. अकंपित, २. अनुमानित, ३. दृष्टि, ४. बादर, ५. सूक्ष्म, ६. प्रच्छन्न, ७. शब्दाकुलित, ८. बहुजन, ९. असक्त, १०. तत्सेवी। ये दस आलोचना के दोष हैं। इनको ८४००० से गुणने से ८४०००० लाख हुए।

आलोयण पडिकमणं, उभय विवेगो तधा उस्सग्गो।
तविउ छेदो मूलं पि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥ १०३१ ॥

भावार्थ– १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. उभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. परिहार, १०. श्रद्धान। इन दस प्रकार के प्रायश्चित से ८४०००० दोष को टालने से (८४०००००) ८४ लाख उत्तरगुण कहलाते हैं। इन उत्तरगुणों के धारी साधु होते हैं।

पंच न्यान ससहावं, दह धम्मं सम्मत्त सुध संसुद्धं।
तेरह विहस्य चरनं, सम्मत्तं संजमेन सुद्ध संजुत्तं ॥ ३८२ ॥

अन्वयार्थ– (पंच न्यान ससहावं) पाँच ज्ञानमयी निज स्वभाव को (दह धम्मं) उत्तम क्षमादि दस धर्म को, शुद्ध सम्यग्दर्शन को (सम्मत्त सुध संसुद्धं तेरह विहस्य चरनं) शुद्ध तेरह प्रकार चारित्र को (सुद्ध सम्मत्तं संजमेन संजुत्तं) व शुद्ध सम्यक्त्वपूर्वक संयम की साधना करते हैं।

भावार्थ– साधु वे ही हैं जो साधन करें। वे निश्चय से आत्मा के स्वभाव का ध्यान करते हैं। उसी से उनमें मतिज्ञानादि पाँच ज्ञान झलक जाते हैं। उनमें तेरह प्रकार का चारित्र भी यथार्थ रूप से पाया जाता है। अर्थात् ये पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति को पालते हैं। वे शुद्ध सम्यग्दर्शन व शुद्ध संयम का यथार्थ आराधन करते हैं। वे उत्तम क्षमादि दस धर्म का साधन करते हैं।

गुन रुव भेयविन्यानं, न्यान सहावेन संजुत्त धुव निस्वं।
मूलगुनं संसुद्धं, उत्तरगुन धरइ निम्मलं विमलं॥ ३८३॥

अन्वयार्थ– (गुन रुव भेयविन्यानं) गुण स्वरूप उपयोगी भेद विज्ञान है, जिसके द्वारा (न्यान सहावेन संजुत्त धुव निस्वं संसुद्धं मूलगुनं) ज्ञान स्वभावमयी अविनाशी आत्मा का अनुभव होता है, उसे धारना सो ही निश्चय शुद्ध मूलगुण है (उत्तरगुन धरइ निम्मलं विमलं) इसी आत्मध्यान को रागादि दोष रहित अति निर्मल धारण करना उसी को बढ़ाते जाना उत्तरगुण है।

भावार्थ– व्यवहारनय से मूलगुण साधुओं के अट्ठाईस हैं या तेरह हैं या दस उत्तम क्षमादि हैं या रत्नत्रय हैं। निश्चयनय से मूलगुण आत्मा को भेदविज्ञान के द्वारा सर्व पर द्रव्यों से, पर गुणों से, पर पर्यायों से व पर निमित्त से होने वाले भावों से भिन्न अनुभव करना है या आत्मानुभव है। यही असली मूलगुण है; उसके बिना व्यवहार मूलगुणों का कोई महत्व नहीं है। उसी आत्मानुभव को बढ़ाते-बढ़ाते केवलज्ञानी के होने वाले प्रत्यक्ष आत्मानुभव तक ले जाना उत्तरगुण है।

उत्तर ऊर्ध सहावं, ऊर्धं तव विमल निम्मलं सहसा।
सुध सहावं पिच्छदि, उत्तर गुन धरंति सुध ससहावं॥ ३८४॥

अन्वयार्थ– (उत्तर ऊर्ध सहावं) उत्तर गुण श्रेष्ठ आत्म स्वभाव को प्राप्त करना है (सहसा ऊर्धं तव विमल निम्मलं) वह अकस्मात् चार घातिया कर्मों से रहित रागादि से रहित श्रेष्ठ प्रत्यक्ष केवलज्ञान स्वभाव का प्रकाश है, तब आत्मा (सुध सहावं पिच्छदि) अपने शुद्ध स्वभाव को प्रत्यक्ष अनुभव करता है यही (सुध ससहावं उत्तर गुन धरंति) शुद्ध स्वाभाविक उत्तर गुणों का धारण है।

भावार्थ– यहाँ यह भाव झलकाया है कि श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा व अनात्मा का भेदविज्ञान करके द्रव्यदृष्टि से आत्मा को परमात्मा के बराबर अनुभव करना। आत्मा की शुद्ध परिणति में लीन होना मूलगुण है। यही मोक्षरूपी फल को उत्पन्न करने वाले आत्म-धर्मरूपी वृक्ष का मूल है। यही मूल आत्म-धर्मरूपी वृक्ष को बढ़ाते-बढ़ाते श्रेष्ठ या उत्तर गुणरूप प्रत्यक्ष आत्मा के अनुभव में उन्नत कर जाता है, जो केवलज्ञानियों के प्रकट होता है, जहाँ अत्यन्त निर्मलता हो जाती है। परोक्षभाव श्रुतज्ञान केवलज्ञान का साधक है। जैसे चन्द्रमा का प्रकाश दोइज के दिन कम होता है, वही बढ़ते-बढ़ते पूर्णमासी के दिन पूर्ण हो जाता है। वैसे भेदविज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव चौथे अविरत सम्यग्दर्शनधारी के दोइज के चन्द्रमा के समान प्रारम्भ होता है। वही गुणस्थान-गुणस्थान प्रति बढ़ते-बढ़ते तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणादि के क्षय से पूर्ण चन्द्रमा के समान पूर्ण प्रकाशमान हो जाता है। केवली अरहंत भगवान तथा सिद्ध महाराज प्रत्यक्ष बिना किसी श्रुतज्ञान के आलम्बन के आत्मा का आनन्द लेते हैं। यही उत्तरगुण का प्रकाश है।

मूल उत्तर संसुद्धं, सुधं सम्मत्त सुध तवयरनं।
तिक्तंति चेल सहावं सुधं सम्मत्त धरन संसुद्धं॥ ३८५॥

अन्वयार्थ- (मूल उत्तर संसुद्ध) जिसके मूलगुण व उत्तरगुण शुद्ध है (सुधं सम्मत्त सुध तवयरनं) जहाँ शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व है शुद्ध आत्मरमण रूप व आत्मतपन रूप तपश्चरण है (तिक्तंति चेल सहावं) जहाँ वस्त्र परिधान के समान सर्व परभावों का त्यागमयी स्वभाव है (सुधं सम्मत्त धरन संसुद्धं) जहाँ शुद्ध सम्यग्दर्शन का निश्चय से धारना है। वही यथार्थ साधुपना है।

भावार्थ- अरहंत पद को भी स्नातक नाम के निर्ग्रंथ साधुपद में गर्भित किया है। स्नातक साधु के मूलगुण उत्तरगुणों की परिपूर्णता होती है। आत्मिक शुद्ध स्वभाव को ढंकने वाले कर्मरूपी वस्त्रों का जहाँ बिलकुल त्याग हो जाता है, वहाँ ही परमावगाढ सम्यग्दर्शन है, वहीं पूर्ण तप है, वहीं पूर्ण चारित्र है, तथा वहीं पूर्णज्ञान है। बाहरी वस्त्रों का त्याग तो मूलगुणों को धारते हुए या प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानों में सम्भव आत्मानुभव करते हुए साधु को हो जाता है। परन्तु आत्मा को ढंकने वाले कर्मरूपी वस्त्रों का त्याग तेरहवें गुणस्थान में होता है, जहाँ ज्ञानावरणादि के क्षय से केवलज्ञान प्रकाशित हो जाता है।

चेलं पंच सहावं, तिक्तं परिनाम चेलजं रसियं।
अंडज वुंडज उत्तं, वंकज चरमज रोम विरयंति॥ ३८६॥

अन्वयार्थ- (चेलं पंच सहावं) वस्त्र पाँच प्रकार का होता है (तिक्तं परिनाम चेलजं रसियं) उनसे जो साधु रहित हैं तथा आवरण से उत्पन्न जो विभाव परिणामों में रसिकपना उससे भी रहित हैं (अंडज वुंडज वंकज चरमज रोम उत्तं) वे पाँच प्रकार वस्त्र कहे गये हैं एक अंडज अर्थात् रेशम के वस्त्र, दूसरे वुंडज अर्थात् कपास के वस्त्र, तीसरे वंकज अर्थात् छाल के वस्त्र, चरमज अर्थात् चमड़े के वस्त्र, रोम के वस्त्र (विरयंति) उनको जो साधु नहीं धारते हैं।

भावार्थ- मूलाचार में श्री वट्टकेर स्वामी मूलगुण अधिकार में कहते हैं-

वत्थाजिण वक्केणय अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं॥ ३७॥

भावार्थ- कपास, रेशम, रोम तीन के बने हुये वस्त्र, मृगछाला आदि चर्म वृक्षादि की छाल से उत्पन्न सन आदि के टाट अथवा पत्ता, तृण आदि इनसे शरीर आच्छादन नहीं करना; कड़े, हार आदि आभूषणों से भूषित न होना, संयम के नाशक द्रव्यों से रहित होना, ऐसा जगत पूज्य अचेलक व्रत है। यहाँ वत्था शब्द में कपास, रेशम, रोम के वस्त्र गर्भित हैं। जिण नाम चर्मका है। वक्केण नाम छाल का है। इन पाँचों प्रकारों के वस्त्रों को मुनि नहीं धारते हैं तथा अभ्यंतर आत्मा के स्वभाव को रोकने वाले व मलीन करने वाले भावों से भी रहित हैं। ऐसे दिगम्बर जैन साधु होते हैं।

♣ ♣ ♣

अभ्यंतर अंडज वस्त्र

अंडज चेल स उत्तं, हृदयं असुध भावजं रसियं।
परिनाम असुध सहियं, तिक्तंति चेल अंडजं भनियं॥ ३८७॥

अन्वयार्थ– (अंडज चेल स उत्तं) उसको ही अंडज वस्त्र कहा गया है जो (हृदयं असुध भावजं रसियं) हृदय रूपी कोष में भरे हुये अशुद्ध भावों से उत्पन्न रसिकपना है (परिनाम असुध सहियं) वह मिथ्या परिणाम सहित है, इसलिये (अंडजं चेल तिक्तंति) साधु ऐसे अंडज वस्त्रों को त्याग देते हैं (भनियं) ऐसा कहा गया है।

भावार्थ– मन भी एक कोष है। जैसे अंडे के भीतर से पक्षी निकलता है या रेशम के कोष से जो अंडे के समान होता है रेशम निकलता है वैसे जिसका हृदयरूपी कोष रागादि अशुद्ध भावों से भरा है ऐसे हृदय से जो विषयानुराग रूपी रंजायमानपना प्रगट होता है, वही एक प्रकार का रेशम है। ऐसे रेशम को जिन्होंने त्याग दिया है, वे अंडज वस्त्र रहित साधु हैं। यह परिणाम असत्य है, क्योंकि संसार के क्षणिक व असत्य पदार्थों में राग रूप है।

अंडज अनर्थ रुवं, आलापं परपंच विभ्रमं सहियं।
रंजनलोक सहावं, तिक्तंति सयल साधऊ सुद्धं॥ ३८८॥

अन्वयार्थ– (अंडज अनर्थ रुवं) रेशम के वस्त्र के समान रागभाव अनर्थक है (आलापं परपंच विभ्रमं सहियं) इससे वृथा बकवाद होती है व संसार के मोह में फंसना होता है (रंजनलोक सहावं) लौकिक विभावों में रंजायमान होता है ऐसा जानकर (सुद्धं साधऊ) शुद्ध भावों के प्रेमी साधुजन (सयल तिक्तंति) इस अशुद्ध भाव को छोड़ देते हैं।

भावार्थ– जैसे रेशम चिकना होता है व देखने में शोभनीक लगता है व मन को प्रसन्न करता है वैसे ही मन के भीतर से उत्पन्न अहंकार ममकाररूपी संकल्प-विकल्प या स्त्री, भोजनादि में रागभाव देखने में अच्छे मालूम होते हैं, परन्तु वृथा ही पाप का बंध करते हैं। जैसे कोई यह विचारे कि मैं धन का संग्रह करूँगा, विवाह करूँगा, स्त्री भोग करूँगा, उससे मन बहलाऊँगा तो इन भावों से वह विषयानुरागी पाप बाँध लेगा। या यह विचार करे कि उसका धन नाश हो कुटुम्ब नाश हो, या किसी की हानि हो गई उसको जानकर प्रसन्न भाव दर्शाया हो तो ऐसे मन के निरर्थक भावों से वृथा ही पाप का बंध होगा। जब ऐसे रागद्वेष में रंजायमानपना होता है तो मित्रों से मिलकर ऐसी ही वार्तालाप करता है। इन बातों से और भी संसार के मोह में फंस जाता है। लौकिक बातों में ही राग बढ़ जाता है, मोक्षमार्ग से प्रीति हट जाती है। ऐसे रेशम के समान रागद्वेष भाव को या मन के संकल्प-विकल्पों को शुद्धोपयोग के प्रेमी साधुजन बिलकुल त्याग देते हैं, क्योंकि वे अशुद्ध भाव संसार के कारण हैं।

अभिंतर असुह सुभावं, सल्यं सहकार विभ्रमं उत्तं।
अनेयभेय अनर्थं, अन्यानं भाव सयल तिक्तंति॥ ३८९॥

अन्वयार्थ– (अभिंतर असुह सुभावं) मन के भीतर जो अशुद्ध भाव हैं वे (सल्यं सहकारं विभ्रमं उत्तं) माया, मिथ्या, निदान शल्य सहित सांसारिक भाव कहे गये हैं (अनेयभेय अनर्थं) वे अनेक भेद रूप निरर्थक हैं (अन्यानं) व अज्ञान रूप हैं (सयल भाव तिक्तंति) साधु ऐसे सर्व भावों को त्याग देते हैं।

भावार्थ– रागद्वेषवर्द्धक जितने भी अशुद्ध परिणाम हैं वे पाँच इन्द्रियों के विषयों में लीनता के कारण व क्रोधादि कषायों के वशीभूत होने के कारण अनेक भेद रूप होते हैं। उनके भीतर तीन शल्य गर्भित रहती हैं। या तो वे मायाचार पूर्ण होते हैं या मिथ्याभाव सहित होते हैं या आगामी भोगों की वांछा रूप निदान भाव सहित होते हैं। वे सर्व विभाव वृथा ही कर्मों को बाँधते हैं तथा वे मिथ्याज्ञान के कारण से होते हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञानी के भीतर वीतराग भाव में रसिकपना होता है। सांसारिक प्रपंच जालों में रंजायमानपना नहीं होता है। इन सर्व भावों को साधुजन त्याग देते हैं।

वास्तव में अपध्यान ही एक अंडज वस्त्र है, जिसे व्रती को त्याग देना चाहिये। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अपध्यान का स्वरूप यह है –

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥ ७८॥

भावार्थ– जिन मत में किसी का वध, किसी का बन्धन, किसी का अंगच्छेद व परस्त्री आदि का रागद्वेष के वशीभूत हो मन में चिंतवन करना अपध्यान है, ऐसा निर्मल पुरुषों ने कहा है।

* * *

अभ्यंतर वुंडज वस्त्र

वुंडज भाव स उत्तं, वचनं असुहाइ नंद सहकारं।
गुन दोसं न वि पिच्छदि, वुंडज सुभाव सयल तिक्तंति॥ ३९०॥

अन्वयार्थ– (वुंडज भाव स उत्तं) वुंडज के समान भाव उसे कहा गया है जहाँ (असुहाइ नंद सहकारं वचनं) अशुभ आदि भावों में आनंद मानने रूप वचन प्रगट हों (गुन दोसं न वि पिच्छदि) जहाँ गुण व दोष का विचार न हो ऐसे (वुंडज सुभाव सयल तिक्तंति) वुंडज स्वभाव के समान सर्वभावों को साधु छोड़ देते हैं।

भावार्थ- कपास के वस्त्रों को वुंडज कहते हैं, कपास से बने वस्त्र गाढ़े व महीन दोनों प्रकार के होते हैं, उसी तरह मिथ्यात्व भावों के द्वारा प्रगट होने वाले नाना प्रकार के अशुभ व अज्ञानमय भावों में आनन्द मान कर उन मिथ्यात्व सहित भावों में रंजायमान होने के लिये जो मानसिक व वचन की प्रवृत्ति है तथा जहाँ ऐसा बुद्धि में अहंकार है कि गुण व दोष का भेद नहीं मालूम होता है वहीं कपास के वस्त्र के समान अशुद्ध भाव हैं। इनको साधुजन परिग्रह जानकर छोड़ देते हैं। सच्चे वस्त्र त्यागी दिगम्बर हो जाते हैं।

वुण्डज अपुन्य सरुवं, हिंसा अनृत असत्य आनन्दं।
दहविहि अबंभनंदं, वयनं तिक्तंति वुण्डजं भनियं॥ ३९१॥

अन्वयार्थ- (वुंडज अपुन्य सरुव) वुंडज भाव पापमय होते हैं (हिंसा अनृत असत्य आनन्द) हिंसा, झूठ व अज्ञान में आनंद मनाने वाले हैं (दहविहि अबंभनंद) इस प्रकार अब्रह्म में मगन होने वाले हैं (वुंडजं भनियं वयनं तिक्तंति) वुंडज भावों को व ऐसे वचनों को साधुजन त्याग देते हैं।

भावार्थ- जहाँ भीतर से अभिप्राय पापमय हो वे सब भाव वुंडज भाव हैं। जहां पशुबलि आदि हिंसा कर्म करके आनन्द मनाया जाता हो। असत्य मिथ्यात्वरूप व अज्ञानरूप क्रिया करके आनन्द मनाया जाता हो। जैसे दिवस में उपवास करके रात्रि को भोजन करने में, किसी के मरण का शोक मनाने में व रुदन करने में तथा जहाँ दस प्रकार कुशील भावों को करके प्रसन्नता अनुभव की जाती हो - ब्रह्मचर्य व्रत के वर्णन में इन दस प्रकार अब्रह्म का स्वरूप कहा जा चुका है तथा हिंसा, अनृत, अज्ञान व अब्रह्म पोषक वचनों को कहा जाता हो। इन सब वुंडज भावों के लिये हुए प्रवृत्ति को साधुजन कभी नहीं करते हैं।

♣ ♣ ♣

वंकज भाव स्वरूप

वंकज सहाव उत्तं, न्यानं विन्यान वंकजं रुवं।
दर्सन असुद्ध दर्सं, वंकज भावेन सयल तिक्तंति॥ ३९२॥

अन्वयार्थ- (वंकज सहाव उत्त) वंकज स्वभाव वाले भावों को कहते हैं (न्यानं विन्यान वंकजं रुवं) जहाँ ज्ञान विज्ञान वंकज स्वरूप हों। अर्थात् मायाचार या टेढ़ेपन को लिये भावों में वक्ररूप हों (दर्सन असुद्ध दर्सं) जहाँ अशुद्ध श्रद्धान दिखलाई पड़ता हो (वंकज भावेन सयल तिक्तंति) ऐसे वक्रतापूर्ण सर्वभावों को मुनि त्याग देते हैं।

भावार्थ- वल्कल व छाल के वस्त्रों को पहनना वंकज को धारना है। यहाँ भावों की अपेक्षा यह कथन है कि ऊपर से ज्ञान-विज्ञान की, शास्त्रों के मर्म की गूढ़ चर्चाएँ करना, परन्तु भीतर से मायाचार रखना या मिथ्यात्व भाव रखना। मायाचार व मिथ्याशल्य सहित जो शास्त्र की व भेदविज्ञान की चर्चा है वह सब वंकज या टेढ़े भाव हैं। उन सब को दिगम्बर जैन साधु त्याग देते हैं। सरल शुद्ध श्रद्धा सहित भाव से शास्त्रज्ञान का व भेद विज्ञान का मनन व कथन करना साधुओं का धर्म है।

वंकज असुद्ध भावं, न्यानावरनादि घाय उववन्नं।
न्यान सहाव न दिट्ठं, वंकज तिक्तंति साधवाऽसुद्धं॥ ३९३॥

अन्वयार्थ- (वंकज असुद्ध भावं) वंकज रूप अशुद्ध भावों से (न्यानावरनादि घाय उववन्नं) ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का बंध होता है (न्यान सहाव न दिट्ठं) ज्ञान स्वरूप आत्मा का वहाँ दर्शन नहीं होता है (साधवा असुद्धं वंकज तिक्तंति) साधुजन ऐसे अशुद्ध वंकज भावों को त्याग देते हैं।

भावार्थ- जहाँ परिणामों में वक्रता है, कुटिलता है, आर्जवपना नहीं है, वहाँ अशुद्ध भावों के होने से चाहे बाहरी क्रिया शुभ भी दिखती हो, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराय; इन चार घातिया कर्मों का तीव्र बंध होता है। साधुजन आर्जव धर्म के पालने वाले होते हैं व ऐसे भावों के त्यागी सच्चे दिगम्बर होते हैं।

कप्प वियप्पं जानादि, सुधं ससहाव वंकजं रुवं।
वंकज विमल सहावं, वंकज तिक्तंति न्यान सहकारं॥ ३९४॥

अन्वयार्थ- (कप्प वियप्पं जानदि) जो संकल्प विकल्पों का अनुभव कर रहा है (सुधं ससहाव वंकजं रुवं) जहाँ शुद्ध आत्मिक स्वभाव स्वरूप में लीन न होकर डांवाडोलपना है (वंकज विमल सहावं) निर्मल भाव भी टेढ़ा हो रहा है (वंकज तिक्तंति न्यान सहकारं) ऐसे वंकज भावों को साधुजन आत्मज्ञान की सहायता से छोड़ देते हैं।

भावार्थ- आत्मा का शुद्ध स्वभाव जानते हुये भी जहाँ पर रागद्वेषों की कल्लोलें उठ रही हों या जहाँ पर नाना प्रकार के नयों से तर्क-वितर्क द्वारा आत्मा का शुद्ध व अशुद्ध भेद या अभेद विचार हो रहा हो, वहाँ निर्मल नयातीत शुद्ध स्वरूप संवेदनरूप भाव नहीं पैदा हो सकता है, क्योंकि वहाँ भावों में चंचलता है, डांवाडोलपना है, एकाग्रता नहीं है। इसलिये साधुजन निर्मल आत्मज्ञान में अनुभवरूप होकर व स्वरूपाचरण चारित्र में लीन होकर सभी तरह के संकल्प-विकल्पों को वक्रभाव जानकर छोड़ देते हैं और स्वरूप में मगन हो जाते हैं।

समयसार कलश में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपाततस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २५॥

भावार्थ— एक नय से अर्थात् व्यवहार नय से यह जीव कर्मों से बंधा है, दूसरे निश्चय नय से वह जीव कर्मों से बंधा नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध में इन दोनों नयों का पक्षपात है या विकल्प है। जो आत्मतत्त्व के अनुभवी हैं वे इन सर्वपक्षपातों को या विकल्पों को त्यागकर निर्विकल्प हो जाते हैं, उन्हीं के अनुभव में आत्मा आत्मारूप ज्ञानस्वरूपी निश्चल झलक जाता है।

♣ ♣ ♣

चरमज सहाव

चरमज सहाव उत्तं, जं चरनं चरंति नेय कालं।
चरनं विभ्रम रुवं, संसारे सरनि चरन तिक्तं च॥ ३९५॥

अन्वयार्थ— (चरमज सहाव उत्तं) चर्मज स्वभाव यह कहा गया है (जं चरनं नेय कालं चरंति) जो अनेक प्रकार का आचरण किया जावे, परन्तु वह (चरनं विभ्रम रुवं) आचरण भ्रम रूप हो सो (संसारे सरनि) संसार का मार्ग है (तिक्तं च) ऐसे आचरण को त्यागना सो ही चरमज वस्त्र त्याग है।

भावार्थ— व्यवहार में चर्म के वस्त्र मृगछाला आदि का त्याग सो चर्मज वस्त्र त्याग है। निश्चय से अनेक प्रकार का जो व्यवहार मुनि या श्रावक का चारित्र मिथ्यात्व से मिला हुआ है, संसार की आसक्ति रूप है विषयों की वांछा सहित है। सो सर्व संसार भ्रमण का मार्ग होने से चरमज वस्त्र स्वभाव है। इस प्रकार के आचरण को त्यागना तथा आत्मस्वरूप में ही लवलीन होना सो चरमज वस्त्र त्याग है।

चरनं विप्रियं भावं, आरति रौद्रं च चरन सभावं।
अनेय चरन चरियं, चरनं तिक्तंति न्यान सहकारं॥ ३९६॥

अन्वयार्थ— (विप्रियं भावं चरनं) विपरीत प्रकार का मिथ्या आचरण (आरति रौद्रं च चरन सभावं) आर्तध्यान व रौद्रध्यान सहित चारित्र का होना (अनेय चरन चरियं) ऐसा अनेक प्रकार का चारित्र पाला जावे तो भी चरमज स्वभाव (चरनं तिक्तंति न्यान सहकारं) ऐसे आचरण को ज्ञान की सहायता से साधु त्याग देते हैं।

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान रहित शास्त्र मार्ग से उलटा काय क्लेश रूप अनेक प्रकार का आचरण सब विपरीत चारित्र है। ऐसा नाना प्रकार का आचरण आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान सहित है, क्योंकि तत्त्व प्रतीति रहित, मिथ्यादर्शन सहित है ऐसे विपरीत चारित्र को साधुजन सम्यग्ज्ञान की मदद से त्याग देते हैं।

चरनं असुध भमियं, चौगय संसार सरनि ने कालं।
विषय वसन संचरनं, चरनं चेल तिक्त न्यान ससहावं ॥ ३९७ ॥

अन्वयार्थ- (चरनं असुध भमियं) आत्म स्वभाव में रमण रूप भाव को छोड़ कर आचरण पालना (नेकालं चौगय संसार सरनि) अनंतकाल चार गतिमय संसार में भ्रमण कराने वाला है (विषय वसन संचरनं) पाँच इन्द्रियों के विषयों में तथा जुआ आदि सात व्यसनों में आचरण करना (चरनं चेल तिक्त न्यान ससहावं) ऐसे चर्मज वस्त्र को साधुजन अपने स्वभाव में लीन होकर त्याग देते हैं।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन रहित जितना भी आचरण है वह चरमज स्वभाव वाला है। इस जीव ने अनादिकाल से लेकर अब तक आत्मानुभव को न पाकर नाना प्रकार मिथ्या चारित्र पाला है। पाँच इन्द्रियों में रंजायमानपना छोड़ा नहीं, द्यूत आदि सात व्यसनों का राग त्यागा नहीं। ऐसा मिथ्याचारित्र भव-भव में अनंतकाल तक संसार में भ्रमण कराने वाला है। ऐसे चरमज आचरण को छोड़कर साधुजन अपने स्वाभाविक आत्म चारित्र में लीन होते हैं।

* * *

रोमज स्वभाव

रोमज सहाव उत्तं, रुचियं नो कम्म दव्व कम्मेन।
भावं रुचित असुद्धं, रोमज तिक्तंति न्यान सहकारं ॥ ३९८ ॥

अन्वयार्थ- (रोमज सहाव उत्तं) रोमज स्वभाव इस प्रकार कहा गया है जो (नोकम्म दव्व कम्मेन रुचियं) शरीरादि नोकर्म व ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म में रुचि का होना या (असुद्धं भावं रुचित) अशुद्धोपयोग में रुचि करना (रोमज न्यान सहकारं तिक्तंति) ऐसे रोमज वस्त्रों को साधुजन आत्मज्ञान की सहायता से त्याग देते हैं।

भावार्थ- साधुजन ऊन के वस्त्र नहीं पहनते हैं यह व्यवहार त्याग है। निश्चय से रोमज भाव यह है जो अपने आत्म स्वभाव को छोड़कर शरीरादि नोकर्म में, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म में व रागद्वेषादि भावकर्म में रुचि करना। ऐसी मिथ्या रुचि को साधुजन अपने ज्ञान स्वभाव में तिष्ठ कर त्याग देते हैं, यही रोमज वस्त्र त्याग है।

रुचियं कुन्यान मइओ, रुचियं मिथ्या विषय सल्य सभावं।
रुचियं पुग्गल रुवं, रोमज तिक्तंति चेयना भावं॥ ३९९॥

अन्वयार्थ- (कुन्यान मइयो रुचियं) मिथ्याज्ञान स्वरूप की रुचि करना (रुचियं मिथ्या विषय सल्य सभावं) मिथ्यात्व व पाँच इन्द्रियों के विषयों की रुचि करना तथा (रुचियं पुग्गल रुवं) पुद्गल के स्वभाव की रुचि करना (रोमज तिक्तंति चेयना भावं) ऐसे रोमज स्वभाव को अपने चेतना के शुद्ध भाव में रमण करके साधुजन छोड़ देते हैं।

भावार्थ- मिथ्या रुचि सो ही रोमज स्वभाव है। मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन व विषय कषायों में लीन रूप मिथ्याचारित्र तथा सर्व पौद्गलिक स्वभाव रागद्वेषादि विभाव भाव व संकल्प-विकल्प रूप भाव, मन-वचन-काय की क्रिया, उनमें रुचि करना रोमज स्वभाव है। आत्मज्ञानी साधु अपनी ज्ञान चेतना में तल्लीन होकर ऐसे रोमज स्वभाव को त्याग कर देते हैं। वे ही सच्चे दिगम्बर साधु हैं।

♣ ♣ ♣

अचेल कथन

ए पंच चेल उत्तं, तिक्तं मन वयन काय सभावं।
विन्यान न्यान सुद्धं, चेलं तिक्तंति निव्वुए जंति॥ ४००॥

अन्वयार्थ- (ए पंच चेल उत्तं) इस तरह ऊपर लिखित पाँच प्रकार वस्त्र कहे गये हैं (तिक्तं) उनको छोड़कर व (मन वयन काय सभावं चेलं तिक्तंति) जो मन, वचन, काय संबंधी सर्ववस्त्र को त्याग देते हैं, वे साधु (विन्यान न्यान सुद्धं) शुद्ध विज्ञानमयी आत्मज्ञान में लीन होकर (निव्वुए जंति) निर्वाण को जाते हैं।

भावार्थ- दिगम्बर जैन साधु बाहर से तो रेशम के रुई के, छाल के, चर्म के, व ऊन के ऐसे पाँच प्रकार के वस्त्रों को त्यागते हैं तथा अन्तरंग में इन पाँच प्रकार वस्त्र स्वरूप संपूर्ण मन-वचन-काय की क्रियामयी अनेक संकल्प-विकल्पों व रागद्वेष को त्याग देते हैं। और भेद विज्ञान के बल से अपने आत्मा के अनुभव में लीन होते हैं। इसी तरह बाहरी व भीतरी दिगंबरत्व के द्वारा ही साधु मोक्ष के स्वामी परमात्मा हो जाते हैं।

चेलं वाहिज उत्तं, चेलं पंचंमि तिक्त मोहंधं।
चेल सहाव न ग्रहनं, वस्त्रं तिक्तंति चेल उत्पन्नं॥ ४०१॥

अन्वयार्थ- (चेलं वाहिज उत्तं) आत्मा से जो बाहर वा भिन्न हो उसको चेल कहते हैं (पंचंमि मोहंधं चेल तिक्त) पाँचों ही मोह व अज्ञानमयी वस्त्र को छोड़ना चाहिये (चेल सहाव न ग्रहनं) पाँच

प्रकार वस्त्र के सदृश विभावों को नहीं ग्रहण करना चाहिए तथा (चेल उत्पन्नं वस्त्रं तिक्तंति) पाँच प्रकार चेल से बने हुये वस्त्रों को त्यागना चाहिये।

भावार्थ- जिनरूपी साधु अचेलक होते हैं। वे अंतरंग तथा बहिरंग दोनों ही प्रकार के वस्त्रों के त्यागी होते हैं। बहिरंग वस्त्र ऊपर कहे प्रमाण रेशम, कपास, छाल, चर्म व ऊन के स्वभाव के समान अंतरंग मिथ्यात्व रागद्वेषादि सर्व संकल्प-विकल्प हैं। दोनों के त्यागी वास्तव में अचेलक हैं। जो पर-भाव को न ग्रहण करते हुये निज आत्मिक भाव में तल्लीन हैं वे ही वास्तव में नग्न दिगम्बर या अचेलक हैं।

* * *

दिगम्बर शब्द व्याख्या

दिगंबर वयन उत्तं, दिग दिसा अंबरेन सभावं।
अंबर चेल विमुक्कं, दिगंबरेन न्यान सहकारं ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थ- (दिगंबर वयन उत्तं) साधु को दिगम्बर वचन इसलिये कहा है कि वे (दिग दिसा अंबरेन सभावं) दिक् अर्थात् दिशा, अंबर अर्थात् वस्त्र अर्थात् दिशारूपी वस्त्र को धारण करते हैं (चेल अंबर विमुक्कं) पाँच प्रकार रेशमादि के बने वस्त्रों से रहित हैं (दिगम्बरेन न्यान सहकारं) वे आत्मज्ञान की सहायता से दिगम्बरपने को धारण करने वाले हैं।

भावार्थ- अब यहाँ दिगम्बर शब्द की व्याख्या करते हैं। दिशारूपी वस्त्र ही जिनके हों, रेशम, कपास आदि के वस्त्रों को जो धारण न करते हों तथा जो भीतर से पूर्ण आत्मज्ञानी, वैरागी तथा रागादि भावों के त्यागी हों, वे ही सच्चे दिगंबर साधु हैं।

* * *

पूर्व दिशा अंबर कथन

पूर्वं पूर्वं उक्तं, पूर्वं सहकार परम भत्तीये।
पूर्वं न्यान सहावं, पूर्वं उत्तं च निम्मलं विमलं ॥ ४०३ ॥

अन्वयार्थ- (पूर्वं पूर्वं उक्तं) पूर्व दिशा को पहले या मुख्य कहा जाता है (परम भत्तीए पूर्वं सहकार पूर्वं न्यान सहावं निम्मलं विमलं च पूर्वं उत्तं) परम भक्ति सहित चौदह पूर्व रूप शास्त्र की सहायता से मुख्य ज्ञान स्वभावी कर्ममल रहित रागादि रहित सर्व द्रव्यों में श्रेष्ठ आत्मा को पूर्व कहा गया है।

भावार्थ- पूर्वादि दस दिशा रहित दिगम्बर कहलाते हैं। दसों दिशाओं में पूर्व को इसलिये मुख्य कहा गया है कि पूर्व दिशा से सूर्य का उदय होता है। इसी तरह यहाँ ग्यारह अङ्ग चौदह पूर्व रूप जिनवाणी का मनन जो परम भक्ति से करते हैं, उसके भीतर ज्ञान स्वभावी परम निर्मल शुद्ध आत्मा का अनुभव प्रकाशमान हो जाता है। अर्थात् पूर्वों के ज्ञान द्वारा पूर्व अर्थात् श्रेष्ठ या मुख्य या अग्र अपने ही शुद्ध आत्मा का ज्ञान उदय होता है। ऐसे आत्म ज्ञान के जो धारी हैं, जो आत्मज्ञानी पूर्व दिशा के समान निर्मल हैं, उस साधु को ही पूर्व दिशारूपी वस्त्र का धारी पूर्व दिगम्बर कहते हैं।

पूर्वं परम सरुवं, अप्पा सुधप्प हवे परमप्पा।
न्यानेन न्यान ममलं, न्यान सहावेन पूर्व उवएसं ॥ ४०४ ॥

अन्वयार्थ- (पूर्वं परम सरुवं) पूर्व जो आत्मा का ज्ञान सो ही उत्कृष्ट आत्म स्वभाव है (सुधप्प अप्पा परमप्पा हवे) जिससे शुद्ध स्वरूपी आत्मा परमात्मा हो जाता है (न्यानेन न्यान ममलं) आत्मज्ञान के अनुभव से निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है इसीलिये (न्यान सहावेन पूर्व उवएसं) ज्ञान स्वभाव को ही पूर्व कहा गया है।

भावार्थ- जिनवाणी के अभ्यास से जो आत्मज्ञान प्रगट होता है, उसी का अनुभव करने से कर्म कलंक मिटता है और यह आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा हो जाता है। अंतरंग में जो साधु आत्मानुभव रूप पूर्व दिशा को रखते हैं; और बाहर में पूर्व दिशारूपी अम्बर को रखते हैं, ऐसे दिगम्बर साधु ही केवलज्ञान को जगाते हैं। इसीलिये पूर्व को आत्मा का ज्ञान स्वभाव कहते हैं। इसी को पहनने वाले सच्चे दिगम्बर यति होते हैं।

नंत चतुस्टय पूर्वं, नंतानंत च न्यान सहकारं।
रागादि दोस तिक्तं, अंबर पूर्वं च न्यान उक्तं च ॥ ४०५ ॥

भावार्थ- (पूर्वं नंत चतुस्टय) आत्मा के मुख्य गुण अनंत चतुष्टय हैं (नंतानंत च न्यान सहकारं) उनमें से अनंतानंत ज्ञान को सिद्ध करने वाला (रागादि दोस तिक्त) रागद्वेषादि दोषों से रहित (अंबर पूर्वं च न्यान उक्तं च) पूर्व दिशा रूप निर्मल आत्मज्ञान कहा गया है।

भावार्थ- अरहंत पद में जो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख व अनंतवीर्य गुण प्रगट होते हैं, उनमें से केवलज्ञान रूपी सूर्य को उदय में लाने वाला वीतराग विज्ञानमय आत्मज्ञान रूपी पूर्व दिशा है, जो अति निर्मल है। इसी दिशारूपी वस्त्र को धारने वाले दिगम्बर जैन साधु होते हैं।

♣ ♣ ♣

आग्नेय दिशा अंबर कथन

अग्निं च अग्रभावं, अग्रं अवयास सुध अवयासं।
अग्रं ममल सहावं, अग्नि दिसा च अंबरं ममलं॥ ४०६॥

अन्वयार्थ- (अग्निं च अग्र भावं) यहाँ अग्नि से प्रयोजन प्रधान भाव से है (अग्रं अवयास सुध अवयासं) प्रधान आकाश शुद्ध आत्मा का क्षेत्र है (अग्र ममल सहावं) या आत्मा का निर्मल स्वभाव प्रधान है (अग्नि दिसा च अंबरं ममलं) इस प्रधान आत्मा के निर्मल स्वभाव को आग्नेय दिशा कहते हैं। इसके धारी आग्नेय दिशा रूप अम्बर के धारी दिगंबर जैन साधु होते हैं।

भावार्थ- यहाँ आग्नेय दिशा का भाव अंतरंग में अग्र शब्द की मुख्यता से प्रधान आत्मा का क्षेत्र या आत्मा का निर्मल स्वभाव लिया गया है। जो साधु बाहर में नग्न दिगम्बर होते हुये अंतरंग में वीतराग विज्ञानमय निर्मल आत्मा के स्वभाव का अनुभव करते हैं, अर्थात् जो अनुभव करते हैं कि असंख्यात प्रदेशी आत्मा के स्वरूप में सर्वत्र निर्मल वीतराग भाव अवकाश पा रहा है, ऐसे बाहर में आग्नेय दिशा का वस्त्र व अंतरंग में निर्मल आत्मा स्वभाव के अनुभव का वस्त्र पहनने वाले जो दिगम्बर जैन साधु हैं वे ही यथार्थ में दिगम्बर साधु मोक्ष के साधक हैं।

अग्निं च अग्र तेजं, जोति ससहाव रुव संसुद्धं।
अग्रं तिलोय मइयो, लोका अवलोक लोकनं अग्रं॥ ४०७॥

अन्वयार्थ- (अग्निं च अग्र तेजं) आग्नेय दिशा में अग्नि शब्द से अर्थ मुख्य ज्ञान तेज से है (जोति ससहाव रुव संसुद्धं) जो परम ज्योति स्वरूप आत्मा का शुद्ध स्वभाव है (अग्रं तिलोय मइओ) तीन लोकमयी पदार्थों का ज्ञान प्रधान है (लोका अवलोक लोकनं अग्रं) वह अग्नि लोक व अलोक को देखने वाली ज्ञान स्वरूपी है।

भावार्थ- अग्नि शब्द का अर्थ ज्ञानरूपी तेज है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान तेज से परिपूर्ण है, परम निर्मल है, तीन लोक व अलोक का ज्ञान ऐसा केवलज्ञान प्रधान है। जो साधु बाहर में आग्नेय दिशारूपी वस्त्र को धारते हैं व अंतरंग में आत्मा के ज्ञान तेज का अनुभव करते हुये आग्नेय दिशारूपी वस्त्र के धारी हैं, वे ही सच्चे दिगम्बर जैन साधु हैं। आत्मा को परमात्मा के समान परम ज्योति स्वरूप केवलज्ञान स्वभावी अनुभव करना ही आग्नेय दिशारूपी अंतरंग वस्त्र को धारना है।

♣ ♣ ♣

दक्षिण दिशा अंबर कथन

दषिन दिसि अंबरयं, वर दंसन न्यान चरन सहकारं।
दंसेइ मोष्य मग्गं, नंतानंत च दिस्टि संदर्स॥ ४०८॥

अन्वयार्थ- (दषिन दिसि अंबरयं) साधु अंतरंग में दक्षिण दिशा का वस्त्र धारते हैं, वह वस्त्र (वर दंसन न्यान चरन सहकारं) श्रेष्ठ अर्थात् अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान व वीतराग चारित्र का साधक वह ज्ञान दर्शन है (मोष्य मग्गं दंसेइ) जो रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को अनुभव करने वाला है व जो (नंतानंत च दिस्टि संदर्स) अनंतानंत दर्शन को देखने वाला है।

भावार्थ- यहाँ दक्षिण दिशारूपी अंतरंग वस्त्र का कथन है। आत्मा का दर्शन व आत्मा का अनुभव ही दक्षिण दिशा है, जिसके द्वारा मोक्ष मार्ग में चलते हुए अरहंत पद का लाभ हो जाता है। जहाँ वीतराग चारित्र है व क्षायिक सम्क्त्व है, अनन्तदर्शन है व अनन्तज्ञान है। दिगम्बर जैन साधु वे ही हैं जो बाहर में दक्षिण दिशारूपी वस्त्र को धारते हैं व अंतरंग में आत्मानुभव की निर्मलता रखते हैं।

दंसेइ तिहुवनग्गं, दंसन दंसेइ नंत सहकारं।
षिपिऊन तिविह कम्मं, न्यान सहावेन सुदर्सनं ममलं॥ ४०९॥

अन्वयार्थ- (तिहुवनग्गं दंसेइ) जो तीन लोक में प्रधान आत्मा को देखने वाला है ऐसा जो (दंसन) सम्यग्दर्शन या आत्मदर्शन (नंत सहकारं दंसेइ) वह अनंतदर्शन का सहकारी है, उसका जो अनुभव करते हैं वे (षिपिऊन तिविह कम्मं) तीन प्रकार कर्मों को क्षय करके (न्यान सहावेन सुदर्सनं ममलं) ज्ञान स्वभावी परम निर्मल आत्मा के स्वभाव को भले प्रकार देखने वाले सिद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन ही मुख्य आत्मदर्शन है। इसी के प्रभाव से आत्मा का ऐसा यथार्थ अनुभव होता है जिससे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म व शरीरादि नोकर्मों का नाश हो जाता है और यह आत्मा सिद्ध परमात्मा हो जाता है। जहाँ अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख और स्वाभाविक गुण प्रकाशमान हो जाते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन के धारी ही साधु दक्षिण दिशारूपी वस्त्र के पहनने वाले हैं।

दष्यन दिसि अंबरयं, दिस्टं न्यान पंच सभावं।
षिपनिक रुव सुदिट्ठं, अंबर दिसियं च न्यान सहकारं॥ ४१०॥

अन्वयार्थ- (दष्यन दिसि अंबरयं) दक्षिण दिशा का वस्त्र वह है (दिस्टं न्यान पंच सभावं) जिससे आत्मा का स्वाभाविक पंचम केवलज्ञान का दर्शन हो जावे (षिपनिक रुव सुदिट्ठं) नग्न क्षपणक

या साधु का स्वरूप वहीं भले प्रकार देखा जाता है जिसके (न्यान सहकारं अंबर दिसियं) केवलज्ञान का सहकारी अंबर दिखलाई पड़ता है।

भावार्थ- दक्षिण दिशारूपी वस्त्र को जो बाहर में धारण करे व अंतरंग में सम्यग्दर्शन- पूर्वक आत्मानुभवरूपी दक्षिण दिशा को धारण करे वही सच्चा दिगम्बर क्षपणक या साधु है। वही साधु आत्मज्ञान के अभ्यास से केवलज्ञान को प्रकाश कर सकता है। ऐसे ही जिनरूपी सच्चे यति होते हैं।

♣ ♣ ♣

नैरित्य दिशा अम्बर कथन

नैरित्यं उवएसं, व्रितं जानेहि सुध ससहावं।
अनृत असरन तिक्तं, व्रितं लोयालोयं च ध्रुव निस्वं॥ ४११॥

अन्वयार्थ- (नैरित्यं उवएसं) नैऋत्य दिशा अम्बर का उपदेश किया जाता है (सुध ससहावं व्रितं जानेहि) आत्मा का शुद्ध स्वभाव सत्य है ऐसा जानो (अनृत असरन तिक्तं) जहाँ सर्व मिथ्या कल्पनाओं का व अशरण अवस्थाओं का त्याग है (व्रितं लोयालोयं च ध्रुव निस्वं) सत्य लोकालोक अविनाशी है यह निश्चय है।

भावार्थ- ऋतं नाम सत्य का है। संसार की चतुर्गति रूप सर्व अवस्थाएँ व रागादि सर्व भाव मन की सर्व कल्पनाएँ नाशवंत हैं, क्षणिक हैं, अतएव मिथ्या हैं, इनको कोई रक्षित नहीं रख सकता है। सभी प्राणी आयु कर्म के अधीन हैं। सर्व ही पुद्गल की रचनायें बनती हैं व बिगड़ जाती हैं। इन सब अनित्य व अशरण अवस्थाओं से मुँह मोड़कर एक अपने आत्मा के द्रव्य स्वभाव को जो परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा अविनाशी है, सत्य मानना चाहिए। अथवा जिन छः द्रव्यों से लोकालोक भरपूर है, उनको नित्य व अपने-अपने स्वभावों में रहने वाला निश्चय करना चाहिए।

व्रितं अनंत रुवं, चेयन संजुत्तु व्रित सहकारं।
नैरित्यं व्रित दिट्ठं नैरित्यं व्रित न्यान अंबरयं॥ ४१२॥

अन्वयार्थ- (व्रितं चेयन संजुत्तु अनंत रुवं) आत्मा संबंधी अनंत ज्ञानादि भाव सत्य है (व्रित सहकारं) इस सत्य स्वभाव के प्रकाश को साधन करने वाला जो (व्रित) सम्यग्ज्ञान व आत्मानुभव रूप सत्य है उसे (नैरित्यं दिट्ठं) नैऋत्य देखना चाहिए अतएव (व्रित न्यान अंबरयं नैरित्यं) सत्य ज्ञान या आत्मानुभव का वस्त्र सो नैऋत्य है।

भावार्थ- सत्य अपना एक निज स्वभाव है। जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त स्वाभाविक गुणों का समुदाय है। इस स्वभाव को प्रकाश करने में साधक अभेद

रत्नत्रय स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञानमय आत्मा का अनुभव है। यही अनुभव नैरित्य दिशा का वस्त्र है। जो साधु बाहर से नैरित्य दिशा का वस्त्र पहनते हैं, व अंतरंग में निज आत्मा के अनुभव स्वरूप वस्त्र को पहनते हैं वे ही सच्चे दिगम्बर जैन साधु हैं।

* * *

पश्चिम दिशा अम्बर कथन

पच्छिम पिच्छदि सुधं, असुधं संसार सरनि नहु पिच्छं।
पिच्छदि अप्प सहावं, अप्पा सुधप्प न्यान परमप्पा॥ ४१३॥

अन्वयार्थ- (पच्छिम सुधं पिच्छदि) पश्चिम दिशा शुद्ध आत्मा को अनुभव करने वाली है। (संसार सरनि असुधं नहु पिच्छे) संसार के मार्ग में भ्रमण कराने वालों के स्वभाव को देखती है। (अप्पा सुधप्प न्यान परमप्पा) कि यह आत्मा शुद्ध स्वरूप है ज्ञानमयी है व परमात्मा रूप है।

भावार्थ- यहाँ पश्चिम दिशा को कहते हैं कि शुद्ध आत्मा को शुद्ध स्वरूप ज्ञानानन्दमय परमात्मा के समान अनुभव करना तथा रागादि सहित अशुद्ध आत्मा का अनुभव न करना पश्चिम दिशा है। अशुद्ध आत्मा का अनुभव कर्म बंध कारक है व संसार में भ्रमण कराने वाला है।

पिच्छदि अनन्त रुवं, विन्यानं न्यान पिच्छि सभावं।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, पच्छिम पिच्छेइ अंबरं विमलं॥ ४१४॥

अन्वयार्थ- (विन्यानं) भेद विज्ञान से उत्पन्न आत्मानुभव (अनंत रुवं न्यान — पिच्छि सभावं पिच्छदि) अनंत ज्ञान दर्शन स्वभावमयी आत्मा को अनुभव करने वाला है (मिथ्या सल्य विमुक्कं) जिसमें मिथ्या, माया, निदान तीन शल्यें नहीं हैं (पच्छिम अंबरं विमलं पिच्छेइ) ऐसी पश्चिम दिशारूप आत्मानुभूति निर्मल आकाश तुल्य आत्मा को अनुभव करने वाली है।

भावार्थ- पश्चिम दिशा उसे कहते हैं जो अपने सामने अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यमयी आत्मारूपी सूर्य को देखने वाली है, जिसमें कोई मिथ्या भाव नहीं है, न कोई मायाचार है और न कोई निदान भाव है। यह वह आत्मानुभूति है जो भेद-विज्ञान से पैदा होती है। निर्मल आत्मा का दर्शन होना ही पश्चिम दिशा है।

पिच्छेइ अप्पु अप्पं, वर दंसन न्यान चरन पिच्छेइ।
पिच्छेइ मोष्य मग्गं, न्यान सहावेन अंबरं पिच्छं॥ ४१५॥

अन्वयार्थ- (अप्पं अप्पु पिच्छेइ) जो आत्मा को आप ही देखती है या अनुभव करती है (वर दंसन न्यान चरन पिच्छेई) व जो श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र की एकता को देखने

वाली है (मोष्य मग्गं पिच्छेइ) ये मोक्ष मार्ग को अनुभव करने वाली है (न्यान सहावेन अंबरं पिच्छं) जो अपने ज्ञानमयी स्वभाव से आकाश तुल्य आत्मा को देखने वाली है वही पश्चिम दिशा है।

भावार्थ- दिगम्बर जैन साधु पश्चिम दिशा के वस्त्र को तो बाहर में पहनते हैं। अन्तरंग में जो निज आत्मा के अनुभव में लीनता स्वरूप आत्मानुभूतिमयी पश्चिम दिशा का वस्त्र धारण करते हैं। जिनके भीतर आत्मा के सर्वांग प्रदेशों में निजशुद्ध आत्मानुभवमयी मोक्ष का मार्ग जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी है, भले प्रकार झलका करता है। ऐसे ही सच्चे साधु द्रव्यलिंग व भावलिंग दोनों के धारी दिगम्बर जैन यति हैं।

♣ ♣ ♣

वायव्य दिशा अम्बर कथन

वाइवं दिसि स उत्तं, विगतं रुवेन अविगतं ममलं।
विगतं संसार सुभावं, अविगत रुवेन सुध सहकारं॥ ४१६॥

अन्वयार्थ- (वाइवं दिसि स उत्तं) अब वायव्य दिशा वस्त्र को कहते हैं (विगतं रुवेन अविगतं ममलं) जो रूपातीत आकाश के समान निर्मल आत्मा का अनुभव है (विगतं संसार सुभावं) जिसमें संसार के किसी स्वभाव का विकल्प नहीं है सो ही (अविगत रुवेन सुध सहकारं) स्वभाव में लीन शुद्ध आत्मा की प्रगटता का साधन है। यही वायव्य दिशा वस्त्र है।

भावार्थ- शुद्ध आत्मा के प्रकाश का उपाय आत्मा के वीतराग विज्ञानमय स्वरूप का अनुभव है। यह अनुभव जिस साधु में है वही अंतरंग वायव्य दिशा वस्त्र का धारी है।

अविगत परमानंदं, विगतं संसार सरनि सहकारं।
अविगत रुवे रुवं, अविगत परम केवलं न्यानं॥ ४१७॥

अन्वयार्थ- (अविगत परमानंदं) जिसमें परमानन्द स्वभाव भरपूर है (विगतं संसार सरनि सहकारं) जो संसार के मार्ग से दूर हो गया है (अविगत रुवे रुवं) जो निश्चल स्वभाव में एक रूप है (अविगत परम केवलं न्यानं) जो केवलज्ञान से तन्मय है ऐसे परमात्म स्वभाव का प्रकाश आत्मानुभव रूप वायव्य दिशा वस्त्र से होता है।

भावार्थ- दिगम्बर जैन साधु बाहर में तो वायव्य दिशा वस्त्र को रखने वाले हैं व अंतरंग में आत्मानुभवरूप वस्त्र को रखने वाले हैं। केवल बाहर से दिगम्बर हो और अंतरंग में स्वात्मानुभवरूप अम्बर न हो तो वे सच्चे दिगम्बर नहीं हैं।

♣ ♣ ♣

उत्तर दिशा अंबर कथन

उत्तर दिसि उवएसं, वर दंसन न्यान चरन तव सुद्धं।
उत्तम गुनानि धरनं, अप्पा परमप्प निम्मलं विमलं॥ ४१८॥

अन्वयार्थ- (उत्तर दिसि उवएसं) अब उत्तर दिशा वस्त्र को कहते हैं (वर दंसन न्यान चरन तव सुद्धं) उत्तम शुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप इन चार आराधनाओं का करना (उत्तर गुनानि धरनं) आत्मा के गुणों को अन्तरंग में धारण करना (अप्पा परमप्प निम्मलं विमलं) व आत्मा को परमात्मा के समान निर्मल और वीतराग अनुभव करना उत्तर दिशा वस्त्र है।

भावार्थ- उत्तर दिशा वस्त्र वही है जो उत्तम प्रकार से निश्चय नय के द्वारा सम्यग्दर्शन आदि चार आराधनाओं को अंतरंग में धारण कर आपको शुद्ध परमात्मा के समान अनुभव करते रहना।

उत्तर गुन संजुत्तं, मय मिच्छात भाव परिचत्तं।
उत्तर ऊर्ध सहावं, षिउ उवसम स्रेनि उत्तरं सुद्धं॥ ४१९॥

अन्वयार्थ- (उत्तर गुन संजुत्तं) श्रेष्ठ गुणों से विभूषित रहना (मय मिच्छात — भाव परिचत्तं) मद व मिथ्यात्व के भावों से रहित होना (उत्तर ऊर्ध सहावं) उत्तम श्रेष्ठ आत्म स्वभाव को धारण करना (षिउ उवसम स्रेनि उत्तरं सुद्धं) क्षपक श्रेणी पर हो या उपशम श्रेणी पर हो उत्तम शुद्ध आत्मानुभव करना यही उत्तर दिशा वस्त्र ग्रहण है।

भावार्थ- आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से आठ, नौ, दस व उपशांत मोह ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशम श्रेणी कहलाती है। आठवें अपूर्वकरण से आठ, नौ, दस, बारह गुणस्थान तक क्षपक श्रेणी है। कोई भी श्रेणी पर होवे ऐसा श्रेणी आरूढ़ साधु ध्यान मग्न होता है। उस समय का ही आत्मानुभव रूप शुक्लध्यान साधु का उत्तम वीतराग भाव है, वहाँ कोई मिथ्यात्व व मद नहीं है, वहाँ तो केवल श्रेष्ठ आत्मिक परिणति ही है, यही उत्तर दिशा वस्त्र ग्रहण है।

उत्तर दिसि ऊर्ध सहावं, अवगाहन गुन धरंति साहूनं।
उत्तर षिपनिक रुवं, अंबर सुधं च न्यान सहकारं॥ ४२०॥

अन्वयार्थ- (उत्तर दिसि ऊर्ध सहावं) उत्तर दिशा का वस्त्र यह है कि ऊपर गमन स्वभावधारी श्री सिद्ध भगवान हैं जो (अवगाहन गुन धरंति) अवगाहना गुण धारण करते हैं। ऐसे प्रसिद्ध स्वभाव को (साहूनं) साधन करने वाले साधुओं के भीतर जो (उत्तर षिपनिक रुवं अंबर सुधं च) उत्तम ज्ञान स्वभावी शुद्ध वस्त्र है वही (न्यान सहकारं) केवलज्ञान को प्रगट करने में साधक है।

भावार्थ- आत्मा जब सिद्ध हो जाता है तब ऊर्ध्वगमन स्वभाव से ऊपर को जाता है। जहाँ एक सिद्ध का आत्मा तिष्ठता है वहाँ अनेक भी सिद्ध भगवान अवकाश पाते हैं क्योंकि अमूर्तिक

होने से कोई बाधा नहीं होती है। ऐसे सिद्ध स्वभाव के प्रकाश करने के लिए परम वीतराग निर्विकल्प आत्मा का अनुभव ही उत्तर दिशा का वस्त्र है। इसे साधु अंतरंग में धारते हैं तथा बाहर में उत्तर दिशा को अपना वस्त्र बनाते हैं। ये ही सच्चे दिगम्बर जैन साधु हैं।

* * *

ईशान दिशा अंबर कथन

ईसान दिसि उवएसं, ईसं तिलोयमत्त सुपएसं।
ईसं इस्ट संजोयं, अनिस्ट रुवं च सयल तिक्तं च॥ ४२१॥

अन्वयार्थ- (ईसान दिसि उवएसं) अब ईशान दिशा वस्त्र का उपदेश करते हैं (लोयमत्त सुपएसं ईसंति) जहाँ लोकमात्र अपने आत्मा के प्रदेशों की ही इच्छा की जावे (इस्ट संजोयं ईसं) आत्मोन्नति कारक उपयोगी संयोगों की इच्छा की जावे (अनिस्ट रुवं च सयल तिक्तं च) और सम्पूर्ण आत्मा की उन्नति में बाधक अनिष्ट कारणों को त्याग किया जावे वही ईशान दिशा वस्त्र है।

भावार्थ- आत्मा के प्रदेश लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, यही आत्मा का अपना क्षेत्र है। इस ही को अपना मान करके और सब परक्षेत्रों को त्यागना। सबसे मोह हटाना, आत्मा को लाभकारी निर्विकल्प समाधि का संयोग मिलाना। आत्मा को अहितकारी रागद्वेष, मोहादि भावों का त्याग करना। निज को ग्रहण कर पर का त्याग करना ही ईशान दिशा अम्बर है। जिसे जैन साधु अंतरंग में धारण करते हैं।

ईर्जा पंथ निवेदं, ईर्ज इत्यादि समिदि संजुत्तं।
इस्टं च इस्ट रुवं, न्यान सहावेन ईसं तियलोयं॥ ४२२॥

अन्वयार्थ- (ईर्जा पंथ निवेदं) जहाँ विकल्प व रागद्वेष रहित सरल मोक्षमार्ग की भावना की जावे (ईर्ज इत्यादि समिदि संजुत्तं) ईर्या-भाषा आदि पाँच समिति को पाला जावे (इस्ट रुवं च इस्टं) आत्मा के शुद्ध स्वरूप की चाहना की जावे (न्यान सहावेन तियलोयं ईसं) ज्ञान स्वभाव की अपेक्षा अपने को तीन लोक का स्वामी अनुभव किया जावे वही ईशान दिशा है।

भावार्थ- ईशान दिशा वस्त्रधारी मुनि पाँच समितियों को पालते हैं। चार हाथ प्राशुक भूमि आगे देखकर दिन में चलना ईर्या समिति है। शुद्ध भाषा बोलना भाषा समिति है। शुद्ध भोजन भिक्षा से लेना एषणा समिति है। देखकर रखना उठाना आदानं निक्षेपण समिति है। देखकर निर्जन्तु भूमि में मल-मूत्र करना प्रतिष्ठापना समिति है। तथा वे साधु संसार के पदार्थ को रंच मात्र इच्छा न रखते हुए मात्र सरल आनन्द निर्विकल्प समाधिरूप मोक्षमार्ग को प्यार करते हैं। जिस मार्ग में कर्मरूपी

बीज नहीं उगता है। या अपने ही शुद्ध स्वभाव से प्रेम करते हैं तथा अपने को ज्ञान स्वभाव की अपेक्षा त्रिलोक का ज्ञाता अनुभव करते हैं। ऐसे ही साधु ईशान दिशा वस्त्रधारी होते हैं।

ईसं सुद्ध सहावं, असुध परिनाम सयल तिक्तं च।
ईसं तिलोय ईसं, ईसं अंबर विसुद्ध सहकारं॥ ४२३॥

अन्वयार्थ- (सुद्ध सहावं ईस) जिनको शुद्ध आत्मिक भाव प्यारा है (असुध परिनाम सयल तिक्तं च) व जिन्होंने सर्व अशुद्ध परिणामों को त्याग दिया है (ईसं तिलोय ईसं) जो तीन लोक के प्रभुत्व स्वरूप परमात्मा को चाहते हैं वे साधु (ईसं अंबर विसुद्ध सहकारं) ईशान दिशा के वस्त्र के धारी हैं जो आत्मशुद्धि का साधन है।

भावार्थ- सच्चे दिगम्बर जैन साधु वे ही हैं जो बाहर में नग्न रहकर ईशान दिशारूपी वस्त्र के धारण करने वाले हैं तथा अंतरंग में सर्व रागादि भावों से रहित शुद्ध आत्मा के स्वभाव के अनुभव स्वरूप ईशान दिशारूपी वस्त्र के धारने वाले हैं।

* * *

ऊर्ध दिशा अम्बर कथन

ऊर्ध दिसा स उत्तं, ऊर्धं ससहाव निम्मलं सुधं।
ऊर्धं ऊर्ध सरुवं, ऊर्ध झानंपि केवलं सुद्धं॥ ४२४॥

अन्वयार्थ- (स ऊर्ध दिसा उत्त) वही साधुओं के ऊर्ध दिशा का वस्त्र कहा गया है जो (ऊर्धं ससहाव निम्मलं सुधं) श्रेष्ठ आत्मिक स्वभाव को मल रहित शुद्ध अनुभव किया जावे (ऊर्धं ऊर्ध सरुवं) वह श्रेष्ठ स्वभाव सिद्ध परमात्मा के समान है (ऊर्ध झानंपि केवलं सुद्धं) वही श्रेष्ठ ध्यान स्वाधीन शुद्ध ध्यान है।

भावार्थ- दिगम्बर जैन साधु ऊपर की तरफ भी ऊर्ध दिशा वस्त्र को रखते हैं। अन्तरंग में अपने आत्मा के श्रेष्ठ कर्म रहित वीतराग स्वरूप का ध्यान करते हैं। आपको सिद्ध परमात्मा के समान ध्याते हैं। यही आत्मध्यान शुद्ध है व निर्विकल्प है।

सुधं च भाव सुद्धं, असुध परिनाम सयल तिक्तं च।
सुधं जिन उवएसं, ऊर्धं अम्बर विन्यान सहकारं॥ ४२५॥

अन्वयार्थ- (ऊर्धं अम्बर) ऊर्ध दिशा का अंतरंग श्रेष्ठ वस्त्र (सुद्धं च भावं सुधं) शुद्ध है, जहाँ भावों में शुद्धोपयोग है (असुध परिनाम सयल तिक्तं च) सर्व ही रागादि अशुद्ध भावों को जिसने

त्याग दिया है (सुधं जिन उवएसं) जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ ऐसा ही भाव लिंग रूप शुद्ध उपयोग (विन्यान सहकारं) केवल ज्ञान का साधक है।

भावार्थ- ऊर्द्ध दिशा सम्बन्धी वस्त्र अन्तरंग में एकमात्र शुद्धोपयोग है, इन्हीं भावों के द्वारा शुक्ल ध्यान प्रगट होता है। जो केवल ज्ञान का कारण है, बाहरी वस्त्र नग्न दिगम्बरत्व है।

* * *

अधो दिशा अम्बर कथन

आर्धं दिसि उवएसं, झानं न्यानं च दिस्टि सभावं।
आर्धं ऊर्ध सभावं, अप्पा परमप्प विगत रुवेन॥ ४२६॥

अन्वयार्थ- (आर्धं दिसि उवएसं) अब अधो दिशा अम्बर का कथन करते हैं (झानं न्यानं च दिस्टि सभावं) सम्यग्दर्शन सहित आत्मज्ञान व आत्मा का ध्यान अधो दिशा वस्त्र है (आर्धं ऊर्ध सभावं) परमात्मा से व्यवहार नय से अधो रहने वाला यह आत्मा निश्चय से परमात्मा के समान श्रेष्ठ स्वभावधारी है। अर्थात् (अप्पा परमप्प विगत रुवेन) आत्मा परमात्मा के बराबर अमूर्तिक है। ऐसा ध्यान ही अधो दिशा वस्त्र है।

भावार्थ- दिगम्बर जैन साधु बाहर में अधो दिशामयी वस्त्र रखते हैं। अंतरंग में वे अपने ही आत्मा को शुद्ध परमात्मा के समान वीतराग विज्ञानमयी अनुभव करते हैं।

उवंकारं ह्रियंकारं, श्रियंकारं ति अर्थ ऊर्ध सुद्धं च।
पंचस्थान संजुत्तं, सम्मत्तं सुध समय सर्वन्यं॥ ४२७॥

अन्वयार्थ- (उवंकारं ह्रियंकारं श्रियंकारं) ॐ, ह्रीं, श्रीं इन तीन पदों का ध्यान करते हुए (सुद्धं ऊर्ध च ति अर्थ) शुद्ध रत्नत्रय का विचार करते हुए तथा (पंचस्थान संजुत्तं) पाँच परमेष्ठी का स्वरूप विचारते हुए (सुध समय सर्वन्यं सम्मत्तं) शुद्ध आत्मा को सर्वज्ञ समान ध्याना यही सम्यग्दर्शन का आचरण है।

भावार्थ- अपने भौहों के मध्य में व नासिका की नोक पर व अन्य भी कहीं ॐ, ह्रीं या श्रीं इन तीन मंत्र पदों में से किसी को विराजमान करके पाँच परमेष्ठी का स्वरूप विचारते हुए निश्चय रत्नत्रय को विचारना। अर्थात् ज्ञान स्वरूप शुद्ध आत्मा में लीन होना योग्य है। यही अधोदिशा वस्त्र धारण है।

दिसि अंबर संसुद्धं, दिगम्बर न्यान ज्ञान सहकारं।
अम्बर दिग् दिस्टं च, न्यान सहावेन अम्बरं भनियं॥ ४२८॥

अन्वयार्थ- (दिसि अंबर संसुद्ध) दिशाओं का वस्त्र परम शुद्ध है यह बाहरी व अन्तरंग (दिगम्बर न्यान ज्ञान सहकारं) दिगम्बर का स्वरूप शुद्ध आत्मज्ञान व ध्यान का सहकारी है (अम्बर दिग् दिस्टं च) बाहरी अम्बर दिशाओं को देखना चाहिए (न्यान सहावेन अम्बरं भनियं) भीतर ज्ञान स्वभाव में रमण करना अन्तरंग अम्बर कहा गया है।

भावार्थ- यहाँ ग्रन्थकर्ता ने दिगम्बर जैन साधु का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है और यह झलकाया है कि मात्र नग्न रहने से कल्याण न होगा किन्तु बाहरी परिग्रह के साथ-साथ अन्तरंग परिग्रह का भी त्याग जिसके होगा, वही दिगम्बर जैन साधु है। ज्ञान स्वभाव में रमणकर आत्मानुभव करना अन्तरंग भावलिंग रूप दिशा का वस्त्र है। वहाँ सर्व मिथ्यात्व, रागद्वेषादि विभाव भावों का त्याग हो जाता है। निश्चय रत्नत्रयमयी परम सामायिक भावों को धारना ही अन्तरंग दिशा का वस्त्र है।

* * *

निर्ग्रंथ स्वरूप कथन

निःचेल सुद्ध सुद्धं, अम्बर सुद्धं च निम्मलं विमलं।
विमलं विमल सहावं, न्यान सहावेन सुद्ध वयधरनं॥ ४२९॥

अन्वयार्थ- (निःचेल सुद्ध सुद्धं) वस्त्र रहित साधु अन्तरंग व बहिरंग शुद्ध परिग्रह रहित होते हैं (अंबर सुद्धं च निम्मलं विमलं) अन्तरंग में शुद्ध कर्मकलंक रहित व रागादि रहित (विमलं विमल सहावं) परम निर्मल आत्मा का स्वभाव है जहाँ (न्यान सहावेन सुद्ध वय धरनं) ज्ञान स्वभाव में स्थिर होना ही शुद्ध व्रत का धरना है।

भावार्थ- निर्ग्रंथ या अचेलक दिगम्बर जैन मुनि बाहर में वस्त्र रहित होते हैं, परन्तु अन्तरंग में शुद्ध आत्मिक भाव के अनुभव करने वाले होते हैं। बाहरी व्रत पाँच महाव्रत आदि हैं परन्तु अन्तरंग व्रत शुद्ध स्वभाव में रमण करना है।

ग्रन्थं सहाव उत्तं, जं ग्रहनं असुध भाव परिनामं।
ग्रन्थं विमुक्त तिविहं, कम्मानं मुक्क सरनि संसारे॥ ४३०॥

अन्वयार्थ- (ग्रन्थं सहाव उत्तं) अब निर्ग्रंथ का स्वभाव कहते हैं (जं असुधभाव परिनामं ग्रहनं) अशुद्ध भावों के परिणमन को उपादेय मानना व उसमें तिष्ठना ग्रन्थ है (ग्रन्थं विमुक्त) इस ग्रन्थ से

छूटना निर्ग्रंथ है (तिविहं कम्मानं संसारे -- सरनि मुक्क) तीन प्रकार कर्मों से छूटना जो संसार में भ्रमण कराने वाले हैं, यथार्थ निर्ग्रंथ होना है।

भावार्थ-- पर-पदार्थ का व पर-भावों का ग्रहण ग्रन्थ है। निर्ग्रंथ वही है जो सर्व पर-भावों का व कषायादि का त्यागी है, जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म सहित संसार में भ्रमण कराने वाले हैं, इनसे रहित शुद्ध आत्मा का जो ध्याता है, वही निर्ग्रंथ है।

वाहिज भिंतर ग्रंथा, मुक्कं संसार सरनि वावारे।
मुक्कं राग कषायं, मुक्कं पुग्गल सहाव संबंधं॥ ४३१॥

अन्वयार्थ-- (वाहिज भिंतर ग्रंथा संसार सरनि वावारे मुक्कं) निर्ग्रंथ साधु बाहरी व भीतरी परिग्रहों को तथा संसार मार्ग को भ्रमाने वाले आरंभों को छोड़ चुके हैं (मुक्कं राग कषायं) राग भाव को क्रोधादि कषायों को दमन कर चुके हैं (मुक्कं पुग्गल सहाव संबंधं) तथा सर्व पुद्गल संबंध को छोड़ चुके हैं।

भावार्थ-- निर्ग्रंथ साधु वही है जिसके क्षेत्र मकानादि बाहरी दस प्रकार के परिग्रह व मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह नहीं है। जिसने खेती, व्यापारादि व गृह संबंधी सर्व व्यापारों को भले प्रकार त्याग दिया है, सर्व संसार के प्रपंचों से राग हटा लिया है, क्रोधादि कषायों को दमन किया है। सिवाय एक आत्मिक सामायिक भाव के सर्व कर्म नोकर्मादि पौद्गलिक सम्बन्ध से अपना नाता तोड़ दिया है।

सिंघासन ग्रह छित्तं, जानहि सभाव असुह परिनामं।
पुग्गल सहाव रुवं, न्यान सहावेन तिक्त संसारे॥ ४३२॥

अन्वयार्थ-- (सिंघासन ग्रह छित्तं सभाव असुह परिनामं जानहि) सिंहासन, घर, क्षेत्रादि का स्वभाव अशुभ परिणामों को बाँधा करता है, ऐसा साधुजन जानते हैं इसलिए (न्यान सहावेन) अपने आत्मा के ज्ञान स्वभाव द्वारा साधु महाराज ने (पुग्गल सहाव रुवं संसारे तिक्त) पुद्गल स्वभावमयी सर्व सांसारिक भावों को त्याग दिया है।

भावार्थ-- सिंहासन, मकान खेत आदि बाहरी परिग्रह अन्तरंग भावों को बिगाड़ने में निमित्त कारण हैं, ममता पैदा करने वाले हैं, इसलिए इनको त्यागते हुए साधुओं ने सर्व ही विभावों को त्याग दिया है। रागद्वेषादि से मुँह मोड़ लिया है। एक अपने शुद्ध ज्ञायक भाव को अपना मानके उसी में प्रेम स्थिर कर लिया है अर्थात् वे उसी में आसक्त हैं। परिग्रह संबंधी भाव हिंसा है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा है --

हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसातरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम्॥ ११९॥

भावार्थ- अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार मिथ्यात्व, वेद, रागद्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ ये तो भाव हिंसा है ही क्योंकि आत्मा के शुद्ध वीतराग भाव के घातक हैं। बाहरी दस प्रकार के परिग्रह क्षेत्र, मकान, धन, धान्य, चाँदी, सोना, दासी, दास, कपड़े, बर्तन अन्तरंग मूर्छा पैदा करने का निमित्त है, इसलिए इनसे भी भाव हिंसा होती है तथा ये द्रव्य हिंसा के भी कारण हैं। ऐसा जान निर्ग्रंथ साधु दोनों प्रकार के परिग्रह को त्याग देते हैं।

* * *

सिंहासन परिग्रह कथन

सिंहासनं स उत्तं, चौ गइ संसार आसनं सहसा।
बंधं चौविहि उत्तं, न्यान सहावेन आसनं मुक्कं॥ ४३३॥

अन्वयार्थ- (स सिंहासनं उत्तं) वास्तव में वही सिंहासन कहा गया है (चौ गइ संसार—आसनं सहसा) जो यह आत्मा अपने सिद्ध स्वभावमयी आसन को छोड़कर अचानक चार गति रूपी संसार के आसनों को प्राप्त करता रहता है तथा (चौविहि बंधं उत्तं) चार प्रकार कर्म बन्ध को भी सिंहासन कहा गया है। निर्ग्रंथों ने (न्यान सहावेन आसनं मुक्कं) अपने आत्मज्ञान के स्वभाव में स्थिर होकर इन सब आसनों का मोह त्याग कर दिया है।

भावार्थ- राजागण दीक्षा लेते हुए राज्य सिंहासन को छोड़ देते हैं। यह तो बाहरी सिंहासन त्याग है। अंतरंग सिंहासन यह है जो यह जीव शुद्ध आत्मिक भावमयी आसन को छोड़कर चार गति में भ्रमाने वाले अशुद्ध भावरूपी आसनों को रखता है तथा उन भावों से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति,अनुभाग इन चार प्रकार कर्मबंध को करता है, जिन कर्मों के उदय से चारों गतियों में भ्रमण करता है। इन सर्व विभाव भावरूपी आसनों को भी आत्मानुभवरूपी निज आसन में स्थिर होकर निर्ग्रंथ साधु छोड़ देते हैं। यही यथार्थ सिंहासन परिग्रह त्याग है।

आसन सहाव सहियं, आसवै कम्मान पुन्य पावं च।
आसवै दव्व कम्मं, न्यान बलेन आसनं मुक्कं॥ ४३४॥

अन्वयार्थ- (आसन सहाव सहियं) जो उपरोक्त चार गति में भ्रमाने वाले भावरूपी आसनों के भीतर बैठता रहता है वह मोही प्राणी (पुन्य पावं च कम्मान आसवै) पुण्य-पाप कर्मों का आस्रव करता है (आसवै दव्व कम्मं) वही सर्व आठ प्रकार द्रव्य कर्मों का आस्रव करता है ऐसा जानकर निर्ग्रंथ साधुओं ने (न्यान बलेन आसनं मुक्कं) आत्मज्ञान के बल से सर्व प्रकार के निज आसन के प्रतिपक्षी आसनों को त्याग दिया है।

भावार्थ– जिन-जिन रागद्वेषादि भावों में ठहरने से पुण्य का व पाप का अथवा आठों ही प्रकार के कर्मों का बंध होता है उन सर्व भावों का निर्ग्रंथ साधुओं ने ममत्व त्याग दिया है। मिथ्यात्व से लेकर सयोग केवली नाम के तेरहवें गुणस्थान तक मोह व योग का सम्बन्ध है। इसलिए कर्मों का आस्रव होता है। इसीलिए निर्ग्रंथ साधुओं ने मोह व योग से अथवा इनके विस्ताररूप गुणस्थानों से मोह त्याग दिया है। केवल मात्र एक निज आत्मा के शुद्ध पद से प्रेम कर लिया है, जहाँ कोई प्रकार का बंध नहीं है। इस सिंहासन पर बैठकर पर-के आसनों को त्याग देना ही सिंहासन परिग्रह त्याग है।

* * *

गृह परिग्रह कथन

ग्रहनं संसार सुभावं, दुविहि कुन्यान ग्रहन उत्पन्नं।
पुग्गल सहाव ग्रहनं, तिक्तं मन वयन काय संसुद्धं॥ ४३५॥

अन्वयार्थ– (दुविहि कुन्यान ग्रहन उत्पन्नं) दो प्रकार मिथ्याज्ञान के ग्रहण से उत्पन्न (संसार सुभावं ग्रहनं) संसार के स्वभाव को ग्रहण करना तथा (पुग्गल सहाव ग्रहनं) पौद्गलिक भावों को ग्रहण करना गृह परिग्रह है। निर्ग्रंथ साधु (मन वयन काय संसुद्धं तिक्तं) मन, वचन, काय को शुद्ध करके इस गृह परिग्रह का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ– निर्ग्रंथ साधु बाहर में तो गृह परिग्रह को छोड़ते हैं, अन्तरंग में उन सर्व सांसारिक रागद्वेष मोह भावों को छोड़ते हैं, जो भाव मिथ्या मतिज्ञान व मिथ्या श्रुतज्ञान के द्वारा पैदा होते हैं। तथा वे एक निजात्मिक भाव के सिवाय सर्व पुद्गल कर्म जनित रागादि भावों को व संकल्प-विकल्पों को मन, वचन, काय की शुद्धता के साथ छोड़ देते हैं। पर-को अपना मानना गृह परिग्रह है। जिसने पर मानने को त्याग कर निज स्वभाव में रमण किया उसी ने गृह परिग्रह का त्याग किया।

उत्पाद्यं विवग्रहनं, संबंधं सरनिबंध मित्तानं।
ग्रहनं कम्म सहावं, न्यान सहावेन तिक्त ग्रहभेयं॥ ४३६॥

अन्वयार्थ– (उत्पाद्यं विवग्रहनं) उत्पन्न किये हुए कर्मों को ग्रहण करना गृह परिग्रह है (संबंधं सरनि बंध मित्तानं) इसी मोह से बंध करने वाले संबंधी की प्राप्ति का मार्ग बढ़ता है (कम्म सहावं ग्रहनं) अर्थात् कर्म जनित भावों को ग्रहण करना गृह परिग्रह है। (न्यान सहावेन तिक्त ग्रहभेयं) इसीलिए निर्ग्रंथ साधु गृह नाम के परिग्रह को त्याग देते हैं।

भावार्थ- जो कर्म इस समय से पूर्व समयों में जीव ने अपने भावों के निमित्त से संचित किये हैं वे सर्व उत्पाद्य कर्म हैं। उनको अपना मानना गृह परिग्रह है। ये बंध आठ कर्म बंध की परिपाटी को बढ़ाने वाले हैं। उन्हीं के उदय से चार गति में भ्रमण होगा, उनमें रागद्वेष होगा, रागद्वेष से फिर बंध होगा। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इन सर्व प्रकार के पौद्‌गलिक कर्मों से ममत्व करना गृह परिग्रह है। निर्ग्रंथ साधुजन इस सर्व से मोह त्यागकर एक अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण करते हैं। यही गृह परिग्रह त्याग है।

♣ ♣ ♣

क्षिति परिग्रह कथन

छित्तं सहाव उत्तं, छित्तं अनादि काल सभावं।
चौगइ गमन सहावं, असयनं सयन छित्त परिनामं॥ ४३७॥

अन्वयार्थ- (छित्तं सहाव उत्तं) क्षेत्र परिग्रह का स्वभाव कहा जाता है (छित्तं अनादि काल सभावं) अनादिकाल से कर्मों की सत्ता का चले आना क्षेत्र है (चौगइ गमन सहावं) इसी के कारण चारों गतियों में जीव का भ्रमण रहता है (असयनं सयन छित्त परिनामं) जागृत व निद्रित दो ही इस क्षेत्र की अवस्था है।

भावार्थ- जहाँ धान्य पैदा होते हैं उस भूमि को खेत कहते हैं। साधु बाहरी खेत परिग्रह के त्यागी हैं। अन्तरंग में खेत अनादि काल से चले आए हुए कर्मों का सम्बन्ध है। इसी खेत के कारण कर्मों के फल से चारों गति में यह जीव भ्रमण करता है। कर्मों की सत्ता में जब सम्यक्त्व अवस्था होती है तो यह प्राणी अपने स्वरूप में जागता है और जब मिथ्यात्व अवस्था होती है तब अपने स्वरूप में शयन करता है। इस कर्मरूपी खेत के मोह से भी निर्ग्रंथ विरक्त हैं।

छित्तं उवनं उत्तं, छित्तं संसार सरनि सभावं।
छित्तं भवन सहावं, न्यान सहावेन छित्त तिक्तंति॥ ४३८॥

अन्वयार्थ- (छित्तं उवनं उत्तं) क्षेत्र उपवन को कहा गया है (छित्तं संसार - सरनि सभावं) अंतरंग क्षेत्र संसार मार्ग की सत्ता को कहा गया है (छित्तं भवन सहावं) जहाँ खेत है वहाँ उत्पत्ति होती रहती है यही खेत का स्वभाव है (न्यान सहावेन छित्त तिक्तंति) निर्ग्रंथ साधु ज्ञान स्वभाव में रमण करके बहिरंग व अन्तरंग क्षेत्र को त्याग देते हैं।

भावार्थ- जहाँ बीज बोये जावें व फल उपजे उसे ही क्षेत्र कहते हैं, बाहर में उपवन या खेत क्षेत्र हैं। अन्तरंग में संसार के फलों को उत्पन्न करने वाला कर्मरूपी खेत है। खेत का स्वभाव ही

सदा फलों को उत्पन्न करना है। ऐसा जानकर साधुजन बाहरी व अन्तरंग दोनों प्रकार के क्षेत्र परिग्रह को त्याग देते हैं व अपने ज्ञान स्वभाव में एकाग्र हो जाते हैं। वे कर्म के प्रपंच-जाल से विरक्त हो कर्म रहित पद की भावना करते हैं।

* * *

सुवर्ण परिग्रह कथन

सुवर्न भाव स उत्तं, सुरयं अनृत भाव अथिरनं।
चंचल सहाव सुवर्नं, तिक्तंति न्यान सुद्ध सहकारं॥ ४३९॥

अन्वयार्थ- (सुवर्न भाव स उत्तं) सुवर्ण स्वभाव उसे कहा गया है जो (अनृत भाव अथिरनं सुरयं) मिथ्या, कल्पित व अथिर भावों में रंजायमान हुआ जावे (चंचल सहाव सुवर्नं) भावों में चंचलता होना ही सुवर्ण है (सुद्ध न्यान सहकारं तिक्तंति) तत्त्वज्ञानी शुद्ध ज्ञान की सहायता से इस सुवर्ण परिग्रह को त्याग देते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु बाहर में सुवर्ण के त्यागी हैं, अन्तरंग में सुवर्ण सदृश भावों के त्यागी हैं। संसार शरीर भोगों में व इनके लिए नाना प्रकार संकल्प-विकल्पों में रंजायमान होना सुवर्ण है। ये संसार की अवस्थाएँ अथिर हैं, मिथ्या हैं व कल्पित हैं। प्राणियों ने मोहवश किन्हीं को अच्छा व किन्हीं को बुरा मान लिया है। आत्मा में समतारूप न होकर इंद्रिय विषयों की ही इच्छा से चंचल रहना एक तरह सुवर्ण भाव है। जो अच्छा दिखे वह सुवर्ण है। इन सर्व सुवर्ण सदृश संसार से मोह बढ़ाने वाले भावों से साधुजन विरक्त रहते हैं। यही सुवर्ण परिग्रह त्याग है।

* * *

धन धान्य परिग्रह कथन

धन धान्य अभ्र पटलं, विनास रुवेन चेयना रहियं।
अनृत असत्य सहियं, धन धान्य तिक्त सुद्ध सहकारं॥ ४४०॥

अन्वयार्थ- (धन धान्य अभ्र पटलं) धन धान्य परिग्रह बादलों के समान (विनासरुवेन) नाशवंत है (चेयना रहियं) ज्ञान चेतना से रहित (अनृत असत्य सहियं) जो कुछ मिथ्या व क्षणिक संसार की अवस्थाएं हैं वे सभी (धन धान्य) धन धान्य हैं इनको (सुद्ध सहकारं तिक्त) शुद्ध भावों की सहायता से साधुओं ने त्याग दिया है।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु बाहर में धनधान्य परिग्रह के त्यागी हैं, अंतरंग में अपनी ज्ञान चेतना रूप स्वानुभूति के सिवाय जितनी रागद्वेष संकल्प-विकल्प रूप अथिर व मिथ्या विभाव परिणितियाँ हैं वे धन-धान्य हैं उनके त्यागी हैं। शुद्ध ज्ञान के अनुभव की सहायता से निर्ग्रंथ साधुओं ने इन सर्व धनधान्यों का त्याग कर दिया है।

♣ ♣ ♣

कुप्य परिग्रह कथन

कुप्पं कुधर्म जुत्तं, अंधं अधुवं च अधुव ससहावं।
अन्यान मिच्छ सहियं, न्यान बलेन कुप्य तिक्तंति॥ ४४१॥

अन्वयार्थ- (कुप्पं कुधर्म जुत्तं) वस्त्र परिग्रह व वस्त्र स्वभाव रूप कुधर्म सहित परिणाम (अंधं अधुवं च) अज्ञान रूप अन्ध है व नाशवन्त है (अधुव ससहावं) उसका स्वभाव ही अनित्य है (अन्यान मिच्छ सहियं) जो कुछ भी मन-वचन-काय की क्रिया मिथ्याज्ञान है व मिथ्या दर्शन सहित है सो (कुप्प) कुप्य परिग्रह है उसे (न्यान बलेन तिक्तंति) निर्ग्रंथ साधु आत्मज्ञान के बल से छोड़ देते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु बाहर से तो वस्त्र का त्याग करते हैं अंतरंग में शुद्ध भाव के आच्छादने वाले सर्व ही मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान संयुक्त भावों को, रागद्वेषों को, संकल्प-विकल्पों को त्याग देते हैं। कर्मजनित सभी भाव नाशवंत हैं। उनमें रंजायमान होना अन्धपना है व मूर्खता है, ऐसी मूर्खता का त्याग सो ही कुप्य परिग्रह त्याग है।

♣ ♣ ♣

भाजन परिग्रह कथन

भाजन मिथ्य सहावं, संसारे दुष्य भाजनं उत्तं।
भाजन विकह स उत्तं, भाजन तिक्तंति न्यान सहकारं॥ ४४२॥

अन्वयार्थ- (भाजन मिथ्य सहावं) भाजन वर्तन को कहते हैं, बाहर में वर्तनों का रखना परिग्रह है। अंतरंग में भाजन के समान मिथ्यात्व भाव को रखना परिग्रह है, यह मिथ्या दर्शन (संसारे दुष्य भाजनं उत्तं) संसार में दुःखों का भाजन कहा गया है (विकह स भाजन उत्तं) स्त्री आदि विकथाओं में रंजायमान होना भी भाजन परिग्रह है (न्यान सहकारं भाजन तिक्तंति) ज्ञान की सहायता से ऐसे भाजन का त्याग साधुजन कर देते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु सिवाय पीछी व कमण्डल के और कोई बर्तन नहीं रखते हैं। आरम्भकारक सर्व भाजनों के त्यागी हैं। अन्तरंग में सर्व प्रकार के सांसारिक दुःखों को देने वाले मिथ्यात्व भाव के त्यागी हैं। तथा वे कभी स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा व राजाकथा में रंजायमान होकर वृथा पाप को नहीं बाँधते हैं। यही भाजन परिग्रह का त्याग है।

♣ ♣ ♣

दुपद परिग्रह कथन

दुपदं दुबुहि जुत्तं, अन्यानं न्यान सुद्ध पद रहियं।
दुपदं अनिस्ट दिस्टं, इस्टं विओय दुपद तिक्तं च॥ ४४३॥

अन्वयार्थ- (दुपदं दुबुहि जुत्तं) दुपद परिग्रह दासी-दास को कहते हैं, अंतरंग में दुपद परिग्रह दुर्बुद्धि सहित भाव को कहते हैं (अन्यानं न्यान सुद्ध पद रहियं) या उस मिथ्याज्ञान को कहते हैं जहाँ शुद्ध ज्ञानमयी निज पद का अनुभव नहीं है (अनिस्ट दिस्टं दुपदं) जहाँ आत्मा की अहितकारी भावों पर दृष्टि है वह दुपद है (इस्टं विओय दुपद) या आत्मध्यान जो आत्मा को हितकारी है उससे वियोग है सो दुपद है (तिक्तं च) ऐसे दुपद परिग्रह के त्यागी निर्ग्रंथ साधु होते हैं।

भावार्थ- निज पद आत्मा का श्रद्धान ज्ञान व चारित्रमयी आत्मानुभव है इससे विरुद्ध भाव सो सब दुपद, अपद व दुःखकारी परपद है। आत्मा का अहित परपद में रमण से है व आत्मा का हित निज पद में रमण से है। यह दुपद परिग्रहधारी निजपद में न रमण कर परपद में ही रमण किया करता है। निर्ग्रंथ साधु इस परपद रमण को त्यागकर निजपद में रमण करते हुए दुपद परिग्रह के त्यागी होते हैं।

दुपदं दुर्मति जुत्तं, हिंसानंदी च दुर्बुधि जुत्तं।
दुपदं निगोय भावं, न्यान सहावेन दुपद तिक्तं च॥ ४४४॥

अन्वयार्थ- (दुपदं दुर्मति जुत्तं) दुपद कुमतिज्ञान सहित भाव है (हिंसानंदी च - दुर्बुधि जुत्तं) हिंसानंदी और मिथ्या शास्त्रज्ञान सहित है (दुपदं निगोय भावं) दुपद निगोद में ले जाने वाला भाव है (न्यान सहावेन दुपद तिक्तं च) इसलिए निर्ग्रंथ साधु ज्ञान स्वभाव में ठहरकर दुपद परिग्रह का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- स्वपद से उल्टा दुपद है। जिन भावों में रमण करने से यह प्राणी मोक्षमार्ग से छूट जावे उन सब भावों की श्रेणी दुपद है। कुमतिज्ञान व कुश्रुतज्ञान से वासित परिणाम संसारवर्धक विषय भोगों की तृष्णा में फंसा रहता है, आत्मानंद को कभी श्रद्धान नहीं करता है। वह धनादि के

हेतु पर को पीड़ा देने में संकोच नहीं रखता है। हिंसानंदी रौद्रध्यान में वर्तन करता है। महा अज्ञान रूप भाव जिससे धर्म के जानने की बिल्कुल उत्कंठा न हो, जो पाप में धर्म मानता है, ऐसे भावों से यह जीव निगोद पर्याय में चला जाता है। वहाँ बहुत ही कम आत्मज्ञान व्यक्त रहता है। निर्ग्रंथ साधु जैसे बाहर दासी-दास दुपद का त्याग करते हैं वैसे वे अंतरंग के दुपद पर में आसक्त होने रूप भावों को भी त्याग देते हैं।

♣ ♣ ♣

चतुर्पद परिग्रह कथन

चतुपद चौगइ सहियं, चौगइ चौकषाय संजुत्तं।
घाय चवक्कय सहियं, चौविहि बंधं च बंध सहकारं॥ ४४५॥
ठिदि अनुभाग स उत्तं, प्रकृति प्रदेस बंध सुह असुहं।
चौपद बन्ध सहावं, न्यानबलेन चौपदं तिक्तं॥ ४४६॥

अन्वयार्थ– (चतुपद चौगइ सहियं) चतुपद परिग्रह चार गति संबंधी परिग्रह है (चौगइ चौ कषाय संजुत्तं) तथा चार गति में होने वाले चारों प्रकार के कषायों से मिला हुआ भाव है (घाय चवक्कय सहियं) चार घातिया कर्मों के उदय रूप भाव हैं (चौविहि बंधं च बंधं सहकारं) चार प्रकार बंध रूप भाव हैं जिनसे कर्मों का बंध होता है (ठिदि अनुभाग प्रकृति प्रदेस बंध सुह असुहं स उत्तं) वह बंध स्थिति, अनुभाग, प्रकृति, प्रदेश रूप शुभ तथा अशुभ कहा गया है (चौपद बंध सहावं) इस तरह के चार प्रकार बंध के स्वभाव को (न्यान बलेन चौपदं तिक्तं) ऐसे चतुर्पद परिग्रह को आत्मज्ञान के बल से निर्ग्रंथ साधु त्याग देते हैं।

भावार्थ– निर्गंथ साधु बाहर में तो गाय भैंसादि चार पग वालों के परिग्रह को त्यागते हैं। अन्तरंग में उन सर्व भावों को चार पद रूप जानकर त्याग देते हैं जैसे– (१)चार गति की नाना प्रकार की अवस्थाओं में रागद्वेष भाव को। वे न तो देवगति व मानवगति में मोह करते हैं, न नर्क व पशुगति से द्वेष करते हैं। (२) चार गति में ले जाने वाले अर्थात् चार गति का बंध कराने वाले कषाय भाव को। (३) चार प्रकार कर्म बंध को जो पुण्य-पाप रूप से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप होता है; तथा (४) चार घातिया कर्मों के उदय रूप भाव को अर्थात् अज्ञान, अदर्शन, मिथ्यात्व, अशांत भाव तथा आत्म बल की निर्बलता को। इत्यादि सर्व विभावों को त्याग देते हैं। यही चतुर्पद परिग्रह त्याग है।

♣ ♣ ♣

जानस परिग्रह कथन

जानस़ कुमय सहावं, कुश्रुति कुअवधि दिस्टि संचरनं।
व्रत संजम तव उत्तं, न्यान विन्यान जानसं तिक्तं॥ ४४७॥

अन्वयार्थ- (जानस कुमय सहाव) बाहर जानस रथादि सवारी है अन्तरंग जानस कुमतिमय स्वभाव है तथा (कुश्रुति कुअवधि दिस्टी संचरनं) कुश्रुत व कुअवधि ज्ञान में लीन होता है (व्रत संजम तव उत्तं) इस कुज्ञान सहित जो व्रत, संयम तप में आरूढ़ होना कहा गया है वही जानस है ऐसे (जानसं) वाहन को (न्यान विन्यान तिक्तं) सम्यग्ज्ञान के बल से निर्ग्रंथ साधु त्याग देते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु किसी रथ, गाड़ी, ऊँट, घोड़ा, हाथी, पालकी आदि सवारी पर नहीं चढ़ते हैं। वे बाहर से सर्व वाहनों के त्यागी होते हैं। वे अन्तरंग वाहनों के भी त्यागी होते हैं। मिथ्यात्व सहित मति, श्रुत, अवधिज्ञान, विपर्यय मार्ग में प्रेरित करता है। इस विपरीत बुद्धि सहित श्रावक व मुनि के व्रत पालना, संयम रखना व तप करना ये सब मिथ्या हैं, संसारवर्द्धक हैं। इस मिथ्या भावरूपी सवारी को भी निर्ग्रंथ साधु आत्मज्ञान के अनुभव के बल से छोड़ देते हैं। वे यथार्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के पालक होते हैं।

वाहिज ग्रंथ सुभावं, संसारे सरनि दुष्य वीयंमि।
तिक्तंति साधु सुद्धं, न्यान बलेन कम्म विलयंति॥ ४४८॥

अन्वयार्थ- (साधु सुद्धं) परम शुद्ध भाव धारी निर्ग्रंथ साधु (संसारे सरनि दुष्य-वीयंमि वाहिज ग्रंथ सुभावं तिक्तंति) संसार मार्ग में भ्रमण कराने वाले व दुःखों के बीज रूप बाहरी परिग्रह के ऊपर लिखित स्वभावों को त्याग देते हैं (न्यान बलेन कम्म विलयंति) वे आत्मज्ञान के बल से सर्व परिग्रह को त्याग कर्मों का नाश करते हैं।

भावार्थ- ऊपर लिखित बाहरी परिग्रह को जो बाहर से त्यागते हैं व अंतरंग में उन बाहरी परिग्रह सम्बन्धी भावों को त्यागते हैं जो भाव संसार में भ्रमण कराने वाले हैं व चारों गति के दुःखों को पैदा करने वाले हैं। आत्मज्ञान के ध्यान में लीन होकर वे निर्ग्रंथ साधु अपने पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करते हैं।

♣ ♣ ♣

अभ्यंतर परिग्रह कथन

आभितर ग्रंथ स उत्तं, मनवय कायेन ग्रंथ संवरनं।
ग्रंथ सहावं पिच्छदि, न्यान बलेन सयल तिक्तं च॥ ४४९॥

अन्वयार्थ- (आभितर ग्रंथ स उत्तं) भीतरी परिग्रह उसको कहा गया है जो (मनवय कायेन ग्रंथ संवरनं) मन वचन काय से अपने को रागादि भावों से वेष्टित कर लेना ऐसा परिग्रह धारी है (ग्रंथ सहावं पिच्छदि) रागादि भावों का ही अनुभव करता है, निर्ग्रंथ साधु (न्यान बलेन सयल तिक्तं च) आत्मज्ञान के बल से इस सर्व ही भीतरी परिग्रह का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- आत्मा का स्वभाव वीतराग विज्ञानमय है। इस स्वभाव को आच्छादन करने वाले अज्ञान व कषाय हैं। जो प्राणी अज्ञान व कषाय के वशीभूत हो मन, वचन, काय की क्रिया करता है वह अपने शुद्ध भावों का अनुभव न करके अशुद्ध रागादि भावों का ही अनुभव करता है। इस भीतरी परिग्रह को निर्ग्रंथ साधु आत्मानुभव के बल से त्याग देते हैं।

♣ ♣ ♣

मिथ्यात्व परिग्रह कथन

मिच्छात वेवि कहियं, मिच्छातं समय मिच्छ संजुत्तं।
कुन्यानं सयल सहावं, मिच्छा तिक्तंति न्यान सहकारं॥ ४५०॥

अन्वयार्थ- (मिच्छात वेवि कहियं) मिथ्यात्व परिग्रह दो प्रकार का कहा गया है (मिच्छातं समय मिच्छ संजुत्तं) एक तो मिथ्यात्व भाव दूसरे सम्यक्त मिथ्यात्व भाव निर्ग्रंथ साधु (न्यान सहकारं) आत्मज्ञान की सहायता से (कुन्यानं सयल सहावं मिच्छा तिक्तंति) मिथ्याज्ञान व शल्य सहित सर्व मिथ्यात्व को त्याग देते हैं।

भावार्थ- जिस भाव में तत्त्व का बिलकुल श्रद्धान न हो वह मिथ्यात्व भाव है। जिस भाव में सच्चे व झूठे तत्त्वों का मिला हुआ श्रद्धान हो वह सम्यक्त्व मिथ्यात्व भाव है। निर्ग्रंथ साधु इन दोनों ही प्रकार के भावों को अपने आत्मज्ञान की सहायता से बिलकुल त्याग देते हैं। वे मिथ्याज्ञान को त्यागकर सम्यग्ज्ञान की आराधना करते हैं। उनमें माया, मिथ्या, निदान तीन प्रकार की शल्यें नहीं होती हैं।

मिच्छा मिच्छ सहावं, जिनवयनं च लोपनं उत्तं।
अनृत असत्य सहियं, असरनं दुष भाजनं मिथ्या॥ ४५१॥

अन्वयार्थ- (मिच्छा मिच्छ सहावं) मिथ्यात्व परिग्रह मिथ्यात्व स्वभाव रूप है (जिनवयनं च लोपनं उत्तं) जिन वचन का लोप करना भी मिथ्यात्व कहा गया है। (अनृत असत्य सहियं) जो भाव असत्य व मिथ्यात्व सहित है (मिथ्या असरनं दुषभाजनं) वह मिथ्यात्व है। यह भाव जीव को संसार में रक्षा करने वाला नहीं है, दुःखों को देने वाला है।

भावार्थ- वस्तु अनेकांत स्वरूप है, किसी अपेक्षा नित्य है किसी अपेक्षा अनित्य है। इस बात को न समझकर उसे एक रूप ही मानना मिथ्यात्व है। जिनेन्द्र की वाणी अनेकांत स्वरूप है स्याद्वाद नय गर्भित है। उसे यथार्थ न समझकर जिन आज्ञा के विरुद्ध मनमानी बर्ताव करने का भाव करना। सच्चेदेव, शास्त्र, गुरु को न मानकर कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु की भक्ति करना, हिंसादि पापों में धर्म मानना, ये सब मिथ्यात्व हैं। मिथ्यात्व भाव से जगत के स्वप्नवत् चारित्र में रंजायमान होकर विषय भोग की तृष्णा में फंसा रहता है। तीव्र कषाय से तीव्र पाप बाँधकर प्राणी दुर्गति में जाकर दुःख उठाता है। वहाँ कोई भी दुःखों से बचाने वाला नहीं मिलता है। कर्मों के उदय से कोई भी जगत में रक्षक नहीं है।

मिच्छा असत्य उत्तं, अप्पा परमप्प भाव नहु पिच्छं।
प्रपंच विंभ्रम सहियं, न्यान सहावेन मिच्छ तिक्तंति॥ ४५२॥

अन्वयार्थ- (असत्य मिच्छा उत्तं) जो सत्य नहीं है उसको सत्य जानना मिथ्यात्व कहा गया है। मिथ्यात्व सहित अज्ञानी प्राणी (अप्पा परमप्प भाव नहु पिच्छं) आत्मा और परमात्मा के स्वभावों को श्रद्धान में नहीं लाता है। (प्रपंच विंभ्रम सहियं) जगत के प्रपंच में और भ्रम बुद्धि में अटका रहता है (न्यान सहावेन मिच्छ तिक्तंति) निर्ग्रंथ साधु अपने आत्मज्ञान के स्वभाव से इस मिथ्यात्व को त्याग देते हैं।

भावार्थ- आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमात्मा के समान है। परमानन्द आत्मा ही में है। इस सत्य को न समझकर मिथ्यात्वी अज्ञानी प्राणी सांसारिक सुखों को जो क्षण भंगुर हैं व जो कल्पित तथा असत्य हैं उनको ही यथार्थ सुख मान लेता है। इन्द्रिय सुखों की तृष्णावश जगत की माया में उलझा रहता है। ऐसा मिथ्यात्व भावरूपी परिग्रह निर्ग्रंथ साधुओं के नहीं होता है क्योंकि वे सम्यग्ज्ञानी होते हुए आत्मा के यथार्थ ज्ञाता होते हैं व आत्मानन्द के ही रसिक होते हैं। उनको संसार शरीर भोगों से पूर्ण वैराग्य रहता है।

मिच्छा समय स उत्तं, समयं संजुत्तु मिच्छ उवएसं।
विस्वासं तव मूढा, निगोयवासं च मिच्छ तिक्तंते॥ ४५३॥

अन्वयार्थ- (मिच्छा समय स उत्तं) सम्यक् मिथ्यात्व या मिश्र श्रद्धान उसे कहा गया है जहाँ (समयं सुंजुत्तु मिच्छ उवएसं) सम्यक्त्व के साथ-साथ मिथ्यात्व का उपदेश ग्रहण किया जावे (मूढा विस्वासं तव) अज्ञानी ऐसा विश्वास करते हैं (मिच्छ निगोयवासं च) ऐसा मिथ्यात्व भी निगोद में ले जाने वाला है। निर्ग्रंथ साधु (तिक्तंते) इसे त्याग देते हैं।

भावार्थ- जहाँ सच्चा झूठा मिला हुआ श्रद्धान हो उसे दही-गुड़ के मिले हुए स्वाद के समान सम्यक्त्व मिथ्यात्व भाव कहते हैं। यह भी एक प्रकार का मिथ्यात्व ही है। इसके होते हुए भी निर्मल तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता है। मिथ्यात्वभाव अज्ञान रूप है। एकेन्द्रिय साधारण वनस्पति की निगोद पर्याय में दीर्घकाल वास कराने वाला है। निर्ग्रंथ साधु ऐसे मिथ्यात्व परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं।

♣ ♣ ♣

राग परिग्रह कथन

रागादि भाव कहियं, रागं संबन्ध सरनि संसारे।
रागं आरति पुन्यं, न्यान सहावेन राग विलयंति॥ ४५४॥

अन्वयार्थ- (रागादि भाव कहियं) रागादि को परिग्रह कहा जाता है (संसारे सरनि रागं संबंध) संसार के मार्ग से राग का संबंध करना राग परिग्रह है तथा (आरति पुन्यं रागं) आर्तध्यान करते हुए पुण्य कमाने का राग रखना राग परिग्रह है (न्यान सहावेन राग विलयंति) निर्ग्रंथ साधु अपने ज्ञान स्वभाव में संतोष मानकर सर्व सांसारिक राग भाव का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- राग भाव भी अन्तरंग परिग्रह है। आदि कहने से रति परिग्रह भी राग में गर्भित है। संसार चार गति रूप है, इंद्रिय विषयों में उलझा हुआ है। इन्हीं इंद्रिय विषयों की चाह में जलना राग है तथा इसी भाव से अनेक शुभ कार्य - व्रत, उपवास, तप आदि करना - आगामी इंद्रिय सुख मिले ऐसा निदान भाव रखना सो सब राग परिग्रह है। आत्मज्ञानी साधु इस सर्वराग से विरक्त रहते हैं।

♣ ♣ ♣

द्वेष परिग्रह कथन

दोषं रौद्र सहावं, हिंसानंदी अव्रित असत्य नंदीओ।
अबंभ नंद नंदं, दोषं तिक्तंति न्यान सहकारं॥ ४५५॥

अन्वयार्थ– (दोषं रौद्र सहावं) दुष्ट स्वभाव रखना द्वेष परिग्रह है (हिंसानंदी) हिंसा करने, कराने में व अनुमोदना में आनंद मानना (अव्रित असत्य नंदीओ) मिथ्या व अज्ञानमयी सांसारिक पदार्थों में लीन होकर उनके विरोधियों से द्वेष करना (अबंभ नंद नंदं) कुशील भावों में आनंद मानकर इसके रोकने वालों में द्वेष भाव रखना (दोषं न्यान सहकारं तिक्तंति) ऐसे द्वेष परिग्रह को साधुजन आत्मज्ञान की सहायता से त्याग देते हैं।

भावार्थ– विषयों में आसक्ति ही द्वेष भाव उत्पत्ति में कारण है। धनादि की व विषय भोगों की चाह के वश में पड़कर यह अज्ञानी प्राणी मानवों को मृषा व चोरी से ठगने में वर्तता है। मांस के लोभ से पशुओं की हिंसा में प्रवर्तता है। कुशील के लोभ से पर स्त्रियों की चाह करके उनके स्वामियों से द्वेष करता है। जो जो बाधक उसके स्वार्थ साधन में होते हैं उनसे द्वेष करके परिणामों को हिंसक व दुष्ट रखना द्वेष परिग्रह है। ज्ञानी साधु इससे बिल्कुल दूर रहते हैं।

* * *

हास्य परिग्रह कथन

हास्य विकहा सुभावं, रागादि मिथ्या कषाय संजुत्तं।
हास्यानंद सुभावं, हास्यं तिक्तंति न्यान उवएसं॥ ४५६॥

अन्वयार्थ– (हास्य विकहा सुभावं) विकथाओं के भीतर रति करके हास्य किया जाता है। यह हास्य भाव (रागादि मिथ्या कषाय संजुत्तं) रागद्वेष मिथ्यात्व व कषाय भावों से भरा होता है (हास्यानंद सुभावं) हास्य में मन के भीतर पर की हिंसा में आनंद भाव रहता है (न्यान उवएसं हास्यं तिक्तंति) सम्यग्ज्ञान के उपदेश को मानने वाले साधु हास्य परिग्रह को त्याग देते हैं।

भावार्थ– स्त्री कथा, भोजन कथा, देश-कथा, राजा-कथा, पर की निंदा, अपनी प्रशंसा आदि अनेक प्रकार की खोटी कथाओं के द्वारा हास्य परिणाम प्रगट किये जाते हैं। हँसी ठट्ठा करने में मिथ्यात्व भाव आ जाता है। रागभाव - लोभ-कषाय व माया-कषाय परिणामों में रहता है। पर की हिंसा व बिगाड़ हुआ हो उसमें आनंद मानता हुआ पर की हँसी उड़ाता है, ऐसे हास्य परिग्रह को आत्मज्ञान की सहायता से साधुजन त्याग देते हैं। रागद्वेष की तीव्रता व संसारासक्ति के बिना हास्य करने के

भाव नहीं होते हैं। इन हास्य भावों में उलझना साम्यभाव से गिर जाना है। ज्ञानीजन इससे सर्वथा विरक्त रहते हैं।

हास्यं अबंभ रुवं, रति संसार सरनि ठिदि करनं।
आरति दुर्बुहि रुवं, न्यान वलेन तिक्त सव्वानं॥ ४५७॥

अन्वयार्थ- (हास्यं अबंभ रुवं) कुशील स्वभाव हास्य परिग्रह में रहता है (रति संसार सरनि ठिदि करनं) हास्य में संसार मार्ग के प्रेम का स्थितिकरण किया जाता है (आरति दुर्बुहि रुवं) हास्य आर्तध्यान है तथा कुबुद्धि रूप है (न्यान वलेन -सव्वानं तिक्त) आत्मज्ञान के बल से साधु इन सब हास्य के भावों को छोड़ देते हैं।

भावार्थ- हँसी दिल्लगी तब की जाती है जब भीतर कुशील का भाव रहता है तथा कुशील भाव को ही यह हास्य दूसरों के मन में जागृत करता है। हास्य करने से आपको और दूसरों को संसार मार्ग के प्रेम में प्रेरित किया जाता है। खोटी बुद्धि भी हास्य में रहती है। किसी को चिढ़ाने का व बनाने का भाव रहता है भोगाभिलाष रूप निदान नाम का आर्तध्यान हास्य में गर्भित रहता है। कभी किसी के इष्ट वियोग पर उसकी हँसी की जाती है या अनिष्ट संयोग में हँसी की जाती है या किसी को चोट लग गई है तब हँसी की जाती है। चारों ही प्रकार के आर्तध्यान हास्य में आ जाते हैं। अतएव साधुजन आत्मानुभव के अभ्यास में तन्मय रहते हुए हास्य परिग्रह को बड़े भाव से जीतते हैं।

* * *

वेद परिग्रह कथन

अस्त्री अस्तिति रुवं, पुंसह पूर्व सहकार मिच्छातं।
नपुंसय गुनहीनं, न्यान सहावेन सयल तिक्तं च॥ ४५८॥

अन्वयार्थ- (अस्त्री अस्तिति रुवं) स्त्री वेद, स्त्री संबंधी भाव को कहते हैं (पुंसह पूर्व सहकार मिच्छातं) पुरुष वेद स्त्री वेद का सहकारी मिथ्या भाव है (नपुंसय गुनहीनं) नपंसुक वेद स्त्री या पुरुष दोनों के गुणों से रहित मिश्रित भाव है (न्यान सहावेन सयल तिक्तं च) साधुजन आत्मज्ञान के स्वभाव से इस सर्व को त्याग देते हैं।

भावार्थ- पुरुष के साथ मैथुन करने के भाव को स्त्री वेद कहते हैं, स्त्री के साथ मैथुन करने के भाव को पुरुष वेद कहते हैं। स्त्री व पुरुष उभय से मैथुन करने के भाव को नपुंसक वेद कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी कहते हैं "स्त्री वेदोदयात् स्त्यायति अस्यां गर्भ इति स्त्रीः। पुंवेदोदयात्

सूते जनयत्यवत्यं इति पुमान्। नपुंसकवेदोदयात् तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्।" स्त्री वेद के उदय से जिसके गर्भ धारण कराने की भावना हो वह स्त्री है। पुंवेद के उदय से सन्तान उत्पन्न करने की भावना हो वह पुरुष है, नपुंसक वेद के उदय से दोनों की शक्ति न हो सो नपुंसक है। तीनों शब्द रूढ़िवाचक हैं। प्रयोजन वहाँ काम वासना का है। कामभाव तीनों वेदों में पाया जाता है। ब्रह्मभाव में रमण करने वाले साधु तीनों ही प्रकार के कामभाव को जीतते हैं।

* * *

लोभ कषाय निरूपन

कषायं उवएसं, चौगइ संसार सरनि संजुत्तं।
जहं जहं कम्म सहावं, तहं तहं कषाय रसिय मिच्छातं॥ ४५९॥

अन्वयार्थ– (कषायं उवएसं) अब लोभादि कषायों के परिग्रह का उपदेश करते हैं (चौगइ संसार सरनि संजुत्तं) ये कषाय चारों गति के मार्ग में भ्रमण कराने वाले हैं कर्मों में स्थिति व अनुभाग कषायों से पड़ता है (जहं जहं कम्म सहावं) जहां जहां कर्मों के उदय का स्वभाव देखा जाता है (तहं तहं कषाय रसिय मिच्छातं) वहां वहां कषायों में रसिकपना है और मिथ्यात्व है।

भावार्थ– आत्मा के स्वभाव को जो मलिन करे उसे कषाय कहते हैं। आठों ही कर्मों में स्थिति व अनुभाग कषायों की तीव्रता व मन्दता के कारण से कम व अधिक पड़ता है। स्थिति व अनुभाग ही चारों गतियों में से भिन्न-भिन्न गति में जीव को कैद रखकर सुख या दुःख का फल भुगवाने में कारण है। जहाँ-जहाँ कर्मों का उदय हो, और यह अज्ञानी प्राणी उनमें रंजायमान या क्लेशित हो तो वहाँ अवश्य मिथ्यात्व सहित कषायों के द्वारा ही रंजितपना है। यदि राग भाव होता है तो सुख दुःख में व उनके कारणों में लीन हो जाता है। यदि द्वेष भाव होता है तो दुःखों से छूटने की आकुलता करता है। सर्व परिग्रह का मूल कषाय परिग्रह है। इसी से इच्छा तथा द्वेष होते हैं। धन्य हैं वे निर्ग्रंथ साधु जो इन कषायों को जीतते हुए वीतराग भाव में लीन रहते हुए निज आत्मा के आनन्दरूपी रस का पान करते हैं।

लोभं अनृत रुवं, अनृत असत्य सहित जो मिथ्या।
तं लोभं नहु पिच्छदि, जं लोभं दुष कारणं सहियं॥ ४६०॥

अन्वयार्थ– (लोभं अनृत रुवं) लोभ का स्वभाव ही मिथ्या है (अनृत असत्य सहित जो मिथ्या) यह लोभ क्षणभंगुर कल्पित पदार्थों के संबंध में होता है। इसी से मिथ्या है (जं लोभं दुष कारणं सहियं तं लोभं नहु पिच्छदि) यह लोभ संसार के दुःखों का कारण है। इस लोभ का साधुजन दर्शन भी नहीं करते हैं।

भावार्थ- विषय भोगों की तृष्णा ही लोभ है। संसार के सुखों की इच्छा ही लोभ है। संसार के इन्द्रियजनित सुख सब अनित्य व असत्य पदार्थों के संबंध से होते हैं। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह, खेत आदि वस्तुओं की चाह करके उन सबको अपनाना चाहता है, परन्तु वे अपने बनते नहीं वे छूट जाते हैं या आप उनको छोड़ देता है। इसका लोभ करना वृथा ही इसको पाप बंध का कारण हो जाता है। ज्ञानी साधु सर्व क्षणिक जगत की माया से मुँह मोड़ चुके हैं। वे आत्म विभूति के व आत्मानन्द के रसिक हो गये हैं। अतएव उन ज्ञानी साधुओं ने सुगमता से ही लोभ परिग्रह को जीत लिया है।

लोभं पुन्य सहावं, असत्य सहित राइ जं मिथ्या।
न्यान विना वय धरनं, तं लोभं तिक्त न्यान सहकारं॥ ४६१॥

अन्वयार्थ- (लोभं पुन्य सहावं) पुण्य की प्राप्ति का लोभ (असत्य सहित राइ जं मिथ्या) मिथ्या क्षणिक पदार्थों में रंजायमानपना है इसलिए मिथ्या है (न्यान विना वय धरनं) जैसे आत्मज्ञान के बिना महाव्रतों को व अणुव्रतों को पालना (तं लोभं न्यान सहकारं तिक्त) ऐसे लोभ को ज्ञान की सहायता से निर्ग्रंथ साधु त्याग देते हैं।

भावार्थ- पाप कार्यों के करने का लोभ तो बुरा है ही किन्तु, पुण्य बंध कारक शुभ कार्यों को करके मैं पुण्य कमाऊँ जिससे भविष्य में मनोज्ञ इन्द्रिय विषयों को प्राप्त करूँ ऐसा लोभ भी मिथ्या है। क्योंकि वह नाशवंत संसार के अतृप्तिकारक भोगों की वासना में उलझा हुआ है। जो कोई आत्मोन्नति तथा आत्मानुभव व आत्मानन्द की प्राप्ति की भावना न करके मात्र पुण्य बंध के हेतु से व्रतों को आचरण करता है वह लोभ व तृष्णा के परिग्रह से विरक्त नहीं है। ऐसे पुण्य के लोभ को भी निर्ग्रंथ साधु त्याग देते हैं।

* * *

क्रोध परिग्रह कथन

कोहं कोहाग्नि उत्तं, कोहं थावर त्रस अभाव संजुत्तं।
कोहं कम्म उवन्नं, तिविहि कम्मान वर्धनं कोहं॥ ४६२॥

अन्वयार्थ- (कोहं कोहाग्नि उत्तं) क्रोध परिग्रह को क्रोध की आग कहा गया है क्योंकि (कोहं थावर त्रस अभाव संजुत्तं) क्रोध की आग स्थावर व त्रस प्राणियों को घात करने वाली होती है (कोहं कम्म उवन्नं) क्रोध से कर्मों का बंध होता है (कोहं तिविहि कम्मान वर्धनं) क्रोध तीनों प्रकार के कर्मों को बढ़ाता है।

भावार्थ- क्रोध का परिग्रह जिसके भीतर रहता है वहाँ द्वेष की आग जला करती है। जिससे उसके परिणाम हिंसात्मक होते हैं। दया का भाव चित्त में से चला जाता है। हिंसात्मक भाव से वह क्रोधी प्राणी मानवों को, पशुओं को, वृक्षादिकों को कष्ट पहुँचाता है, उनके प्राण ले लेता है। युद्धादि में क्रोध की आग जब भड़कती है तब शस्त्रों का प्रहार चलता है। मानवों की व पशुओं की व साथ में अनेक प्रकार स्थावरों की घोर हिंसा करनी पड़ती है। क्रोध कषाय सहित हिंसात्मक भावों से घोर कर्म का बंध होता है। ज्ञानावरणादि कर्मों का संचय होता है उनमें वृद्धि होती है। रागादि भावों की भी वृद्धि होती है तथा कर्मों के उदय से संसार में अधिक काल तक नोकर्म जो शरीर उसको धारने की वृद्धि होती है। संसारवर्द्धक यह क्रोध त्यागने योग्य है।

कोहं उवनं भावं, कोहं उत्पन्न मिच्छ सहकारं।
कोहाग्नि अनृत रुवं, कोहं तिक्तंति न्यान सहकारं॥ ४६३॥

अन्वयार्थ- (कोहं उवनं भावं) क्रोध के उदय से मलीन भाव रहता है (कोहं उत्पन्न मिच्छ सहकारं) यह क्रोध मिथ्या संसार के पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न होता है इसलिए (कोहाग्नि अनृत रुवं) यह क्रोध की आग मिथ्या स्वभाव वाली है (कोहं न्यान सहकारं तिक्तंति) ऐसा जानकर इस क्रोध परिग्रह को निर्ग्रंथ साधुजन ज्ञान की सहायता से त्याग देते हैं।

भावार्थ- जो कोई संसार के धनादि परिग्रह में, राज्यपाटादि में अनुरक्त होगा वही उनकी प्राप्ति में बाधक व उनके वियोगकारक प्राणियों पर क्रोध करेगा, उनका बिगाड़ करने का भाव करेगा। जिस शरीर के सुख के लिए वह क्रोध करेगा, वह शरीर जब अनित्य है तब शरीर के संबंध में प्राप्त हुए पदार्थ भी अनित्य हैं। अनित्य को बनाये रखने की कल्पना ही मिथ्या है। मोहजनक है, महान संसार बढ़ाने वाली है। साधुजन निर्ग्रंथ पद के धारी, पूर्ण विरक्त, सम्यग्दृष्टि होते हैं। वे अपने प्राण लेने वाले पर भी क्रोध नहीं करते हैं क्योंकि उनको किसी भी नाशवंत पदार्थ पर रागभाव नहीं है। अतएव ऐसे यतिगण क्रोध के परिग्रह का त्याग सम्यग्ज्ञान के बल से करते रहते हैं। क्रोध के कारणों के मिलने पर भी अपने शांत स्वभाव को कभी क्रोध की आग से नहीं जलाते हैं।

♣ ♣ ♣

मान परिग्रह कथन

मानं असत्य रुवं, व्रत तप क्रियं च गहियं सभावं।
मानं च न्यान हीनं, मानं रागादि असुह तिक्तं च॥ ४६४॥

अन्वयार्थ- (मानं असत्यं रुवं) यह मान असत्य स्वभाव रूप है (व्रत तप क्रियं च गहियं सभावं) मैं व्रती हूँ, मैं तपस्वी हूँ, मैं क्रियावान हूँ, इस अहंकार के भाव को लिए हुए है (मानं च न्यान हीनं)

यह मान अज्ञान भाव है, ज्ञान रहित है (रागादि असुह मानं तिक्तं च) संसार के पदार्थों में राग होने के कारण से यह अशुभ मान भाव पैदा होता है। निर्ग्रंथ साधु इसका त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- सम्यग्ज्ञानी एकमात्र आत्मा को व आत्मा के गुणों को ही अपना मानता है। वह आत्मिक स्वभाव के सिवाय किसी भी परभाव को अपना नहीं मानता है। क्योंकि सर्व परभाव व पर का संबंध कर्मोदय जनित नाशवंत है। शरीर, धन, पुत्र, मित्र, राज्यपाट आदि सब नाशवंत हैं। व्यवहार व्रत, तप, क्रियाकांड सब नाशवंत हैं। गृहस्थ के व्रत व साधु के व्रत सब नाशवंत हैं। अशुद्ध उपयोग सब नाशवंत हैं। मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान सब नाशवंत हैं। गति इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाएँ सब भेदरूप होने के कारण व्यवहार रूप हैं - छूटने वाली हैं। इन सब जगत की प्रपंचमय अवस्थाओं के लिए अहंकार करना मान है। मैं धनी हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं राजा हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं बड़ा श्रावक हूँ, मैं बड़ा साधु हूँ, मैं बड़ा तपस्वी हूँ, मैं शुद्ध भोजन करने वाला हूँ, मैं बड़ा ज्ञानी हूँ, इत्यादि भाव रखना मान कषाय है - बिल्कुल असत्य है क्योंकि यह सब बातें छूट जाने वाली हैं। आत्मज्ञानी कभी भी इस अज्ञान भाव में नहीं फँसता है। यह मान संसार के राग के कारण होता है। मान प्रतिष्ठा पूजा पाने का लोभ मान को बढ़ा देता है। ऐसे मान के परिग्रह को साधुजन वैराग्य भाव के द्वारा विचार कर बिल्कुल छोड़ देते हैं।

मानं पुग्गल रुवं, गलंति पूरयंति सभावं।
मानं अनृत रुवं, न्यान सहावेन मान तिक्तं च॥ ४६५॥

अन्वयार्थ- (मानं पुग्गल रुवं) यह मान पुद्गल के समान है (गलंति-पूरयंति सभावं) जैसे पुद्गल पिंड में परमाणु छूटते हैं व नये आकर मिलते हैं। पुद्गल पूरन गलन स्वभाव है अथवा जैसे पुद्गल की अवस्था एक-सी नहीं रहती है, अवस्था बदलती रहती है स्पर्श, रस, गंध, वर्ण में तब्दीली हो जाती है, वैसे मान कषाय गलन पूरन स्वभाव है। जब कोई वस्तु नाश हो जाती है, तब मान चला जाता है, जब कोई वस्तु मिल जाती है तब मान बढ़ जाता है। जब कोई अपमान करता है तब मान गल जाता है। जब कोई प्रतिष्ठा करता है तब मान बढ़ जाता है। पुद्गल स्वरूपी बाहर दिखने वाली शरीरादि व परिग्रह की रचना में ही रागी होकर यह अज्ञानी प्राणी अहंकार करता है। (मानं अनृत रुवं) जब ये सब पदार्थ नाशवंत हैं तब इसका अहंकार करना भी मिथ्या है और नाश स्वरूप है, मानी की धन हानि, पुत्र हानि होती है तब वह बहुत ही क्लेशित होता है (न्यान सहावेन मान तिक्तं च) ऐसे मिथ्या स्वभाव रूप मान के परिग्रह को निर्ग्रंथ साधुजन मार्दवगुण से अलंकृत आत्मज्ञान के द्वारा दूर कर देते हैं।

भावार्थ- मान बड़ा ही मलीन भाव है। आत्मा का बैरी है पर पदार्थों को अपनाने के कारण से ही मान्भाव होता है। ज्ञानी सिवाय अपनी आत्म-विभूति के और किसी वस्तु को अपना नहीं जानता है। इसलिए वह कदापि भी मान नहीं करता है। बहुत विद्वान व बहुत तपस्वी होने पर भी

वह अहंकार नहीं करता है। कोमलतामयी मार्दवगुण से सदा शुद्ध भावों में जमा रहता है। निर्ग्रंथ साधु ऐसे कलुषित मान परिग्रह से विरक्त रहते हैं।

♣ ♣ ♣

माया परिग्रह कथन

माया अनृत रुवं, विषयं अहिलास माय उत्पन्नं।
माया बंधति सल्यं, माया मिथ्यात रुव सहकारं ॥ ४६६ ॥

अन्वयार्थ- (माया अनृत रुवं) माया कषाय मिथ्या स्वभावमयी है क्योंकि (विषयं अहिलास माय उत्पन्नं) पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा से माया बँधी होती है (माया बंधति सल्यं) यह माया-माया शल्य को बढ़ा देती है। (माया मिथ्यात रुव सहकारं) यह माया मिथ्यात्व भाव की सहायता से उपजती है।

भावार्थ- मायाचार या कपट करना भी मिथ्या है। यह प्राणी विषयों का लोभी होकर उनकी प्राप्ति के लिए मायाचार करता रहता है। जिसको संसार के क्षणिक पदार्थों का मोह होगा, जो मिथ्यात्व के विष से दूषित होगा, वही मायाचार करेगा। उसी के भीतर व्रत, तप आदि आचरण करते हुए भी माया काँटा बना रहेगा। यथार्थ तपादि न करते हुए वह यह दिखाएगा कि मैं यथार्थ तपादि कर रहा हूँ। मिथ्यादृष्टि के ही माया कषाय रहती है। वही माया के भाव से तिर्यंच आयु बाँध लेता है। माया के कारण धर्म कार्य किया हुआ भी संसार का बढ़ाने वाला होता है।

माया परिनाम बन्धं, परिनामं असत्य अनृतं दिट्ठं।
माया संसार मइओ, माया तिजंति न्यान सहकारं ॥ ४६७ ॥

अन्वयार्थ- (माया परिनाम बंधं) मायाचार का भाव कर्मबंध का कारण है (परिनामं असत्य अनृतं दिट्ठं) मायाचार का भाव असत्य व क्षणिक पदार्थों के संबंध में देखा जाता है (माया संसार मइओ) संसार में भ्रमण कराने वाली माया है (न्यान सहकारं माया तिजंति) ज्ञानी साधु ज्ञान की सहायता से माया का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ- मायाचार नाशवंत जगत के पदार्थों के लोभ के कारण किया जाता है। सो बिल्कुल वृथा ही है, क्योंकि लाभ तो उतना ही होगा जितना पुण्य कर्म का उदय होगा। यह अज्ञानी मायाचार करके पाप बाँधकर संसार में भ्रमण करता है। ज्ञानी साधु इस माया के परिग्रह को पर जानकर त्याग देते हैं।

आभिंतर ग्रंथ स उत्तं, संसारे सरनि तिक्त मोहंधं।
ग्रंथं चौगइ समयं, न्यान सहावेन सयल तिक्तंति॥ ४६८॥

अन्वयार्थ– (आभिंतर ग्रंथ स उत्त) वही आभ्यन्तर परिग्रह कही गई है (संसारे सरनि) संसार में भ्रमण कराने वाली है तथा (मोहंधं) मोह के अन्धकार से व्याप्त है (तिक्त) सो त्यागने योग्य है (ग्रंथं चौगइ समयं) इस परिग्रह का धारना चारों गतियों का अंगीकार करना है। (न्यान सहावेन सयल तिक्तंति) निर्ग्रंथ साधु ज्ञान स्वभाव में ठहरकर इस परिग्रह का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ– मिथ्यात्व रागद्वेष, मोहादिक अंतरंग परिग्रह संसार के मोह से व्याप्त होने के कारण से नरकादि चारों गतियों में जाने लायक पापबंध कराने वाली है। आत्मध्यानी निर्ग्रंथ साधु आत्मज्ञान में ठहरकर इस परिग्रह का सर्वथा त्याग कर देते हैं।

वाहिज भिंतर ग्रंथा, मुक्कं जे दुट्ठट्ठ कम्म संजुत्ता।
तिक्तंति भव्य जनयं, न्यान सहावेन ग्रंथ विमुक्कं॥ ४६९॥

अन्वयार्थ– (जे दुट्ठट्ठ कम्म संजुत्ता) जो दुष्ट आठ कर्मों को बाँधने वाली हैं ऐसी (वाहिज भिंतर ग्रंथा) बाहरी भीतरी परिग्रह (मुक्कं) त्यागने योग्य हैं (ग्रंथ विमुक्कं भव्य जनयं) ग्रंथ रहित भव्य मुनिगण (न्यान सहावेन तिक्तंति) ज्ञान स्वभाव में ठहरकर इस परिग्रह को छोड़ देते हैं।

भावार्थ– ऊपर बाहरी व भीतरी परिग्रह का कथन किया गया है। इन्हीं परिग्रहों के कारण संसार में भ्रमण कराने वाले आठ कर्मों का बंध होता है। निर्ग्रंथ मुनि इन सबका त्याग कर शुद्ध आत्मिक ज्ञान स्वभाव में रमण करते हैं।

इस ग्रंथ में सिंहासन, गृह, क्षेत्र, सुवर्ण, धन-धान्य, कुप्य, भाजन, दुपद, चतुस्पद, यान इस तरह दस बाहरी परिग्रह को बताया गया है। दूसरे ग्रंथों में क्षेत्र, गृह, धन, धान्य, दासी, दास, चाँदी, सोना, कुप्य, भाजन इस तरह दस बाहरी परिग्रह को बताया गया है। सो सब यहाँ कही गई दशा में गर्भित है। इस ग्रंथ में भीतरी परिग्रह मिथ्यात्व, राग, द्वेष, हास्य, वेद, लोभ, क्रोध, मान, माया को बताया है। अन्य ग्रंथ में मिथ्यात्व, राग, द्वेष, वेद, हास्य, रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह बताये हैं। सो राग भाव में रति गर्भित है, द्वेष भाव में अरति, शोक, भय, जुगुप्सा गर्भित है। इस तरह नौ में चौदह गर्भित हैं। ग्रंथकर्ता ने बड़ी ही विद्वता से बाहरी परिग्रह को भी अन्तरंग भावों में घटा कर सिद्ध किया है। ये ही सर्व विभाव हैं व ये ही आठों कर्मों में स्थिति व अनुभाग डालते हैं। जो निर्ग्रंथ साधु इन सर्व का त्याग करते हैं वे ही सच्चे दिगम्बर जैन साधु हैं।

♣ ♣ ♣

ग्रन्थ मुक्त साधु विशेष निरूपण

ग्रहनं जिनवर वयनं, ग्रहनं च अप्प भाव संजुत्तं।
ग्रहनं ति अर्थ भावं, जोयंतो जोय जुत्तेही॥ ४७०॥

अन्वयार्थ- (जिनवर वयनं ग्रहनं) जो जिनेन्द्र के वचनों को ग्रहण करने वाले हैं (अप्प भाव संजुत्तं ग्रहनं च) जो आत्मिक भावों को लिये हुए सर्व भावों को ग्रहण करने वाले हैं (ति अर्थ भावं ग्रहनं) जो रत्नत्रयमयी तीन भावों को ग्रहण करने वाले हैं (जुत्तेही जोय जोयंतो) वे ही निर्ग्रंथ योगी आत्मा को देखने वाले हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु जब बाहरी व भीतरी परिग्रह के त्यागी होते हैं, तब वे ग्रहण भी कुछ करते हैं या नहीं, इसका खुलासा करते हुए ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि वे निर्ग्रंथ साधु जिनेन्द्र की आज्ञा के अनुसार तत्त्वों के श्रद्धावान होते हैं, अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव करने वाले होते हैं तथा व्यवहार व निश्चय उभय रूप से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रयमयी भाव को ग्रहण करते हैं। वे ही योगी मुक्ति के लिए आत्मा का अनुभव किया करते हैं।

ग्रहनं दंसन न्यानं, चरनं चारित्र ग्रहण दुभेयं।
ग्रहनं न्यान सहावं, अप्पा सुधप्प न्यान सभावं॥ ४७१॥

अन्वयार्थ- (दंसन न्यानं चरनं ग्रहनं) निर्ग्रंथ साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को धारण करते हैं (चारित्र दुभेयं ग्रहण) दो प्रकार के चारित्र को पालते हैं (न्यान सहावं ग्रहनं) ज्ञान स्वभावी आत्मा को ही अनुभव करते हैं (अप्पा सुधप्प न्यान सभावं) आत्मा को ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा रूप जानते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु वे ही हैं जो व्यवहार नय से भेद रूप रत्नत्रय धर्म को व निश्चय नय से अभेद रूप एकाकार रत्नत्रय धर्म को पालते हैं। जो अपने आत्मद्रव्य को परमात्मा के समान गुणों से परिपूर्ण ज्ञाता दृष्टा आनंदमयी जानकर निश्चल हो स्व-आत्मा का ध्यान करते हैं।

संमत्तं संग्रहनं, न्यानं पंचंमि भाव उवलध्धं।
अप्पा परमप्पानं, न्यान सहावेन मुक्त संचरनं॥ ४७२॥

अन्वयार्थ- (संमत्तं संग्रहनं) जो साधु सम्यग्दर्शन को भले प्रकार पालते हैं (पंचंमि न्यानं भाव उवलध्धं) पाँचवें केवलज्ञान के उत्पन्न करने वाले भावों को प्राप्त किए हुए हैं (अप्पा न्यान सहावेन मुक्त संचरनं परमप्पानं) अपने आत्मा को भेद विज्ञान के स्वभाव से सर्व आवरण से रहित परमात्मा रूप अनुभव करते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु दृढ़ सम्यग्दर्शन के धारी हैं। केवलज्ञान के साधक भावश्रुत ज्ञानमयी आत्मानुभव को करने वाले हैं। जिनको भेद विज्ञान के द्वारा अपना ही आत्मा सर्व कर्मों के आवरण से रहित परमात्मा के समान शुद्ध दिखता है।

व्रत तव संजम ग्रहनं, ति अर्थ तीर्थंकरेन संसुधं।
सुधं सुध सहावं, सुधं ज्ञानम्मि परमप्पा॥ ४७३॥

अन्वयार्थ- (व्रत तव संजम ग्रहनं) वे निर्ग्रंथ साधु महाव्रत, तप तथा संजम के धारने वाले होते हैं (तीर्थंकरेन संसुधं ति अर्थं) संसार समुद्र से पार करने को जहाज के समान शुद्ध रत्नत्रय धर्म को पालते हैं (सुधं सुध सहावं) आठ कर्म से शुद्ध व रागादि से शुद्ध आत्म स्वभाव को पहचानते हैं (सुधं ज्ञानम्मि परमप्पा) निर्मल धर्म ध्यान में एक परमात्मा को ही ध्याते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु पाँच महाव्रत, बारह प्रकार का तप, सामायिक नाम के संयम व इन्द्रिय तथा प्राणी संयम को पालते हैं। संसार तारक रत्नत्रय धर्म को धारकर धर्म ध्यान में शुद्ध आत्मा को एकाग्र मन हो ध्याते हैं।

पिच्छदि अप्प सरुवं, पिच्छदि नंत दंसनं ममलं।
न्यानं च न्यान ममलं, अप्पा परमप्प केवलं भावं॥ ४७४॥

अन्वयार्थ- (अप्प सरुवं पिच्छदि) निर्ग्रंथ साधु आत्मा के स्वरूप को देखते जानते हैं (नंत दंसनं ममलं पिच्छदि) अनन्त निर्मल दर्शन स्वभावी आत्मा को श्रद्धान में रखते हैं (न्यानं च न्यान ममलं) ज्ञान के बल से निर्मल आत्मज्ञान को धारते हैं (अप्पा परमप्प केवलं भावं) आत्मा को परमात्मा के समान केवलज्ञानादि स्वभावमय जानते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु अपने आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध केवलज्ञान, केवल दर्शन, अनंत वीर्य व अनंत सुखमयी अनुभव करते हैं। वे साधु सर्व परभावों के त्यागी होते हैं, किन्तु निज शुद्ध भावों के ग्रहण करने वाले हैं। उनमें स्याद्वाद सिद्धान्त कूट-कूट कर भरा है। वे अपने आत्मा के अस्तित्व को स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव के द्वारा अस्तित्व रूप व परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव के द्वारा नास्ति रूप जानते हैं। ऐसे ही साधु यथार्थ मोक्षमार्ग पर चलने वाले होते हैं। श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका में यति भावनाष्टक में कहा है-

अन्तस्तत्वमुपाधिवर्जित महं व्यापार वाच्यं परं।
ज्योतिर्यै कलितं श्रुतं च यतिभिस्ते संतु नः शान्तये॥
येषां तत्सदनं तदेव शयनं तत्सम्पदस्तत सुखं।
तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिलं श्रेष्ठार्थसंसाधकम॥ ८॥

भावार्थ- वही सच्चे साधु हैं जिन्होंने अपने आत्मा के तत्व को रागादि की उपाधि से रहित परम ज्योति स्वरूप, अहं शब्द से अनुभवने योग्य भले प्रकार जानकर अनुभव कर लिया है तथा जिनके रहने का स्थान वही आत्मतत्त्व है, जिनकी शय्या वही आत्मतत्त्व है, जिनकी श्रेष्ठ सम्पदा वही आत्मतत्त्व है, वहीं उनको आनंद का स्वाद आता है, वहीं उनकी वृत्ति रहती है, वही तत्त्व उनको प्यारा है तथा वही आत्मतत्त्व उनको श्रेष्ठ मोक्ष पुरुषार्थ को साधन करने वाला है। ऐसे निर्ग्रंथ साधु हमें शांति प्रदान करें।

♣ ♣ ♣

पंच महाव्रत कथन

महावयं व्रत ग्रहनं, न्यानमयी न्यान सुध सभावं।
न्यानेन न्यान सुधं, महावय सुध धरंति साहूनं॥ ४७५॥

अन्वयार्थ- (महावयं व्रत ग्रहनं) पाँच महाव्रतों की प्रतिज्ञा को धारने वाले साधु होते हैं (न्यानमयी न्यान सुध सभावं) वे ज्ञानमयी शुद्ध आत्म स्वभाव को मनन करने वाले होते हैं (न्यानेन न्यान सुधं) ज्ञान के द्वारा अपने ज्ञान को शुद्ध करते हैं (साहूनं सुध महावय धरंति) साधु महाराज शुद्ध महाव्रतों को पालते हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग इन पाँच महाव्रतों को निर्दोष पालते हुए निश्चय महाव्रत का भले प्रकार अभ्यास करते हैं। भेद विज्ञान के द्वारा ज्ञानमयी शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही शुद्ध महाव्रत है। इसके बिना बाहरी महाव्रत मोक्ष मार्ग में उपयोगी नहीं है।

♣ ♣ ♣

अहिंसा महाव्रत

अप्पं अप्पं सहावं, अप्पा परमप्प ज्ञान संजुत्तं।
चिंतंतो परमप्पयं, अहिंसओ महावयं हुंति॥ ४७६॥

अन्वयार्थ- (अप्पं अप्पं सहावं) अपने आपको आत्मा स्वरूप जानकर (अप्पा परमप्प ज्ञान संजुत्तं) अपने आपको परमात्मा के ध्यान में लीन करके (परमप्पयं चिंतंतो) परम पद का अनुभव करना ही (अहिंसओ महावयं हुंति) अहिंसा महाव्रत होता है।

भावार्थ- यहाँ निश्चय अहिंसा महाव्रत का कथन है। रागद्वेषादि संकल्प विकल्प आत्मा की हिंसा करने वाले हैं। जहाँ इन अशुद्ध भावों को त्यागकर अपने आत्मा को आत्मा रूप या परमात्मा रूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान में ठहरकर अनुभव किया जावे वही निश्चय अहिंसा महाव्रत है। यहीं आत्मा की पूर्णपने रक्षा हो रही है। हिंसा का अभाव सो ही अहिंसा है। तत्त्वार्थसार में हिंसा को बताया है-

द्रव्य स्वभाव स्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणं।
प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा संप्रकीर्तिता॥ ७४-४॥

भावार्थ- प्रमाद या कषाय सहित मन, वचन, काय के द्वारा जो इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास, इन चार द्रव्य प्राणों को व आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान शांति आदि भाव प्राणों को कष्ट देना सो हिंसा कही गई है। महाव्रती साधु पूर्ण अहिंसा पालते हैं। स्थावर व त्रस सर्व प्राणियों की रक्षा करते हैं। अन्तरंग में क्रोधादि भावों से आत्मा के स्वभाव की रक्षा करते हैं।

* * *

सत्य महाव्रत

अनृत मयं न दिस्टं, व्रितं जानंति अप्प सभावं।
सून्यं ज्ञान संजुत्तं, व्रितं ससहाव महावयं हुंति॥ ४७७॥

अन्वयार्थ- (अनृत मयं न दिस्टं) निर्ग्रंथ साधु मिथ्यामयी स्वभाव की श्रद्धा नहीं करते हैं (अप्प सभावं व्रितं जानंति) आत्मा के स्वभाव को यथार्थ जानते हैं (सून्यं ज्ञान संजुत्तं) रागादि से शून्य वीतराग मय निर्विकल्प ध्यान करते हैं। ऐसे साधु (व्रितं ससहाव महावयं हुंति) आत्मा के स्वाभाविक सत्य महाव्रत को पालते हैं।

भावार्थ- आत्मा का यथार्थ सत्य स्वभाव परमात्मा रूप है, सर्व रागादि विकारों से रहित है, परमानंदमयी है। इसी को सत्य रूप से जानना और ऐसा ही श्रद्धान करना व इसी श्रद्धान व ज्ञान सहित भाव के साथ निर्विकल्प समाधि में जाकर आत्मध्यान करना यही स्वाभाविक निश्चय सत्य महाव्रत है। वस्तु को अनेकांत रूप से जानना सत्य है। एकांत रूप से जानना असत्य। सांसारिक क्षणिक सुख को सुख जानना मिथ्या है। आत्मिक सुख को सुख जानना सत्य है। शरीर व स्त्री-पुत्रादि को अपना जानना मिथ्या है। निज गुणों को अपना जानना सत्य है। साधु महाराज सर्व मिथ्या भावों से रहित हो एक सत्य निज स्वरूप का ही अवलम्बन करते हैं। अनृत का त्याग सत्यव्रत है। तत्त्वार्थसार में कहा है-

प्रमत्तयोगतो सत्स्यादसदर्थाभिभाषणम्।
समस्तमपि विज्ञेयमनृतं तत्समासतः ॥ ७५-४ ॥

भावार्थ- प्रमाद सहित मन, वचन, काय के द्वारा जो अप्रशस्त व अहितकारी वचनों को कहना सो सर्व असत्य है। इस असत्य का त्याग व्यवहार सत्य महाव्रत है। आत्मा में आत्मारूप होकर ठहरना सत्य महाव्रत है।

♣ ♣ ♣

अस्तेय महाव्रत

स्तेयं नहु दिट्ठदि, जिन उत्तं उत्त सव्वहा सव्वे।
जिनरुवं जिन वयनं, न्यान सहावेन भाव उवएसं ॥ ४७८ ॥

अन्वयार्थ- (स्तेयं नहु दिट्ठदि) साधु महाराज में किंचित् भी चोरी नहीं पाई जाती है (जिन उत्तं सव्वे सव्वहा उत्त) वे जिनेन्द्र कथित सर्व तत्त्व स्वरूप को सर्वथा सत्य कहते हैं (जिनरुवं) उनका भेष जिनेन्द्र के समान दिगम्बर है (जिन वयनं) जिनेन्द्र के समान ही उनके सत्य वचन हैं (न्यान सहावेन भाव उवएसं) वे ज्ञान स्वभावी आत्मा में लीन होते हुए अवसर पाकर सत्य ज्ञान का ही उपदेश देते हैं।

भावार्थ- बिना दी हुई वस्तु का त्याग अचौर्य महाव्रत है। जिनेन्द्र कथित उपदेश को और का और कहना व विचारना चोरी है। ऐसा न करके यथार्थ उपदेश को यथार्थ कहना अचौर्य महाव्रत है। जिनेन्द्र की आज्ञा से विरुद्ध साधु का द्रव्य स्वरूप रखना व भावों में विपरीत भाव रखना चोरी है। इस चोरी का त्याग करें। जिनेन्द्र की आज्ञानुसार नग्न दिगम्बर भेष रखना व परिणामों में भी विषय भोगों को त्याग कर निर्विकल्प समाधि में लीन रहना अचौर्य महाव्रत है। जिनेन्द्र के कथन को यथार्थ ही कहना, कुछ भी नहीं छिपाना, अचौर्य महाव्रत है। अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव में रमना व अवसर पाकर ज्ञान स्वरूप को पुष्ट करने वाला उपदेश देना, अचौर्य महाव्रत है। तत्त्वार्थसार में कहा है—

प्रमत्तयोगतो यत्स्यादत्तार्थ परिग्रहः।
प्रत्येयं तत्खलु स्तेयं सर्वसंक्षेपयोगतः ॥ ७६-४ ॥

भावार्थ- प्रमाद सहित योग से बिना दिये हुए पदार्थ को ग्रहण करना चोरी है। इस चोरी को त्याग करके साधुजन व्यवहार अचौर्य महाव्रत पालते हैं। अन्तरंग में शुद्धता रखकर शास्त्रोक्त चलते, शास्त्रोक्त कहते व शास्त्रोक्त विचार करते हैं व शास्त्रानुसार शुद्ध आत्मध्यान में बिना किसी कपट के लीन रहते हैं, सो अचौर्य महाव्रत है।

♣ ♣ ♣

ब्रह्मचर्य महाव्रत

बंभं बंभ सरुवं, अबंभ भाव सयल दोस परिचत्तो।
अप्पा परमानंदं, बंभ वयं महावयं हुंति॥ ४७९॥

अन्वयार्थ- (बंभं बंभ सरुवं) ब्रह्मचर्य व्रत ब्रह्म स्वभाव में लीन होना है (अबंभ भाव सयल दोष परिचत्तो) अब्रह्म या कुशील संबंधी सर्व दोषों का छोड़ देना है (अप्पा परमानंद) आत्मा को परमानंदमयी अनुभव करना है यही (बंभ वयं महावयं हुंति) ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

भावार्थ- सर्व कुशील भावों का त्यागना व्यवहार ब्रह्मचर्य व्रत है। अन्त रंग में निश्चय ब्रह्मस्वरूप में लीन होना निश्चय ब्रह्मचर्य व्रत है। जहाँ रागादि सर्व विकल्प मिट गये हों और आत्मा परमानंदमयी अनुभव किया जाता हो वही ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

अब्रह्म का त्याग ब्रह्मचर्य है। तत्त्वार्थसार में कहा है-

मैथुनं मदनोद्रेकादब्रह्म परिकीर्तितम्॥ ७७-४॥

भावार्थ- काम के उद्वेग से मैथुन करना अब्रह्म कहा गया है। मन, वचन, काय से अब्रह्म का त्याग ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

* * *

परिग्रह त्याग महाव्रत

पर पुद्‌गल परमानं, पुग्गल ससहाव सयल दोस परिचत्तो।
अप्पा परमप्प रुवं, पुग्गल सहकार सेष परमानं॥ ४८०॥

अन्वयार्थ- (पर पुद्‌गल परमानं) आत्मा के सिवाय शरीरादि पुद्‌गल को पर मानना (पुग्गल ससहाव सयल दोस परिचत्तो) पुद्‌गल के स्वभाव के निमित्त से होने वाले सर्व रागादि दोषों को छोड़ना (पुग्गल सहकार सेष परमानं) पुद्‌गल की संगति से होने वाले सर्व दोषों को अपने से भिन्न मानना (अप्पा परमप्प रुवं) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करना परिग्रह त्याग महाव्रत है।

भावार्थ- निज द्रव्य गुण पर्याय को अपना स्वरूप मानकर सर्व परद्रव्य, परगुण, पर- पर्याय के परिग्रह को पर-स्वरूप मानकर छोड़ देना। केवल मात्र परमात्म स्वभाव में निःस्पृह हो लीन होना परिग्रह त्याग महाव्रत है। परमाणु मात्र भी अपना न जानना, कर्म के उदय से जो-जो बाहरी व भीतरी अवस्थाएँ होती हैं उनको पर जानकर ममत्व त्याग देना परिग्रह त्याग महाव्रत है। तत्त्वार्थसार में कहा है-

ममेदमिति संकल्परूपा मूर्च्छा परिग्रहा ॥ ७७-४ ॥

अपनी आत्मा के सिवाय सर्व पर में यह मेरा है ऐसा संकल्प करना मूर्च्छा है, सो ही परिग्रह है। महाव्रती इस मूर्च्छा के त्यागी होते हैं। उनका निज स्वामित्व, निज आत्म विभूति में रहता है।

पंच महावय सुधं, अप्पा अप्पेन अप्प ससरुवं।
न्यानं अवहि संजुत्तं, मनपर्जय केवलं भावं ॥ ४८१ ॥

अन्वयार्थ– (सुधं पंच महावय) निश्चय नय से पाँच महाव्रत का स्वरूप यह है जो (अप्पा अप्पेन अप्प ससरुवं) आत्मा अपने ही द्वारा अपने निज स्वभाव का अनुभव करे (न्यानं अवहि संजुत्तं मनपर्जय केवलं भावं) आत्मा के ज्ञान में ही अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान गर्भित हैं।

भावार्थ– निर्ग्रंथ साधु व्यवहार चारित्र के द्वारा निश्चय चारित्र को पालते हैं। अहिंसादि पाँचों व्रतों को जीव रक्षा करते हुए सत्य बोलते हुए, बिना दी वस्तु न लेते हुए, ब्रह्मचर्य पालते हुए व परिग्रह रहित होते हुए पालते हैं। यह व्यवहार चारित्र है। निश्चय से मन, वचन, काय के सर्व विकल्पों को त्याग कर आप अपने स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा आप में ही लीन होकर आत्मानुभव करते हैं, वही निश्चय चारित्र है। यहाँ रागादि विकल्प न होने से अहिंसा व्रत है, सत्य पदार्थ आत्मा में लय होने से सत्यव्रत है, परभाव का ग्रहण नहीं है, इससे अचौर्यव्रत है। आत्मस्वरूप में लयता है उससे ब्रह्मचर्य व्रत है, पर पदार्थ की मान्यता का त्याग है, इससे परिग्रह त्याग महाव्रत है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। उसमें पाँचों ही ज्ञान गर्भित हैं। ध्यान के द्वारा जैसे-जैसे ज्ञानावरण का परदा हटता जाता है अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान प्रकाशमान हो जाता है।

* * *

दिग्व्रत महाव्रत

दिग्व्रत सुधं सुधं, दिगम्बर परिनाम सुध ससहावं।
न्यानं न्यान सरुवं, दिग्व्रत महावयं हुंति ॥ ४८२ ॥

अन्वयार्थ– (दिग्व्रत सुधं सुधं) साधुओं का परम शुद्ध दिग्व्रत यह है कि (दिगम्बर परिनाम सुध ससहावं) बाहरी में दिशा को वस्त्र रखते हुए अन्तरंग में पर-भाव रहित शुद्ध निज स्वरूप में लीन हो जाना (न्यानं न्यान सरुवं) ज्ञान का शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही वर्तना यही (दिग्व्रत महावयं हुंति) दिग्व्रत महाव्रत है।

भावार्थ– यहाँ श्रावकों के तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत की तरफ लक्ष्य देकर ग्रंथकर्ता ने उनको युक्ति से साधुओं के स्वरूप में घटाया है। बाहरी दिशाओं को ही पहनने का वस्त्र रखना व

अन्तरंग में रागादि परभावों का त्याग करके अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव में लीन होना दिग्व्रत महाव्रत है, ऐसा घटाया है। बाहरी व भीतरी एकाकार आत्मामयी हो जाना ही दिग्व्रत है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इसका स्वरूप कहा है—

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ ६८ ॥

भावार्थ– श्रावक मरण पर्यंत के लिये किंचित् भी पाप मर्यादा के बाहर न लगे इसलिए दशों दिशाओं की मर्यादा कर लेता है कि इससे बाहर न जाऊँगा, यह श्रावकों का दिग्व्रत है। लौकिक कार्यों के लिए की हुई मर्यादा के बाहर नहीं जाता है, न लेन-देन का व्यवहार रखता है।

♣ ♣ ♣

देशव्रत महाव्रत

देसो सुध सहावं, उदेसनं तंपि दंसनं न्यानं।
देसो उद्देस सुधं, देसव्रती महावयं हुंति ॥ ४८३ ॥

अन्वयार्थ– (देसो सुध सहावं) निश्चय से आत्मा का देश या वास करने का स्थान अपना शुद्ध स्वभाव है (दंसनं न्यानं उदेसनं तंपि) जहाँ दर्शन और ज्ञान में तिष्ठने का ही उद्देश्य या प्रयोजन है (देसो उद्देस सुधं) जहाँ शुद्ध ही स्थान है व शुद्ध ही अभिप्राय है वही (देसव्रती महावयं हुंति) देशव्रत ही महाव्रत होता है।

भावार्थ– यहाँ दूसरे श्रावक के गुणव्रत, देशव्रत को लक्ष्य में लेकर कहा है कि जो साधु सर्व संकल्प-विकल्प त्याग करके अपने ही स्वक्षेत्र में या अपने ही स्वभाव में तिष्ठने की प्रतिज्ञा करके अपने ही ज्ञान-दर्शन के मार्ग का उद्देश्य रखते हैं, वे ही देशव्रत-महाव्रत के धारी हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ ९२ ॥

भावार्थ– दिग्व्रत में जो जन्म पर्यंत के लिए दशों दिशाओं की मर्यादा की थी उसमें से घटाकर प्रतिदिन के लिए मर्यादा करना सो अणुव्रतधारी श्रावकों का देशव्रत है।

♣ ♣ ♣

अनर्थ दंडव्रत महाव्रत

अन्यान अर्थ न दिट्ठिदि, न्यान सहावेन भव्य उवसंतो।
कीलइ अप्प सहावं, अप्प परमप्पओ हवई॥ ४८४॥

अन्वयार्थ- (अन्यान अर्थ न दिट्ठिदि) मिथ्याज्ञान सहित पदार्थ ही अनर्थ है जहाँ उसका श्रद्धान न हो (न्यान सहावेन भव्य उवसंतो) किन्तु सम्यग्ज्ञानमय आत्म स्वभाव के द्वारा सत्य स्वरूप में शांति प्राप्त की जावे (कीलइ अप्प सहावं) अर्थात् अपने आत्मा के स्वभाव में आपको कील दिया जावे (अप्प परमप्पओ हवई) जिससे आत्मा परमात्मा हो सके यही अनर्थ दंडव्रत महाव्रत है।

भावार्थ- सत्य अर्थ या परमार्थ अपना ही शुद्ध आत्मा है। इसके सिवाय रागी, द्वेषी, मोही आत्मा पुद्गलादि पदार्थ सब अनर्थ हैं। इस अनर्थ का त्याग करके जो साधु वीतरागता के साथ अपने स्वभाव में भले प्रकार तन्मय हो जाते हैं। निर्विकल्प आत्म-समाधि में या धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में आरुढ़ हो जाते हैं वे ही अनर्थ दंड त्याग महाव्रत को पालते हुए अपनी आत्मा को परमात्मा के स्वरूप में परिणमा देते हैं। श्रावकों के लिए इस व्रत का स्वरूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है-

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥ ७४॥

भावार्थ- दिशाओं की, की हुई मर्यादा के भीतर-भीतर प्रयोजन रहित पाप के कारणों से विरक्त होने को महाव्रती साधुओं ने अनर्थदण्ड कहा है।

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्य्यामनर्थ दण्डानदण्डधराः॥ ७५॥

भावार्थ- गणधरादि ने पाँच प्रकार का अनर्थदंड कहा है-

(१)पापोपदेश- दूसरे को पाप करने का हिंसामयी आरंभ करने का उपदेश देना।

(२)हिंसादान- फरशा, तलवार, शस्त्र, सांकल, अग्नि आदि हिंसाकारक पदार्थ दूसरे को मारने के लिए देना।

(३)अपध्यान- दूसरों का वध, बंधन, नाश आदि रागद्वेष के वश में हो विचारना।

(४)दुःश्रुति- आरंभ परिग्रह व मिथ्यात्व, रागद्वेष बढ़ाने वाली व चित्त को क्लेषित करने वाली कथाओं को सुनना।

(५)प्रमादचर्या– बिना प्रयोजन आलस्य से मिट्टी खोदना, पानी फेंकना, अग्नि जलाना, पवन लेना, वनस्पति छेदना, सैर करना आदि। श्रावक इन पाँचों ही प्रकार के अनर्थदण्ड से बचा रहता है।

मिच्छा भावे विरदो, विरदो संसार सरनि वावारे।
अन्यान अर्थं विरदो, सुरदो सुध चेयना भावो॥ ४८५॥

अन्वयार्थ– (मिच्छा भावे विरदो) जो मिथ्यात्व भाव से विरक्त है (विरदोसंसार सरनि वावारे) संसार में भ्रमण कराने वाले व्यापारों से विरक्त है (अन्यान अर्थं विरदो) अज्ञानमयी पदार्थ से विरक्त है (सुध चेयना भावो सुरदो) शुद्ध चेतना भाव में भले प्रकार रत है सो ही अनर्थदंड त्याग महाव्रत का धारी है।

भावार्थ– मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र संसार में भ्रमण कराने वाले हैं। इनसे विरक्त होकर जो मोक्षमार्ग के आलंबनों के द्वारा अपने शुद्ध चेतना के स्वाद में मग्न होकर आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद का लाभ लेते हैं वे ही अनर्थदंड त्यागी साधु हैं।

♣ ♣ ♣

चार शिक्षाव्रत महाव्रत

सिष्यावय चत्वारि, सिष्या दिष्या च न्यान संजुत्तो।
सुरदो चेयन भावो, सिष्यावय उवएसनं तंपि॥ ४८६॥
भोग उपभोग पडिमा, अतिथि सुयं विभाग संलेहनावंतो।
विन्यानं जानंतो, सुध सरुवं च न्यानसंजुत्तो॥ ४८७॥

अन्वयार्थ– (सिष्यावय चत्वारि) चार शिक्षाव्रत के धारी साधु (सिष्या दिष्या च न्यान संजुत्तो) शिक्षा, नियम तथा ज्ञान के धारी होते हैं (चेयन भावो सुरदो) चैतन्य भाव में भले प्रकार लीन होते हैं (सिष्यावय उवएसनं तंपि) उन्हीं के लिए शिक्षाव्रतों का उपदेश है (भोग उपभोग पडिमा) प्रथम शिक्षाव्रत भोग प्रतिमा, दूसरा शिक्षाव्रत उपभोग प्रतिमा (अतिथि सुयं विभाग संलेहनावंतो) तीसरा शिक्षाव्रत अतिथि संविभाग, चौथा शिक्षाव्रत सल्लेखना है इनके धारी साधु (विन्यानं जानंतो) भेद विज्ञान को जानते हुए (सुध सरुवं च न्यान संजुत्तो) शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव के कर्ता होते हैं।

भावार्थ– यहाँ युक्ति से श्रावक के व्रतों को मुनि के चारित्र में घटाया है। यहाँ चार शिक्षाव्रत जो कहे हैं उनसे तत्त्वार्थसूत्र में कहे हुए शिक्षाव्रतों से कुछ अन्तर है। तत्त्वार्थसूत्र में सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथिसंविभाग ऐसे चार शिक्षाव्रत हैं। यहाँ प्रयोजन यह

है कि साधुओं को ऐसी योग्य शिक्षा मिलती है, वे ऐसे नियमों में दृढ़ होते हैं कि वे सर्व परभावों को त्याग करके एक अपने चैतन्य भाव में लीन होते हैं। पूर्ण निर्मल भेद विज्ञान के द्वारा शुद्ध स्वरूप के यथार्थ ज्ञाता रहते हैं। यहाँ निश्चय नय से घटाने के लिए इस तरह चार शिक्षाव्रत कहे हैं।

* * *

भोगप्रतिमा शिक्षाव्रत

भोगो संसार मइयो, अनृत असत्य सहियं जो मिथ्या।
रागादि दोष विषयं, तिक्तंति अभाव सिष्यंयं भनियं॥ ४८८॥

अन्वयार्थ- (संसार मइयो भोगो) संसार संबंधी भोग (अनृत असत्य सहियं-जो मिथ्या) अनित्य व मिथ्या पदार्थों के संबंध में होते हैं इसी से मिथ्या है (रागादि दोष विषयं) जिनका विषय राग-द्वेषादि है (तिक्तंति अभाव सिष्यंयं भनियं) इन भोगों के राग का त्याग करना भोगों का अभाव रूप शिक्षाव्रत कहा गया है।

भावार्थ- संसार के विषयभोग, धन, धान्य, स्त्री, पुत्रादि, मकानादि सर्व क्षणभंगुर हैं। इनको थिर मानकर उनके भोगों की अभिलाषा करना मिथ्यात्व भाव है। इन भोगों के निमित्त से रागद्वेष बढ़ते हैं। जहाँ इनकी इच्छाओं का त्याग है वहीं भोग त्याग शिक्षाव्रत है।

रागादि य उववंनं, पुन्यंपावं च दुष्य ससहावं।
अन्यानं संतुट्ठं, भोगं सहकार सयल तिक्तं च॥ ४८९॥

अन्वयार्थ- (रागादिं य उववंनं) रागादि भावों को उत्पन्न करने वाले (पुन्यं) पुण्य कर्म (दुष्य ससहावं पावं च) तथा दुःखों को पैदा करने वाले पाप कर्म (अन्यानं संतुट्ठ) जहाँ मिथ्याज्ञान में संतोष माना जाता है (भोगं सहकार) ऐसे भोगों के साधक (सयल तिक्तं च) सर्व भावों को साधु त्याग देते हैं।

भावार्थ- जहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं है वहाँ मोक्ष की व आत्मा के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा नहीं है, उससे विपरीत संसार की श्रद्धा व पर में आत्म-बुद्धि की मिथ्या श्रद्धा है। ऐसे मिथ्या भावों का धारी जो कोई शुभ कार्य भी करता है उनमें विषय भोगों से राग होता है व नरकादि के कारण भावों से द्वेष होता है। उनसे पुण्य कर्म बाँधकर भोगों को पाता है। कदाचित् पाप कर्म करता है तो दुःखकारक पापकर्म बाँध लेता है। ऐसे मिथ्यात्वी जीव मिथ्याज्ञानपूर्वक क्रियाओं के करने में सन्तोष मान लेते हैं। सम्यग्ज्ञानी साधु संसार के भोगों के कारण सर्व भावों को बिलकुल त्याग देते हैं, जहाँ पाप-पुण्य दोनों की अभिलाषा नहीं होती है, केवल शुद्ध आत्मिक आनन्द का भोग होता है। वही भोग प्रतिमा

शिक्षाव्रत को पालता है। यहाँ आत्मा का भोग है, पर का भोग नहीं है। यही भाव साधुओं का शिक्षाव्रत है।

भोगं जिनेहि उत्तं, सुधं भोगं च सयल दोष परिचत्तो।
मति न्यानं संतुट्ठं, भोगं सुधं संसार सरनि विरदोय॥ ४९०॥

अन्वयार्थ– (जिनेहि उत्तं भोगं) जिनेन्द्र भगवन्तों ने जो भोग कहा है वह (सयल दोष परिचत्तो सुधं भोगं च) सर्व दोषों से रहित शुद्ध आत्मभोग है (मति न्यानं संतुट्ठ) जहाँ आत्मा के अनुभव में संतोष हो वही (सुधं भोगं) शुद्ध आत्मभोग है (संसार सरनि विरदोय) ऐसा भोगी संसार मार्ग के कारण भोगों से विरक्त होता है।

भावार्थ– साधुजन चतुर्गति में भ्रमण के कारण सर्व भोगों को मन-वचन-काय से त्याग देते हैं। केवल आत्मानन्द का भोग करते हैं। जो स्वाधीन है, निर्दोष है, कषाय रहित है, यही भोग प्रतिमा शिक्षाव्रत है।

आयम पुरान सुधं, अष्यर सुर विंजनस्य पद अर्थं।
अप्प सरुव सदिट्ठं, अप्पा परमप्प सुध संतुठं॥ ४९१॥

अन्वयार्थ– (आयम पुरान सुधं) जिसने आगम व पुराण को शुद्ध भावों से जाना है (अष्यर सुर विंजनस्य पद अर्थं) उनके स्वर व्यंजन अक्षरों को व शब्दों को व वाक्यों को अर्थ सहित ठीक-ठीक समझता हो (अप्प सरुव सदिट्ठ) तथा उन आगमों के द्वारा आत्मा के स्वरूप का ठीक-ठीक निश्चय किया हो (अप्पा परमप्प सुध संतुठं) और आत्मा को परमात्मा रूप निश्चय करके शुद्ध भाव में तृप्ति प्राप्त की हो उसी ने ही आत्मभोग किया है व भोगप्रतिमा महाव्रत धारी है।

भावार्थ– यहाँ यह बताया है कि ज्ञान का भोग बड़ा भारी भोग है, परम तृप्ति को देने वाला है। व्यवहार नय से ज्ञान का भोग यह है कि जिनवाणी के चारों अनुयोगों के शास्त्रों को शुद्ध पढ़कर उनका अर्थ शुद्ध व भाव शुद्ध समझा जाय, फिर उनके भीतर से सारभूत आत्मतत्त्व को भिन्न जान कर यह निश्चय किया जाय कि मेरा आत्मा परमात्मा के तुल्य ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि शुद्ध गुणों का धारी है। निश्चय नय से ज्ञान का भोग यह है कि सर्व संकल्प-विकल्पों को त्यागकर एकाग्र-चित्त हो निज आत्मा का ध्यान लगाया जावे, रत्नत्रय की एकता प्राप्त की जावे, अत्मानुभव जागृत किया जावे और आत्मानन्द रूपी अमृत रस का पान किया जावे व उसी के पान में सन्तोष माना जावे।

♣ ♣ ♣

उपभोग प्रतिमा शिक्षाव्रत

उवभोग दुट्ठ भनियं, संसारे सरनि साधनं नित्यं।
मिथ्यात राग सहियं, कुन्यानं विषय चिंतनं तंपि॥ ४९२॥

अन्वयार्थ– (दुट्ठ उवभोग भनियं) दुष्ट या हानिकारक उपभोग यह कहा गया है जो (संसारे सरनि साधनं नित्यं) संसार में भ्रमण कराने वाले साधनों को नित्य किया जावे (मिथ्यात राग सहियं) मिथ्यादर्शन व राग में लिप्त रहा जावे (कुन्यानं विषय चिंतनं तंपि) या मिथ्याज्ञान द्वारा अनेक विषयों का चिन्तवन किया जावे।

भावार्थ– साधुजन ऐसे उपभोगों का कभी सेवन नहीं करते हैं, जो हानिकार हैं, जो संसार में रुलाने वाले पाप कर्मों को बांधने वाले हैं। जिन मिथ्यात्व व राग के वशीभूत हो प्राणी स्त्री, धन, मकान, राज्य, वस्त्राभूषण आदि उपभोगों को बारबार भोगकर तृष्णा की दाह में फंसे रहते हैं या मिथ्या मतिज्ञान के द्वारा खोटी बुद्धि उपजाकर अनेक हिंसाकारी शस्त्रादि बनाते रहते हैं या मिथ्या शास्त्रज्ञान के द्वारा रागवर्धक काम, अलंकार, छन्द आदि रचते हैं व मनोज्ञ उपभोगों के लिये चिंता किया करते हैं। उन सर्व मिथ्यात्व व राग भावों का उपभोग साधुओं ने त्याग दिया है।

जस्य मनस्य पसरो, तस्य परिनाम असुह सव्वे ही।
तिक्तंति सयल दोसं, न्यान सहावेन तिक्त उवभोगं॥ ४९३॥

अन्वयार्थ– (जस्य मनस्य पसरो) जिसका मन वश में न होकर सर्व तरफ घूमता रहता है (तस्य सव्वे ही असुह परिनाम) उसके सर्व ही परिणाम अशुद्ध हैं (न्यान सहावेन सयल दोसं तिक्तंति) साधुजन निज आत्मा के ज्ञान स्वभाव में स्थिर होकर मन के सर्व दोषों को दूर कर देते हैं (तिक्त उवभोगं) यही उपभोग का त्याग है।

भावार्थ– मन बड़ा चंचल है, यह मन पाँचों इन्द्रियों के भोगने योग्य मनोज्ञ पदार्थों में सदा ही भ्रमण किया करता है। मन के सर्व ही संकल्प-विकल्प अशुद्ध परिणमन हैं, कर्म बंध के कारक हैं। ऐसे मन के द्वारा होने वाले उपभोग को भी साधुजन निज आत्मा के ज्ञान स्वभाव के उपभोग में तृप्त होकर त्याग देते हैं तब सर्व दोष से रहित हो, पर उपभोग के त्यागी हो जाते हैं। वृहत् सामायिक पाठ में श्री अमितगति महाराज कहते हैं–

व्यावृत्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटं।
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो।
नोपायेन बिना कृता हि विषयः सिद्धिं लभंते ध्रुवं॥ ५४॥

भावार्थ– यह मन रूपी बन्दर पाँचों इन्द्रियों के महान भयानक वन में चिरकाल से रमण कर रहा था। जिसको रोकना कठिन था उस मन को अपने हृदय के भीतर स्थिर करके उद्योगी साधुजन सर्व भोगों की इच्छाओं को त्याग करके मुक्ति के लिये ध्यान का अभ्यास करते हैं। क्योंकि उपाय के बिना कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है यह निश्चय है।

जिन उत्तं उवभोगं, संसारे सरनि तिक्त अन्यानं।
अष्यर पदं न जानदि, अवयासं अप्प सुध परमप्पा ॥ ४९४ ॥

अन्वयार्थ– (जिन उत्तं उवभोगं) जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ उपभोग यह है कि (संसारे सरनि अन्यानं तिक्त) संसार में भ्रमण कराने वाले पाँचों इन्द्रियों के व मन के उपभोगों को त्याग करके (अष्यर पदं न जानदि) जिनवाणी के अक्षरों को व वाक्यों को भले प्रकार जाना जावे, तथा (अवयासं अप्प सुध परमप्पा) अपने भीतर आत्मा को शुद्ध परमात्मा के समान अनुभव किया जावे।

भावार्थ– यथार्थ उपभोग साधुओं का यह है कि वे मन को व इन्द्रियों को संसार के पदार्थों से व विषय भोगों से रोक लेते हैं। और निश्चिन्त होकर अपना सर्व ध्यान जिनवाणी के पठन-पाठन व मनन में लगा देते हैं। यह व्यवहार उपभोग है। निश्चयनय से वे साधु अपने आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध निर्विकार जान करके उसी निज आत्मा के स्वभाव में लीन होकर उसी के अनुभव का बार-बार भोग करते हुए परम तृप्ति लाभ करते हैं। वास्तव में आत्मा के उपभोग के समान जगत में कोई उपभोग हो नहीं सकता है, यही मोक्ष का साधन है।

अवयास सुध सुधं, दंसन न्यानेन सुध चरनानं।
चिंतंति भाव सुधं, उवभोगं च चेयना भावं ॥ ४९५ ॥

अन्वयार्थ– (अवयास सुध सुधं) जिसका भीतरी भाव परम शुद्ध है (दंसन न्यानेन सुध चरनानं) जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व शुद्ध सम्यक्चारित्र विराजमान है (सुधं भाव चिंतंति) जो साधु शुद्ध आत्मिक भाव का मनन करते हैं (उवभोगं च चेयना भावं) वहीं शुद्ध ज्ञान चेतना भाव का उपभोग है।

भावार्थ– निर्ग्रंथ साधु सर्व परभावों का उपभोग त्याग कर अपने भीतरी अवकाश या स्थान को आकाश के समान निर्मल करते हैं, सर्व संकल्प-विकल्पों से हटाते हैं व निश्चय रत्नत्रयों से भरपूर करते हैं। इस तरह शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हुए व अपनी ज्ञान चेतना का स्वाद लेते हैं, कर्म चेतना व कर्म फल चेतना का स्वाद नहीं लेते हैं, यही शुद्ध उपभोग शिक्षाव्रत है। श्रावक के भोगोपभोग शिक्षाव्रत को दो भागों में बाँटकर ग्रंथकर्ता ने साधु के चारित्र में घटाया है। व्यवहार से भोगोपभोग शिक्षाव्रत का स्वरूप रत्नकरंड श्रावकाचार में इस भाँति है–

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥ ८२॥

भावार्थ– रागादि भावों को घटाने के अर्थ परिग्रह प्रमाण व्रत में की हुई मर्यादा के भीतर प्रतिदिन प्रयोजनभूत इन्द्रियों के विषयों का परिमाण करके शेष का त्याग करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

शिक्षाव्रतों में सामायिक व प्रोषधोपवास भी गर्भित है उनका स्वरूप रत्नकरंड श्रावकाचार में इस भाँति है—

आसमयमुक्ति मुक्तं पंचाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति॥ ९७॥

भावार्थ– मन, वचन, काय व कृत कारित अनुमोदना से सर्व जगह किसी नियत समय के लिये पाँचों हिंसादि पापों को बिलकुल त्याग करके आत्मस्वरूप में समता भाव से लीन होना, उसको शास्त्रज्ञ सामायिक कहते हैं। सवेरे, सांझ व दोपहर को एक मुहूर्त या अन्तर्मुहूर्त के लिये एकांत में बैठकर ध्यान करना सामायिक शिक्षाव्रत है। प्रोषधोपवास का स्वरूप यह है—

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥ १०६॥

भावार्थ– चौदस व अष्टमी के दिन आत्म शुद्धि की भावनापूर्वक चार प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास है।

* * *

अतिथि सुयं विभाग शिक्षाव्रत

अतिथि सुयं विभागं, मिथ्या मय राग दोस विरयंतो।
अन्यानं नहु पिच्छै, सुध सहावं च पिच्छए अप्पा॥ ४९६॥

अन्वयार्थ– (सुयं अतिथि विभागं) अपने आत्मारूपी अतिथि अर्थात् साधु को आत्मानुभव का प्रदान करना अतिथि सुयंविभाग शिक्षाव्रत है (मिथ्या मय रागदोस विरयंतो) मिथ्यात्व, मद, राग, द्वेषों को छोड़ता हुआ (अन्यानं नहु पिच्छै) मिथ्याज्ञान को नहीं देखता हुआ (अप्पा सुध सहावं च पिच्छए) आत्मा शुद्ध स्वभाव का ही अनुभव करता है यही अतिथि सुयंविभाग शिक्षाव्रत है।

भावार्थ– व्यवहारनय से तो पात्रों को दान देना अतिथि सुयंविभाग या अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत है। इसको वैय्यावृत्य भी कहते हैं, रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

दानं वैय्यावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन॥ १११॥

भावार्थ- गुणवान, धर्मस्वरूप, गृह रहित तपस्वी को अपने पास के द्रव्य से बदले की अपेक्षा बिना दान देना वैय्यावृत्य है। निश्चयनय से अपने आत्मा रूपी पात्र को सर्व मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान व रागद्वेषादि मिथ्याचारित्र से रहित होकर शुद्ध स्वाभाविक आत्मानुभूति का दान देना। अर्थात् आपको आपसे ही आत्मानन्द का प्रदान करना, अतिथि सुयंविभाग शिक्षाव्रत है।

सुयं विभागी सुधं, अन्यो पुग्गल विअनु अप्पानं।
विविक्त सरुव सुधं, अप्पानं परमप्पयं जानं॥ ४९७॥

अन्वयार्थ- (सुयं सुधं विभागी) अपने शुद्ध स्वरूप को पर से विभाग करना अतिथि सुयंविभाग है अर्थात् (अन्यो पुग्गल अप्पानं विअनु) पद्गल अन्य है आत्मा अन्य है ऐसा जानना (विविक्त सुधं सरुव) अपने शुद्ध स्वरूप को जान करके (अप्पानं परमप्पयं जानं) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करना अतिथि सुयंविभाग शिक्षाव्रत है।

भावार्थ- भेद विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को सर्व अन्य आत्माओं से सर्वप्रकार पद्गलों से कर्म नोकर्म से, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों से व सर्व पद्गल कर्म के उदय जनित रागादि भावों से भिन्न जानकर परमात्मा स्वरूप अपने आपका अनुभव करना अतिथि सुयंविभाग शिक्षाव्रत है।

* * *

सल्लेखना शिक्षाव्रत

संलेहना सरीरो, इन्द्री मन पसरो दोस सलहेई।
सलिहई राय दोसं, मिथ्या अन्यान सल्य सलहेई॥ ४९८॥
सलिहई सयल विभावं, अप्पा अप्पेन चेयना सुधं।
अप्पा परमप्पानं, निस्चय ठियं दंसनं सुधं॥ ४९९॥

अन्वयार्थ- (सरीरो संलेहना) शरीर से भले प्रकार ममत्व त्यागना (इन्द्री मन पसरो दोस सलहेई) पाँचों इन्द्रियों की इच्छाओं को व मन के संकल्प-विकल्पादि दोषों को दूर करना (राय दोसं सलिहई) रागद्वेष मिटाना (मिथ्या अन्यान सल्य सलहेई) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व माया मिथ्या, निदान शल्यों को दूर करना (सयल विभावं सलिहई) तथा सर्व औपाधिक भावों को नाश करना (अप्पा अप्पेन चेयना सुधं) अपने आत्मा को अपने आपके द्वारा शुद्ध चेतना रूप अर्थात् (अप्पा परमप्पानं) आत्मा

को परमात्मा रूप अनुभव करना (सुधं दंसनं निस्चय ठियं) अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन में निश्चय से लीन होना सल्लेखना शिक्षाव्रत है।

भावार्थ- श्रावक का अन्तिम व्रत सल्लेखना या समाधिमरण है। ये चार शिक्षाव्रतों के सिवाय तत्त्वार्थसूत्र या रत्नकरण्ड में कहा है। रत्नकरंड में इसका स्वरूप यह है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनु विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥ १२२॥

भावार्थ- उपसर्ग पड़ने पर, दुर्भिक्ष में, बुढ़ापा होने पर व असाध्य रोग के होने पर धर्म की रक्षा के अर्थ शरीर को छोड़ना अर्थात् शरीर से ममत्व छोड़ आत्मा में लीन होना सल्लेखना है, ऐसा गणधरादि ने कहा है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है-

नीयंतेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसा प्रसिद्ध्यर्थम्॥ १७९॥

भावार्थ- जहाँ हिंसा के कारण कषायों को कृष किया जावे, उसे सल्लेखना कहते हैं। यह अहिंसा को सिद्ध करने वाली है। यहाँ निश्चय से कहा है कि सर्व प्रकार शरीर से, पाँच इन्द्रिय व मन के विकल्पों से, रागद्वेषादि भावों से, तीन शल्यों से, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र से, सर्व ही विभाव परिणामों से ममत्व हटाकर अपने शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप आत्मा में ही लवलीन होना सल्लेखना शिक्षाव्रत है।

बारह वय उवएसं, धरन्ति भावे विसुध सभावं।
आसन्न भव्य पुरिसा, न्यान बलेन निव्वुए जंति॥ ५००॥

अन्वयार्थ- (बारह वय उवएसं) ऊपर कहे प्रमाण बारह व्रतों का उपदेश निश्चय नय से किया गया है। जो कोई (आसन्न भव्य पुरिसा) निकट भव्य पुरुष (भावे विसुध सभावं धरन्ति) अपने भावों में शुद्ध आत्मिक भाव को धारण करते हैं वे (न्यान बलेन निव्वुए जंति) अपने आत्मज्ञान के बल से निर्वाण को पाते हैं।

भावार्थ- इस ग्रंथ में साधु की अपेक्षा से निश्चयनय की प्रधानता से नीचे प्रमाण बारह व्रतों का कथन किया गया है। पाँच व्रत- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग। तीन गुणव्रत- दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत। चार शिक्षाव्रत-भोग प्रतिमा, उपभोग प्रतिमा, अतिथि सुयंविभाग और सल्लेखना। जो कोई भव्य जीव निकट संसारी इन बारह व्रतों का मनन करके अपने आपको सर्व विभावों से शून्य करके शुद्ध आत्मा के भाव को धारण करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करेंगे वे आत्मज्ञान के अनुभव के प्रताप से कर्मों को नाश कर अवश्य निर्वाण को प्राप्त करेंगे। वास्तव में

बहुत ही उत्तम कथन किया गया है। सम्यग्दर्शन के प्रेमियों को यह कथन बार-बार मनन करने योग्य है। यह आध्यात्मिक अद्भुत विवेचन मोह के खंड-खंड करने को वज्र के समान है।

♣ ♣ ♣

बारह तप निरूपण

तव बारह उवएसं, अप्प सहावं च दंसनं सुधं।
चरनं चरित्तवंतं, साहंति जे भव्य पुरिसस्या॥ ५०१॥

अन्वयार्थ– (बारह तव उवएसं) अब बारह प्रकार तप का उपदेश करते हैं इनके द्वारा (जे भव्य पुरिसस्या) जो भव्य पुरुष हैं वे (अप्प सहावं च दंसनं सुधं- चरित्तवंतं) आत्मा के स्वभाव को शुद्ध सम्यग्दर्शन व शुद्ध चारित्र का आचरण करते हुए (साहंति) साधन करते हैं।

भावार्थ– बारह प्रकार तप निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में सहायक हैं। आत्मानुभवरूपी मोक्षमार्ग में उपयोगी हैं। ऐसा जानकर भव्य पुरुष इन तपों के अभ्यास से आत्मा के स्वभाव को झलका लेते हैं।

♣ ♣ ♣

निश्चय बाहरी तप कथन

वाहिज तव संसुधं, सुधं संमत्त सुय ससहावं।
सुधं दंसन न्यानं, सुधं चरनंपि सहाव तवयरनं॥ ५०२॥

अन्वयार्थ– (संसुधं वाहिज तव) परम शुद्ध निश्चय बाहरी तप यह है कि (सुधं संमत्त सुध ससहावं) शुद्ध सम्यग्दर्शन का व शुद्ध अपने स्वभाव का (सुधं दंसन न्यानं) शुद्ध दर्शन व ज्ञान का (सुधं चरनंपि) शुद्ध चारित्र का (सहाव तवयरनं) तथा स्वाभाविक तप का आचरण किया जावे।

भावार्थ– व्यवहार नय से बाहरी तप जब शरीर की मुख्यता से है तब यहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन, शुद्ध सम्यग्ज्ञान, शुद्ध सम्यक्चारित्र, शुद्ध तप का आचरण करते हुए अपने आत्मा के ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव का साधन किया जावे, वही बाहरी तप है।

♣ ♣ ♣

अनशन तप निरूपण

अनसन सयन सुधं, मन वय कायेन सुध तवयरनं।
सयनं अप्प सहावं, परिनामं सुध साधवा जुत्तं॥ ५०३॥

अन्वयार्थ– (अनसन) जहाँ आत्म कार्य में निद्रा न ली जावे (सुधं सयन) शुद्ध कार्य में लीन रहा जावे (मन वय कायेन सुध तवयरनं) मन, वचन, काय के द्वारा शुद्ध तप किया जावे (अप्प सहावं सयनं) आत्मा की स्वाभावानुभूति रूपी सेना को लेकर (सुध परिनामं साधवा जुत्तं) शुद्धोपयोग का साधन भले प्रकार किया जावे वह अनशन तप है।

भावार्थ– व्यवहार नय से अनशन तप उपवास करना है। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है–

मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्नाहारोऽपि चतुर्विधः।
उपवासः स तद्भेदाः सन्ति षष्ठाष्ठमादयः॥ १०७॥

भावार्थ– जहाँ मोक्ष के प्रयोजन से स्वाद्य, खाद्य, लेह्य, पेय इन चार प्रकार के आहारों का त्याग किया जावे, वह उपवास है। उसके भेद–बेला, तेला आदि हैं। यह निश्चय नय से कथन है कि जहाँ अपने आत्मकार्य में सावधान होकर आत्मस्वरूप में निर्विकल्प समाधि द्वारा शयन किया जावे। मन, वचन, काय को रोककर आत्मा ही में आपको तपाया जावे। आत्मा की साधारण परिणतिरूपी सेना के द्वारा शुद्ध स्वभाव के घातक कर्मों का संहार करके निज स्वभाव की पूर्णता का साधन किया जावे सो अनशन या उपवास तप है। जहाँ सर्व इन्द्रियों से व मन से उपयोग को हटाकर आपसे आप में ही तन्मय होकर बसाया जावे, सो उपवास है। इससे यह दिखलाया है कि केवल भोजन त्याग तो बाहरी तप है व भोजन त्याग के साथ-साथ जहाँ निज स्वभाव में लीन होकर आत्मा का साधन हो, वही सच्चा अनशन है।

अनसन अप्प सहावं, रागादि सयल दोष परिहरनं।
मिथ्या कुन्यान सहावं, तिक्तंति सयन असुध ससहावं॥ ५०४॥

अन्वयार्थ– (अनसन अप्प सहावं) अनशन या भोजन का त्याग तप वही है जहां आत्मा के स्वभाव में रमा जावे (रागादि दोस सयल परिहरनं) सर्व रागद्वेषादि भावों को त्याग किया जावे (मिथ्या कुन्यान सहावं तिक्तंति) जहाँ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व कषायों का त्याग किया जावे (सयन असुध ससहावं) शुद्ध आत्मिक स्वभाव में तिष्ठा जावे वही अनशन तप है।

भावार्थ– जैसे बाहरी भोजन का त्याग करना उपवास में प्रमाद व निद्रा को व इन्द्रियों के विकार को जीतने के लिए आवश्यक है वैसे मोक्ष के साधन के लिए भीतर से रागद्वेषादि विभावों का, मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान का व कषायों का भी त्याग करना जरूरी है। तथा शून्य न होकर अपने

आत्मा के शुद्ध स्वभाव में तन्मय होकर आत्मानंद का पान करना आवश्यक है। शरीर से मोह हटाने के लिए शरीर को भोजनपान न देकर आत्मा को पुष्ट करने के लिए आनन्दामृत का पान कराना अनशन तप है।

अनसन अरुव रुवं, रुवातीतं च भाव चिंतंति।
न्यानमई ससहावं, न्यान सहावेन अनसनं सुधं॥ ५०५॥

अन्वयार्थ– (अनसन अरुव रुवं) यह अनशन तप अरूपी आत्मा का स्वभाव है (रुवातीतं च भाव चिंतंति) जहाँ रूपातीत सिद्ध भगवान का स्वभाव विचार किया जावे (न्यानमई ससहावं) या ज्ञानमयी अपनी आत्मा के स्वभाव को ध्याया जावे। अर्थात् (न्यान सहावेन) ज्ञान चेतना के स्वभाव में लीन रहा जावे यही (सुधं अनसनं) शुद्ध अनशन तप है।

भावार्थ– आत्मा का स्वभाव ही अनशन है। वह न तो पौद्‌गलिक भोजन करता है और न उसके स्वभाव में रागादिक का भोग है। वह बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग भोगों से रहित है। निज आत्मा के ज्ञानानन्दमय स्वभाव के लाभ करने के लिए रूपातीत धर्म ध्यान किया जावे या ज्ञानमयी निज स्वभाव की भावना भाई जावे, यही शुद्ध अनशन तप है।

विरई संसार सुभावं, विरई मिच्छात दोस परिनामं।
रइयं सुध सहावं, न्यान सहावेन अनसनं सुधं॥ ५०६॥

अन्वयार्थ– (संसार सुभावं विरई) संसार के क्षणभंगुर स्वभाव से विरक्त होकर व (मिच्छात दोस परिनामं विरई) मिथ्यात्व के सदोष भाव को त्याग कर (न्यान सहावेन सुध सहावं रइयं) ज्ञानमयी स्वभाव के द्वारा अपने शुद्ध स्वभाव में रच जाना सो (सुधं अनसनं) शुद्ध अनशन तप है।

भावार्थ– संसार दुःखमय है। राग-द्वेष मोह से पूर्ण है, भव-भव में अनेक शारीरिक व मानसिक कष्टों का दाता है। ऐसा जानकर मिथ्यात्व व राग-द्वेषादि भावों से हटकर अपने शुद्धज्ञान स्वभाव में रुचिपूर्वक अनुभव करना, निश्चय अनशन तप है।

न्यानेन न्यान सुधं, कुन्यानं तिजंति सव्वहा सव्वे।
इन्द्री विषय विमुक्कं, न्यान सहावेन अनसनं ममलं॥ ५०७॥

अन्वयार्थ– जो साधु (न्यानेन न्यान सुधं) आत्मज्ञान के अनुभव से अपने ज्ञान को शुद्ध करते हैं (सव्वहा सव्वे कुन्यानं तिजंति) व सर्वथा सर्व मिथ्याज्ञान का त्याग कर देते हैं (इन्द्री विषय विमुक्कं) और पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहते हैं (न्यान सहावेन ममलं अनसनं) वे ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर निर्मल अनशन तप का पालन करते हैं।

भावार्थ- सर्व राग-द्वेष मोहादि विकल्पों को तथा पाँच इन्द्रियों की विषय-वासना को त्याग कर जो साधु भेदज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को सर्व द्रव्यकर्म, नोकर्म व भावकर्म से भिन्न जानकर आप ही अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा आपका अनुभव करते हैं, वे ही यथार्थ अनशन तप के पालन करने वाले हैं।

♣ ♣ ♣

आमोदर्य तप निरूपण

अप्प सहावं निलयं, मम अप्पा निम्मलं च परमप्पा।
संमिक् दंसन दर्सं, आमोदर्ज सुधमप्पानं॥ ५०८॥

अन्वयार्थ- (अप्प सहावं निलयं) आत्मा के स्वभाव में लीन होना (मम अप्पा निम्मलं च परमप्पा) मल रहित आत्मा को कर्म रहित परमात्मा के समान जानना तथा (संमिक् दंसन दर्सं) निश्चय सम्यग्दर्शन को अनुभव करना सो (अप्पानं सुधं आमोदर्ज) अपना अन्तरंग शुद्ध आमोदर्य तप है।

भावार्थ- व्यवहार नय से आमोदर्य तप भूख से कम खाना, जिससे ध्यान स्वाध्याय में विघ्न न पड़े जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है—

सर्वं तदवमोदर्यमाहारं यत्र हापयेत्।
एकद्वित्र्यादिभिर्ग्रासैराग्रासं समयान्मुनिः॥ ९-७॥

भावार्थ- जहाँ आहार को घटाया जावे, एक ग्रास, दो ग्रास आदि कम करते हुए एक ग्रास मात्र का ही आहार किया जावे, वह सर्व अवमोदर्य तप है।

यहाँ निश्चय नय से कथन है कि अपने आत्मा को शुद्ध निश्चय नय से परमात्मा के समान जानकर अपने ही आत्मा के स्वभाव में प्रमादभाव छोड़कर लय हुआ जावे। निश्चय सम्यग्दर्शन रूप आचरण किया जावे। आत्मा का अनुभव किया जावे सो निश्चय आमोदर्य तप है। आमोद शब्द के अर्थ आनंद मानने के हैं। इस अपेक्षा से हम ऐसा भाव भी ले सकते हैं कि अपने आत्मा में मगन होकर अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद लेना ही आमोदर्य तप है।

संमिक् न्यानं जानदि, संमिक् चरनं चरंति भावेन।
संमिक् परिनै सुधं, आमोदर्ज सुधमप्पानं॥ ५०९॥

अन्वयार्थ- (संमिक् न्यानं जानदि) जो साधु निश्चय सम्यग्ज्ञान को जानता है व (भावेन संमिक् चरनं चरंति) भाव सहित निश्चय सम्यक्चारित्र का आचरण करता है (सुधं संमिक् परिनै) तथा शुद्ध सम्यग्दर्शन में परिणमन करता है वह ही (अप्पानं सुधं आमोदर्ज) आत्मा संबंधी भीतरी शुद्ध आमोदर्ज तप पालन करता है।

भावार्थ- मैं निश्चय से शुद्ध आत्मा हूँ यह प्रतीति निश्चय सम्यग्दर्शन है। मैं अवश्य शुद्ध आत्मा हूँ ऐसा संशयरहित जानना सम्यग्ज्ञान है तथा शुद्ध आत्मा के स्वभाव में तन्मब होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। इस तरह आत्मानुभवरूप अभेद रत्नत्रय में तिष्ठना शुद्ध अध्यात्मीक आमोदर्य तप है।

अनंत दर्सन दरसै, जानदि पिच्छेई न्यान ससहावं।
तवयरनं संजुत्तं, आमोदर्ज न्यान सहकारं॥ ५१०॥

अन्वयार्थ- (न्यान सहकारं आमोदर्ज तवयरनं संजुत्तं) जो साधु आत्मज्ञान सहित आमोदर्ज तप का साधन करते हैं और (न्यान ससहावं जानदि पिच्छेई) ज्ञानमयी आत्म-स्वभाव को जानते देखते हैं वे (अनंत दर्सन दरसै) अनंत दर्शन को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ- आत्मा के अनुभव में आनंद मानने रूप जो आमोदर्य नाम का तप है उसको जो आचरण करते हुए अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा को ही देखते-जानते हैं वे धर्मध्यान व शुक्लध्यान के प्रताप से चार घातिया कर्मों को नाशकर अरहंत हो जाते हैं और अनंतदर्शन को प्राप्त कर लेते हैं।

♣ ♣ ♣

वस्तुसंख्या प्रमाण तप

वस्तु संष्य परमानं, वासं संसार तिक्त मोहंधं।
मिच्छा तव वय विरयं, रागादि दोस विषय विरयंति॥ ५११॥

अन्वयार्थ- (वस्तु संष्य परमानं) वस्तुसंख्या प्रमाण तप उसको कहते हैं जहाँ (वासं संसार तिक्त मोहंधं) मोहमयी अज्ञानरूप संसार का वास त्याग दिया जावे (मिच्छा तव वय विरयं) मिथ्यात्व व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहा जावे (रागादि दोस विषय विरयंति) जिन-जिन पदार्थों से रागादि दोष उत्पन्न होते हों उनको छोड़ दिया जावे।

भावार्थ- वस्तुसंख्या प्रमाण तप को वृत्ति परिसंख्यान तप भी कहते हैं जिसका प्रयोजन यह है कि जब साधु वृत्ति अर्थात् भिक्षा के लिए जाते हैं तब कुछ वस्तु की प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि यह वस्तु मिलेगी तो आज आहार करेंगे अन्यथा न करेंगे। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है-

एक वस्तुदशांगारपानमुद्गादिगोचरः।
संकल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः॥१२॥७॥

भावार्थ- एक वस्तु का, घर का, पीने की वस्तु का, मूँग आदि का इच्छानुसार जहाँ संकल्प किया जावे फिर भिक्षा को जाया जाय, वह वृत्तिसंख्या नाम का तप है।

यहाँ निश्चय नय की प्रधानता से कथन है कि मोह सहित संसार का वास, मिथ्यात्व भाव, इन्द्रियों के विषयों की चाह, रागद्वेषवर्द्धक संपूर्ण पर-पदार्थों का जहाँ त्याग किया जावे, वही वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

विरइ परिनाम असुधं, वासं विरयंमि न्यान सहकारं।
जं चिय असुह परिनामं, विरइ परमाद न्यान सहकारं॥ ५१२॥

अन्वयार्थ- (विरइ परिनाम असुधं) जहाँ अशुद्ध परिणामों को त्यागा जावे (न्यान सहकारं वासं विरयंमि) व आत्मज्ञान की सहायता से परवस्तु में वास या परवस्तु के मोह को या वस्त्रादि को त्याग दिया जावे (जं चिय असुह परिनामं) और जो कुछ भी अशुभ भाव है उससे विरक्त रहा जावे (न्यान सहकारं परमाद विरइ) आत्मज्ञान की सहायता से प्रमाद को त्यागा जावे वही वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

भावार्थ- जहां राग-द्वेष-मोह आदि सर्व अशुद्ध भावों को त्यागकर आत्मज्ञान में तिष्ठा जावे, वही वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

तवयरनं न्यान सहावं, उग्र तवयरन ऊर्ध सभावं।
दिंति सुदंसन सुधं, घोरार्नव संसार सरनि मुक्तस्य॥ ५१३॥

अन्वयार्थ- (न्यान सहावं तवयरनं) आत्मज्ञान में लीन रूप स्वाभाविक तप का करना (ऊर्ध सभावं उग्र तवयरन) श्रेष्ठ निज आत्मा में तिष्ठने रूप घोर तप करना (सुधं सुदंसन दिंति) जिससे शुद्ध आत्म प्रतीति की दृढ़ता होती जावे तथा (घोरार्नव संसार सरनि मुक्तस्य) नवीन भयानक संसार के मार्ग से मुक्ति हो सके सो वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

भावार्थ- इस भयानक संसार में आगामी भ्रमना न पड़े इसलिए कर्मों की निर्जरा व नवीन कर्मों के संवर करने की जरूरत है। उसका उपाय यही है कि जो सर्व पर-भावों से उदास होकर निज आत्मा में रमण रूप ऐसा घोर तप आचरण किया जावे कि परीषह उपसर्ग के पड़ने पर भी उससे चलायमान न हुआ जावे। शुद्ध आत्मश्रद्धा को ऐसा दृढ़ बनाया जावे कि वह परमावगाढ़ सम्यक्त्व में पलट जावे, यही वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

वासं तिक्त सुयं मे, न्यान बलेन तिक्त संसारे।
दंसन न्यान सु समयं, न्यान बलेन सुध तवयरनं॥ ५१४॥

अन्वयार्थ- (सुयं मे वासं तिक्त) जहाँ स्वयं अपने शुद्ध भावों से वस्त्रादि पर वस्तु का त्याग किया जावे (न्यान बलेन तिक्त संसारे) आत्मज्ञान के बल से संसार का मोह छोड़ दिया जावे (दंसन न्यान सु समयं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को पाला जावे (न्यान बलेन सुध तवयरनं) आत्मज्ञान के बल से शुद्ध तपश्चरण किया जावे सो ही वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

भावार्थ– आत्मज्ञान में लीन होकर अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में तन्मय होकर जो शुद्ध निर्दोष आत्मा में तपन रूप तप किया जावे, अपने ही निर्मल भावों से पर से मोह छुड़ाया जावे, सो वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

अप्प सरुवं पिच्छदि, जानदि न्यानेन दव्व पज्जावं।
न्यानेन न्यान सुधं, वासं तिक्तंति इत्थु संसारे॥ ५१५॥

अन्वयार्थ– (अप्प सरुवं पिच्छदि) जहाँ आत्मा के स्वभाव को देखा जावे (न्यानेन दव्व पज्जावं जानदि) ज्ञान के बल से द्रव्य के स्वरूप की अपेक्षा जीव को जाना जावे (न्यानेन न्यान सुधं) आत्मज्ञान के ध्यान से ज्ञान को कर्म रहित शुद्ध किया जावे (इत्थु संसारे वासं तिक्तंति) इस तरह संसार के वास को मिटाया जावे, कर्मों की निर्जरा की जावे सो वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

भावार्थ– द्रव्यार्थिक नय से आत्मा परमात्मा के समान शुद्ध ज्ञानानंदमयी परम वीतराग है, ऐसा जानकर उसी आत्मा के स्वभाव से तन्मय होकर ध्यान लगाया जावे इसी से संसारवर्द्धक कर्मों की निर्जरा होती है, नवीन कर्मों का संवर होता है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान बढ़ता है व शुद्ध होता है। इसी अभ्यास से जब ज्ञानावरण का क्षय होता है तब केवलज्ञान प्रकाशित हो जाता है। ऐसा तप तपना वस्तुसंख्या प्रमाण तप है।

* * *

रस परित्याग तप

रसियं मिथ्यात मइयं, रसियं संसार सरनि वासंमि।
कुन्यानं रसियानं, न्यान सहावेन सयल तिक्तंति॥ ५१६॥

अन्वयार्थ– (मिथ्यात मइयं रसियं) मिथ्यात्वमयी रुचि को (संसार सरनि वासंमि रसियं) संसार भ्रमण के वास की रुचि को (कुन्यानं रसियानं) मिथ्याज्ञान की रुचि को (न्यान सहावेन सयल तिक्तंति) आत्म-ज्ञान के स्वभाव में ठहरकर इस सर्वरुचि को छोड़ना रस परित्याग तप है।

भावार्थ– व्यवहार से शक्कर, घृत आदि रसों का त्यागना, रस परित्याग तप है। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है–

रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषाम्।
एकद्वित्रीणि चत्वारि त्यजस्तानि पंचधा॥ ११-७॥

भावार्थ- जहाँ तेल, दूध, मिष्ठ, दही, घृत इन पाँच रसों में से एक, दो, तीन, चार या पांचों का ही त्याग किया जावे, वह रस परित्याग तप है। यहाँ नमक को नहीं गिनाया है, नमक को भी गिनने से छः रस हो जाते हैं। यहाँ निश्चय की प्रधानता से कथन है कि आत्मा के स्वभाव का रसिक होकर सर्व संसारवर्द्धक रसों को या रुचियों को त्याग दिया जावे, मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान की रुचि को हटाया जावे। केवल शुद्ध आत्म-प्रतीति व स्वसंवेदन ज्ञान को बढ़ाया जावे, आत्मा के आनंद में ही तृप्ति मानी जावे और किसी भी मानसिक संकल्प-विकल्प में रुचि न रखी जावे। सर्व श्रृंगार, वीर, वीभत्सादि रसों को त्यागकर परम शांतरस का प्रेमी बना जावे, यही पंचरस परित्याग तप है।

रसियंति मूढ भावं, मल पचीस रसिय सभावं।
रसियं संसार वने, न्यान सहावेन सयल तिक्तंति॥ ५१७॥

अन्वयार्थ- (मूढ भावं रसियंति) मूढ़ भावों में रसिकता (मल पचीस रसिय सभावं) सम्यक्त्व के २५ मल दोषों में रसिकता (संसार वने रसियं) संसार के वन में रुचि (न्यान सहावेन सयल तिक्तंति) ज्ञान स्वभाव के द्वारा तपस्वी साधु सर्व रुचि भावों को त्याग देते हैं।

भावार्थ- अंतरंग के सिवाय आत्मानुभूति व आत्मानंद के किसी अन्य रस से राग का त्यागना; रस परित्याग तप है। इस तप के धारी तपस्वी मोक्ष महल के रसिक होकर संसार के दुःखमय भयानकपन से रुचि हटा लेते हैं। इसीलिए जिस मिथ्यात्व भाव के कारण व जिन पच्चीस सम्यक्त्व के मल-दोषों के कारण तीव्र कर्म का बंध होता है। जिससे भव में भ्रमण होता है, उन सबको आत्म-रसिक साधु सर्वथा त्याग देते हैं।

विकहा वसन सहावं, आरति रौद्रस्य रसिय सभावं।
परपंच विभ्रम रसियं, न्यान सहावेन सयल तिक्तंति॥ ५१८॥

अन्वयार्थ- (विकहा वसन सहावं) चार विकथा के कहने सुनने का स्वभाव व सातों व्यसनों की रुचि (आरति रौद्रस्य सभावं रसिय) आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के स्वभावों में रसिकता (विभ्रम रसियं परपंच) भ्रम सहित सर्व प्रपंच पर मायाचार की रुचि (न्यान सहावेन सयल तिक्तंति) आत्मज्ञान के स्वभाव में ठहरकर इन सर्व रुचि भावों को तपस्वी त्याग देते हैं।

भावार्थ- रस परित्याग तप के पालनकर्ता साधु स्त्री भोजनादि चारों विकथाओं की रुचि; जुआ खेलना आदि सात व्यसनों की रुचि; इष्ट वियोगादि आर्तध्यान में रंजकता; हिंसानंद आदि चार रौद्रध्यान में मग्नता तथा सर्व प्रकार मायाचार या मिथ्यात्व भावों की रुचि को निज आत्मा के आनंदमय स्वभाव के रस में भ्रमरवत् तन्मय होकर छोड़ देते हैं।

सुधं रसिय सुन्यानं, दंसन वर न्यान सुध तवयरनं।
अप्पा परमप्पानं, न्यान सहावेन सुध तवयरनं॥ ५१९॥

अन्वयार्थ- (सुधं सुन्यानं रसिय) शुद्ध सम्यग्ज्ञान में रसिक होकर (दंसन वर न्यान सुध तवयरनं) जो उत्तम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित निर्मल तप का आचरण करते हैं। (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करते हैं (न्यान सहावेन सुध तवयरनं) वे ही आत्मज्ञान के स्वभाव के द्वारा शुद्ध रस परित्याग तप को पालते हैं।

भावार्थ- संसार की सर्व रुचि टालकर जो सम्यग्दृष्टि तपस्वी शुद्ध आत्मिक रस के रसिक होकर अभेद रत्नत्रय स्वरूप स्वानुभव में तल्लीन होते हैं, वे ही निश्चय नय से रस परित्याग तप को पालते हैं।

* * *

विविक्त शय्यासन तप

विविक्त आसन सेज्जा, पुग्गल जीवान विविक्तं सुधं।
पुग्गल सरनि विमुक्कं, अप्पा अप्पेन दंसनं सुधं॥ ५२०॥

अन्वयार्थ- (विविक्त आसन सेज्जा) सर्व प्रकार के परद्रव्य संबंधी आसन व शय्या को त्याग देना (पुग्गल जीवान विविक्तं सुधं) तथा पुद्गल और जीव को भिन्न-भिन्न जानकर शुद्ध जीव को भिन्न समझना (पुग्गल सरनि विमुक्कं) पुद्गल संबंधी सर्व मार्ग को त्याग देना। अर्थात् पौद्गलिक द्रव्य तथा भावों से विरक्त हो जाना (अप्पा अप्पेन सुधं दंसनं) आत्मा को आत्मा के द्वारा शुद्ध देखना या अनुभव करना विविक्त शय्यासन तप है।

भावार्थ- व्यवहार नय से एकांत में निर्जन्तु भूमि में शयन व आसन करना, विविक्त शय्यासन तप है। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है-

जंतुपीडाविमुक्तायां वसतौ शयनासनम्।
सेवमानस्य विज्ञेयं विविक्तशयनासनम्॥ १४-७॥

भावार्थ- जहाँ जन्तुओं को कष्ट न पहुँचे ऐसी बस्ती में शयन व आसन करना, विविक्त शय्यासन तप है। यहाँ निश्चय से कथन है कि सर्व प्रकार के आसन व शय्याओं से मन रोककर पद्गल द्रव्यों से शरीर, धन, मकान, क्षेत्रादि से तथा कर्मजनित रागादि दोषों से रहित निज आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध जानकर सर्व प्रकार के परभाव से रहित होकर निज आत्मिक भाव में आपसे आप ही

तन्मय हो जाना। शुद्धात्मा का अनुभव करना, ध्याता-ध्येय के द्वैतभाव को दूर करके एक अद्वैतभाव में रम जाना, विविक्त शय्यासन तप है।

विविक्तं घाय चउक्कं, विविक्त कम्मान तिविहि जोएन।
मिथ्यात राग विगतं, सुह असुहं विगत परिनय हुंती॥ ५२१॥

अन्वयार्थ- (विविक्तं घाय चउक्कं) जिसने चार घातिया कर्मों से अमल हटा लिया है (तिविहि जोएन विविक्त कम्मान) मन, वचन, काय द्वारा सर्व कर्मों से वैराग्य प्राप्त कर लिया है (मिथ्यात राग विगतं) संसार के झूठे राग को त्याग दिया है (सुह असुहं विगत परिनय हुंती) तथा अशुभोपयोग-शुभोपयोग से रहित शुद्धोपयोग में जो परिणमन करते हैं वे ही विविक्त शय्यासन तप के धारी हैं।

भावार्थ- द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादि, भावकर्म-रागद्वेषादि, नोकर्म-शरीरादि इन से उदासीन होकर व सर्व इन्द्रिय विषय कषाय से हटकर व सर्व शुभ-अशुभ भावों को छोड़कर जो शुद्धोपयोग में रमण करते हैं, वे ही विविक्त शय्यासन तप के साधु हैं। जिन्होंने सर्व पर- आसनों पर व शय्याओं पर वास करना त्याग दिया है मात्र निज आत्मिक शय्या व आसन पर ही तिष्ठते हैं।

विविक्त सेज्जासन, विविक्त मन चवल इन्द्रि विषयानं।
न्यान बलेन विमुक्कं, अप्पा परमप्पा न्यान स सरुवं॥ ५२२॥

अन्वयार्थ- (विविक्त मन चवल इन्द्रि विषयानं) जिसने चंचल मन व इन्द्रियों के विषयों की चाह को रोक लिया है (न्यान बलेन) आत्मज्ञान के बल से (विमुक्कं) सर्व रागादि से रहित (अप्पा परमप्पा न्यान स सरुवं) अपने ही आत्मा को परमात्मा के समान ज्ञान स्वरूपी अनुभव किया है वही (विविक्त सेज्जासन) विविक्त शय्यासन तप का धारी है।

भावार्थ- जब तक यह ज्ञानोपयोग पाँच इन्द्रियों की तरफ व मन की तरफ उपयुक्त होता है तब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता है। जब उपयोग इन छहों से हटकर निज आत्मा के शुद्ध स्वभाव में उपयुक्त होता है तब ही अपने भीतर परमात्म तत्त्वमय आत्मा का अनुभव हो जाता है। यही विविक्त शय्यासन तप है। समाधिशतक में कहा है–

सर्वेन्द्रियाणि संयम्यस्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्व परमात्मनः॥३०-५॥

भावार्थ- जब सर्व इन्द्रियों को संयम में लाकर स्थिर होकर भीतर देखा जायगा, तब ही परमात्मा का स्वरूप झलक जायेगा।

♣ ♣ ♣

काय क्लेश तप

काय कलेसं उत्तं, कल लंक्रित कम्म तिजंति संसारे।
सुध सरुवं पिच्छदि, न्यान सहावेन काय अकलेसं॥ ५२३॥

अन्वयार्थ– (काय कलेसं उत्तं) अब काय क्लेश तप को कहते हैं (कल लंक्रित कम्म तिजंति संसारे) जहाँ इस संसार में शरीर के द्वारा किये हुए कर्मों का ममत्व छोड़ दिया जावे (सुध सरुवं काय अकलेसं न्यान सहावेन पिच्छदि) व काय के सर्व क्लेश से रहित शुद्ध आत्मा के स्वरूप को ज्ञान स्वभाव में ठहरकर अनुभव किया जावे, वही कायक्लेश तप है।

भावार्थ– व्यवहार नय से कायक्लेश तप वह है कि कठिन-कठिन स्थानों पर जाकर काय की ममता हटाने को, काय का क्लेश बाहर से दीखे ऐसा कठिन तप किया जावे। तत्त्वार्थसार में कहा है–

अनेकप्रतिमास्थानं मौनं शीतसहिष्णुता।
आतपस्थानमित्यादिकायक्लेशो मतं तपः॥ १३-७॥

भावार्थ– मौन रखकर अनेक कठिन-कठिन आसनों में रहकर, धूप में भी आसन जमाकर निर्मल स्वभाव के साथ कायक्लेश को सहना, सो कायक्लेश तप कहा गया है।

यहाँ निश्चय प्रधान कथन है कि शरीर के द्वारा जो आठ कर्मों का बंध किया गया है उन सर्व से ममत्व हटाकर अपने को कर्म रहित व शरीर संबंधी सर्व दुःखों से रहित मानकर अपने ही शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, भीतर आनंद मानना, सो कायक्लेश तप है।

काय कलेस असुधं, सरीर सहकार इंद्रियं विषयं।
अप्प सहावं विमलं, न्यान सहावेन काय अकलेसं॥ ५२४॥

अन्वयार्थ– (सरीर सहकार इंद्रियं विषयं) शरीर का श्रृंगार करना व इन्द्रियों के विषयों में अनुरक्त रहना आदि (असुधं काय कलेस) मलीन कायक्लेश है इसको त्यागकर (न्यान सहावेन) आत्मज्ञान के स्वभाव में रमकर (काय अकलेसं विमलं अप्प सहावं) काय संबंधी सर्व कष्टों से व विकारों से रहित व कर्म रहित निर्मल आत्म स्वभाव को अनुभवना कायक्लेश तप है।

भावार्थ– शरीर को पाँचों इन्द्रियों के विषयों में रमाना व शरीर को शोभनीक रखना भी कायक्लेश है। यद्यपि इसमें बाहर से क्लेश नहीं दिखता है, परन्तु राग भाव से कर्मों का बंध हो जाता है। जिससे भविष्य में शरीर धार करके आत्मा को शरीर द्वारा क्लेश होगा। इस सर्व को त्यागकर जो शरीर रहित ज्ञान स्वभावी परम वीतराग अपने आत्मा में रमण करते हैं, जहाँ रंचमात्र भी क्लेश नहीं है किन्तु परमानंद है, यही कायक्लेश तप साधते हैं।

अप्प सहावं सुधं, पर दव्वं विरय सव्वहा सव्वे।
अप्प सहावे रुवं, न्यान सहावेन हुंति तवयरनं ॥ ५२५ ॥

अन्वयार्थ– (सव्वहा सव्वे पर दव्वं विरय) सर्वथा सर्व पर, द्रव्यों से विरक्त होकर (सुधं अप्प सहावं) शुद्ध आत्मा के स्वभाव को जानकर (अप्प सहावे रुवं) आत्मा के स्वभाव में एकरूप हो जाना (न्यान सहावेन तवयरनं हुंति) ज्ञानस्वभाव से तपश्चरण है।

भावार्थ– ऊपर लिखित छः बाह्य तप ही तप कहलाते हैं। जब सर्व पर-द्रव्यों से विरक्त होकर निज शुद्ध आत्मा में रमण किया जावे। क्योंकि तप से संवर और निर्जरा होती है, यह सिद्धांत है। जब तक आत्मानुभव न होगा, आप आपमें तन्मय न होगा, शुद्ध उपयोग का झलकाव न होगा तब तक नवीन कर्मों का संवर व पुरातन कर्मों की निर्जरा न होगी। इसलिए बाहरी तप बिना आत्मानुभव के तप नहीं कहे जा सकते। उपवास आदि केवल निमित्त हैं। उपादान तो निज आत्मिक तप है। तारणस्वामी ने इस ही तप का महात्म्य वर्णन किया है।

♣ ♣ ♣

आभ्यंतर तप कथन

वाहिज तव उवएसं, आभिंतर तव सुध ससहावं।
अप्प सरुवं पिच्छदि, अप्पा परमप्प तिविहि जोएन ॥ ५२६ ॥

अन्वयार्थ– (वाहिज तव उवएसं) बाहरी छः तपों का उपदेश किया गया (आभिंतर तव सुध ससहावं) अब भीतरी छः तपों को कहते हैं जो शुद्ध अपना स्वभाव है। जहाँ (तिविहि जोएन) मन, वचन, काय तीनों योगों को स्थिर करके (अप्पा परमप्प अप्प सरुवं पिच्छदि) आत्मा परमात्मा के समान है ऐसा निश्चय करके अपने आत्माको उसी स्वभाव में अनुभव किया जाय, वह आभ्यंतर तप है।

भावार्थ– आभ्यंतर तप से प्रयोजन यह है कि अपने आत्मा के भीतर ही तप किया जावे। मन, वचन, काय तीनों से उपयोग हटाकर निज शुद्ध आत्मा में उपयोग को रमाया जावे।

प्रायच्छित विनयेनं, वैयाव्रिति सुध ध्याय उवएसं।
उत्सर्गं उवएसं, झानं झायंति सुधमप्पानं ॥ ५२७ ॥

अन्वयार्थ– (प्रायच्छित विनयेन) प्रायश्चित, विनय (वैयाव्रिति सुध ध्याय उवएसं) वैयावृत्य, स्वाध्याय (उत्सर्गं उवएसं) व्युतसर्ग (झानं सुधमप्पानं झायंति) इन पाँच तप के द्वारा शुद्ध आत्मा का ध्यान साधुगण ध्याते हैं।

भावार्थ- छः आभ्यंतर तप हैं— प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान। इनमें मुख्य तप ध्यान है, जिससे आत्मा का ध्यान करके कर्मों की निर्जरा की जाती है। पाँच तप ध्यान के सहकारी हैं।

♣ ♣ ♣

प्रायश्चित तप

प्राच्छितं नहु पिच्छदि, अप्राच्छितं सुध परमप्पानं।
मिच्छा मयं न दिस्टदि, सुध सहाव सरुव पिच्छंति॥ ५२८॥

अन्वयार्थ- (प्राच्छितं नहु पिच्छदि) जो प्रस्तुत अर्थात् प्राप्त शरीरादि पदार्थ व कर्मादि उनको नहीं देखता है किन्तु (अप्राच्छितं सुध परमप्पानं) जो वर्तमान में प्राप्त नहीं है ऐसे परम शुद्ध आत्मा की ओर ध्यान लगाता है (मिच्छा मयं न दिस्टदि) मिथ्यात्व व मद को नहीं देखता है (सुध सहाव सरुव पिच्छंति) शुद्ध आत्म-स्वभाव के द्वारा जो अपने स्वरूप को देखता है, वह प्रायश्चित तप पालता है।

भावार्थ- शरीरादि पदार्थ हमारे दृष्टिगोचर हैं। रागादि अनुभव में आ रहे हैं, ये सब प्रस्तुत हैं, उपस्थित हैं, किन्तु अपना शुद्ध आत्मा हमारे सामने उपस्थित नहीं है, वह तो मात्र अनुभवगम्य है, इसलिए अप्रस्तुत है। अतएव जो कोई विवेकी मिथ्यादर्शन व मद आदि भावों को त्याग कर अनुभवगम्य अपने ही शुद्ध आत्मा को शुद्ध स्वरूप के द्वारा अनुभव करता है, सो प्रायश्चित तप को पालने वाला है।

रागादि दोस रहियं, धम्म झान झायंति तं मुनिना।
कुन्यान सल्य रहियं, रुवत्थं सरुव झानत्थं॥ ५२९॥

अन्वयार्थ- (मुनिना) मुनि महाराज (रागादि दोस रहियं) रागादि दोषों से रहित (तं धम्म झान झायंति) उस धर्मध्यान को ध्याते हैं जिसमें (कुन्यान सल्य रहियं) न तो मिथ्याज्ञान है न कोई शल्य है (सरुव झानत्थं) जो अपने स्वरूप के ध्यान में स्थिरता रूप है (रुवत्थं) उसे ही रूपस्थ ध्यान कहते हैं।

भावार्थ- यहाँ ग्रन्थकर्ता निश्चयनय की प्रधानता से प्रायश्चित तप का स्वरूप कह रहे हैं। व्यवहार नय से इसका भाव यह है कि यदि प्रमादादि कारण से कोई दोष हो गया हो, तो उसको गुरु को निवेदन कर दंड लेकर दोष को शुद्ध करना। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है—

आलोचनं प्रतिक्रांतिस्तथा तदुभयं तपः।
व्युत्सर्गश्चविवेकश्च तथोपस्थापना मता॥ २१-७॥
परिहारस्तथाच्छेदः प्रायश्चितभिदा नव॥ २२-७॥

भावार्थ-- दोष की शुद्धि नौ प्रकार दण्ड लेकर होती है। जैसा अपराध होता है वैसा दण्ड दिया जाता है।

(१) आलोचना - गुरु के सामने अपने दोष को कह देना।

(२) प्रतिक्रमण - मेरे दोष मिथ्या हों ऐसा पश्चाताप करना।

(३) तदुभय - आलोचना प्रतिक्रमण दोनों करना।

(४) तप - उपवास, अल्प भोजन, रस त्यागादि करना।

(५) व्युत्सर्ग - २७ श्वांस में ९ बार णमोकार मंत्र पढ़ना एक कायोत्सर्ग है। एक या अनेक कायोत्सर्ग करना।

(६) विवेक - कोई अन्न या पान आदि को कुछ काल के लिए त्याग करना।

(७) उपस्थापना - दीक्षा छेद करके फिर से दीक्षा देना।

(८) परिहार - कुछ मासों के लिए संघ से अलग रखना।

(९) छेद - दीक्षा का समय कम कर देना, दरजा घटा देना, दीर्घकाल के दीक्षित को अल्पकाल का दीक्षित कर देना। इस गाथा का भाव यह है कि वास्तव में कर्म रूपी दोषों की शुद्धि आत्मध्यान से होती है। मिथ्याज्ञान व शल्य रहित होकर जो अपने स्वरूप में स्थिर होना वही निश्चय प्रायश्चित है।

इंदी विषय विमुक्कं, अप्प सरुवं च चेयना सुधं।
मन चवलं रुंधंतो, संमिक् दर्सन दर्सनं सुधं॥ ५३०॥

अन्वयार्थ-- (इंदी विषय विमुक्कं) पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर व (मन चवलं रुंधंतो) चंचल मन को रोककर (अप्प सरुवं च सुधं चेयना) आत्मा का स्वभाव शुद्ध चेतनामय जानकर (सुधं संमिक् दर्सनं दर्सनं) शुद्ध आत्मानुभव रूप सम्यग्दर्शन देखना ही निश्चय प्रायश्चित है।

भावार्थ-- पाँच इन्द्रिय व मन के विषयों में जाते हुए उपयोग को रोककर ज्ञान चेतनामय शुद्ध आत्मा के अनुभव में उसे जोड़ देना, निश्चय सम्यग्दर्शन मय हो जाना, निजानन्द का स्वाद लेना, सो ही निश्चय प्रायश्चित है जो सर्व कर्म मैल को छुड़ाने वाला है।

असुध परिनय विरयं, सुध परिनमई सरुव पिच्छंति।
अप्पा अप्पमि रओ, न्यान सहावेन सुध तवयरनं॥ ५३१ ॥

अन्वयार्थ- (असुध परिनय विरयं) अशुद्ध परिणामों से विरक्त होकर जो (सुध परिनमई सरुव पिच्छंति) शुद्ध परिणामों से अपने स्वरूप को देखते हैं (अप्पा अप्पमि रओ) अर्थात् जहाँ आत्मा, आत्मा में ही तन्मय हो जाता है यही (न्यान सहावेन सुध तवयरनं) ज्ञान स्वभाव से शुद्ध तपश्चरण करना है।

भावार्थ- पिछले पापों से शुद्धि करना ही प्रायश्चित तप है। अशुद्ध भावों से कर्म बंधे थे, इसलिए उनको त्यागकर कर्म की निर्जरा के कारण शुद्ध भावों में जब आत्मा परिणमन करता हुआ आपसे आप में एकाग्र हो जाता है तब प्रचुर कर्मों की निर्जरा होती है। यही शुद्ध तप है जहाँ भीतर आत्मानन्द का स्वाद आवे और कर्म का कलंक मिटता चला जावे।

* * *

विनय तप

विन्यानं स सहावं, अप्पा पर पिच्छि विरय बहिरप्पा।
विन्यान न्यान झायदि, अप्पा परमप्प सुध विन्यानं॥ ५३२ ॥

अन्वयार्थ- (विन्यानं स सहावं) भेद विज्ञान से अपने स्वाभाविक (अप्पा पर पिच्छि) आत्मा को और पर को पहचान कर (बहिरप्पा विरय) आत्मा से जो कुछ बाहर है या भिन्न है उससे विरक्त होकर (विन्यान न्यान झायदि) भेद विज्ञान के द्वारा अपने ज्ञान का जो ध्यान करता है (अप्पा परमप्प) कि आत्मा ही परमात्मा है यही (सुध विन्यानं) शुद्ध विज्ञान है। जो आत्मा को शुद्ध करने वाला है व यही अंतरंग विनय तप है, यहाँ आत्मा की ओर ही परम भक्ति रूप है।

भावार्थ- विनय तप का स्वरूप तत्त्वार्थसार में कहा है-

दर्शनज्ञानविनयौ चारित्रविनयोपि च।
तत्रोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः॥ ३०-७ ॥

भावार्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की बड़ी ही भक्ति करना तथा व्यवहार में पूज्य पुरुषों की वन्दनादि करना उपचार विनय है। इस तरह विनय तप चार प्रकार का है। यहाँ निश्चय नय की मुख्यता से कथन करते हुए रत्नत्रय स्वरूप निज आत्मा में मगन हो जाना ही विनय तप कहा है।

विनयेन सुध भावं, मय मिच्छात दोस विरयंमि।
अद सहावं विनयं, सल्यं कुन्यान दोस विरयंति॥ ५३३॥

अन्वयार्थ– (मय मिच्छात दोस विरयंमि) मद व मिथ्यात्व के दोषों को त्याग कर (सल्यं कुन्यान दोस विरयंति) तीन शल्य व मिथ्याज्ञान के दोषों से दूर रहकर (विनयेन सुध भावं अद सहावं विनयं) बड़ी भक्ति से शुद्ध भावमयी आत्मा के स्वभाव में मग्न हो जाना विनय तप है।

भावार्थ– मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान, माया, मिथ्या, निदान शल्य तथा आठ मद आदि अशुद्ध भावों को छोड़कर जो कोई श्रद्धा व परम भक्ति से अपने ही अशुद्ध आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होकर ध्यान करता है, वही विनय तप का साधने वाला है।

विनय पदानं अंगं, असुधं संसार सरनि विरदो यो।
परिनाम सुध भावं, न्यान सहावेन जोइ तवयरनं॥ ५३४॥

अन्वयार्थ– (असुधं संसार सरनि विरदो यो) जो कोई अशुद्ध संसार के मार्ग से विरक्त होकर (अंगं पदानं विनय) द्वादशांग वाणी के पदों की विनय करता है (परिनाम सुध भावं) और शुद्ध भावों में परिणमन करता है वही (न्यान सहावेन जोइ तवयरनं) ज्ञान स्वभाव के द्वारा तपश्चरण को अनुभव करता है।

भावार्थ– संसार शरीर भोगों से उदास होकर जिनवाणी का बहुत विनय से अभ्यास करना ज्ञान विनय है। इस ज्ञान विनय के द्वारा अपने शुद्ध भावों को पहचानकर उन्हीं में रमण करना, निश्चय आत्मा का विनय रूप तप है।

♣ ♣ ♣

वैय्यावृत्य तप

वैयाव्रतं स उत्तं, वय संजम वृत्ति सुध सम्मत्तं।
वैयाव्रत न्यान सहावं, मिच्छा कुन्यान सयल विरयंमि॥ ५३५॥

अन्वयार्थ– (वैयाव्रतं स उत्तं) वैय्याव्रत तप वह कहा गया है जो (वय संजम वृत्ति सुध सम्मत्तं) व्रत व संयम में वर्तन करते हुए शुद्ध व आत्म प्रतीति रूप सम्यक्त्व को पाला जावे (न्यान सहावं वैयाव्रत) ज्ञान स्वभावी आत्मा की सेवा की जावे (मिच्छा कुन्यान सयल विरयंमि) मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान से पूर्णतया विरक्त रहा जावे।

भावार्थ– व्यवहार नय से वैय्याव्रत तप साधुओं की सेवा करना है। उनके कष्टों को निवारण करना है। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है–

सूर्य्युपाध्यायसाधूनां शैक्ष्यग्लानतपस्विनाम्।
कुल संघमनोज्ञानां वैय्यावृत्यं गणस्य च॥ २७-७॥

भावार्थ– आचार्य, उपाध्याय, साधु, नवीन शिष्य मुनि, रोगी मुनि, घोर तप करने वाले मुनि, एक आचार्य ही के शिष्य कुल मुनि, मुनि संघ, एक गण या सम्प्रदाय के मुनि तथा प्रसिद्ध मनोज्ञ मुनि; इन दस प्रकार के साधुओं की सेवा करना वैय्यावृत्य तप है। यहाँ निश्चय प्रधान कथन है कि मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान के विकारों से हटकर निर्दोष महाव्रत व सामायिक संयम को पालते हुए व शुद्ध आत्म प्रतीति को रखते हुए अपने ज्ञान स्वभाव की ही सेवा करना आत्मा में ही रमण करना, वैय्यावृत्य तप है।

अप्पा परमप्पानं, पिच्छै लोयालोयंमि अवयासं।
रुवतं रुवातीतं, झानं झायंति सुधमप्पानं॥ ५३६॥

अन्वयार्थ– (अप्पा परमप्पानं लोयालोयंमि अवयासं पिच्छै) जो अपने आत्मा को परमात्मा स्वरूप लोकालोक का ज्ञाता दृष्टा देखता है वह (सुधमप्पानं) शुद्ध आत्मा को ध्याता हुआ (रुवतं रुवातीतं झानं झायंति) रूपस्थ व रूपातीत ध्यान को ध्याता है।

भावार्थ– अरहंत के स्वरूप को विचार कर ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। सिद्ध के स्वरूप को विचार कर ध्यान करना रूपातीत ध्यान है। निश्चयनय से जहाँ अपने आत्मा को सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के अनुसार श्रद्धा में लाकर शुद्ध आत्मा के स्वरूप में एकाग्र हो जाना है वही रूपस्थ या रूपातीत ध्यान है। यही आत्मा का वैय्यावृत्य है।

लिंगं च जिनवरिंदं, धम्मं सुक्कं च भावना सुधं।
झायंति झान जुत्तं, वैयाव्रतं च सुध ससरुवं॥ ५३७॥

अन्वयार्थ– (जिनवरिंदं च लिंगं) जहाँ श्री जिनेन्द्र भगवान के समान बाहरी व भीतरी लिंग है ऐसा द्रव्य व भाव लिंगी दिगम्बर जैन साधु (भावना सुधं) भावना को शुद्ध करके (जुत्तं धम्मं सुक्कं च झान झायंति) शुद्ध धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान ध्याता है वहीं (सुध ससरुवं वैयाव्रतं च) शुद्ध आत्म स्वरूप में रमण रूप वैय्यावृत्य तप है।

भावार्थ– दिगम्बर मुनि बाहर से तो सर्व वस्त्रादि परिग्रह रहित बालक के समान नग्न होता है, अंतरंग रागादि दोषों से शून्य नग्न होता है ऐसा साधु जब छठें व सातवें गुणस्थान में शुद्ध आत्मा को ध्याता है तब तो वह धर्म ध्यान करता है। जब उपशम या क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर शुद्ध आत्मा को ध्याता है तब वह शुक्ल ध्यान करता है। दोनों ही ध्यानों में शुद्ध आत्मा की ही सेवा करता हुआ वैय्यावृत्य तप पालता है।

खिउ उवसम संजुत्तं, खिपनिक भावेन सयल दोस परिचत्तं।
ऋजु विपुलं च उवन्नं, न्यान सहावेन हुंति तवयरनं॥ ५३८॥

अन्वयार्थ– (खिउ उवसम संजुत्त) क्षयोपशम भाव सहित साधु (खिपनिक भावेन - सयल दोस परिचत्त) गुणस्थान चढ़कर क्षायिक भाव को प्राप्त होकर सर्व दोषों से मुक्त हो जाते हैं (ऋजु विपुलं च उवन्न) इस तरह ध्यान करने से ऋजुमति-विपुलमति दो मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं (न्यान सहावेन तवयरनं हुंति) यह आत्मज्ञान सहित तपश्चरण का फल होता है।

भावार्थ– जिसकी सेवा करो उससे कुछ फल अवश्य होता है। यदि कोई साधु छठे- सातवें गुणस्थान में धर्म ध्यान ध्याता है, यद्यपि यहाँ अभी न उपशम भाव है, न क्षायिक भाव है, किन्तु क्षयोपशम भाव है। इसी भाव के प्रताप से किसी-किसी साधु को दोनों प्रकार का या एक प्रकार का मनःपर्ययज्ञान पैदा होता है। फिर यहीं वह साधु क्षपक श्रेणी के आठवें, नौवें, दसवें गुणस्थानों पर चढ़ता है तो क्षायिक भाव के प्रताप से वह सर्व मोहनीय कर्म का क्षय कर डालता है। फिर बारहवें गुणस्थान में चढ़कर तीन घातिया कर्मों को नाश कर सर्वप्रकार अज्ञान व रागादि दोषों से छूटकर अरहंत परमेष्ठी हो जाता है। आत्मा की वैय्यावृत्य करने से अनेक ऋद्धियें सिद्ध हो जाती हैं व आत्मा परमात्मा हो जाता है।

* * *

स्वाध्याय तप

सुधं सुध सरुवं, सुधं झायंति सुधमप्पानं।
मिच्छा कुन्यान विरयं, सुध सहावं च सुध झानत्थं॥ ५३९॥

अन्वयार्थ– स्वाध्याय तप के धारी (सुधं सुध सरुवं) कर्ममल रहित व रागादि रहित शुद्ध तत्त्वस्वरूप को ध्याते हैं (सुधं सुधमप्पानं झायंति) व परम शुद्ध आत्मा को ध्याते हैं (मिच्छा कुन्यान विरयं) मिथ्यादर्शन व मिथ्या ज्ञान से विरक्त होकर (सुध झानत्थं सुध सहावं च) शुद्ध ध्यान में तिष्ठते हुए शुद्ध आत्म स्वभाव को पाते हैं।

भावार्थ– व्यवहार नय से शास्त्र पठन-पाठन, धारण व मनन को स्वाध्याय तप कहते हैं। जैसा तत्वार्थसार में कहा है–

वाचनापृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पंचधा जिनैः॥ १६-८।

भावार्थ– जिनेन्द्र भगवान ने स्वाध्याय पाँच तरह का बताया है।

(१) वाचना — शुद्ध शब्द व उसका अर्थ पढ़ना व सुनना।

(२) पृच्छना — किसी संशय के दूर करने के लिए या निश्चय की दृढ़ता के लिए विशेष ज्ञानी से पूछकर निर्णय करना।

(३) अनुप्रेक्षा — समझे हुए शास्त्र के भाव का बार-बार विचार करना।

(४) आम्नाय — शुद्ध शब्द व अर्थ को घोष कर कंठ कर लेना।

(५) धर्मोपदेश — धर्म कथा का दूसरों को उपदेश देना।

यहाँ निश्चय प्रधान कथन है कि संसार का मिथ्या राग छोड़कर निश्चिंत होकर धर्मध्यान में तिष्ठ कर शुद्ध आत्मा का ध्यान या मनन करना स्वाध्याय है। छः द्रव्यों का निश्चयनय से व व्यवहारनय से यथार्थ स्वरूप जानना भी स्वाध्याय है।

सुधं जिनेहि उत्तं, असुधं संसार सरनि विरदोयं।
सुधं परमानंदं, सुध सहावं च निम्मलं सुधं॥ ५४०॥

अन्वयार्थ– (यं असुधं संसार सरनि विरदो) जो कोई अशुद्ध संसार के मार्ग से विरक्त होकर (जिनेहि उत्तं सुधं) जिनेन्द्र भगवान कथित शुद्ध तत्त्वों का मनन करता है (सुध सहावं च निम्मलं सुधं) तथा कर्ममल रहित व रागादि रहित शुद्ध आत्म स्वभाव का ध्यान करता है वह (सुधं परमानंदं) वीतरागता सहित परमानंद को प्राप्त करता है।

भावार्थ– जो कोई चार गतिमय दुःखदाई संसार के भ्रमण से उदासीन होकर जिनेन्द्र के आगम के अनुसार तत्त्वों का मनन करता है। फिर भेद विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा के स्वभाव को परमात्मा के समान शुद्ध ज्ञानानंदमय अनुभव करता है, वही निश्चय से स्वाध्याय करता हुआ परमानंद का लाभ पाता है।

सुधं ध्याय स उत्तं, विभ्रम परपंच तिक्त मोहंधं।
सुधं दंसन सुधं, अप्पा सुधप्प परम सुधं च॥ ५४१॥

अन्वयार्थ– (सुधं ध्याय स उत्त) शुद्ध ध्याय या स्वाध्याय तप उसको कहा गया है जहाँ (विभ्रम परपंच मोहंधं तिक्त) भ्रम बुद्धि मायाचार व मोहांधपना छोड़कर (सुधं दंसन सुधं) निश्चय सम्यग्दर्शन को शुद्धता से पाला जावे अर्थात् (अप्पा सुधप्प परम सुधं च) आत्मा को शुद्ध आत्मारूप समझकर परम शुद्ध भावों से आराधन किया जावे।

भावार्थ– संशय, विभ्रम, विमोह रहित शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके जहाँ अंतरंग से सर्व प्रकार के मिथ्यात्व को विषयांध भाव को व माया, मद व निदान भाव को त्याग कर निज आत्मा को शुद्ध

निश्चय नय के द्वारा द्रव्यमयी शुद्ध सर्व पर भाव रहित एकाकार अभेद ध्याया जावे व उसी के ध्यान में एकाग्रता प्राप्त कर आत्मानंद का स्वाद लिया जावे, यही निश्चय स्वाध्याय तप है।

* * *

व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग तप

कायोत्सर्ग स उत्तं, उत्सर्गं ऊर्ध सुध सभावं।
वेदंति विंद रुवं, अद सहावं च निम्मलं झानं ॥ ५४२ ॥

अन्वयार्थ– (कायोत्सर्ग स उत्त) कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग तप उसे कहा गया है जो (उत्सर्गं ऊर्ध सुध सभावं विंद रुवं वेदंति) शरीरों से रहित श्रेष्ठ व शुद्ध अपने स्वभाव को सिद्ध के समान अनुभव किया जावे अर्थात् (अद सहावं च निम्मलं झानं) आत्मा का स्वाभाविक निर्मल ध्यान किया जावे आपसे आप में लयता प्राप्त की जावे।

भावार्थ– व्यवहार नय से सर्व बाहरी व भीतरी परिग्रह से ममत्व त्यागना व्युत्सर्ग तप है। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है—

बाह्यान्तरोपधित्यागाद् , व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत्।
क्षेत्रात्रादिरूपधिर्बाह्यः, क्रोधादिरपरः पुनः ॥ २१७ ॥

भावार्थ– बाहरी क्षेत्र मकान आदि परिग्रह का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है। अन्तरंग में क्रोधादि भावों का त्याग अन्तरंग व्युत्सर्ग है ऐसे व्युत्सर्ग दो प्रकार के होते हैं।

यहाँ निश्चय नय की मुख्यता से कथन है कि कायों से रहित अपने ही आत्मा को सिद्ध परमात्मा के समान शुद्ध निर्विकार समझकर स्वाभाविक सहजानंद रूप आत्मध्यान किया जावे। यही कायोत्सर्ग तप है।

संमिक् दर्सन सुधं, उत्सर्गं ऊर्ध चेयना भावं।
गय संकप्प वियप्पं, अप्पा परमप्प तुल्य संकलियं॥ ५४३ ॥

अन्वयार्थ– (संमिक् दर्सन सुधं) निश्चय सम्यग्दर्शन का आचरण ही कायोत्सर्ग तप है जहाँ (उत्सर्गं ऊर्ध चेयना भावं) परभावों से रहित श्रेष्ठ अपने चैतन्य भाव को (गय संकप्प वियप्पं) संकल्प-विकल्पों से रहित ध्याया जावे (अप्पा परमप्प तुल्य संकलियं) तथा आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव किया जावे।

भावार्थ- निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मप्रतीति को कहते हैं। जहाँ इस आत्मप्रतीतिमय होकर निज स्वरूप का आचरण किया जावे अर्थात् सर्व इंद्रिय विषय-विकार व कषाय भाव व मन-वचन-काय की क्रिया को त्याग कर आत्मा को शुद्ध एकाकार परम चैतन्य स्वरूप अनुभव किया जावे, यही निश्चय कायोत्सर्ग तप है।

तिअर्थं समय सुधं, जानंति रिजु विपुल न्यान सभावं।
उत्सर्गं ऊर्ध गुनं, न्यान सहावेन सुध तवयरनं॥ ५४४॥

अन्वयार्थ- (तिअर्थं सुधं समय) तीन पदार्थ अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी निश्चय से शुद्ध आत्मा है (जानंति रिजु विपुल न्यान सभावं) उसी के ध्यान से ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान का प्रकाश हो सकता है (उत्सर्गं ऊर्ध गुनं) तथा पर से रहित श्रेष्ठ आत्मगुण जैसे केवलज्ञानादि झलक जाता है (न्यान सहावेन सुध तवयरनं) अपने ज्ञान स्वभाव में रमण करने से ही शुद्ध तपश्चरण होता है।

भावार्थ- जहाँ अपने शुद्ध आत्मस्वभावमयी आत्मध्यान किया जावे वहीं कायोत्सर्ग तप है, वहीं रत्नत्रय की एकता है, वहीं समयसार है। इसी अभेद सामायिक में लीन होने से तपस्वियों को मनःपर्ययज्ञान का लाभ होता है तथा इसी के श्रेष्ठ भाव में पहुँच जाने पर केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

♣ ♣ ♣

ध्यान तप

ध्यानं ज्ञान समत्थं, तुट्टे तह आसवेवि दुवियप्पो।
घाय चवक्कय मुक्कं, अप्पानं सुध चेयना रुवं॥ ५४५॥

अन्वयार्थ- (ज्ञान समत्थं ध्यानं) ध्यान तप वह है जहाँ ऐसा बलवान आत्मध्यान किया जावे (तह दुवियप्पो आसवेवि तुट्टे) जिससे दोनों प्रकार का आस्रव टूट जावे (घाय चवक्कय मुक्कं) चारों घातिया कर्मों का नाश हो जावे (अप्पानं सुध चेयना रुवं) संसार मार्ग में ले जाने वाले परिणामों से मोक्ष हो जावे।

भावार्थ- ध्यान तप ही मोक्ष का साक्षात् उपाय है। धर्म ध्यान के बल से श्रेणी पर चढ़ता है। शुक्लध्यान के बल से श्रेणी में सर्व आस्रव भावों को, भावास्रवों व द्रव्यास्रवों को निरोध करता है। कषाय सहित आस्रव को सांपरायिक आस्रव कहते हैं, यही संसार में भ्रमण कराने वाला है सो आस्रव क्षीण मोह बारहवें गुणस्थान पर पहुँचने पर बिल्कुल नहीं रहता है और वह साधु मोह का पहले ही

नाश कर चुका था। अब यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय तीन घातिया कर्मों का भी नाश कर अर्हंत केवली हो जाता है। तत्त्वार्थसार में कहा है–

आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेतिचतुर्विधम्।
ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोऽङ्गमुभयं भवेत्॥ ३५-७॥

भावार्थ– आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल चार प्रकार का ध्यान होता है, उनमें से धर्म व शुक्ल ध्यान तप में गर्भित है। इन्हीं दोनों तपों से कषायों का नाश हो जाता है जो कर्मों के आस्रव के मुख्य कारण हैं।

सुकलं झानं झायदि, परिनामं संसार सरनि मुक्तस्य।
सक्ति च विक्त रुवं, अइसइ वंत सुरिधि संजुत्तं॥ ५४६॥

अन्वयार्थ– (सुकलं झानं झायदि) श्रेणी पर चढ़ा हुआ साधु परम निर्मल एकाग्रता रूप शुक्लध्यान को शुक्ललेश्या के बल से ध्याता है जहाँ (परिनामं - संसार सरनि मुक्तस्य) शुद्ध चेतना रूप आत्मा को अनुभव करता है (सक्ति च विक्त रुवं) दूसरे एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान के बल से शक्तिरूप जो परमात्मपद था सो व्यक्तरूप प्रकाशमान हो जाता है (अइसइ वंत सुरिधि संजुत्त) तब केवलज्ञानी अर्हंत के अतिशय व अपूर्व आत्मा की सिद्धियें झलक जाती हैं।

भावार्थ– शुक्लध्यान शुद्धोपयोग का अनुभव कराता है। इसी के बल से आत्मा परमात्मा अर्हंत हो जाता है। जहाँ अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य आदि अतिशय प्रगट हो जाते हैं। केवली परम वीतराग होते हुए क्षुधा-तृषा की बाधा से मुक्त हो जाते हैं। योग बल से उनमें ऐसी शक्ति प्रगट हो जाती है, जिससे उनके शरीर को पुष्टि देने वाली आहारक वर्गणाएँ स्वयं खिंचकर शरीर में प्रवेश कर जाती हैं। उनको भिक्षा माँगकर ग्रासरूप आहार की जरूरत नहीं होती है। उनकी वाणी का ऐसा अतिशय होता है कि सर्वसभा निवासी पशु, पक्षी, देव, मानव अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं। ध्यान की अपूर्व महिमा है।

झानं अप्पं सरुवं, अप्पा परमप्प चेयना सुधं।
झायंति ऊर्ध सुधं, झान समत्थं च न्यान तवयरनं॥ ५४७॥

अन्वयार्थ– (झानं अप्प सरुव) ध्यान आत्मा का स्वरूप है (अप्पा परमप्प चेयना सुधं ऊर्ध सुधं झायंति) जो कोई आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध चेतनामय परम शुद्धरूप ध्याते हैं वे ही (झान समत्थं च न्यान तवयरनं) ध्यान के बल से शुद्ध तपश्चरण करते हैं।

भावार्थ– आत्मा का आत्मारूप हो जाना, अद्वैत भाव से आप आपमें स्थिर हो जाना सो ही निर्विकल्प समाधिरूप ध्यानरूपी तप है। इस ध्यान में आपको बिल्कुल शुद्ध परमात्मा के समान

ध्याया जाता है। यही ध्यानरूपी तप कर्मों की निर्जरा करने को समर्थ है। जब तक निज स्वरूप में पर-से विमुख हो तन्मय न हुआ जावे तब तक असली ध्यानतप नहीं हो सकता है।

बारह विहि उवएसं, झानं झायंति सुध तवयरनं।
जे साहंति स पुरिसा, तत्तो पुन लहइ निव्वानं ॥ ५४८ ॥

अन्वयार्थ- (बारह विहि उवएसं सुध तवयरनं झानं झायंति) बारह प्रकार का कहा हुआ यह शुद्ध तपश्चरण ध्यान के द्वारा ही ध्याया जाता है (जे स पुरिसा साहंति) जो साधु पुरुष इसका साधन करते हैं (तत्तो पुन निव्वानं लहइ) वे इसी प्रकार के प्रताप से ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ- बारह प्रकार का तप व्यवहारनय रूप से सविकल्प है, साधनरूप है। उसके द्वारा निश्चय बारह प्रकार के तप को साधा जाता है। निश्चय तप मात्र एक शुद्धात्मा का ध्यान है। यदि शुद्धात्मा का ध्यानरूपी निश्चय तप न प्राप्त किया जावे तो सविकल्प तप या व्यवहार तप मोक्ष का साधक नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मानुभव रूप तप के साधन से ही कर्मों की निर्जरा होती है और यह जीव मोक्ष का लाभ कर लेता है। जो भव्य पुरुष अपने आत्मा को भेदविज्ञान के द्वारा सर्व से भिन्न परमात्मारूप परम शुद्ध अनुभव करते हैं, वे ही अर्हंत व सिद्ध हो सकते हैं।

♣ ♣ ♣

दस प्रकार सम्यग्दर्शन कथन

दह विहि संमत्तेनय, न्यान उवदेस अर्थ वीजंमि।
संषेप सुत्त उत्तं, विवहार अवगाहनेन संजुत्तं ॥ ५४९ ॥
प्रवचन केवलि उत्तं, परमं संमत्त सुध सभावं।
दह विहि न्यान सरुवं, अप्पा अप्पेन सुध संमत्तं ॥ ५५० ॥

अन्वयार्थ- (दह विहि संमत्तेनय) दस प्रकार सम्यग्दर्शन के द्वारा भी आत्महित किया जाता है, वे दस भेद हैं (न्यान उवदेस अर्थ वीजंमि) १. ज्ञान सम्यक्त्व, २. उपदेश सम्यक्त्व, ३. अर्थ सम्यक्त्व, ४. बीज सम्यक्त्व (संषेप सुत्त उत्तं) ५. संक्षेप सम्यक्त्व ६. सूत्र सम्यक्त्व या सूत्रोक्त सम्यक्त्व, (विवहार अवगाहेनन संजुत्तं) ७. व्यवहार सम्यक्त्व, ८. अवगाहन सम्यक्त्व, (प्रवचन केवलि उत्तं) ९. प्रवचन केवलि सम्यक्त्व, (परमं संमत्त सुध सभावं) १०. परम सम्यक्त्व यह शुद्ध आत्म स्वभाव है (दहविहि न्यान सरुवं) दसों ही सम्यक्त्व आत्मज्ञान स्वरूप हैं (अप्पा अप्पेन सुध संमत्तं) आत्मा का आत्मा के द्वारा अनुभव किया जावे वही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव है तथा एक रूप ही है तथापि उसकी प्राप्ति के लिए साधन भेद है। इस दृष्टि से तथा ज्ञान व चारित्र की वृद्धि से सम्यक्त्व की विशेष उज्ज्वलता होती है, इस दृष्टि से यहाँ ये दसभेद कहे गये हैं। श्री गुणभद्राचार्य कृत आत्मानुशासन में भी सम्यक्त्व के दस भेद कहे गए हैं, जैसे-

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढ़परमावगाढ़े च॥ ११॥

भावार्थ- १. आज्ञा सम्यक्त्व, २. मार्ग सम्यक्त्व, ३. उपदेश सम्यक्त्व, ४. सूत्र सम्यक्त्व, ५. बीज सम्यक्त्व, ६. संक्षेप सम्यक्त्व, ७. विस्तार सम्यक्त्व, ८. अर्थ सम्यक्त्व, ९. अवगाढ़ सम्यक्त्व, १०. परमावगाढ़ सम्यक्त्व।

तारणस्वामी ने जो १० भेद बताये हैं उनमें से पाँच मिल जाते हैं। शेष पाँच नहीं मिलते हैं। गुणभद्राचार्य ने जब आज्ञा, मार्ग, विस्तार, अवगाढ़, परमावगाढ़, ये पाँच भेद कहे हैं तब तारणस्वामी ने ज्ञान, व्यवहार, अवगाहन, प्रवचनकेवलि, परम ऐसे पाँच भेद कहे हैं। मालूम होता है कि तारणस्वामी ने आज्ञा और मार्ग को ज्ञान में, विस्तार को व्यवहार में, अवगाढ़ को अवगाहन में, परमावगाढ़ को प्रवचनकेवलि में गर्भित करके एक परम सम्यक्त्व का भेद बढ़ा दिया है।

इसमें कोई दोष नहीं है — वक्ता के कहने की अपेक्षा बात एक ही है। इन दस भेदों से भी एक निश्चय सम्यक्त्व को ही झलकाता है जो वास्तव में आत्मानुभव रूप है। यह आत्मानुभव केवली भगवान में परमावगाढ़ होता है। सिद्ध भगवान में भेद रहित परम होता है। इनका स्वरूप आगे कहेंगे।

* * *

ज्ञान सम्यक्त्व

न्यानं न्यान सरुवं, अन्यानं तजंति मिच्छ संजुत्तं।
संसार सरनि तिक्तं, न्यानेन न्यान अप्प सभावं॥ ५५१॥

अन्वयार्थ- (न्यानं) ज्ञान सम्यग्दर्शन (न्यान सरुवं) ज्ञान स्वरूप है (मिच्छ संजुत्तं अन्यानं तजंति) जहाँ मिथ्यादर्शन सहित अज्ञान का त्याग है (संसार सरनि तिक्तं) जो संसार के मार्ग से बाहर है (न्यानेन न्यान अप्प सभावं) जहाँ ज्ञान के द्वारा ज्ञानमयी आत्मा का स्वभाव अनुभव में आ रहा है।

भावार्थ- आत्मा के स्वरूप का ज्ञान रागादि रहित भीतर झलक जाने से जो सम्यक्त्व हो वह ज्ञान द्वारा प्राप्त सम्यक्त्व है। किसी भी कारण से चाहे परोपदेश से या पूर्व जन्म के स्मरण से, वेदना

को भोगते हुए जिन महिमा आदि को देखते हुए या देवों की ऋद्धि देखते हुए जो अपने आत्मा का पर से भिन्न बोध हो जावे उसे आत्मा का ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के द्वारा कुछ काल तक मनन करने से जब अनंतानुबंधी कषाय तथा मिथ्यात्व कर्म का उपशम होगा तब उपशम सम्यक्त्व होगा। इस अपेक्षा से इसे ज्ञान सम्यक्त्व कह सकते हैं। सम्यग्दर्शन के जगने पर मिथ्यात्व का अंधेरा नहीं रहता है। संसार के मार्ग से हटकर मोक्ष के मार्ग में चलना प्रारम्भ हो जाता है। स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा निज आत्मा का अनुभव हो जाता है।

न्यानं सुध सहावं, रागादि दोस सयल विरयंमि।
विरयं असुध भावं, अप्पा परमप्प न्यान संमत्तं॥ ५५२ ॥

अन्वयार्थ- (सुध सहावं न्यानं) जहाँ शुद्ध आत्मा के स्वभाव का ज्ञान हो (रागादि दोस सयल विरयंमि) सर्व रागादि दोषों से विरक्त भाव प्राप्त हो गया हो (विरयं असुध भावं) अशुद्धोपयोग न रहा हो (अप्पा परमप्प न्यान संमत्तं) आत्मा-परमात्मा के ज्ञान में तन्मय हो वही ज्ञान सम्यक्त्व है।

भावार्थ- रागादि रहित, द्रव्यकर्म रहित, शरीर रहित, केवल एक अपने आत्मद्रव्य का बोध परमात्मारूप होकर शुद्ध भाव में जहाँ रमणता हो, वही ज्ञान सम्यक्त्व है।

* * *

उपदेश सम्यक्त्व

उवएसं संसुधं, सुधं अप्पान अप्पनो सुधं।
सुधं जिनेहि कहियं, सुधं संमत्त सुध उवएसं॥ ५५३ ॥

अन्वयार्थ- (संसुधं उवएसं) जहाँ शुद्ध या निर्दोष तत्त्वों का उपदेश प्राप्त हो (सुधं अप्पान अप्पनो सुधं) शुद्ध आत्मा को अपने आत्मा के बल से शुद्ध अनुभव की रीति बतलाई गई हो (जिनेहि कहियं सुधं) जिनेन्द्र के कथन के अनुसार शुद्ध बोध प्राप्त हुआ हो। इस तरह उपदेश द्वारा (सुधं संमत्त) आत्मानुभव रूप निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त हो वह (सुध उवएसं) निश्चय उपदेश सम्यक्त्व है।

भावार्थ- जहाँ पर से उपदेश मिलने पर सम्यक्त्व हो जावे वह उपदेश सम्यक्त्व है। किसी ने यह समझाया था कि श्री जिनेन्द्र कथित तत्त्वों का उपदेश इस प्रकार है— आत्मा अनात्मा का बोध बतलाकर आत्मा को पर से भिन्न जानकर अनुभव करने का उपाय बताया। इस बात को दूसरे के उपदेश से समझकर जो आत्मा का भेदविज्ञान द्वारा मनन करते हुए अनन्तानुबंधी व मिथ्यात्व को उपशम करके सम्यक्त्व हो वह उपदेश सम्यक्त्व है।

वास्तव में सम्यक्त्व एक ही प्रकार है। यहाँ कारण के कुछ अन्तर से भिन्न भिन्न नाम देकर समझाया है। उपदेश की मुख्यता से हो वह उपदेश सम्यक्त्व है।

सुधं जिन उत्त परं, असुध तिक्तं च सव्वहा सव्वे।
सुधं उवएस न्यानं, चरनं जिन उत्तं उवएसं॥ ५५४॥

अन्वयार्थ– (जिन उत्त परं सुधं) जिनेन्द्र कथित परम शुद्ध तत्त्व को जाने (सव्वहा सव्वे असुध तिक्तं च) सर्वथा सर्व अशुद्ध तत्त्व की श्रद्धा को त्याग देवे (सुधं उवएस न्यानं) जहाँ शुद्ध आत्म स्वरूप प्राप्ति के उद्देश्य का ज्ञान हो (चरनं) तथा उसी आत्मस्वरूप में चारित्र हो वही (जिन उवएसं उत्तं) जिनेन्द्र कथित उपदेश सम्यक्त्व कहा गया है।

भावार्थ– पर के उपदेश द्वारा यथार्थ अपने आत्मा को सर्व रागादि रहित जान लेवें। जो आत्मा नहीं है उसको आत्मा न माने। शुद्ध तत्त्वों की श्रद्धा लावे, अशुद्ध तत्त्वों की श्रद्धा न करे तथा यह ध्येय बना ले कि मुझे परमात्मपद की प्राप्ति करनी है। इस तरह दृढ़ श्रद्धा सहित मनन करते हुए जब स्वरूपाचरण चारित्रमयी आत्मानुभव प्राप्त हो तब ही यथार्थ उपदेश सम्यक्त्व का लाभ कहा जायेगा।

सुधं च सुध झानं, असुधं संसार सरनि मुक्तस्य।
सुधं परमानंदं, उवएसं सुध संमत्तं॥ ५५५॥

अन्वयार्थ– (सुध झानं च सुधं) जहाँ शुद्ध आत्मा का यथार्थ ध्यान है वही शुद्ध ध्यान है (असुधं संसार सरनि मुक्तस्य) रौद्रध्यान या मिथ्यात्व या संसार सुख की कामना सहित ध्यान जहाँ न होकर अशुद्ध संसार मार्ग के भ्रमण कराने वाले परिणामों से जहाँ मुक्ति हो (सुधं परमानंद) शुद्ध परमात्मा का जहां अनुभव हो वही (उवएसं सुध संमत्त) उपदेश निश्चय सम्यक्त्व है।

भावार्थ– निश्चय सम्यक्त्व वास्तव में आत्मानुभवरूप या आत्मध्यान स्वरूप है। संसारवर्द्धक निदान भावरहित केवल अपने को शुद्ध करने के अभिप्राय से जहाँ शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जावे आपको परमात्मारूप अनुभव किया जावे वही निश्चय उपदेश सम्यग्दर्शन है।

* * *

अर्थ सम्यग्दर्शन

अर्थ तिअर्थं सुधं, सम संमत्त दंसनं सुधं।
अर्थं समय तिअर्थं, उवएसं अर्थ समर्थं॥ ५५६॥

अन्वयार्थ– (सुधं अर्थ तिअर्थं) जहाँ शुद्ध पदार्थ की प्राप्ति का प्रयोजन हो (सम) समता भाव हो (सुधं संमत्त दंसनं) पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन हो (तिअर्थं समय अर्थं) तीन पदार्थ

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सहित आत्मारूपी पदार्थ पर लक्ष हो वही (अर्थ समर्थ उवएसं) अर्थ सम्यग्दर्शन कहा गया है।

भावार्थ– अर्थ पदार्थ को भी कहते हैं, प्रयोजन को भी कहते हैं। इस कारण वही अर्थ सम्यक्त्व है, जहाँ शुद्ध आत्मिक पदार्थ के लाभ का उद्देश्य हो। आत्मा स्वभाव से रत्नत्रयमयी है। जहाँ रागद्वेष छोड़कर समता भाव प्राप्त किया जाता है, वहीं आत्मा का अनुभव जाग्रत होता है, वहीं निश्चय अर्थ सम्यक्त्व है ऐसा अभिप्राय है।

अर्थं अप्प सरुवं, अनर्थं अन्यान मिच्छ विरयंमि।
अनेय अनर्थं भावं, तिक्तंते सुध न्यान सहकारं॥ ५५७॥

अन्वयार्थ– (अर्थं अप्प सरुवं) प्रयोजनभूत आत्मा का स्वरूप है (अनर्थं अन्यान मिच्छ विरयंमि) अहितकारी अज्ञान व मिथ्यात्व है उससे विरक्त होकर (सुध) जो कोई (न्यान सहकारं) ज्ञान की सहायता से (अनेय अनर्थं भावं तिक्तंते) नाना प्रकार संकल्प-विकल्प रूप निरर्थक भावों को त्याग देते हैं वे ही अर्थ सम्यक्त्व का आराधन करते हैं।

भावार्थ– आत्मा के शुद्ध स्वरूप के अनुभव से ही कर्मों की निर्जरा होती है व मोक्ष का लाभ होता है। इसी को ही प्रयोजन भूत अर्थकारी समझना अर्थ सम्यक्त्व है। संसार में भ्रमण कराने वाले मिथ्याज्ञान तथा रागद्वेषादि सर्व ही पर पदार्थों में सन्मुख होने वाले भाव हैं। ये सर्व आत्मा के मोक्षरूप अर्थ को नाश करने वाले अनर्थकारी भाव हैं। जो साधु इन सब अनर्थ भावों को त्याग करके निज आत्मा के श्रद्धान ज्ञान व चारित्र में तन्मय हो जाते हैं वे ही अर्थ सम्यक्त्व को पालते हैं।

अर्थं न्यान सरुवं, तिलोयं त्रिभुवन तिअर्थ संसुधं।
विंदस्थं विंदंतो, सुधं सरुवं तिअर्थ संमत्तं॥ ५५८॥

अन्वयार्थ– (न्यान सरुवं अर्थं) ज्ञान स्वरूप में रहना अर्थ है (तिलोयं त्रिभुवन तिअर्थ संसुधं) तीन लोक के भीतर तीन भुवन संबंधी सर्व पदार्थों को यथार्थ जानकर श्रद्धान करना तथा (विंदस्थं विंदंतो) ॐ मंत्र में बिंदु के स्थान में श्री सिद्ध परमात्मा को अनुभव करना या (सुधं सरुवं ति) शुद्ध स्वरूप में रमना (अर्थ संमत्त) अर्थ सम्यक्त्व है।

भावार्थ– आत्मा का सत्य कार्य अपने ज्ञान स्वरूप में तिष्ठना है, इसी का श्रद्धान अर्थ सम्यक्त्व है या तीन लोक संबंधी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्यों को यथार्थ जानकर श्रद्धान करना अर्थ सम्यक्त्व है। या सिद्ध परमात्मा को जानकर उनको भावों में भजना अर्थ सम्यक्त्व है या निज शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना अर्थ सम्यक्त्व है।

♣ ♣ ♣

बीज सम्यक्त्व

वीजं च न्यान सुधं, सुधप्पा न्यान दंसन समग्गं।
चरनं दुविहि सहावं, सहकारे तवं सुध वीयंमि॥ ५५९॥

अन्वयार्थ- (वीजं च सुधं न्यान) मोक्ष का बीज शुद्ध आत्मज्ञान है (न्यान दंसन समग्गं सुधप्पा) ज्ञान दर्शन से पूर्ण शुद्ध आत्मा है ऐसा जानना (दुविहि सहावं चरनं) दो प्रकार व्यवहार तथा निश्चय चारित्र पालना (तवं सहकारे सुध वीयंमि) या तप साधना यह शुद्ध आत्मज्ञानमयी बीज के लिए सहकारी है।

भावार्थ- आत्मज्ञानमयी सम्यक्त्व को बीज सम्यक्त्व कहते हैं, अनंत दर्शन व अनंत ज्ञान से पूर्ण शुद्ध आत्मा को जानना व श्रद्धान करना तथा व्यवहार चारित्र के द्वारा निश्चय चारित्र पालना व बारह प्रकार का तप करना ये सब आत्मज्ञान या आत्मानुभव को पैदा करने वाले हैं। आत्मानुभव ही मोक्ष का मार्ग है, या बीज है। जहाँ बीज का पक्का श्रद्धान हो वही बीज सम्यक्त्व है। या श्रद्धापूर्वक आत्मा का आत्मा में लय होना सो ही बीज सम्यक्त्व है।

देव गुर धम्म सुधं, मिथ्या कुन्यान सयल विरयंमि।
संसार सरनि विरयं, वीयं संमत्त सुधमप्पानं॥ ५६०॥

अन्वयार्थ- (सुधं देव गुर धम्म) निर्दोष वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु व अहिंसा धर्म का श्रद्धान करना (मिथ्या कुन्यान सयल विरयंमि) मिथ्या देव, गुरु धर्म से व सर्व मिथ्या तत्त्व ज्ञान से विरक्त हो जाना (संसार सरनि विरयं) संसार के भ्रमण कराने वाले कर्मबंध से विरक्त हो जाना (सुधमप्पानं संमत्त वीयं) शुद्ध आत्मानुभव रूप सम्यग्दर्शन का बीज है।

भावार्थ- वास्तव में निश्चय से शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही बीज सम्यक्त्व है, इसकी प्राप्ति का साधन सच्चे देव, गुरु, धर्म व तत्त्वों का श्रद्धान करना है व तत्त्वों का मनन करना व संसार के कारण कर्मबंध से व कर्मबंध के कारणों से उदास रहना व भेद विज्ञान का अभ्यास करना है। ये सर्व निश्चय सम्यक्त्व के बीज हैं।

♣ ♣ ♣

संक्षेप सम्यक्त्व

संषेप सुध मइयो, सुयं षिपति नंत संसारे।
कम्म मल षिपति भावं, न्यान सहावेन सुयं संषेपं ॥ ५६१ ॥

अन्वयार्थ- (संषेप सुध मइयो) संक्षेप सम्यक्त्व शुद्ध स्वरूप मय है (सुयं नंत संसारे षिपति) जिसके प्रताप से स्वयं अनंत संसार छूट जाता है (कम्म मल भावं षिपति) कर्ममल को बाँधने वाला भाव दूर हो जाता है (न्यान सहावेन सुयं संषेप) ज्ञान स्वभाव में तिष्ठना ही स्वयं संक्षेप है, अर्थात् भले प्रकार परभावों का निवारण है।

भावार्थ- यहाँ निश्चयनय प्रधान संक्षेप सम्यक्त्व का कथन है कि जहाँ आत्मा अपने शुद्धोपयोग में रमण करता है वहाँ स्वयं ही अनंत संसार नहीं रहता है। क्षायिक सम्यक्त्व एक ,तीन या चौथे भव में मुक्ति प्रदान कर देता है तथा जिन शुभ या अशुभ भावों से कर्मबंध होता है वे भाव भी छूट जाते हैं। ज्ञानी का सर्व रागद्वेषादि भावों से रहित होकर अपने ज्ञान स्वभाव में तन्मय रहना ही वास्तव में परभावों को व द्रव्य कर्मों को भले प्रकार हटाने वाला भाव है।

दंसन न्यान सहावं, अप्प सहावेन सुध सभावं।
सुधं सुध सरुवं, संमत्तं सुध ममल संषेपं ॥ ५६२ ॥

अन्वयार्थ- (दंसन न्यान सहावं) दर्शन ज्ञान स्वभावमयी (अप्प सहावेन सुध सभावं) आत्मा के स्वरूप के अनुभव द्वारा शुद्ध उपयोग में निष्ठना (सुधं सुध सरुवं) परम शुद्ध स्वरूप में एकाग्र होना (सुध ममल संषेपं संमत्तं) शुद्ध निर्दोष संक्षेप सम्यक्त्व है।

भावार्थ- आत्मा का स्वभाव दर्शन ज्ञानमय है, रागादि रूप नहीं है। इस स्वभाव को श्रद्धान, ज्ञान में लाकर उसी स्वरूप आप हो जाना अर्थात् सर्वसंकल्प विकल्प छोड़कर सर्व मोह ममता हटाकर सर्व शुभ व अशुभ भाव टालकर शुद्धोपयोग में जम जाना ही निर्दोष निश्चय संक्षेप सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्व कर्मरूपी ईंधन को जलाने के लिए ध्यान रूपी अग्नि उत्पन्न कर देता है, परम उपादेय है।

♣ ♣ ♣

सूत्र सम्यक्त्व

सूत्रं सुध सहावं, संसूत्रं सास्वतेन चेयना भावं।
विकहा वसन असूत्रं, संसारे सरनि सयल विरयंमि ॥ ५६३ ॥

अन्वयार्थ– (सूत्रं सुध सहावं) शुद्ध स्वभाव में लिपटे रहना सूत्र सम्यक्त्व है (सास्वतेन संसूत्रं चेयना भावं) सदा से अपने आत्मा के साथ भले प्रकार गंठा हुआ व चला आया हुआ चेतना भाव है (विकहा वसन असूत्रं) चार विकथा व सात व्यसनों का जो सूत्र या धागा या सूत नहीं है (संसारे सरनि सयल विरयंमि) इसलिए सर्व संसार के मार्ग से विरक्त है।

भावार्थ– सूत्र नाम धागे का है, वेष्टने का है, नियम से रहने का है। सूत्र सम्यक्त्व यह है कि श्रद्धा पूर्वक अपने ही शुद्ध नित्य ज्ञान चेतना रूपी भावों में लिपटे रहना, तन्मय रहना, वहाँ स्त्री, भोजन, देश, राजा कथा संबंधी कोई भाव व जुआ आदि सात व्यसन संबंधी कोई भाव नहीं रखना। इन विभावों का एक तंतु मात्र भी वहाँ नहीं रहना। ऐसा शुद्ध सम्यग्दर्शन सर्व संसार के कारण कर्ममैल को टालने वाला है, सीधा मोक्ष मार्ग है।

सूत्रं जं जिन उत्तं, तं सूत्रं सुध भाव संकलियं।
असूत्रं नहु पिच्छदि, सूत्रं ससरुव सुधमप्पानं ॥ ५६४ ॥

अन्वयार्थ– (सूत्रं जं जिन उत्तं) जो जिनेन्द्र के द्वारा कहा गया है वही सूत्र सिद्धांत है (तं सूत्रं सुध भाव संकलियं) वह सूत्र शुद्ध भावों से पूर्ण है (असूत्रं नहु पिच्छदि) वहाँ कोई सिद्धांत विरुद्ध बात नहीं देखी जाती है (सूत्रं ससरुव सुधमप्पानं) इस सिद्धांत का सार अपने ही शुद्ध आत्मा के रूप में रमण करना है यही सूत्र सम्यक्त्व है।

भावार्थ– अर्हंत भगवान द्वारा प्रगट दिव्यध्वनि के अनुसार गणधर देवादि ने द्वादशांग वाणी के सूत्र रचे हैं। उनमें शुद्ध सत्य तत्त्वों का स्वरूप है, उनमें कोई बात ऐसी नहीं है जो असत्य हो। उस सर्व द्वादशांग वाणी का सार अपने ही शुद्ध आत्मा को सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म रहित श्रद्धान में लाकर परम एकाग्रता से अनुभव करना है। यह स्वात्मानुभव ही वास्तव में सूत्र सम्यक्त्व है। यही सिद्धांत का सार है व यही नियम रूप से सूत्ररूप मोक्ष का मार्ग है।

* * *

व्यवहार सम्यक्त्व

विवहारं संमत्तं, देव गुर सुध धम्म संजुत्तं।
दंसन न्यान चरित्तं, मल मुक्कं विवहार सम्मत्तं ॥ ५६५ ॥

अन्वयार्थ- (विवहारं संमत्त) व्यवहार सम्यग्दर्शन यह है कि (देव गुर सुध धम्म संजुत्तं) निर्दोष शुद्ध देव, गुरु तथा धर्म का श्रद्धान किया जावे तथा (मल मुक्कं दंसन न्यान चरित्तं) दोष रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमय भाव का अनुभव किया जावे सो (विवहार सम्मत्तं) व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- जहाँ विस्तार से भेद रूप पदार्थों को जान करके शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जावे सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है निर्दोष देव श्री अर्हंत वीतराग भगवान हैं, निर्दोष गुरु तेरह प्रकार चारित्र पालने वाले निर्ग्रंथ गुरु हैं, निर्दोष धर्म वीतराग विज्ञानमय अहिंसा धर्म है। निश्चयनय से विचार किया जावे तो शुद्ध आत्मा ही देव है, शुद्ध आत्मा ही गुरु है, शुद्ध आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। आत्मा निश्चय से रत्नत्रय स्वरूप है। सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र तीनों ही आत्मा के गुण हैं। इसी से शुद्ध आत्मा का अनुभव ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

न्यानेन न्यान दिट्ठं, कुन्यानं मिच्छ असुह विरयंमि।
विरयं सुह असुहं च, विवहारं सुधमप्पानं ॥ ५६६ ॥

अन्वयार्थ- (न्यानेन न्यान दिट्ठं) ज्ञान के द्वारा ज्ञान का अनुभव करना (कुन्यानं मिच्छ असुह विरयंमि) मिथ्या ज्ञान, मिथ्या श्रद्धान व मिथ्या आचरण से विरक्त होना (सुह असुहं च विरयं) तथा शुभ-अशुभ, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से विरक्त होना (सुधमप्पानं) शुद्ध आत्मा रूप हो जाना (विवहारं) व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- मिथ्या श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र को छोड़कर व सर्व शुभ व अशुभ भावों को त्याग कर शुद्धोपयोग रूप परिणमन करना-निजात्मा के स्वाभाविक आनंद का स्वाद लेना व्यवहार सम्यक्त्व है।

♣ ♣ ♣

अवगाह सम्यक्त्व

अवगाहन संमत्तं, अवगहइ अंग पुव्व वित्थरनं।
अवगहै सुध भावं, असुधं सर्व च विवरीदो ॥ ५६७ ॥

अन्वयार्थ- (अवगाहन संमत्त) अब अवगाह सम्यग्दर्शन को कहते हैं, जो (अंग पुव्व वित्थरनं अवगहइ) ग्यारह अंग चौदह पूर्व के विस्तार को जाने फिर (सुध भावं अवगहै) शुद्ध आत्मिक भाव

को जानकर (असुधं विवरीदो) अशुद्ध भावों से विपरीत (सर्वं-च) शुद्ध भाव का ही अनुभव करे सो अवगाह सम्यक्त्व है।

भावार्थ– द्वादशांग वाणी को समझकर श्रुतकेवली के जो शुद्ध अवगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है। वह अवगाह सम्यक्त्व है। यहाँ सर्व अशुद्ध भावों का त्याग है व शुद्ध स्वरूप का ही ग्रहण है।

अवगहइ सुध झानं, आरति रौद्रं च सयल विवरीदो।
अवगहइ अप्प अप्पं, संमिक् दंसनं च अवगहनं॥ ५६८॥

अन्वयार्थ– (आरति रौद्रं च सयल विवरीदो) सर्व आर्त तथा रौद्र ध्यान से हटकर (सुध झानं अवगहइ) जो शुद्ध ध्यान को अवगाहन करता है (अप्प अप्पं-अवगहइ) आपसे आपको ग्रहण करता है (अवगहनं च संमिक् दंसन) वही अवगाह सम्यग्दर्शन को धारता है।

भावार्थ– परिणामों को संक्लेशित करने वाले आर्त तथा रौद्रध्यान हैं। इन दोनों ध्यानों को छोड़कर जो धर्मध्यान में तिष्ठकर अपने ही आत्मा के द्वारा अपने आत्मा का अनुभव करता है, वही अवगाह सम्यक्त्व का धारी है।

पदस्तं पिंडस्तं, रुवस्तं रुवतीत झानत्थं।
अवगहै धम्म सुक्कं, अवगाहन न्यान झान संमत्तं॥ ५६९॥

अन्वयार्थ– (पदस्तं पिंडस्तं) जो कोई पदस्थ ध्यान, पिंडस्थ ध्यान (रुवस्तं रुवतीत झानत्थं) रूपस्थ ध्यान तथा रूपातीत ध्यान में ठहरा हुआ (धम्म सुक्कं अवगहै) धर्म तथा शुक्ल ध्यान को अवगाहन करता है, सो ही (अवगाहन न्यान झान संमत्त) अवगाहन ज्ञान का ध्यान रूप सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ– धर्मध्यान के चार भेद श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहे हैं, वहाँ से इनका विशेष स्वरूप जानना योग्य है। यहाँ पर कुछ संक्षेप स्वरूप लिखा जाता है।

पिंडस्थ ध्यान— पिंड अर्थात् शरीर उसमें स्थित आत्मा का ध्यान सो पिंडस्थ स्थान है। इसकी पाँच धारणाएँ हैं- पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और तत्त्व रूपवती।

(१)पृथ्वी धारणा— मध्य लोक के समान क्षीर समुद्र का चिंतवन करै उसके मध्यम में जंबूद्वीप समान एक लाख योजन चौड़ा ताए हुए सुवर्ण के समान एक हजार पत्ते का कमल विचारे, उसके मध्य में सुमेरू पर्वत के समान पीतरंग की कर्णिका को विचारे, सुमेरू पर्वत के ऊपर पांडुक वन में पांडुक शिला पर स्फटिक मणि का सिंहासन सोचे, उस पर अपने को पद्मासन बैठा हुआ विचार करे कि मैं कर्मों के नाश के लिये बैठा हूँ। ऐसा बारबार विचारना पार्थिवी धारणा है। जब इसका अभ्यास हो जावे तब अग्नि धारणा का अभ्यास करे।

(२) अग्नि धारणा— उसी स्थान पर बैठा हुआ अपने नाभि स्थान में भीतर सोलह पत्ते का सफेद कमल विचार करे, उसके १६ पत्तों पर पीतरंग के अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, लृ लॄ, ए ऐ, ओ औ, अं अः ऐसे १६ स्वरों को विचारे। फिर उस कमल के मध्य में र्हं विचार करे इसी की सीध में हृदय स्थान पर औंधा आठ पत्तों का एक कमल ज्ञानावरणादि आठ कर्म की स्थापना रूप विचार करे। र्हं की रेफ से धुआँ निकला फिर अग्नि निकली। लौ बढ़ी और आठ कर्म के कमल को जलाने लगी। वही लौ उस कमल के मध्य में से ऊपर को गई। मस्तक पर जाकर उसकी एकएक लाइन दोनों तरफ शरीर के नीचे को गई और फिर वे दोनों एक लाइन से मिल गईं, अर्थात् शरीर के तीन तरफ त्रिकोण मंडल बन गया ऐसा सोचे। फिर इस मंडल के भीतर तीनों कोनों पर ॐ र्‍ और बाहर के तीनों कोनों पर स्वस्तिक 卐 अग्निमय विचारे। त्रिकोण की तीन लाइनों को रररररर अक्षरों की बनी हुई अग्निमय विचारे। इस तरह सोचे कि भीतरी अग्नि आठ कर्म को व बाहरी अग्नि शरीर को जला रही है। दोनों की जलकर राख हो रही है। जब दोनों जलकर राख हो गए तब अग्नि जहाँ से उठी थी वहाँ समा गई। इस अग्नि धारणा का बार-बार अभ्यास करने से ऐसा झलकता है कि मानों कर्म जल रहे हैं और मैं शुद्ध हो रहा हूं।

(३)वायु धारणा— उसी तरह बैठा हुआ सोचे कि मेरे चारों तरफ बड़े वेग से पवन घूम रही है। इसका एक मंडल बन गया है जिसमें कई जगह स्वाय-स्वाय लिखा है। यह मंडल घूमता हुआ कर्मरूपी रज को उड़ाता है और आत्मा को शुद्ध करता है।

(४)जल धारणा— उसी स्थान पर बैठा हुआ सोचे कि मूसलधार पानी बरस रहा है, आत्मा पर एक अर्द्ध चन्द्राकार पानी का मंडल बन गया है, इस पर पानी का बीजाक्षर प प प प प प लिखा हुआ है। यह जलवृष्टि आत्मा के मैल को छुड़ाने वाली है।

(५)तत्त्वरूपवती धारणा— अब यह सोचे कि मेरा आत्मा सिद्ध सम शुद्ध हो गया है। यथार्थ तत्त्वमय हो गया है। (अ) यही पिंडस्थ ध्यान है।

(ब)पदस्थध्यान— मस्तक पर भौंहों के मध्य में नासिका के अग्र भाग पर आदि किसी भी स्थान पर मंत्र पदों को विराजमान करना व उनके द्वारा पाँच परमेष्ठी व आत्मा का चिंतवन करना। वे मंत्र पद हैं ॐ, ह्रीं, श्रीं, सोहं, अर्हं आदि।

(स)रूपस्थध्यान— अरहंत के स्वरूप को विचार करके आत्मा का ध्यान करना। समवसरण को याद कर लेना कि बारह सभाएँ लगी हैं, भगवान अंतरिक्ष सिंहासन पर विराजमान हैं। दिव्यध्वनि हो रही है। भगवान पद्मासन हैं व ध्यानमग्न हैं, उनके आत्मा को विचार कर अपने आत्मा को उस रूप ध्याना।

(द)रूपातीत ध्यान— एकदम से सिद्ध भगवान को विचार कर उनके स्वरूप में अपने आपको जोड़ देना।

इन चार प्रकार के धर्मध्यान द्वारा आत्मध्यान होता है तथा श्रेणी पर चढ़ने से शुक्लध्यान होता है। इस तरह धर्मध्यान व शुक्लध्यान के प्रताप से आत्मा को अवगाढ़ के रूप से ध्याना अवगाह सम्यक्त्व परम कल्याणकारी है।

♣ ♣ ♣

प्रवचन केवलि सम्यक्त्व

प्रवचन केवलि उत्तं, जं उत्तं केवलि नंत दिस्टि संदर्स।
तं वयन सुध वयनं, असुध वयनं पि सयल विवरीदो॥ ५७०॥

अन्वयार्थ– (केवलि उत्तं प्रवचन) केवली भगवान की दिव्यध्वनि में (जं उत्तं) जो कहा गया है ऐसा प्रवचन केवलि सम्यक्त्व है (केवलि नंत दिस्टि संदर्स) जिसको केवली भगवान ने अपनी अनंतदर्शन की दृष्टि से अनुभव किया है (तं वयन सुध वयनं) उनका यह वचन शुद्ध सम्यक्त्व का झलकाने वाला है यह (असुध वयनं पि सयल विवरीदो) जो सर्व अशुद्ध वचनों से रहित है।

भावार्थ– केवली भगवान को जिस सम्यक्त्व का अनुभव है वह परमावगाढ़ रूप प्रवचन केवली सम्यक्त्व है। यहाँ आत्मा का प्रत्यक्ष अनंतदर्शन व अनंतज्ञान के द्वारा दर्शन है इसके पहले अमूर्तिक आत्मा का परोक्ष श्रुतज्ञान के बल से दर्शन था। उनकी दिव्यध्वनि से जैसा उसका प्रकाश होता है, वैसा प्रकाश अल्प ज्ञानी नहीं कर सकते हैं। उनकी ध्वनि में कोई दोष नहीं है, यह यथार्थ सम्यक्त्व को प्रगट करने वाला है।

जं केवलिं उवएसं, तं वयनं सुध सार्धं निस्वय।
तं आलाप चवंतं, जं केवल विमल केवलं सुधं॥ ५७१॥

अन्वयार्थ– (जं केवलिं उवएसं) जो केवली भगवान ने उपदेश दिया है (तं वयनं सुध सार्धं निस्वय) वह वचन शुद्ध भाव को लिए हुए है व वही निश्चय है, ठीक है (जं केवल विमल केवलं सुधं) जो सम्यग्दर्शन पर से भिन्न निर्मल बिलकुल शुद्ध है (तं आलाप चवंतं) वही उनकी ध्वनि से प्रकाशित होता है।

भावार्थ– केवली भगवान द्वारा कहा हुआ सम्यग्दर्शन का स्वरूप वही है, जैसा उनके अनुभव में प्रत्यक्ष आत्मा का दर्शन है। उनके ज्ञान में आत्मा आत्मारूप सर्व पर द्रव्यों से भिन्न एकाकार परम शुद्ध अमूर्तिक प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। क्योंकि आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन सिवाय केवलज्ञान के और कोई ज्ञान नहीं कर सकता है। मतिश्रुत दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं, इन्द्रिय तथा मन द्वारा होते हैं अवधि मनःपर्यय रूपी पदार्थ मात्र को प्रत्यक्ष जानते हैं। एक केवलज्ञान ही ऐसा है जो मूर्तिक अमूर्तिक

सबको प्रत्यक्ष जानता है। जैसा निर्मल परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन केवली को है, वही प्रवचन केवलि सम्यक्त्व है, जो उनके वचनों द्वारा प्रकाशित होता है।

* * *

परम सम्यक्त्व

परमं संमत्त उत्तं, परमं झानस्य परम भत्तीए।
परमं परमप्पानं, अप्पा परमप्प केवलं सुधं॥ ५७२ ॥

अन्वयार्थ– (परमं संमत्त उत्त) उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन को कहा जाता है (परम भत्तीए परमं झानस्य) जो श्रेष्ठ भक्ति के साथ श्रेष्ठ ध्यानधारी के होता है (परमं परमप्पानं) यह श्रेष्ठ सम्यक्त्व परमात्मा के होता है (अप्पा परमप्प केवलं सुधं) यही आत्मा परमात्मारूप केवल शुद्ध होता है।

भावार्थ– परम सम्यग्दर्शन आत्मा का निर्मल एक स्वाभाविक गुण है। यह गुण श्री सिद्ध भगवान में जैसा का तैसा प्रकाशमान है। आठों कर्मों के वियोग होने से शरीर न रहने से, मन, वचन, काय न रहने से सिद्धात्मा परम शुद्ध आत्मा रूप है। उनके भीतर सर्व गुण परम शुद्ध झलक रहे हैं। परम ध्यान शुक्ल ध्यान है। चौथे शुक्ल ध्यान के प्रताप से सर्व कर्म जब झड़ जाते हैं। तब आत्मा सिद्ध परमात्मा हो जाता है। उनके भीतर जो सम्यग्दर्शन गुण है, वही परम सम्यक्त्व है।

परमं परमप्पानं, अप्प सरूवं च सुधमप्पानं।
रागादि दोस विरयं, झानं झायंति परम संमत्तं॥ ५७३ ॥

अन्वयार्थ– (परमं परमप्पानं) श्रेष्ठ परमात्मा श्री सिद्ध भगवान के (अप्प सरूवं च सुधमप्पानं) आत्मा का स्वरूप शुद्ध आत्मा रूप है वे (रागादि दोस विरयं झानं झायंति) रागादि दोष रहित वीतराग ध्यान में तल्लीन है (परम संमत्त) उन्हीं के परम सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ– श्री सिद्ध भगवान का आत्मा आत्मा के यथार्थ स्वभाव में प्रकाशमान है। वे हलन-चलन रहित निश्चल समुद्र की तरह परम वीतरागता सहित आप ही आप में मगन हैं। कोई भी कारण आत्म स्वभाव से अन्यथा होने का नहीं है। उनके भीतर सर्वगुण अपने स्वभाव में कल्लोल कर रहे हैं, वहीं परम सम्यग्दर्शन भी है।

सम्मत्तं उवएसं, दह विहि संमत्त अप्प अप्पानं।
अप्पा सुधप्पानं, परमप्पा लहइ निव्वानं॥ ५७४ ॥

अन्वयार्थ– (दहविहि सम्मत्तं उवएसं) इस तरह दस प्रकार सम्यग्दर्शन कहा गया है (अप्प अप्पानं संमत्त) आपसे आपको आप रूप श्रद्धान करना सम्यक्त्व है (अप्पा सुधप्पानं) यह आत्मा शुद्ध आत्मा

को प्रतीति व ज्ञान सहित अनुभव करता हुआ (परमप्पा लहइ निव्वानं) अर्हंत परमात्मा होकर फिर निर्वाण को प्राप्त करता है। अर्थात् सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ- भिन्न-भिन्न अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दस भेद कहे गये हैं। वास्तव में सम्यग्दर्शन अपने आत्मा की पर से भिन्न निर्मल गाढ़ प्रतीति को कहते हैं। जो भव्यजीव इस प्रतीति सहित निजात्मा को ध्याता है, वह चार घातिया कर्मों को काटकर अर्हंत परमात्मा हो जाता है, फिर वही चारों अघातिया कर्मों को भी नाशकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। श्री आत्मानुशासन में दस प्रकार सम्यक्त्व का स्वरूप नीचे भाँति है।

आज्ञासम्यक्त्व मुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव।
त्यक्तमन्यप्रपंचं शिवममृतपथं श्रद्दधान्मोहशांतेः॥
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता।
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशिदृष्टिः॥ १२॥

भावार्थ- केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से ही तत्त्वों पर जो रुचि हो जाय सो आज्ञा सम्यक्त्व है॥ १॥ दर्शन मोह कर्म के शांत होने से सर्व परिग्रह रहित कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान हो जाना सो मार्ग सम्यक्त्व है॥ २॥ जो सम्यक्त्व तीर्थंकरादि श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्र के उपदेश द्वारा उत्पन्न हुआ हो उसे आगम के ज्ञाता आचार्यों ने उपदेश सम्यक्त्व कहा है॥ ३॥

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः।
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः॥
कैश्चिज्जातोपलब्धे रसमशमवशादवीजदृष्टिः पदार्थात्।
संक्षेपेणैव बुध्वा रुचिमुपगतवान्साधुसंक्षेपदृष्टिः॥ १३॥

भावार्थ- मुनियों के चरित्र को बताने वाले आचार सूत्र को सुनकर जो उत्पन्न हो वह सूत्र सम्यग्दर्शन है॥ ४॥ गणित आदि के प्रकाशक करणानुयोग के ज्ञान के लिए जो बीज या मूल नियम कहे गये हैं, उनमें से कुछ नियमों के जानने से तथा मोह की अतिशय शांति से जो सम्यक्त्व हो, वह बीज सम्यक्त्व है॥ ५॥ पदार्थों को संक्षेप रूप से जानने पर ही जो तत्त्वों में यथार्थ रुचि हो, वह संक्षेप सम्यक्त्व है॥ ६॥

यः श्रुत्वा द्वादशांगीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं।
संजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यंतरेणार्थदृष्टिः॥
दृष्टिः सांगांगबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा।
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रुढा॥ १४॥

भावार्थ- सर्व द्वादशांग को सुनकर जिसके तत्त्व रुचि हो वह विस्तार सम्यक्त्व है॥ ७॥ किसी पदार्थ के देखने से व अनुभवने से तथा किसी शास्त्र के वचन अनुभवने से जो सम्यक्त्व हो वह अर्थ

सम्यक्त्व है ॥ ८ ॥ बारह अंग व अंग बाह्य सर्व श्रुतज्ञान के ज्ञान से जो श्रुतकेवली अवस्था में सम्यक्त्व हो वह अवगाढ़ सम्यक्त्व है ॥ ९ ॥ केवलज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानने पर जो रुचि हो, सो परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन है ॥ १० ॥ वास्तव में सम्यक्त्व एक आत्मा का अवक्तव्य गुण है। जब आत्मानुभूति होती है, तब सम्यक्त्व का होना अवश्य सिद्ध है। आत्मानुभव के काल में ही भाव निक्षेपरूप सम्यक्त्व है। यही निश्चय सम्यक्त्व है। इसका स्वरूप समयसार कलश में श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्।
तन्मुक्तानवतत्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ ६ ॥

भावार्थ— शुद्ध निश्चयनयसे एक स्वभाव में निश्चल, पूर्णज्ञान घन, अपने गुणों में व्याप्त, ऐसे निज आत्मा को सर्व द्रव्यों से भिन्न देखना ही सम्यग्दर्शन है। यही नियम से आत्मा है। व यह आत्मा के सर्वांश में व्यापक है। जितना बड़ा आत्मा है, उतना सम्यग्दर्शन है। इसलिए नव तत्त्वों की परिपाटी को छोड़कर हमें एक आत्मा ही प्राप्त हो।

इससे सिद्ध है कि जहाँ आत्मा में तन्मयता है, वहाँ ही सम्यग्दर्शन का राज्य है। आत्मा का ज्ञान केवलज्ञान में तो प्रत्यक्ष होता है। किन्तु श्रुतज्ञान में आत्मा का ज्ञान परोक्ष शास्त्र के अर्थ के बोध से होता है। अतएव अरहन्त व सिद्ध भगवान का सम्यक्त्व विशद है— बहुत साफ है वैसा शास्त्र द्वारा आत्मा का अनुभव स्पष्ट नहीं होता है। ये ही सम्यक्त्व के दस भेद कहे गये हैं। प्रयोजन यह है कि हमें जिस तरह बने सम्यक्त्व का लाभ करना चाहिये।

♣ ♣ ♣

बारह अविरत त्याग

पंच इंद्री संवरनं, रागादि दोसं च विषय संवरनं।
मन गारव संवरनं, थावर रष्या च संजमं सुधं ॥ ५७५ ॥

अन्वयार्थ— (पंच इंद्री संवरनं) पाँचों इंद्रियों को रोकना (रागादि दोसं च विषय संवरनं) राग, द्वेष व विषय वासना को रोकना (मन गारव संवरनं) मन रूपी इन्द्रियों के राजा को रोकना (थावर रष्या च संजमं सुधं) स्थावर त्रस जीवों की रक्षा करना शुद्ध संयम है।

भावार्थ– बारह प्रकार अविरत भाव को त्याग कर अर्थात् पाँच इंद्रिय तथा मन की स्वच्छंद प्रवृत्ति को और पाँच स्थावर और त्रस, छः प्रकार के प्राणियों की हिंसा को त्यागकर जो रागद्वेषादि विभावों से छूटकर निज आत्मा में संवररूप व संयम रूप रहना, सो ही बारह अविरत त्याग हैं।

♣ ♣ ♣

जिह्वा स्वाद त्याग

जिह्वा स्वाद असुधं, स्वादं पंच भेय विरयंतो।
विरयं असुध भावं, स्वादं पंच न्यान ममल वित्थरनं॥ ५७६ ॥

अन्वयार्थ– (जिह्वा स्वाद असुधं) जबान का स्वाद अशुद्ध स्वाद है (पंचभेय स्वादं विरयंतो) वह पाँच भेद रूप स्वाद है। उससे विरक्त होकर (असुध भावं विरयं) व अशुद्ध भावों को त्यागकर (पंच न्यान ममल वित्थरनं स्वादं) पंचम केवलज्ञान का निर्मल विस्तार रूप स्वाद लेना जिह्वा स्वाद त्याग है।

भावार्थ– जिह्वा इंद्रिय बड़ी ही चंचल है। उसी के कारण से और इंद्रियों में प्रवृत्ति होती है। इसलिए आत्मज्ञानी को खट्टा, मीठा, चर्परा, तीखा, कषायला ऐसे पाँच रसों के अशुद्ध स्वाद का मोह त्यागना चाहिये, क्योंकि यह पर द्रव्य पुद्गल का स्वाद है, आत्मरस से भिन्न है। रागभाव के कारण ही पुद्गल के स्वाद का स्वाद आता है तथा इस स्वाद से कभी तृप्ति नहीं होती है। ज्ञानी को उचित है कि वह निज आत्मा के निर्मल अनंत ज्ञान का स्वाद ले। जिसमें सर्व जगत के गुण पर्याय प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसा आत्मा का अपूर्व सहज ज्ञान है। इसी का स्वाद ही शुद्ध स्वाद है। आत्म रस ही शुद्ध रस है।

कुन्यान वयन तित्तं, कुच्छिय आलाप मिच्छ विरयंमि।
वयनं जिन उवएसं, सुध सरुवं च वयन उवएसं॥ ५७७ ॥

अन्वयार्थ– (कुन्यान वयन तित्तं) जिह्वा को खोटे वचनों के स्वाद से भी बचना चाहिये, इसलिए तारण स्वामी कहते हैं—मिथ्याज्ञान को पुष्ट करने वाले वचनों को त्याग करना चाहिये (कुच्छिय आलाप मिच्छ विरयंमि) कुत्सित आलाप, अनर्थकारी बातचीत व मिथ्याकथा से विरक्त रहना चाहिये (जिन उवएसं वयनं) जिनेन्द्र ने जो धर्म का उपदेश किया है, उसी का पोषक वचन कहना चाहिये (सुध सरुवं च वयन उवएसं) तथा शुद्ध आत्म स्वरूप को पुष्ट करने वाले वचनों का ही उपदेश करना चाहिये।

भावार्थ– जिह्वा से जैसे रस का स्वाद लिया जाता है, वैसे वचनों को भी उच्चारण किया जाता है। इसलिए जिह्वा को इस तरह वश में रखना चाहिये कि इससे मिथ्याज्ञान का संसारवर्द्धक उपदेश

न हो, न वह वृथा वार्तालाप करे न स्त्री कथा, भोजनकथा आदि विकथाओं की चर्चा की जावे। मौन रहना ही उचित है, यही तत्त्वज्ञानी का गौरव है। यदि कभी कुछ कहना पड़े तो श्री जिनेन्द्र के उपदेश के अनुसार वचन कहे तथा शुद्ध आत्मा की तरफ प्रेरणा करने वाले वचन कहे। यह भी जिह्वा इंद्रिय के स्वाद का त्याग है। वृथा आलाप करने की बुरी आदत जबान को पड़ जाती है, उस स्वाद को त्यागना भी संयम है।

असुधं न चवंतो, रागादि दोस असत्य विरयंमि।
इन्द्री विरय अतींद्री, अतींद्री न्यान स्वाद स सहावं॥ ५७८॥

अन्वयार्थ- (असुधं न चवंतो) अशुद्ध वचन न बोलना (रागादि दोस असत्य विरयंमि) रागादि दोषों से व मिथ्या आलाप से विरक्त होना (इन्द्री विरय अतींद्री) पाँच इन्द्रियों से रहित अतीन्द्रिय आत्मा पर लक्ष्य देकर (स सहावं अतींद्री न्यान स्वाद) अपने स्वाभाविक अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वाद लेना जिह्वा त्याग संयम है।

भावार्थ- वास्तव में जिह्वा का संयम यही है जो मौन रहकर इन्द्रियों के विषय के रस का मोह छोड़कर अपने आत्मा का अनुभव करते हुए अतीन्द्रिय आत्म-जन्य स्वाभाविक आनंद रस का स्वाद लिया जावे तथा यदि कुछ कहना पड़े तो वीतरागतावर्द्धक वचनों को ही कहे। यही तत्त्वज्ञानी का जिह्वा स्वाद संयम है।

* * *

स्पर्शन इन्द्रिय त्याग

सपरसन इन्द्रि असुधं, मयमत्त अबंभ भाव विरयंमि।
विरयं परिनाम असुधं, सुधं भावं अतीन्द्रियं सुधं॥ ५७९॥

अन्वयार्थ- (सपरसन इन्द्रि असुधं) स्पर्शन इन्द्रिय की चाह अशुद्ध भावों को रखने वाली है, इसलिए ज्ञानी (मयमत्त अबंभ भाव विरयंमि) मदमत्त कुशील के भाव से विरक्त हो जाते हैं (असुधं परिनाम विरयं) अशुद्ध भावों को त्याग देते हैं (अतीन्द्रियं सुधं सुधं भावं) अपने आत्मा के अतीन्द्रिय परम शुद्ध भाव में ही रमण करते हैं। यही स्पर्शन इन्द्रिय विषय त्याग है।

भावार्थ- स्पर्शन इन्द्रिय का राग कुशील भोग को पैदा करके काम भाव की तीव्र लालसा पैदा कर देता है। प्राणी इस कुशील भाव की तीव्रता से उन्मत्त हो जाता है। फिर नाना प्रकार के अशुद्ध भावों में रात-दिन रमा करता है। इसलिए तत्त्वज्ञानी इस इन्द्रिय के अनर्थकारी भाव का सर्व राग छोड़ देते हैं। काम भाव रूपी रोग को स्पर्शन इन्द्रिय के भोग से अमिट जानते हैं, किन्तु रोग वर्द्धक जानते

हैं। इसीलिए परम संतोष देने वाले आत्मजनित अतीन्द्रिय रस के स्वादी होकर शुद्ध भाव में ही रमण करते हैं, वे सर्व स्त्री मात्र की इच्छा को छोड़कर निज आत्मानुभूति रमणी का ही रमण करते हैं। यही शुद्ध भाव मोक्ष साधक है। स्पर्शन इन्द्रिय का लोभ संसारवर्द्धक है।

♣ ♣ ♣

घ्राण इन्द्रिय त्याग

घ्रानेंद्री गंध सुगंधं, संसारे सरनि घ्रान विरयंमि।
घ्रानं अप्प सहावं, सुधं स सहाव घ्रान अतीन्द्री॥ ५८०॥

अन्वयार्थ– (घ्रानेंद्री गंध सुगंधं) घ्राण इन्द्रिय दुर्गंध तथा सुगंध को लेकर रागद्वेष पैदा करती है। इसलिये (संसारे सरनि घ्रान विरयंमि) संसार के मार्ग में पटकने वाली घ्राण इन्द्रिय की चाह से विरक्त होकर तत्वज्ञानी (अप्प सहावं घ्रानं) आत्मा के स्वभाव की गंध लेते हैं (सुधं स सहाव घ्रान अतीन्द्री) शुद्ध आत्म स्वरूप की गंध अतीन्द्रिय सुख का स्वाद लेना है।

भावार्थ– तत्वज्ञानी घ्राण इन्द्रिय के विषय को रोगवत अतृप्तिकारी जानते हैं। अशुद्ध राग भाव को बढ़ाने वाला जानते हैं, इसलिए घ्राण इन्द्रिय के विषय से विरक्त होकर वे ज्ञानी निज आत्मा को पर द्रव्यों से भिन्न जानकर उसी में तन्मय होकर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेते हैं। घ्राण इन्द्रिय के विषय का त्याग कर देते हैं।

♣ ♣ ♣

चक्षु इन्द्रिय त्याग

दिट्ठदि असुध भावं, दिट्ठदि पंच वरन असुह अवियारं।
तिक्तंति भाव असुधं, दिट्ठदि सुध दंसनं ममलं॥ ५८१॥

अन्वयार्थ– (असुध भावं दिट्ठदि) चक्षु इन्द्रिय का वशीभूत प्राणी अपने आत्मा की ओर से विमुख हो अशुद्ध पुद्गलों को देखा करता है (पंच वरन असुह अवियारं दिट्ठदि) पाँच वर्ण की वस्तुओं को देखा करता है, उनमें कोई तो विकार करने वाली अशुभ होती है, कोई विकार नहीं करने वाली शुभ होती है। परन्तु जो चक्षु इन्द्रिय के अविरत भाव से विरक्त होते हैं वे (असुधं भाव तिक्तंति) अशुद्ध भाव को पैदा करने वाली दृष्टि को त्याग देते हैं (ममलं सुध दंसनं दिट्ठदि) निर्मल शुद्ध सम्यग्दर्शन को ही अन्तरंग में देखते हैं।

भावार्थ- वास्तव में देखने वाला ज्ञानोपयोग है। अशुद्ध ज्ञानोपयोगरूप मति ज्ञान चक्षु इन्द्रिय द्वारा वर्तन करता हुआ पर पदार्थों के शुक्ल, रक्त, पीत, नील, काले रंगों को देखने में उपयुक्त होता है।

कभी तो उनको देखकर यह विकारी हो जाता है। जैसे सुन्दर स्त्री मकान आदि देखकर यह उसके भोग की इच्छा करने लगता है। कभी मात्र देख लेता है विकार नहीं पैदा करता है। जैसे बाजार में सैकड़ों वस्तुएँ दिखती हैं। कुछेक में इच्छा होती है, बहुतों में नहीं होती है। परन्तु यह ज्ञानोपयोग पर पदार्थ की ओर सन्मुख होकर अशुद्ध ही रहता है। तत्त्वज्ञानी महात्मा इस चक्षु इन्द्रिय के कार्य को रोक देते हैं और उस ज्ञानोपयोग को अपने भीतर अपनी शुद्ध आत्म-प्रतीति में लगा देते है, अर्थात् जैसा उन्होंने आत्मा को शास्त्र के द्वारा व गुरु के द्वारा जाना था, वैसे ही ध्यान में लेकर उस आत्मा का अनुभव करने लग जाते हैं, उपयोग को शुद्ध आत्मा में रमा देते हैं। यही आत्मा का दर्शन है। इस तरह चक्षु इन्द्रिय के विषय को जीतते हैं।

दिष्ठदि न्यान सहावं, दिष्ठदि न्यान पंच विन्यानं।
दिष्ठदि चरन सरुवं, अप्पा परमप्प अतीन्द्रिया दिष्ठी॥ ५८२॥

अन्वयार्थ- (न्यान सहावं दिष्ठदि) तत्वज्ञानी चक्षु इन्द्रिय के विजयी अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा का दर्शन करते हैं (दिष्ठदि न्यान पंच विन्यान) भेद विज्ञान के द्वारा पाँचवें केवलज्ञान स्वरूप आत्मा को देखते हैं (चरन सरुवं दिष्ठदि) तथा आत्मा को चारित्र स्वरूप परम वीतराग देखते हैं (अप्पा परमप्प अतीन्द्रिया दिष्ठी) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करना ही अतीन्द्रिय दृष्टि कहलाती है।

भावार्थ- चक्षु इन्द्रिय के विषय को निरोध कर अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव भेदविज्ञान के बल से अपने ही आत्मा को सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित परमात्मा स्वरूप देखते हुए व उसी को परम वीतराग स्वरूप अनुभव करते हुए अतीन्द्रिय दृष्टि के बल से परमानंद की शोभा का लाभ पाते हैं। चक्षु इन्द्रिय अविरत भाव से विमुख हो निज स्वरूप में ही तन्मय हो जाना चक्षु इन्द्रिय का विजयी हो जाना है।

* * *

श्रोत्र इन्द्रिय त्याग

सूत्रं स्रवन असुधं, सब्दं सप्तंमि असुध विरयंमि।
सब्दं न्यान सरुवं, जिन उत्तं स्रवन सुध सद्दहनं॥ ५८३॥

अन्वयार्थ- (सूत्रं असुधं स्रवन) श्रोत्र या कर्णइन्द्रिय द्वारा वर्तन करता हुआ यह प्राणी संसार में मोह उत्पन्न कारक गाना, बजाना, आलाप कथा आदि अशुद्ध शब्दों को सुना करता है, इससे ज्ञानी

जीव (सप्तंमि असुध सब्दं विरयंमि) सात स्वर रूप अशुद्ध शब्द मात्र के सुनने से विरक्त हो जाते हैं (जिन उत्तं न्यान सरुवं सब्दं स्रवन) जिनेन्द्र भगवान कथित ज्ञान को उत्पन्न करने वाले शब्दों को सुनते हैं। (सुध सद्दहनं) और शुद्ध आत्मा का श्रद्धान दृढ़ करते हैं।

भावार्थ- जगत के प्राणी ज्ञानोपयोग को कर्णइन्द्रिय के द्वारा वर्तन करके रागद्वेषवर्द्धक बहुत सी बातें, कथा, नाटक, गाना, बजाना, सुनकर शब्द के सात भेदों में रंजायमान हो जाते हैं सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी, सा इन सात स्वरों के सुनने के भीतर राग कर लेते हैं, जिससे संसार का मोह बढ़ा लेते हैं। ज्ञानी जीव इस तरह के शब्दों के सुनने से विमुख होकर श्री जिनेन्द्र देव की पवित्र वाणी सुनते हैं, जिससे तत्व ज्ञान होता है व शुद्ध स्वरूप का श्रद्धान दृढ़ होता है। भगवान के ज्ञानामृत पूर्ण शब्दों की प्रेरणा से वे ज्ञानी जीव अपने ही शुद्ध स्वरूप में अनुरक्त होकर सात स्वरों के विषयों से रहित निजानंद रस का भोग करते हैं।

असुध सब्द तिक्तंति, संसारे सरनि सब्द तिक्तंच।
सब्दं सुध विसुधं, न्यानमयो सब्द सुध आतेन्द्री॥ ५८४॥

अन्वयार्थ- (असुध सब्द तिक्तंति) ज्ञानी जीव सर्व अशुद्ध भाव कारक शब्दों को सुनना छोड़ देते हैं। (संसारे सरनि सब्द तिक्तंच) संसार मार्ग में ले जाने वाले शब्दों का श्रवण त्याग कर देते हैं। (सब्दं सुध विसुधं) शब्द दो प्रकार के होते हैं, एक शुद्ध शब्द, एक अशुद्ध शब्द (न्यान मयो सब्द सुध आतेन्द्री) ज्ञान उत्पन्न कराने वाले शब्दों को शुद्ध शब्द कहते हैं, जिनके ऊपर चलने से अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव होता है व निजानंद का लाभ होता है।

भावार्थ- जिन शब्दों के सुनने से शुद्ध आत्मा की तरफ लक्ष्य न जाकर पुद्गल संबंधी अशुभ व शुभ क्रिया करने में लक्ष्य जावे वे सब शब्द अशुद्ध हैं, क्योंकि उन शब्दों के श्रवण से उपयोग अशुभ या शुभ होगा, जिससे पाप या पुण्य का बंध हो जावेगा। ज्ञानी जीव ऐसे शब्दों के सुनने से उपयोग हटाकर उन अध्यात्म रस गर्भित शब्दों को सुनते हैं, जो ज्ञानमयी अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव कराते हैं। इन शुद्ध शब्दों के द्वारा शुद्ध ज्ञान का लाभ पाकर अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव में मगन हो जाते हैं। सात स्वरों का राग त्यागकर अध्यात्म रस में तन्मय हो जाते हैं, वही कर्ण इन्द्रिय के अविरत भाव का त्याग है।

पंचेन्द्री संवरनं, पंच विय भाव विषय संवरनं।
पुग्गल सुभाव विरयं, न्यान सहावेन अतींद्रिया सव्वे॥ ५८५॥

अन्वयार्थ- (पंचेन्द्री संवरनं) पाँचो इन्द्रियों को निरोध करना यही है, जो (पंच विय भाव विषय संवरनं) पाँचो ही इन्द्रियों के विषय संबंधी सत्ताईस भावों का राग छोड़ दिया जावे (पुग्गल सुभाव

विरयं) पाँचो इन्द्रियों के सर्व विषय पुद्गल मय हैं। उन सर्व पुद्गलों की अवस्थाओं से विरक्त हुआ जावे (न्यान सहावेन सव्वे अतींद्रिया) तथा ज्ञान स्वभाव में तिष्ठने के द्वारा सर्व ही इन्द्रियों से उपयोग को हटाकर अतीन्द्रिय होकर निज आत्मा में ही रमण किया जावे।

भावार्थ- पाँचों इंद्रियों के विषयों में उपयोग रमकर अव्रती होता हुआ यह जीव नाना प्रकार पाप कर्मों को बाँध लेता है और संसार के भ्रमण को बढ़ा लेता है। अतएव मुमुक्षु जीव इन पाँचों अविरत भावों से विरक्त होकर सर्व पुद्गलों के विलास से विमुख हो जाते हैं और अपने ज्ञानोपयोग को ज्ञान स्वभावी अतीन्द्रिय आत्मा में जोड़कर अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद लेते हैं। यही पाँच इन्द्रिय विजय संयम है।

* * *

मन नो इन्द्रिय त्याग

पुग्गल विषयं जानदि, हलुवं गरुवं च रुष्य चिक्कनयं।
तप्तं सीत सुभावं, कठिनं कोमल असुध विरयंमि॥ ५८६॥

अन्वयार्थ- (पुग्गल विषयं जानदि) यह मन पुद्गल के विषयों को जानकर मनन करता रहता है व संकल्प विकल्प करता रहता है (हलुवं गरुवं च रुष्य चिक्कनयं तप्तं सीत सुभावं कठिनं कोमल) स्पर्श इन्द्रियों के द्वारा हलके, भारी, रूखे, चिकने, गर्म, ठंडे, कठिन, कोमल, पदार्थों को जानकर (असुध) अशुद्ध रागद्वेषमय भावों में मनन करता रहता है (विरयंमि) ऐसे मन से विरक्त हो जाना मन का संवर है।

भावार्थ- इन्द्रियों के द्वारा जाने हुए विषयों को याद करके उनके संबंध में रागद्वेषवर्द्धक अनेक विचारों को उत्पन्न करना मनका स्वभाव है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के आठ विषयों का विचार करता है, वैसे अन्य चार इन्द्रियों के विषयों का भी विचार करता है। मैंने ऐसे रसीले पदार्थ खाए व ऐसे खाऊँगा व वे पदार्थ अच्छे नहीं बने थे। मैंने सुगंध बहुत अच्छी सूँघी व मैं सुगंध सूंघूँगा, दुर्गंध से बचूँगा। मैंने सुन्दर रूप देखे हैं व देखूँगा। असुन्दर रूप देखकर मन में ग्लानि करना, आज किसका रूप देख लिया। मैंने आज अच्छे-अच्छे गाने सुने हैं, फिर भी मैं सुनूँगा इत्यादि। अशुद्ध विकल्पों में फँसकर अज्ञानी जीव कर्म बाँध लेता है। ज्ञानी जीव इस मन की चंचलता को संसारवर्द्धक जानकर छोड़ देते हैं और अपने ज्ञानोपयोग को जो मन के द्वारा काम करता था, रोककर निज आत्मा में ही बिठा देते हैं। आत्मानंद का स्वाद लेते हुए निजआत्मा में मगन रहना, मन के अविरत भाव का त्याग है।

विन्यानं जानंतो, हलुवं कम्मं विमुक्क संसारे।
गरुवं च कम्म भारं, तं विरयं सुध न्यान सहकारं ॥ ५८७ ॥

अन्वयार्थ– (विन्यानं जानंतो) जो मन भेद विज्ञान को जानता है, वह (संसारे हलुवं कम्मं विमुक्क) संसार में हलके कर्मों से अर्थात् रागद्वेषवर्द्धक कर्मों से विरक्त हो जाता है (गरुवं च कम्म भारं) जो आत्मा पर भारी कर्मों का भार है (सुध न्यान सहकारं तं विरयं) शुद्ध ज्ञान की सहायता से उससे उदास हो जाता है।

भावार्थ– भेद विज्ञान के द्वारा मन विचार करता है कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप परमात्मा के समान शुद्ध निर्विकार है। रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म सब इस आत्मा से भिन्न हैं। चार गति रूप संसार आत्मा को दुःख कारक है। मोक्ष ही हितकारक है। इस विचार से यह मन सर्व सांसारिक कर्मों से व कर्मों के बंध से उदासीन हो जाता है और यही दृढ़ निश्चय करता है कि निज शुद्ध आत्मा के ज्ञान में ही तल्लीन रहना योग्य है।

रुष्यं न्यान सहावं, चिकन घन कम्म सयल विरयंमि।
न्यानं सहावं जानदि, ससरीरं न्यान निम्मलं सुधं ॥ ५८८ ॥

अन्वयार्थ– (रुष्यं न्यान सहावं) रूखा अर्थात् वीतरागमय ज्ञान स्वभाव रूप आत्मा को जानकर जो (चिकन घन कम्म सयल विरयंमि) सर्व सचिक्कन कर्मों से विरक्त हो जाता है और (ससरीरं न्यान निम्मलं सुधं न्यानं सहावं जानदि) मनन करता है कि आत्मा शरीर रहित ज्ञानाकार कर्ममल शून्य रागादि रहित शुद्ध है।

भावार्थ– मन का काम मनन करने का है। रागद्वेष की चिकनाई से कर्मों का बंध होता है तथा वह बंध भी ऐसा गाढ़ होता है कि कर्म आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह रूप दूध पानी की तरह मिलकर ठहर जाते हैं। विवेकी मन आत्मा के स्वभाव को वीतरागमय ज्ञानाकार परम निर्मल जानकर सर्व कर्मबंध की रचना से विरक्त हो जाता है और आत्मा के ज्ञान स्वभाव का ही मनन करता है।

उन्हं च कम्म डहनं, सीयं संसार भाव तिक्तं च।
कठिनं परिनाम विरयं, कोमल परिनाम अप्प ससरुवं ॥ ५८९ ॥

अन्वयार्थ– मन विचारता है कि (उन्हं च कम्म डहनं) ध्यान अग्नि की उष्णता ही सच्ची उष्णता है, जो कर्मों को दग्ध कर देती है (सीयं संसार भाव तिक्तं च) शीतलता वही यथार्थ है, जो सकल संसार के कारण भावों को गला देवे (कठिनं परिनाम विरयं) कठिनपना वही ठीक है, जो कठोर हिंसक भावों को दूर कर दिया जावे (कोमल परिनाम अप्प ससरुवं) कोमलता का परिणाम वही है, जो आत्मा के स्वभाव में तन्मय हुआ जावे।

भावार्थ- मन में जब सम्यग्ज्ञान पैदा हो जाता है, तब यह मन में विचारता है कि कर्मों के दग्ध करने को ध्यान की अग्नि की जरूरत है, सर्व संसार के कारण विकारी भावों को शमन करने के लिए परम शीतल भावों की जरूरत है, कठोर हिंसक भावों को हठात् पास न आने देने के लिए भावों में स्थिरता रूप कठिनता की जरूरत है तथा कोमलता का भाव या मार्दव गुण आत्मा के स्वभाव में तन्मय होने से ही होता है।

गुन दोसं विन्यानं, जानदि न्यानेन दव्व पज्जायं।
विन्यान न्यान सहावं, ससरीरं विमल अप्पनो सुधं॥ ५९० ॥

अन्वयार्थ- (गुन दोसं विन्यान) पदार्थों के गुण तथा दोषों को जानता है (न्यानेन दव्व पज्जायं जानदि) ज्ञान के बल से द्रव्यों को व उनकी पर्यायों को जानता है (विन्यान न्यान सहावं ससरीरं विमल अप्पनो सुधं) भेद विज्ञान के द्वारा ज्ञान स्वभावी शरीर रहित निर्मल आत्मा को शुद्ध रूप जानता है।

भावार्थ- सम्यग्ज्ञान द्वारा यह मन छः द्रव्यों को, उनके गुणों को, उनकी स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायों को जानता है। सर्व रागादि भावों को व नर नारकादि पर्यायों को जानता है। अशुद्ध सब पर्यायों को त्यागने योग्य जानकर एक आत्मा के शुद्ध वीतराग ज्ञानानंदमय स्वभाव को ही ग्रहण योग्य जानता है। यह सर्व भेद विज्ञान की महिमा है।

पुग्गल सुभाव जाने, संवरनं सव्व ममल न्यानस्य।
तम्हा मन संजमनं, अप्पा परमप्प सुध मनुधरनं॥ ५९१ ॥

अन्वयार्थ- (पुग्गल सुभाव जाने) पुद्‌गल के स्वभाव को पर जानकर (संवरनं) जो उससे अपने को रोके (सव्व ममल न्यानस्य) सर्व प्रकार से निर्मल ज्ञान में अपने को जोड़े यही मन का सदुपयोग है (तम्हा) इसीलिये (अप्पा परमप्प सुध मनुधरनं मन संजमनं) परमात्मस्वरूप आत्मा में शुद्धतापूर्वक मन को स्थिर करना ही मन का संयम है।

भावार्थ- मन—मनन करते हुए भिन्न-भिन्न द्रव्यों के गुणों को पहचानकर यह स्थिर करता है कि आत्मा का स्वरूप परमात्मारूप निर्विकार है व रागादि सर्व कर्म पुद्‌गल कृत विकार है, तब यह मन हेय से हटकर उपादेय में लग जाता है, ज्ञान स्वभाव में तन्मय हो जाता है। यही मन का संयम है।

मन संजमनं उत्तं, असुहं परिनाम सयल विरयं च।
विरयं मिच्छ सुभावं, विरयं संसार सरनि दुष्यानं॥ ५९२ ॥

अन्वयार्थ- (मन संजमनं उत्त) मन का संयम उसे कहते हैं, जो (असुहं परिनाम सयल विरयं च) सर्व अशुभ भावों से विरक्त रहा जावे (मिच्छ सुभावं विरयं) मिथ्यात्वमय स्वभाव से दूर रहा जावे (संसार सरनि दुष्यानं विरयं) व संसार के भ्रमण के दुःखों से विरक्त हो जावे।

भावार्थ- जहाँ मन सर्व मिथ्यात्वमय संसारासक्ति को छोड़ देता है। रागद्वेष मोह को संसार का कारण जानकर उनसे विरक्त हो जाता है, चारों गति के भीतर जीवों को अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखों की प्राप्ति होती है, ऐसा समझकर चारों गति के वास से उदासीन होता है। वहीं मन का संयम प्राप्त हो जाता है।

रागादि दोस विरयं, विरयं ममत्त पुन्य पावं च।
परिनाम असुह विरयं, इंद्री विषयं च सव्व विरयंमि॥ ५९३॥

अन्वयार्थ- (रागादि दोस विरयं) रागादि दोषों से विरक्त हो जाना (पुन्य पावं च ममत्त विरयं) पुण्य-पाप दोनों की ममता से विरक्त हो जाना (परिनाम असुह विरयं) सर्व अशुभ भावों से विरक्त हो जाना (सव्व इंद्री विषयं च विरयंमि) तथा सर्व ही इन्द्रियों की इच्छाओं से विरक्त हो जाना मन का संयम है।

भावार्थ- जहाँ यह पक्का निश्चय कर लिया जावे कि रागादि भाव कर्मबंध कारक हैं व कर्मबंध संसार में रुलाने वाला है तथा पुण्य-पाप दोनों ही प्रकार के बंध जीव की स्वाधीनता के बाधक हैं, आत्मिक शुद्ध भाव के सिवाय सर्व ही परिणाम जीव के अहितकारी अशुभ हैं। पाँचों इन्द्रियों के भोगों की अभिलाषा आत्मधर्म से छुड़ाकर पर पदार्थों में भटकाने वाली और घोर आकुलता को उत्पन्न करने वाली है, वहाँ मन इन सबसे हटकर संयम रूप हो जाता है।

रइयं सुध सहावं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं।
रइयं दंसन न्यानं, चारित्तं चरन रइय विविहं च॥ ५९४॥

अन्वयार्थ- (अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं) आत्मा परमात्मा के समान निर्मल और वीतराग है, ऐसा जानकर (सुध सहावं रइयं) शुद्ध स्वभाव में रंजायमान होना (दंसन न्यानं रइयं) आत्मा के दर्शन ज्ञान स्वभाव में मगन होना (विविहं च चारित्तं चरन रइय) तथा नाना प्रकार चारित्र के आचरण में रुचिवान हो जाना मन का संयम है।

भावार्थ- जहाँ मन परभावों को पर जानकर आत्मा को शुद्ध निर्विकार ज्ञानानंदमय परमात्मा के समान जानकर उस आत्मा से व उसके दर्शन ज्ञान स्वभाव से प्रेमी होकर उस आत्मस्वरूप में रमण करने के लिए जो जो मुनि श्रावक के योग्य नाना प्रकार आचरण हैं, उनके पालन में रुचिवान होता है, वहीं मन का संयम है।

संमत्त सुध भावं, न्यान सहावेन विमल भावं च।
मल मुक्कं दंसन धरनं, न्यानं वरताइं मनुव संवरनं॥ ५९५॥

अन्वयार्थ- (संमत्त सुध भावं) आत्मा के शुद्ध स्वभाव की रुचि करना (न्यान सहावेन विमल भावं च) ज्ञान स्वभाव में तिष्टकर निर्मल भावों का प्रेमी हो जाना (मल मुक्कं दंसन धरनं) पच्चीस

मल रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन पालना (न्यानं वरताइ) तथा ज्ञान में ही लीन हो जाना (मनुव संवरनं) यही मन का संवर है।

भावार्थ– जिसका मन संयमित होगा, जो मन के संकल्प विकल्पों का विजयी होगा वह आत्मा के शुद्ध ज्ञानानंद मय स्वभाव का रुचिवान होकर आत्मा में ही ठहरेगा और आत्म रस का पान करेगा। यह सर्व दोष रहित आत्म प्रतीतिमय सम्यक्त्व को व आत्मानुभूतिरूप ज्ञान को ग्रहण योग्य मानकर उसी में बरतेगा। वास्तव में आत्मतल्लीनता प्राप्त करना ही मन का संवर है या मन का संयम है।

* * *

प्राण अविरत त्याग

थावर रष्या सहियं, असुहं भावं च सयल तिक्तं च।
मैत्री कृपा स उत्तं, षट्काई रष्यनं सुधं॥ ५९६॥

अन्वयार्थ– (असुहं भावं च सयल तिक्तं च) सर्व ही हिंसाकारी अशुभ भावों को त्यागकर (थावर रष्या सहियं) स्थावर प्राणियों की भी जहां रक्षा है (स मैत्री कृपा उत्त) उसी को सर्व प्राणियों पर मैत्री भाव व दया का भाव कहते हैं (षट्काई रष्यनं सुधं) छहों कायों की रक्षा करना ही शुद्ध प्राण संयम है।

भावार्थ– सर्व प्राणी मात्र पर मैत्री भाव व दया का भाव रखकर उनकी हिंसा करने के पापमय भावों को दूर कर देना तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक व त्रसकायिक; इन छः प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते हुए परम अहिंसामय शुद्ध भाव रखना प्राण अविरत त्याग है।

गुनवंतोय प्रमोदं, अवरे सव्वस्स मैत्री कृपानं।
सुध सहावं पिच्छदि, षट्काई रष्यना हुंति॥ ५९७॥

अन्वयार्थ– (गुनवंतोय प्रमोदं) गुणवानों पर प्रमोद भाव रखना (अवरे सव्वस्स मैत्री कृपानं) तथा और सर्व के ऊपर मैत्री भाव या दया का भाव रखना (सुध सहावं पिच्छदि) तथा शुद्ध आत्मिक स्वभाव का अनुभव करना (षट्काई रष्यना हुंति) छः काय के जीवों की रक्षा है।

भावार्थ– जो धर्मात्मा हैं, शुद्ध स्वभाव में रमण करने वाले हैं, उनके ऊपर प्रसन्न भाव रखकर उनके गुणों का अनुराग करना अपने को शुभ भावों में रमण कराने का साधन है। उनके सिवाय सर्व ही त्रस व स्थावर प्राणियों का सदा हित विचारना उन पर करुणा भाव रखकर उनके प्राणों को अपने

प्राणों के समान समझकर उनकी रक्षा का भाव रखना अथवा अपने ही शुद्ध आत्मा के स्वभाव में रम जाना, जिसमें स्वत: ही सर्व षट्काय के प्राणियों की रक्षा है, प्राण रक्षा संयम है।

बारह अव्रत कहियं, सुध भाव विमल न्यान संवरनं।
सुध सरुवं पिच्छदि, न्यान सहावेन सयल संवरनं॥ ५९८॥

अन्वयार्थ- (बारह अव्रत कहिय) इस तरह बारह प्रकार अविरत कहा गया है (सुध भाव विमल न्यान संवरनं) उनको शुद्ध निर्मल ज्ञानमयी भाव में तिष्टकर रोकना चाहिये (सुध सरुवं पिच्छदि) जो कोई शुद्ध आत्मिक स्वभाव का अनुभव करता है वह (न्यान सहावेन सयल संवरनं) ज्ञान स्वभाव में तिष्टकर सर्व अविरत भावों का निरोध कर देता है।

भावार्थ- पाँच इन्द्रिय व मन के संचार का निरोध इन्द्रिय संयम है। षट्काय के प्राणियों की रक्षा प्राण संयम है। जहाँ शुद्ध आत्मिक स्वभाव में रमण होता है, वहाँ ही उभय प्रकार का संयम है, वहीं बारह अविरत भावों का त्याग है। निश्चयनय से आत्मानुभव ही संयम है या बारह अव्रतों का त्याग है।

♣ ♣ ♣

तेरह प्रकार चारित्र

तेरह विहस्य चरनं, महावय पंच गुत्ति तिनोयं।
समिदी पंच विहूवं, चारित्तं उवएसनं तंपि॥ ५९९॥

अन्वयार्थ- (तेरह विहस्य चरनं) तेरह प्रकार का साधु का चारित्र है (महावय पंच गुत्ति तिनोयं) पाँच प्रकार का महाव्रत, तीन प्रकार की गुप्ति (पंच विहूवं समिदी) पाँच प्रकार की समिति (चारित्तं उवएसनं तंपि) इस चारित्र का भी उपदेश किया जाता है।

भावार्थ- अब यहाँ साधु के तेरह प्रकार के चारित्र का उपदेश किया जाता है, जो तेरह प्रकार चारित्ररूप हैं।

♣ ♣ ♣

पंच महाव्रत

अहिंसा व्रित अस्तेयं, बंभा परिग्रहं पंच वय सुधं।
जे पालंति विसुधं, चारित्तं चरन सुध संजुत्तं ॥ ६०० ॥

अन्वयार्थ- (अहिंसा व्रित अस्तेय) अहिंसा, सत्य, अस्तेय (बंभा परिग्रहं पंचवय सुधं) ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पाँच शुद्ध व्रतों को (जे विसुधं पालंति) जो मन-वचन-काय तीनों को शुद्ध कर पालते हैं (चारित्तं चरन सुध संजुत्तं) वे ही शुद्ध चारित्र के आचरण करने वाले हैं।

भावार्थ- ऊपर कहे प्रमाण जिनके बारह प्रकार अविरत भावों का त्याग है वे ही साधु के तेरह प्रकार चारित्र को शुद्धता से पालते हैं। व्यवहारनय से सर्व हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म व परिग्रह के ममत्व को त्याग देते हैं, निश्चयनय से अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं। शुद्ध स्वरूप में तन्मयता करना वास्तव में पाँच महाव्रतों को यथार्थ पालना है।

हिंसा असत्य सहियं, अव्रित व्रितं न जानदि सुधं।
स्तेयं पद लोपं, वंभं च अबंभ तिक्तं च ॥ ६०१ ॥
पर पुग्गल परमानं, पुग्गल ग्रहनं च सेष संवरनं।
भाव दुतिय संजोयं, पाछंतो लहइ निव्वानं ॥ ६०२ ॥

अन्वयार्थ- (हिंसा असत्य सहियं) हिंसा मिथ्यात्व सहित (अव्रित व्रितं सुधं न जानदि) तथा असत्य सत्य शुद्ध आत्मा को नहीं पहचानता है (स्तेयं पद लोपं) अपने आत्मिक पद को लोपकर पर पद में (वंभं च तिक्तं च अबंभ) ब्रह्मचर्य को त्याग कर अब्रह्म भाव को रखना कुशील है (पर पुग्गल परमानं) आत्मा से भिन्न शरीरादि पुद्गलों को अपना मानना परिग्रह है। हिंसादि को त्यागकर पर पुद्गल को पर मानकर (सेष पुग्गल ग्रहनं संवरनं च) सर्व पुद्गल के ग्रहण का निरोध करके (भाव दुतिय संजोयं पाछंतो) जो अपने आत्मा में आत्मा के सिवाय दूसरे भाव का संयोग नहीं देखता है, वही महाव्रती साधु (लहइ निव्वानं) निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थ- रागादि भाव हिंसा, द्रव्य प्राण पीडन द्रव्य हिंसा, दोनों हिंसाओं का त्याग अहिंसा महाव्रत है। शास्त्र विरुद्ध भावों का व वचनों का त्याग करके सत्य शास्त्रोक्त विचारना व कहना सत्य महाव्रत है। पर वस्तु का ग्रहण त्याग करना। तथा निज आत्मा के पद में संतुष्ट रहना, पर पद में न रमना अचौर्य महाव्रत है। मन, वचन, काय से कुशील सेवन का त्याग तथा निज स्वरूपमय आत्मा को त्यागकर पर पदार्थ में रमण रूप अब्रह्म को त्यागकर निज ब्रह्म स्वभाव में रमना ब्रह्मचर्य है। सर्व वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करके व शरीरादि सर्व पदार्थों से ममता त्याग करके पर के संयोग से रहित निज आत्मा को ही अपना मानना, पर से मूर्छा त्यागना परिग्रह त्याग है। जो इस तरह पाँच महाव्रतों

को पालता है, वह आत्मध्यान में लीन होकर शीघ्र ही मोक्ष को पाता है। मिथ्यादर्शन सहित प्राणी पर पीड़ा देने से व असत्य भाषण से ग्लानि रहित हो जाता है, उसके कठोर भाव में शुद्ध आत्मा का श्रद्धान नहीं जमता है। इसलिए मिथ्यात्व को त्याग सम्यक्त्वी होकर पाँच व्रतों को पालना चाहिये। साधु पूर्ण पालते हैं, गृहस्थी एक देश पालता है।

पंच महावय धरनं, तद्भव संसार कम्म विमुक्कं।
पुग्गल प्रमान सुधं, अप्पा परमप्प लहइ निव्वानं॥ ६०३॥

अन्वयार्थ– (पंच महावय धरने) जो कोई इन पाँच महाव्रतों को व्यवहार के द्वारा निश्चय रूप से पालन करता है, वह (तद्भव संसार कम्म विमुक्कं) उसी भव से संसारवर्द्धक कर्मों से मुक्त हो जाता है। वह (अप्पा) आत्मा (पुग्गल प्रमान सुधं परमप्प) अपने शरीर प्रमाण आकार धारी शुद्ध सिद्ध परमात्मा होकर (निव्वानं लहइ) निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ– इन पाँच महाव्रतों की पूर्ति सामायिक चारित्र द्वारा होती है। सामायिक स्वरूप निर्विकल्प समाधि में लीन साधु हिंसादि पाँचों पापों से बिलकुल छूटा हुआ धर्मध्यान की उत्कृष्टता से शीघ्र ही चार घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा हो जाता है। फिर शेष चार अघातिया कर्मों को भी नाशकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है और तब अंतिम शरीर प्रमाण आत्मा सिद्धावस्था में अनंतकाल के लिए लोकाग्र विराजमान रहता है। महाव्रतों के पालन का फल निर्वाण है।

♣ ♣ ♣

मनो गुप्ति

मन गुत्ती उवएसं, मन असुहं च असुध परवेसं।
मन परिनै तिक्तं च, मन सुधप्पा प्रवेस मिलियं च॥ ६०४॥

अन्वयार्थ– (मन गुत्ती उवएसं) अब मन गुप्ति का उपदेश करते हैं (असुहं मन च असुध परवेसं) अशुद्धोपयोग धारी मन आत्मा को छोड़कर अशुद्ध पुद्गल में व पुद्गल जनितरागादि भावों में प्रवेश करता है (मन परिनै तिक्तं च) इस मन की अशुद्ध परिणति को त्याग कर (मन सुधप्पा प्रवेस मिलियं च) मन का शुद्धात्मा में प्रवेश कर जाना और मन का आत्मा में ही मिल जाना मनोगुप्ति है।

भावार्थ– यह मन आत्मा से बाहर शरीर व इन्द्रियों के सुखों में व सुख के कारणीभूत पदार्थों में, राग करने में व सुख के कारणों के घातक पदार्थों के भीतर द्वेष करने में तथा स्वर्गादि के हेतु व्यवहार धर्म में लगा रहता है। अथवा तत्त्वज्ञानी होकर भी अपना उपयोग सांसारिक कार्यों में व व्यवहार धर्म के पालन में लगाए रखता है।

यह मन जब इस अशुद्ध परिणति को रोककर एक अपने ही शुद्ध आत्मा के स्वाद लेने में प्रवेश कर जाता है, तब यह मन ऐसा आत्मा से मिल जाता है कि मिलकर एकमेक हो जाता है। वास्तव में ज्ञानोपयोग आत्मा की परिणति है। वह उपयोग जब मन के द्वारा काम करता है, तब संकल्प विकल्प के कारण कार्य के विचार उठते हैं व पदार्थों का मनन होता है, आत्मा व अनात्मा का भेद विचार में आता है। वही ज्ञानोपयोग जब मन की सम्मुखता को छोड़कर अपने स्वामी आत्मा में लय हो जाता है। तब परिणति परिणामधारी आत्मा से एकमेक हो जाता है, इसी को आत्मानुभव कहते हैं व यही यथार्थ मनोगुप्ति है। जहाँ मन को निज आत्मा के स्वरूप में गुप्त कर दिया जावे, लोप कर दिया जावे वहाँ ही मनोगुप्ति है।

जहं जहं मन परवेसं, तहं तहं न्यान क्रिनि संचरियं।
गुपितस्य चरन सुधं, मन अप्पा परमप्प ममल एकत्वं॥ ६०५॥

अन्वयार्थ– (जहं जहं मन परवेस) तत्त्वज्ञानी का मन जहाँ-जहाँ जिस जिस पदार्थ में जाता है (तहं तहं न्यान क्रिनि संचरियं) वहाँ-वहाँ ज्ञान रूपी किरण का संचार हो जाता है, जिससे ज्ञानी आत्मा के सिवाय किसी द्रव्य गुण पर्याय को अपना नहीं देखता है। (गुपितस्य सुधं चरन) मनोगुप्ति धारक महात्मा के ही शुद्ध आचरण होता है (मन अप्पा परमप्प ममल एकत्वं) उसी का ही आत्मा परमात्मा के निर्मल स्वभाव के साथ एकता को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ– भेद विज्ञानी महात्मा निश्चय नय से या द्रव्यार्थिक नय से जगत को देखता है, तब उसे छः द्रव्य भिन्न-भिन्न दिखलाई पड़ते हैं। ऐसे ज्ञानी का मन जब जगत की पर्यायों में जाता है, शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, मकान, राज्यादि में जाता है, तब यह ज्ञानी उनको भेद विज्ञान से विचारता है, तब इसे पुद्‌गल, पुद्‌गल रूप तथा आत्मा आत्मा रूप दीखता है। द्रव्य-दृष्टि से देखते हुए रागद्वेष नहीं उपजता है, वीतरागता जमी रहती है। इस तरह मन को शुद्ध कर ज्ञानी उसे शुद्ध आत्मा के चारित्र में लीन कर देता है। तब उसका आत्मा परमात्मा के साथ एकमेक होकर स्वानुभव रूप हो जाता है, यही यथार्थ मनोगुप्ति है।

तम्हा मन गुत्तीए, जम्हा सुध ज्ञान स सरुवं।
कम्मे घनानि डहनं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं॥ ६०६॥

अन्वयार्थ– (तम्हा मन गुत्तीए) इसीलिए मन गुप्ति रखना चाहिये (जम्हा) कि जिससे (सुध ज्ञान स सरुवं) शुद्ध ज्ञान अपने आत्म-स्वरूप का हो जावे (कम्मे घनानि डहनं) कर्मरूपी ईंधन का जलना हो जावे (अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं) तथा आत्मा परमात्मा के समान निर्मल व शुद्ध हो जावे।

भावार्थ– मन को सर्व संकल्प-विकल्पों से हटाकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप में जोड़ने का अर्थात् आत्मध्यान करने का यही प्रयोजन है कि कर्मों के काष्ट को जला दिया जावे और आत्मा को निर्मल

करके परमात्मा रूप कर दिया जावे । मनोगुप्ति ही आत्मानुभव की सहायक है । आत्मानुभव ही मोक्ष मार्ग है ।

* * *

वचन गुप्ति

वयनं गुत्ति समासं, जं वयनं कहंपि नहु दिट्ठं ।
तं वयन भावलधी, जिन उवएसं समायरहिं ॥ ६०७ ॥

अन्वयार्थ– (वयनं गुत्ति समासं) वचन गुप्ति का यह संक्षेप स्वरूप है कि (जं वयनं कहंपि नहु दिट्ठं) जो वचन का प्रयोग कहीं भी न देखा जावे- मौन रहा जावे (तं वयन भावलधी) मात्र भाव वचन को प्राप्त किया जावे (जिन उवएसं समायरहिं) और जिनेन्द्र के उपदेश के अनुसार आचरण किया जावे ।

भावार्थ– मौन रहकर कुछ भी प्रगट वचनों का प्रयोग नहीं करना वचन गुप्ति है । केवल श्री जिनेन्द्र के अनुसार तत्त्व का विवेचन अन्तरंग में किया जा सकता है । भाव में जिन वचनों का मनन किया जा सकता है । अथवा भाव वचन को भी रोककर आत्मानुभव करना वचनगुप्ति है, ये ही श्री जिनेन्द्र के अनुसार निश्चय चारित्र का पालना है ।

वयनं सुध सहावं, वयनं जं केवल न्यान ससरुवं ।
तं वयन गुत्ति जानदि, वयनं प्रवेस सुध संमत्तं ॥ ६०८ ॥

अन्वयार्थ– (वयनं सुध सहावं) जिन वचन के अनुसार जैसा कुछ शुद्ध स्वभाव आत्मा का है (वयनं जं केवल न्यान ससरुवं) जिन वचन के अनुसार जो कुछ केवलज्ञानमयी निज स्वरूप है (तं वयनगुत्ति जानदि) उसको वचनगुप्ति धारके यह आत्मा अनुभव करता है (वयनं प्रवेस सुध संमत्तं) वचन रुक करके उपयोग शुद्ध सम्यग्दर्शन में प्रवेश कर जावे सो ही वचनगुप्ति है ।

भावार्थ– वचनों को रोककर श्री जिनेन्द्र के वचनों के अनुसार शुद्ध आत्मा के स्वरूप को केवलज्ञानमय जानना तथा अनुभव करना । अर्थात् शुद्ध आत्मा मैं हूँ इस प्रतीति के अनुसार स्वरूप का ही आचरण करना । भाव निक्षेपरूप सम्यग्दर्शन का हो जाना वचनगुप्ति है ।

वयनं च अविचल सुधं, वयनं भासेइ सुध संमत्तं ।
अर्हं वयन सहावं, अर्हं वयनं च केवलं सुधं ॥ ६०९ ॥

अन्वयार्थ– (वयनं च अविचल सुधं) भगवान का वचन यह है कि यह आत्मा निश्चल शुद्ध है (वयनं भासेइ सुध संमत्तं) जिन वचन शुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताता है (अर्हं वयन सहावं) आत्मा

का स्वभाव वचनों से रहित है (अर्हं वयनं च केवलं सुधं) अथवा जिन वचन यह है कि यह आत्मा केवल शुद्ध स्वरूप है।

भावार्थ– भगवान की दिव्य ध्वनि से यही प्रकाश हुआ है कि यह आत्मा हलन-चलन रहित निश्चल कर्मकलंक रहित व रागादि दोषों से शून्य परमात्मा स्वरूप है। तथा यही प्रतीति स्वानुभवरूप हो जाना निश्चल सम्यग्दर्शन है।

यद्यपि जिन वचनों से यह प्रगट होता है कि यह आत्मा सर्व परद्रव्यों के संबंध से रहित व सर्वगुण गुणी के भेदों से रहित अभेद एकरूप शुद्ध है तथापि उसका स्वरूप वचन अगोचर है। केवल वाणी के सुनने मात्र से जाना नहीं जा सकता है। जब उपयोग को वचनों से हटाकर व मन के विचारों को रोककर भीतर निज आत्म श्रद्धा में प्रवेश किया जायेगा, तब ही निज आत्मा का यथार्थ अनुभव होगा। यही वचनगुप्ति का फल है।

वय गुत्ति जं पिच्छदि, जानदि पिच्छेइ दंसनं सुधं।
वयनंपि सुध न्यानं, वय गुत्ति चरन सुध संजुत्तं॥ ६१०॥

अन्वयार्थ– (वय गुत्ति जं पिच्छदि) वचनगुप्ति जो कुछ देखती है वह (सुधं दंसनं जानदि पिच्छेइ) शुद्ध सम्यग्दर्शन को देखती है व जानती है (वयनंपि सुध न्यानं) अथवा वचन भी शुद्ध आत्मा के ध्यान में लवलीन हो जाता है (सुध चरन संजुत्तं वय गुत्ति) शुद्धात्मा में आचरण करना वचन गुप्ति है।

भावार्थ– वचनगुप्ति रखने से, उपयोग इधर-उधर भ्रमण नहीं करता है। किन्तु वह मात्र शुद्ध सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्मा को ही देखता जानता है। वचनों का प्रयोग बंद होकर शुद्ध आत्मा का ध्यान प्रगट हो जाता है। वास्तव में शुद्ध स्वरूप में रमण करना ही वचनगुप्ति है। यदि कोई मौन है, परन्तु मन में संसार संबंधी विचार किया करें व पाप भाव घूमा करें तो वह सच्ची वचनगुप्ति नहीं है। स्वरूप में आचरण करना ही यथार्थ वचनगुप्ति है।

* * *

काय गुप्ति

काई गुत्ति विसुधं, क्रित कारित विसुध परिनामं।
क्रितं च कम्म डहनं, कारित तं तिविह कम्म विवरीदो॥ ६११॥

अन्वयार्थ– (काई गुत्ति विसुधं) निर्मल कायगुप्ति का स्वरूप यह है कि (क्रित कारित विसुध परिनामं) विशुद्ध परिणाम को किया भी जावे व कराया भी जावे अथवा कृत कारित भावों से रहित,

क्रिया रहित शुद्ध परिणाम रखा जावे (क्रितं च कम्म डहनं) तथा किये हुए या बाँधे हुए कर्मों का क्षय किया जावे (कारितं तं तिविह कम्म विवरीदो) अथवा कारित या कराए हुए कर्मों से वैराग्य रखा जावे तथा तीन प्रकार कर्मों से भिन्न शुद्ध आत्मा का अनुभव किया जावे।

भावार्थ- शरीर को निश्चल एक आसन से रखनी व्यवहार में कायगुप्ति है। यहाँ निश्चय नय की प्रधानता से कायगुप्ति का कथन है कि काय को रोककर ऐसा निश्चल आत्मध्यान किया जावे व उस ध्यान के द्वारा ऐसे निर्मल भाव किये जावें कि दूसरे प्राणी भी उस ध्यान की मुद्रा को देखकर वैसा ही ध्यान करने लग जावे अथवा जो कुछ कर्म स्वयं किये हों व कराये हों उन सर्व से रहित अपने भाव निर्मल किये जावें। भावों में कृत कारित कार्यों का विकल्प न किया जावे तथा आत्मध्यान से बाँधे हुए कर्मों का नाश किया जावे तथा भाव कर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इनसे भिन्न शुद्ध आत्मा के ध्यान में काय को निश्चल रखा जावे सो कायगुप्ति है।

क्रितं च सुध झानं, न्यानं पंचंमि क्रितं मन सुधं।
व्रत संजम तवयरनं, काया क्रितं च सुध सभावं॥ ६१२॥

अन्वयार्थ- (क्रितं च सुध झानं) जहाँ शुद्ध आत्म-ध्यान किया जावे (मन सुधं न्यानं पंचंमि क्रितं) मन को शुद्ध करके मतिश्रुत आदि पाँचों ज्ञानों को प्राप्त किया जावे (व्रत संजम तवयरनं) काय के द्वारा व्रत, संयम, तप का आचरण किया जावे (काया च सुध सभावं क्रितं) तथा काय को निश्चल रखकर शुद्ध आत्मिक भाव किया जावे सो कायगुप्ति है।

भावार्थ- काय को स्थिर करके केवल श्वास को चढ़ा लेने को या प्राणायाम करने को कायगुप्ति नहीं कहते हैं। किन्तु काय को निश्चल रखकर शुद्ध आत्मा के ध्यान को कायगुप्ति कहते हैं। परिणामों में शुद्ध भाव रखकर यह भावना की जावे कि ज्ञान शुद्ध स्वरूप में रहे, यही शुद्ध भाव की रमणता मतिश्रुत ज्ञान को बढ़ाती है,अवधि व मनः पर्ययज्ञान पैदा करती है तथा केवलज्ञान के निकट तक ले जाती है। शरीर को निश्चल रखकर हिंसादि पापों से विरक्त रहकर महाव्रत पालना व पाँच इन्द्रिय व मन का मनरूप इंद्री संयम, षट्काय के प्राणियों के रक्षारूप प्राण संयम पालना व बारह तप साधना तथा शुद्ध आत्मा में निश्चल रहना कायगुप्ति है।

कारित सुध उवएसं, जं क्रित कारित जिनवरिंदेहिं।
तं भाव सुध करनं, काय गुत्ती च मुक्ति गमनं च॥ ६१३॥

अन्वयार्थ- (कारित सुध उवएसं) स्वयं आत्म-ध्यान करते हुए दूसरों से आत्म-ध्यान करने के लिए शुद्ध उपदेश देना (जं क्रित कारित जिनवरिंदेहिं) जैसा श्री जिनेन्द्रों ने या तीर्थंकरों ने स्वयं आत्म-ध्यान किया था और अपने उपदेश से दूसरों से भी कराया था (तं भाव सुध करनं) तथा अपने भावों को शुद्धोपयोग में लीन रखना (काय गुत्ती च मुक्ति गमनं च) कायगुप्ति है, यही मोक्ष में जाने का उपाय है।

भावार्थ- शरीर को निश्चल रखकर आत्मा में लीन होना कायगुप्ति है। इसको स्वयं पालना चाहिए व अवसर पाकर दूसरों को भी इसका उपदेश करना चाहिये। तीर्थंकर भगवान स्वयं आत्मध्यान करके अरहंत हो जाते हैं, फिर जीवनपर्यंत धर्मोपदेश देते हुए विहार करते हैं, इसी तरह तत्त्वज्ञानी साधुओं का व श्रावकों का भी कर्तव्य है तथा शुभोपयोग और अशुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग में तन्मय होना ही वास्तव में कायगुप्ति है। यही मोक्ष का साक्षात् उपाय है। यही कर्मों का क्षय करने वाला है। यही धर्मध्यान व यही शुक्लध्यान है। तत्त्वार्थसार में कहा है-

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिरित्यभिधीयते।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च सा त्रिधा॥ ४॥
तत्र प्रवर्तमानस्य योगानां निग्रहे सति।
तन्निमित्तास्रवाभावात्सद्यो भवति संवरः॥ ५-६॥

भावार्थ- मन, वचन, काय योगों का भले प्रकार रोकनागुप्ति कहलाती है। वह तीन प्रकार है- मन को वश करना मनोगुप्ति है, वचन को वश करना वचनगुप्ति है, काय को वश करना कायगुप्ति है। योगों के रोक लेने पर आत्मा में प्रवर्तमान होते हुए, योगों के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता था वह बन्द हो जाता है। उनका संवर हो जाता है। वास्तव में आत्म-ध्यानमय शुद्धोपयोग ही गुप्ति है, इससे संवर व निर्जरा दोनों होती है।

♣ ♣ ♣

पंच समिति

समिदी समदर्सीए, सम दंसन न्यान चरन समभावं।
सम अप्पा परमप्पा, सम्मत्तं सुध समय दर्सीए॥ ६१४॥

अन्वयार्थ- (समिदी समदर्सीए) समदर्शी होना समिति है (सम दंसन न्यान चरन समभाव) निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप होकर समता भाव को पाना समिति है (सम अप्पा परमप्पा) आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव करना समिति है (सम्मत्तं सुध समय दर्सीए) शुद्ध सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मा का अनुभव करना समिति है।

भावार्थ- भले प्रकार वर्तन करने को समिति कहते हैं। इसी भाव को लेकर यहाँ निश्चय नय से कथन है कि रागद्वेष छोड़कर समताभाव में रहना, जहाँ निश्चय रत्नत्रय की एकता होकर सामायिक चारित्र प्राप्त हो जावे। आत्मा व परमात्मा का समान स्वभाव जाना जावे। आत्मा के शुद्ध स्वभाव में तन्मय रहा जावे सो समिति है।

♣ ♣ ♣

ईर्या समिति

ईर्जा समिदि स उत्तं, ईर्ज भावेन दंसनं न्यानं।
चरनंपि थान सुधं, ति अर्थं ईर्ज पंथ निवेदं॥ ६१५॥

अन्वयार्थ– (ईर्जा समिदि स उत्त) ईर्या समिति उसे कहा गया है, जो (ईर्ज भावेन दंसनं न्यानं चरनंपि थान सुधं) समता या सरल भाव से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र में चला जावे- शुद्ध स्थान जो आत्मा है, उसमें रमण किया जावे (तिअर्थं ईर्ज पंथ निवेद) तीन पदार्थ रत्नत्रय को साम्यमार्ग द्वारा अनुभव करना ईर्यासमिति है–

भावार्थ– व्यवहार नय से चार हाथ भूमि आगे देखते हुए दिन में रौंदी हुई प्राशुक भूमि पर चलना ईर्यासमिति है। यहाँ निश्चय से कथन है कि रत्नत्रय स्वरूप निज आत्मा में सरल भाव से चलना, जिससे आत्मा में कर्मास्रव के कारण रागद्वेष न होने पावे, ऐसी सम्हाल रखनी। अपने आत्मा को हिंसा से बचाना। शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही ईर्यासमिति है। तत्त्वार्थसार में कहा है–

मार्गोद्योतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः।
गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृतेर्या समितिर्यतेः॥ ७-६॥

भावार्थ– जिन धर्म को प्रकाश करने के उपयोग को धारने वाले साधु का मन, वचन, काय तीनों की शुद्धतापूर्वक सूत्र के अनुसार गमन करना ईर्यासमिति है।

ॐवंकारं ह्रियंकारं, श्रियंकारं ति अर्थ संजुत्तं।
पदार्थं पद विंदं, ईर्ज भावेन दर्सए मग्गं॥ ६१६॥

अन्वयार्थ– (ॐवंकारं ह्रियंकारं श्रियंकारं) ॐ ह्रीं श्रीं इन तीन मंत्र पदों में (तिअर्थ संजुत्तं) तीनों रत्नत्रय पदार्थ गर्भित हैं (पद विंदं पदार्थं) ॐ पद में जो बिंदु है उससे शुद्ध पदार्थ या सिद्ध परमात्मा का बोध होता है (ईर्ज भावेन मग्गं दर्सए) सरल भाव से ऐसे आत्मा के आराधनरूपी मार्ग को देखना या अनुभव करना ईर्यासमिति है।

भावार्थ– ईर्या समिति पर निश्चय नय से चलने वाले साधु का कर्त्तव्य है कि वह ॐ ह्रीं श्रीं मंत्रों के द्वारा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप सिद्ध परमात्मा के समान अपने ही आत्मा का ध्यानमग्न हो आराधन करे, यही मोक्षमार्ग पर चलना है व यही ईर्यासमिति है।

संमिक् दर्सन सुधं, उवंकारेन विंदस्थान संदिट्ठं।
ह्रियंकारं अरहंतं, न्यान मयो न्यान सुध सम्मत्तं॥ ६१७॥

अन्वयार्थ- (सुधं संमिक् दर्सन) शुद्ध सम्यग्दर्शन (उवंकारेन विंद स्थान संदिट्ठं) ॐ शब्द के बिंदु स्थान में विराजित सिद्ध स्वरूप आत्मा को भले प्रकार देखने वाला है (ह्रियंकारं अरहंतं) ह्रीं मंत्र अर्हंत को बताने वाला है (न्यानमयो न्यान सुध सम्मत्त) ज्ञानस्वरूपी अपने आत्मा का ज्ञान शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- ॐ शब्द में यद्यपि पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं, परन्तु मुख्यता से उसके ऊपर चन्द्र बिन्दु से सिद्ध शिला में विराजित श्री सिद्ध भगवान का ज्ञान होता है। इसलिए मोक्षमार्गी को ॐ के आलम्बन से सिद्धात्मा का ध्यान करना चाहिये। ह्रीं मंत्र में ह से ४, व र से २ इस तरह २४ तीर्थंकर अर्हंत भगवान गर्भित हैं। इस मंत्र के द्वारा अर्हंत भगवान का स्वरूप विचारना चाहिये। अर्हंत व सिद्ध परमात्मा का आत्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, वैसा ही मेरा आत्मा है। ऐसा श्रद्धान करके अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव करना शुद्ध सम्यग्दर्शन है व इसी का आराधन ईर्यासमिति है।

श्रीकारे च सुभावं, अवधि संजुत्त न्यान ससरुवं।
मन पर्जय जानंतं, पद विंदं सुध केवलं ईर्जं॥ ६१८॥

अन्वयार्थ- (श्रीकारे च सुभावं) परम ऐश्वर्यमय लक्ष्मी को प्रगट करने वाला श्रीं पद है- वह आत्मा का एक शुद्ध स्वभाव ही है (अवधि संजुत्त न्यान ससरुवं) अवधिज्ञान सहित आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान एक ऐश्वर्य है (मन पर्जय जानंतं) मनःपर्ययज्ञान को जानना भी एक ऐश्वर्य है (पद विंदं सुध केवल) इस पद के बिंदु से द्योतित शुद्ध केवलज्ञान भी एक महान ऐश्वर्य है (ईर्जं) इन ऐश्वर्यों का लाभ मोक्षमार्ग में गमनरूप ईर्यासमिति से होता है।

भावार्थ- जो कोई तत्त्वज्ञानी श्रीं पद के द्वारा आत्मा की स्वाभाविक ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय लक्ष्मी का ध्यान करते हैं, उनको अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान की ऋद्धियें सिद्ध हो जाती हैं तथा अन्त में परम ऐश्वर्यमय केवलज्ञान का लाभ होता है। अतएव शुद्ध आत्मा के मननरूप सरल पथ में गमन करना चाहिये, यही ईर्यासमिति है।

पंच न्यान संसुधं, कुन्यानं मिच्छ भाव विलयंति।
ईर्जा पंथ निवेदं, ईर्जा समिदिं च अप्प परमप्पं॥ ६१९॥

अन्वयार्थ- (पंच न्यान संसुधं) जिसके प्रताप से मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल पाँचों ही ज्ञानों की सिद्धि हो सके (कुन्यानं मिच्छ भाव विलयंति) मिथ्याज्ञान व मिथ्यात्व भाव नाश को प्राप्त हो जावे (ईर्जा पंथ निवेदं) ऐसे सरल शुद्ध मार्ग पर चलना ईर्या पथ गमन (ईर्जा समिदिं च) या ईर्या

समिति कहलाता है (अप्प परमप्प) जहाँ आत्मा को परमात्मारूप जानकर स्वानुभव किया जाता है। यही स्वानुभव ही ईर्यासमिति है।

भावार्थ- शुद्ध स्वभाव के अनुभव रूप सरल शल्य रहित जिन मार्ग पर चलने से मतिश्रुतज्ञान भी निर्मल हो जाते हैं। श्रुतज्ञान का पूर्ण लाभ हो सकता है। शेष तीन ज्ञान भी इसी से प्राप्त हो जाते हैं, मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान का बिलकुल लोप हो जाता है। आत्मा का परमात्मा रूप अनुभव करना ही ईर्यासमिति है।

♣ ♣ ♣

भाषा समिति

भाषा समिदि स उत्तं, जं उत्तं जिनंद केवलं न्यानं।
तं भाषा परमानं, न्यान सहावेन भाष्य संजुत्तं॥ ६२०॥

अन्वयार्थ- (भाषा समिदि स उत्त) भाषा समिति वह कही गई है (जं जिनंद केवलं न्यानं उत्तं तं भाषा परमानं) कि जो कुछ जिनेन्द्र ने केवलज्ञान से जानकर कहा है, उस भाषा को प्रमाण कर लेना मान लेना (न्यान सहावेनभाष्य संजुत्त) तथा ज्ञान स्वभाव का मनन करते हुए शुद्ध भाषा कहना।

भावार्थ- जिनेन्द्र कथित तत्त्वों के स्वरूप को यथार्थ मानकर उनका अनुभव करना, ज्ञान स्वभाव में वर्तन करना, शुद्ध आत्मा का अनुभव करना व इसी स्वानुभव कराने वाले वचनों का कहना सो भाषा समिति है। तत्त्वार्थसार में कहा है-

व्यालीकादिविनिर्मुक्तं, सत्यासत्यामृषाद्वयम्।
वदतः सूत्रमार्गेण, भाषासमितिरिष्यते॥ ८-६॥

भावार्थ- असत्य व सत्य, असत्य मिश्र तथा कठोर कर्कश भाषा को छोड़कर सत्य व अनुभव इन दो प्रकार की भाषा को सिद्धांत सूत्र के अनुसार कहना भाषा समिति है। आमंत्रणी आदि भाषा को अनुभव भाषा इसलिए कहते हैं कि न तो वह सत्य है न असत्य है, वहाँ कोई अभिप्राय सत्य या असत्य का नहीं है।

भाषा अविचल सुधं, मय मिच्छात दोस परिहरनं।
भाषा जिन उवएसं, तं भाषा समिदि सुध जानेहि॥ ६२१॥

अन्वयार्थ- (अविचल सुधं भाषा) जो भाषा चंचलता रहित सरल शुद्ध मार्ग को बताने वाली है (मय मिच्छात दोस परिहरनं) जिससे मद व मिथ्यात्व का दोष न प्रगट हो अथवा जो दूसरों के मद

व मिथ्यात्व को हटाने वाली है ऐसी भाषा कहना अर्थात् (जिन उवएसं भाषा) जिनेन्द्र के उपदेश का प्रकाश करना (तं सुध भाषा समिदि जानेहि) उसे शुद्ध भाषा समिति जानना चाहिये।

भावार्थ– संसार के पदार्थों को सत्य मानना मिथ्यात्व है। उनमें घमण्ड करना मद है। इन दोषों को छुड़ाने वाली व शुद्ध आत्मा का अनुभव कराने वाली है व जिनेन्द्र के उपदेश को यथार्थ प्रकाश करने वाली भाषा को कहना भाषा समिति है। जिनेन्द्र के कथनानुसार शुद्ध तत्त्व को अनुभव करना व इसी का भाषा से प्रकाश करना वास्तव में भाषा समिति है।

♣ ♣ ♣

एषणा समिति

एषन समिदि स उत्तं, ईर्ज पंथं च पिच्छनं सुधं।
विन्यान न्यान रुवं, पिच्छंतो सुध दंसनं विमलं॥ ६२२॥

अन्वयार्थ– (स एषन समिदि उत्त) वह एषणा समिति कही गई है (सुधं ईर्ज-पंथं च पिच्छनं) जो शुद्ध सरल मोक्षमार्ग की चाहना की जावे (विन्यान न्यान रुवं) वह सरल मार्ग भेद विज्ञान द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान स्वभाव रूप है (सुध विमलं दंसनं पिच्छंतो) जहाँ शुद्ध व निर्दोष सम्यग्दर्शन का अनुभव किया जाता है।

भावार्थ– व्यवहार नय से भिक्षावृत्ति से प्राप्त छ्यालीस दोष व बत्तीस अंतराय रहित मुनियों के उद्देश्य से न बनाया हुआ, किन्तु कुटुम्ब हेतु बनाये हुए भोजन के भाग को लेना– समताभाव से उदर भरना एषणासमिति है। यहाँ निश्चय प्रधान कथन है कि आत्मा व अनात्मा का भेदविज्ञान करके जहाँ शुद्ध आत्मा की भावना की जावे व अपने ही आत्मा को शुद्ध आत्मा के समान प्रतीति में लाकर उसी का ही अनुभव किया जावे। यही आत्मा को शुद्ध भाव का भोजन कराकर एषणासमिति को पालना है। तत्त्वार्थसार में कहा है–

पिंडं तथोपधिं शय्यामुद्गमोत्पादिनादिना।
साधोः शोधयतः शुद्धाह्येषणा समितिर्भवेत्॥ ९-६॥

भावार्थ– जो साधु, उद्गम, उत्पादन आदि दोषों से रहित भोजन, पीछी, कमंडल, शैय्या आदि शोधते हैं, उन्हीं के शुद्ध एषणा समिति होती है। यह कथन व्यवहार नय से है।

पिच्छै न्यान सरुवं, पिच्छै चरनंपि सुध संमत्तं।
पिच्छै अप्प सहावं, अप्पा परमप्प विमल पिच्छेइ ॥ ६२३ ॥

अन्वयार्थ- (न्यान सरुवं पिच्छै) जो ज्ञान के यथार्थ स्वरूप को देखता है (चरनंपि सुध संमत्तं पिच्छै) चारित्र को तथा शुद्ध सम्यग्दर्शन को देखता है (अप्प सहावं पिच्छै) जो आत्मा के स्वभाव को देखता है (अप्पा परमप्प विमल पिच्छेइ) जो आत्मा को परमात्मा के समान निर्मल देखता है वह एषणासमिति है।

भावार्थ- आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र स्वरूप है। जो कोई भेद करके भिन्न-भिन्न तीनों गुणों को विचारे फिर अभेद करके एक आत्मा का ही मनन करें— आत्मा को सिद्ध भगवान के समान देखें तथा एकाग्र होकर अनुभव करें, वही तत्त्वज्ञानी महात्मा एषणा समिति को पालन करने वाला है। निश्चय से आपसे आपको अनुभव करना ही एषणा समिति है।

* * *

आदान निक्षेपण समिति

आदानं निषेपं, अद सहावेन दंसए सुधं।
निवष्यवइ कम्म तिविहं, अद सहावेन सयल दोस निषेपं ॥ ६२४ ॥

अन्वयार्थ- (आदानं निषेपं) आदान निक्षेपण समिति कहते हैं, आदान के अर्थ हैं (अद सहावेन दंसए सुधं) जो आत्म-स्वभाव को ग्रहणकर उसे शुद्ध अनुभव करना (तिविहं कम्म निवष्यवइ) निक्षेपण के अर्थ हैं कि तीन प्रकार कर्मों को क्षय करना अर्थात् (अद सहावेन सयल दोस निषेपं) आत्मा का स्वभाव ग्रहण कर सर्व रागादि दोषों का क्षय करना निश्चय से आदान निक्षेपण समिति है।

भावार्थ- पीछी कमण्डल शरीर शास्त्रादि पदार्थों को देखकर रखना उठाना आदान निक्षेपण समिति है, जिससे प्राणियों की रक्षा हो यह कथन व्यवहारनय से है। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है—

सहसादृष्ट दुर्मृष्टाप्रत्यवेक्षण दूषणम्।
त्यजतः समितिर्ज्ञेयादान निक्षेपगोचरा॥ १०-६ ॥

भावार्थ- यकायक बिना देखे बिना झाड़े जल्दी से रखना, आदि दूषणों को बचाकर जीव जन्तु की रक्षा करते हुए रखना उठाना सो आदान निक्षेपण समिति है। यहाँ निश्चय प्रधान कथन है कि आत्मा के निज स्वरूप को ग्रहण कर अर्थात् आत्मा का अनुभव करते हुए भाव कर्म रागद्वेषमोहादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और नोकर्म शरीरादि के संबंध को दूर करना आदान निक्षेपण समिति है।

आद सहावं झानं, अप्पं च अप्प दंसनं न्यानं।
चरनं दुविहि संजुत्तं, कम्मं निषवै लहइ निव्वानं॥ ६२५॥

अन्वयार्थ– (आद सहावं झानं) आत्मा के स्वभाव का ध्यान करना अर्थात् (अप्पं च अप्प दंसनं न्यानं) अपने से आप को ही देखना जानना (दुविहि चरनं संजुत्तं) दो प्रकार चारित्र के साथ वर्तना (कम्मं निषवै लहइ निव्वानं) कर्मों को नाश करके निर्वाण को प्राप्त करने वाला है।

भावार्थ– जो कोई भव्य जीव अपने आत्मा को दर्शन ज्ञानमयी श्रद्धान कर व जानकर व्यवहार चारित्र के द्वारा निश्चय चारित्र में आरूढ़ होकर आत्मा का ध्यान करता है, वह अवश्य कर्मों को क्षय कर मुक्त हो जाता है। इस आत्मा का ध्यान ही आदान निक्षेपण समिति है, जो कर्मों को दूर करने वाली है।

* * *

प्रतिष्ठापन समिति

प्रतिस्ठापन समिदीओ, झानं धम्मं च सुक्क झायंति।
प्रतिस्ठापना संजुत्तं, झान सरुवेन अप्प संतुट्ठं॥ ६२६॥

अन्वयार्थ– (प्रतिस्ठापन समिदीओ) प्रतिष्ठापन समिति यह है कि (धम्मं झानं च सुक्क झायंति प्रतिस्ठापना संजुत्तं) अपने को धर्मध्यान और शुक्लध्यान से प्रतिष्ठित किया जावे (झान सरुवेन) ध्यान के बल से (अप्प संतुट्ठ) आत्मा को सन्तोषित व आनंदित किया जावे।

भावार्थ– व्यवहारनय से जन्तु रहित स्थान में मलमूत्र करना प्रतिष्ठापना समिति है। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है–

समितिर्दर्शितानेन प्रतिष्ठापन गोचरा।
त्याज्यं मूत्रादिकं द्रव्यं स्थंडिले त्यजतो यतेः॥११-६॥

भावार्थ– साधु की निर्जंतु प्राशुक भूमि में मूत्रादि का छोड़ना प्रतिष्ठापना समिति है। यहाँ निश्चय नय से शब्द के अर्थ को लेकर कहा गया है कि अपने आपको धर्मध्यान में अथवा शुक्लध्यान में स्थापित करके आत्मानंद को लेते हुए आप में परम संतोष पाना प्रतिष्ठापना समिति है।

झानेन न्यान जुत्तो, मलरहिओ सयल दोस परिचत्तो।
गय संकप्प वियप्पो, पंचम समिदी सु झान संजुत्तो॥ ६२७॥

अन्वयार्थ– (न्यान जुत्तो झानेन) ज्ञान ज्योति के ध्यान में तिष्ठकर (मल रहिओ सयल दोस परिचत्तो) अतीचार रहित व सर्व रागादि दोषों से हटकर (गय संकप्प वियप्पो) तथा संकल्प-विकल्पों

से रहित होकर (ज्ञान संजुत्तो सु पंचम समिदी) आत्मा के ध्यान में लीन होना पंचमी प्रतिष्ठापना समिति है।

भावार्थ- जहाँ सर्व मिथ्यात्व व रागादि भावों को हटा दिया जावे और सर्व ही संकल्प-विकल्पों को त्याग दिया जावे व आपको आपसे आपमें स्थापित किया जावे-- निज आत्मा में एकता से लीन होकर आप में आपको प्रतिष्ठित किया जावे, अपने आत्मा के ही सिंहासन पर अपने परमात्मा देव को प्रतिष्ठित किया जावे, यही प्रतिष्ठापना समिति है।

♣ ♣ ♣

निश्चय मोक्ष मार्ग

समिदी पंच विसुधं, तेरह विहि चरन संजमं भनियं।
सम्मत्त चरन चरनं, संजम संजुत्त लहइ निव्वानं॥ ६२८॥

अन्वयार्थ- (पंच समिदी विसुधं) पाँच समितियों को शुद्ध निश्चय नय से पालना (तेरह विहि चरन संजमं भनियं) तथा तेरह प्रकार चारित्र पालना सो संयम कहा गया है (सम्मत्त चरन चरनं) जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन का आचरण करता है (संजम संजुत्त) तथा संयमी होता है वह (निव्वानं लहइ) निर्वाण को पाता है।

भावार्थ- साधु का तेरह प्रकार का चारित्र है, उसी में पाँच समिति भी गर्भित है। निश्चय नय के द्वारा जो इनको समझकर अपने ध्यान में लेता है और शुद्ध आत्मा की प्रतीति सहित निज आत्मा के भीतर संयमित होकर आत्मा का अनुभव करता है, वह अवश्य निर्वाण का पात्र हो जाता है।

चरनं सुध सहावं, चरनं संसार सरनि तिक्तं च।
चरनंपि सुध अप्पा, परमप्पा परम मोष्यस्य॥ ६२९॥

अन्वयार्थ- (चरनं सुध सहावं) निश्चय चारित्र शुद्ध स्वभाव में चलना है (चरनं संसार सरनि तिक्तं च) निश्चय चारित्र संसार के मार्ग से दूर रहना है। (चरनंपि सुध अप्पा) निश्चय चारित्र शुद्ध आत्मा ही है (परमप्पा परम मोष्यस्य) निश्चय चारित्र पालने वाला ही परम मोक्ष का अधिकारी परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ- निश्चय चारित्र रूप वास्तव में आत्मा का स्वभाव है। जब कोई तत्त्वज्ञानी संसार के कारणीभूत सर्व प्रकार के रागद्वेष मोह भावों का परित्याग करके अपने आप ही ठहर जाता है व आपका ही शुद्ध अनुभव करता है, तब वह सर्व कर्मों से छूटकर निश्चय से सिद्ध परमात्मा हो जाता है, यही निश्चय मोक्षमार्ग है।

एयं संजोगे नय, अवध्यं चिंतेई लेइ गुरू भारं।
अप्पा परमप्पानं, महावयं हुंति साहूनं॥ ६३० ॥

अन्वयार्थ- (एयं संजोगे नय) इन तेरह प्रकार चारित्र का संयोग मिलाकर (अवध्यं चिंतेई गुरु भारं लेइ) पवित्र अविनाशी आत्मा को चिन्तवन करता हुआ गुरुपने के भार को लेता है अथवा अवधिज्ञान को चिंतवन करते हुए ज्ञान का विशेष भार प्राप्त कर लेता है (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करता है (महावयं हुंति साहूनं) उस ही साधु के महाव्रत होता है।

भावार्थ- गुरु वही है जो भारी भार को सहन कर सके। सबसे भारी भार परमात्म ध्यान है। जो कोई साधु तेरह प्रकार चारित्र पालता हुआ आत्मा को परमात्मा रूप निश्चय करके उसी के ध्यान में लवलीन हो जाता है, वही महाव्रती साधु मोक्षमार्ग के ऊपर चलता हुआ आत्म संयम के भारी भार को ढोने वाला है। अथवा जो कोई महाव्रतों को यथार्थ पालकर आत्मा को ध्याता है, उसको अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है।

जंमन मरन विमुक्कं, अप्पा अप्पेन अप्पयं सुधं।
परमप्पा परमप्पयं, परम सरुवं च चेयना सुधं॥ ६३१ ॥

अन्वयार्थ- (जंमन मरन विमुक्कं) जन्म-मरण से रहित यह अविनाशी (अप्पा अप्पेन अप्पयं सुधं) आत्मा अपने ही द्वारा आपको शुद्ध ध्याता है, अर्थात् (परमप्पा परमप्पयं) परमात्मा के श्रेष्ठ पद को ध्याता है, अर्थात् (परम सरुवं च चेयना सुधं) परम स्वरूप को ध्याता है या शुद्ध चेतना को ध्याता है, यही निश्चय ध्यान है।

भावार्थ- निश्चय ध्यान ही मोक्ष का साधक है। उस ध्यान में आत्मा को निश्चय नय से देखा जाता है कि यह सदा से एकाकार चला आया हुआ एक अविनाशी पदार्थ है। जब ध्याता सर्व संकल्प-विकल्प त्यागकर अपने से ही आपको शुद्ध भावना के साथ ध्याता है, तब वही मानो परमात्मा को ध्याता है या परम पद को ध्याता है या श्रेष्ठ आत्मस्वभाव को ध्याता है या उसी का अनुभव कर्म चेतना व कर्मफल चेतना से छूटकर शुद्धज्ञान चेतना रूप हो जाता है, यही करने योग्य है।

सून्यं झानं समिधं, झानं झायंति निम्मलं सुधं।
अप्पा परमप्पानं, मन पर्जय न्यान निम्मलं दिट्ठं॥ ६३२ ॥

अन्वयार्थ- (सून्यं झानं समिधं) रागादि विकल्पों से शून्य ध्यान की सामर्थ्य से जो (निम्मलं सुधं झानं झायंति) निर्मल शुद्ध आत्मध्यान को ध्याते हैं (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करते हैं, उनको (निम्मलं दिट्ठं मन पर्जय न्यान) निर्मल मनःपर्ययज्ञान का लाभ हो जाता है।

भावार्थ– निर्विकल्प आत्म रमण रूप ध्यान का यह बल है कि मनःपर्ययज्ञान को आवरण करने वाला कर्म कम हो जाता है, उस कर्म का क्षयोपशम हो जाता है। और निर्मल मनःपर्ययज्ञान साधु को पैदा हो जाता है, जिसके प्रताप से साधु पर के मन के भीतर चिंतवन में आए हुए सूक्ष्म तत्त्वों को भी जान सकता है।

♣ ♣ ♣

ऋजुमति मनःपर्यय

रिजुमति सुध सरुवं, रुवातीतं च विगत रुवेन।
जम्बूदीव सुदिट्ठं, मनपर्यय निम्मलं विमलं॥ ६३३॥

अन्वयार्थ– (रिजुमति सुध सरुवं) ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान शुद्ध आत्मा का एक स्वभाव है (रुवातीतं च विगत रुवेन) यह ज्ञान अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष है (जम्बूदीव सुदिट्ठं) जम्बूदीप के भीतर इस ज्ञान का विषय है (मनपर्यय निम्मलं विमलं) यह मनःपर्ययज्ञान अति निर्मल है।

भावार्थ– आत्मा का ध्यान करने से ऋद्धिधारी मुनि के जब मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, तब विशुद्ध भावों से ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान पैदा होता है, जो जम्बूद्वीप की चौड़ाई एक लाख योजन के भीतर मन वाले प्राणियों के भीतर जो वर्तमानकाल में पदार्थों का चिंतवन हो रहा है, उसको जान लेता है। यह ज्ञान आत्मा से ही प्रत्यक्ष होता है, इसमें इन्द्रिय व मन की सहायता की जरूरत नहीं है। यह ज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा निर्मल है।

♣ ♣ ♣

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान

विपुलमति सुध सहावं, विमलं च सुध केवलं न्यानं।
दीव अढाई सुधं, मन पर्जय न्यान सुध उवबंनं॥ ६३४॥

अन्वयार्थ– (विपुलमति सुध सहावं) विपुलमति मनःपर्ययज्ञान शुद्ध आत्मा का एक स्वभाव है (दीव अढाई सुधं) यह अढ़ाई द्वीप तक जानने की शुद्धता रखता है (मन पर्जय न्यान सुध उवबंनं) ऋजुमति की अपेक्षा यह मनःपर्ययज्ञान विशेष शुद्धता से उत्पन्न होता है (सुध विमलं च केवलं न्यानं) सर्व से निर्मल तो केवलज्ञान है, यह अकेला त्रिकाल गोचर तीन लोक के पदार्थों को सर्वगुण पर्याय सहित जानता है।

भावार्थ– आत्मा के निर्मल ध्यान के प्रताप से ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान से अति निर्मल विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान पैदा हो जाता है। यह ज्ञान अढ़ाई द्वीप के पैंतालीस लाख योजन के भीतर तिष्ठे हुए मनवाले प्राणियों के मन के भीतर सूक्ष्म रूपी पदार्थों को जानता है। आत्मध्यान का अन्तिम फल पूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त करना है। यह ज्ञान पाँचों ज्ञानावरण कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है। मनःपर्ययज्ञान का कथन गोम्मटसार में ऐसा दिया है–

> **मणपज्जवं च दुविहं उजुविउलमदित्ति उजुमदी तिविहा।**
> **उजुमणवयणे काए गदत्थविसयात्ति णियमेण॥ ४३८॥**
> **विउलमदीवि य छद्धा उजुगाणुजुवयणकायथ चित्तगयं।**
> **अत्थं जाणदि जम्हा सछत्थगया हु ताणत्था॥ ४३९॥**
> **तियकाल विसयरूविं चिंतितं वट्टमाणजीवेण।**
> **उजुमदिणाणं जाणदि भूदभविस्सं च विउलमदी॥ ४४०॥**

भावार्थ– मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है– ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति तीन प्रकार का है। सरल मन के द्वारा चिंतवन किये हुए पदार्थों को जाने। सरल वचन से किये हुए पदार्थ को जाने। विपुलमति मनःपर्ययज्ञान छः प्रकार है। सरलता से किए हुए मन, वचन, काय द्वारा पदार्थों को तथा कुटिलता से मन, वचन, काय द्वारा किए हुए पदार्थों को जाने। दूसरे के मन में रहने वाले पहले तीन प्रकार के पदार्थों को ऋजुमति जानता है जबकि विपुलमति पहले व दूसरे तीन प्रकार के अर्थात् छहों प्रकार के पदार्थों को जानता है, जो दूसरों के मन में हो ऋजुमति ज्ञान तीन काल के पदार्थों को जो वर्तमान में कोई चिंतवन कर रहा है उसी को जानता है। विपुलमति ज्ञान वर्तमान चिंतवन किए हुए को व भूतकाल में चिंतवन किए हुये को व भविष्य में जो चिंतवन करेगा उन सबको जान सकता है। तारणस्वामी ने गाथा ६३३ में ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र जम्बूद्वीप बताया है। जबकि श्री नेमिचन्द सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मटसार में सात आठ योजन से अधिक क्षेत्र नहीं बताया है, जबकि विपुलमति का क्षेत्र ढाई द्वीप है, इसे दोनों ग्रंथकर्ताओं ने बताया है। इस पर अन्य ग्रंथों से विचारना चाहिये। गोम्मटसार की वह गाथा यह है–

> **गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं।**
> **विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं॥ ४५४॥**

भावार्थ– ऋजुमति का जघन्य क्षेत्र दो, तीन कोस व उत्कृष्ट सात आठ योजन है। विपुलमति का जघन्य आठ नव योजन व उत्कृष्ट नरलोक है।

♣ ♣ ♣

अरहंत स्वरूप

अरहंतं सर्वन्यं, केवल भावेन सुध ससरुवं।
अप्पा परमानंदं, अठारह दोस विवज्जिओ विमलं॥ ६३५॥

अन्वयार्थ- (केवल भावेन सुध ससरुवं) केवलज्ञान रूप से शुद्ध अपने स्वरूप में रहने वाले (अरहंतं सर्वन्यं) अरहंत सर्वज्ञ भगवान होते हैं (अप्पा परमानंद) उनका आत्मा परमानंद को अनुभव करता है, वे अरहंत (अठारह दोस विवज्जिओ विमलं) अठारह दोषों से रहित वीतराग होते हैं।

भावार्थ- निश्चय रत्नत्रय के आराधन स्वरूप निर्मल शुक्ल ध्यान के प्रताप से जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय चारों घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है, तब वह साधु अरहंत परमात्मा हो जाता है। इस शुद्ध अवस्था में अरहंत भगवान सर्वज्ञ वीतराग होते हैं तथा अपने अतीन्द्रिय आनंद का भोग करते हैं। उनमें क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष नहीं होते हैं। धम्मरसायण में पद्मनंदि मुनि कहते हैं-

छुह तराहा भय दोसो राओ मोहोय चिंतणं वाही।
जा मरण जम्म णिद्दा खेदो सेदो विसादो य॥ ११८॥
रइ जिमओ यदप्पो एए दोसा तिलोय सत्ताणं।
सव्वेसिं सामण्णा संसारे परिभमंताणं॥ ११९॥
ए ए सव्वे दोसा जस्सण विज्जंति छुह ति साईया।
सोहोई परमदेओ णिस्सं देहेण धोतव्वो॥ १२०॥

भावार्थ- १-क्षुधा, २-तृषा, ३-भय, ४-द्वेष, ५-राग, ६-मोह, ७-चिंता, ८-व्याधि, ९-जरा, १०-मरण, ११-जन्म, १२-निद्रा, १३-खेद, १४-स्वेद (पसीना), १५-विषाद, १६-रति, १७-जृम्भा, १८-दर्प; ये १८ दोष तीन लोक के प्राणियों के पाये जाते हैं, सर्व संसारियों के हैं। जिनके ये नहीं हैं, वे निःसंदेह परम देव अरहंत हैं, उनको मानना चाहिये। जृम्भा (जंभाई आना) विषाद, रति के स्थान में श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका में अरति आश्चर्य व गर्व तीन दिये हैं। चार घातिया कर्मों के क्षय से वे १८ दोष अरहंत में नहीं होते हैं।

अठदह दोस वियानं, दोसं गुन रुव भेय विन्यानं।
रुवं रुव समत्थं, विन्यानं न्यान जानि सभावं॥ ६३६॥

अन्वयार्थ- (अठदह दोस वियानं) अठारह दोषों को जानना चाहिए (दोसं गुन रुव भेय विन्यानं) दोषों का और गुणों का भिन्न-भिन्न स्वरूप जानना भेद विज्ञान है (रुवं रुव समत्थं) पुद्गल का स्वरूप पुद्गलमयी स्वरूप को समर्थन करता है (विन्यानं न्यान सभावं जानि) ज्ञानी का स्वरूप ज्ञानमयी जानना चाहिये।

भावार्थ- ये अठारह दोष उसी के होंगे जो शरीरादि पर पदार्थों का मोही होगा। जिसका मोह शरीर से हट गया है, उसके पुद्गल जनित कोई चिंता नहीं होती है। अर्हंत का आत्मा निरन्तर ज्ञान स्वरूप वीतराग रहता है। कर्म जनित कोई विकार उनके निर्मल ज्ञान में नहीं होता है, इसलिए उनके ये दोष सम्भव नहीं है।

* * *

अठारह दोष रहित अरहंत

षुधा त्रिषा परिहरनं, संसारे सरनि भाव तिक्तं च।
न्यान सहावं सुधं, न्यान अहारेन अन्न पान सहकारं। ६३७॥

अन्वयार्थ- (षुधा त्रिषा परिहरनं) अर्हंत भगवान के भूख-प्यास की बाधा नहीं होती है (संसारे सरनि भाव तिक्तं च) क्योंकि उनके संसार के भ्रमण के कारणरूपी भावों का अर्थात् सांपरायिक आस्रव भावों का त्याग है (न्यान सहावं सुधं) शुद्ध ज्ञान स्वभाव प्रकाशमान है (न्यान अहारेन अन्न पान सहकारं) ज्ञान का आहार है, यही अन्नपान की तरह सहकारी है।

भावार्थ- अर्हंत भगवान के मोहनीय कर्म का नाश हो गया है, इसलिये कोई इच्छा पैदा नहीं हो सकती है। यदि इच्छा हो तो कषाय भाव पाया जावे। कषाय हो तो सांपरायिक आस्रव हो। ये मोह के नाश से पूर्ण वीतराग होकर यथाख्यात चारित्र में तथा ज्ञान चेतना के अनुभव में लीन हैं। उनके ज्ञानानंद का ही आहार है। ये सांसारिक प्राणियों की तरह अन्नपान नहीं लेते हैं। उनका शरीर भी रत्न-स्फटिक की तरह या कपूर की तरह धातु उपधातु रहित शुद्ध हो गया है। उनके अनंत लाभ की शक्ति प्रगट हो गई है, जिससे शरीर को पुष्ट करने वाली आहारक वर्गणाएँ स्वयं योगों के द्वारा आकर्षित होकर आती हैं व शरीर में मिलती हैं। जैसे वृक्षों के व खान के पाषाणों के लेप आहार हैं, मुख से आहार नहीं है, वैसे ही केवली भगवान अर्हंत के नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण रूप आहार है। आप्त-स्वरूप ग्रंथ में अरहंत का स्वरूप कहा है-

तदा स्फटिक संकाशं तेजोमूर्ति भयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातु विवर्जितं॥ १२॥

भावार्थ- तब दोष रहित अरहंत भगवान के स्फटिक मणि की तरह तेज मूर्ति व सात धातु रहित शरीर हो जाता है। १-रस, २-रुधिर, ३-मांस, ४-मेद (चरबी), ५-हाड़, ६-मिंजी (गूदा), ७-शुक्र या वीर्य; ये सात धातु अरहंत के नहीं रहती हैं।

भयं च दोषाईनं, भयं च संसार सरनि तिक्तं च।
न्यान सहाव सरुवं, भय अभयं दोष तिक्त ससरुवं ॥ ६३८ ॥

अन्वयार्थ- (दोषाईनं भयं च) दोषों के होने पर भय होता है (भयं च संसार सरनि तिक्तं च) केवली भगवान को संसार के भ्रमण का कोई भय नहीं रहा है (न्यान सहाव सरुवं) वे ज्ञान स्वभाव में लवलीन हैं (भय दोष तिक्त अभयं ससरुवं) वे भय नाम के दोष से रहित अभय निज स्वरूप में सावधान हैं।

भावार्थ- कोई हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि पाप होने पर या शरीर व धनादि का मोह होने पर भय पैदा हो जाता है, केवली अरहंत भगवान के कोई पाप का कारण भाव ही नहीं है और न शरीरादि का मोह ही है। इससे उनके भय नो कषाय का उदय संभव ही नहीं है। वे निरंतर अनंतवीर्य की सहायता से अपने स्वभाव में तल्लीन परम निर्भय हैं।

रागो मोह सचित्तं, संसारे तजंति सुध ससरुवं।
न्यानं राग सहावं, न्यानं मोहेन तजंति मोहंधं ॥ ६३९ ॥

अन्वयार्थ- (सुध ससरुवं) अरहंत के शुद्ध आत्मा का स्वरूप झलक रहा है, इसलिये वहाँ (संसारे रागो मोह सचित्तं तजंति) संसार के कारणीभूत राग व मोह सहित चित्त का अभाव है (न्यानं राग सहावं) वहाँ ज्ञान का ही स्वाभाविक राग है (न्यानं तजंति मोहेन मोहंधं) व अपने ज्ञान का ही मोह है इसी से उन्होंने संसार के अंध व अज्ञानमय मोह को त्याग दिया है।

भावार्थ- अरहंत भगवान ने दर्शनमोह व चारित्रमोह का सर्वथा क्षय कर डाला है, इसलिये उनके भीतर राग या मोह कभी संभव नहीं है। वे परम वीतराग होकर शुद्ध स्वरूप में लीन हैं, उनके संसार का अभाव है, अलंकार रूप से यह कह सकते हैं कि वे प्रभु अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव में ही रागी व मोही हैं। उनके पर पदार्थ का अज्ञानमय राग व मोह नहीं है।

न्यान सहावे चिंतं, चिंता संसार तिजंति परिनामं।
चिंतं अप्प सहावं, अप्पा परमप्पं केवलं सुधं ॥ ६४० ॥

अन्वयार्थ- (न्यान सहावे चिंतं) केवली महाराज की चिंता ज्ञान स्वभाव में लय हो गई है, उन्होंने (संसार परिनामं चिंता तिजंति) संसार के भावों की या सांसारिक अवस्थाओं की चिंता या फिकर छोड़ दी है (अप्प सहावं चिंतं) वे आत्मिक स्वभाव का ही अनुभव कर रहे हैं (अप्पा परमप्पं केवलं सुधं) उनके अनुभव में आत्मा-परमात्मा रूप केवल शुद्ध झलक रहा है।

भावार्थ- अर्हंत भगवान को चिंता का दोष भी संभव नहीं है। उनके वीतराग भाव प्रगट हैं। उनको किसी शरीरादि व धनादि परपदार्थ से राग ही नहीं है। जिस हेतु से कोई चिंता या फिकर पैदा होवे, वे तो निश्चिंत होकर अपने शुद्ध परमात्म स्वभाव में तल्लीन हैं, सर्व चिंता रहित हैं।

वृद्धं तु अल्पमृत्युं, चौगइ भावेन तिजंति सभावं।
न्यानेन न्यान सहावं, अजरामर सासयं ठानं॥ ६४१॥

अन्वयार्थ– (वृद्धं तु अल्प मृत्युं) बुढ़ापा होना व थोड़े काल के लिए मरण होना (चौगइ भावेन) चार गति संबंधी भावों से होता है (सभावं तिजंति) केवली ने अपने स्वभाव में ठहरकर इन भावों को त्याग दिया है (न्यानेन अजरामर सासयं ठानं न्यान सहावं) उनके ज्ञान में जरा व मरण रहित अविनाशी ज्ञान स्वभावी पदार्थ झलक रहा है।

भावार्थ– केवली भगवान का शरीर सात धातु रहित होने से उसमें जरा नहीं फैलती है, उनका शरीर चमत्कार व तेजस्वी दिखता है। मरण उसे ही कहते हैं, जहाँ फिर जन्म हो। केवली भगवान ने चार गति बाँधने वाले भावों का ही त्याग कर दिया है। उनके चारों गतियों में से किसी भी गति का बंध नहीं है। इससे उनका फिर किसी शरीर में जन्म नहीं है। जब जन्म नहीं है, तब मरण भी नहीं है। वे तो निरन्तर अजर-अमर-अविनाशी स्वाभाविक ज्ञानधारी परमात्मा हो गए हैं। आयु कर्म हटते ही सिद्ध हो जायेंगे, तब शरीर का संबंध ही न रहेगा।

स्वेदं षेद संजुत्तं, भय कारनेन सयल तिक्तं च।
न्यान सहाव सरुवं, स्वेदं च परम केवलं न्यानं॥ ६४२॥

अन्वयार्थ– (स्वेदं षेद संजुत्त) पसीना खेद या थकान सहित (भय कारनेन) संसार के कार्यों के निमित्त से होता है (सयल तिक्तं च) उनको अरहंत भगवान ने त्याग दिया है (न्यान सहाव सरुवं) वे तो एक ज्ञान स्वभावमयी हो रहे हैं (परम केवलं न्यानं च स्वेदं) परम केवलज्ञान का ही स्वाद ले रहे हैं। उनको थकान न होने से न खेद है न स्वेद है।

भावार्थ– अर्हंत भगवान के कोई इंद्रियों के द्वारा कार्य नहीं है, जिससे न उनको खेद होता है न स्वेद हो सकता है वे अतीन्द्रिय केवलज्ञान के धारी हैं, जिससे वे सहज ही स्वपर ज्ञायक हो रहे हैं। उनको अनंत बल है, इससे ज्ञान के कार्य में कोई परिश्रम नहीं पड़ता है। वे निरन्तर ज्ञानानंद का स्वाद लेते हुए परम निराकुल हैं।

मदो रति संजुत्तं, संसारे सरनि सयल तिक्तं च।
न्यान बलेन विसुधं, ममात्मा सुध दंसनं विमलं॥ ६४३॥

अन्वयार्थ– (मदो रति संजुत्तं) मद दोष व रति दोष सहित या अरति दोष सहित (संसारे सरनि सयल तिक्तं च) संसार में जीवों का भ्रमण होता है। अर्हंत भगवान ने मोह का क्षय करके सर्व संसार भ्रमण के कारणों को त्याग दिया है (न्यान बलेन) आत्मा के यथार्थ ज्ञान के बल से (विसुधं) वे परम

वीतराग हैं तथा उनको यह अनुभव है कि (ममात्माविमलं सुध दंसनं) मेरी आत्मा रागादि मल से रहित है व शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी है।

भावार्थ– मोह का समूल क्षय कर देने से अर्हंत भगवान के मद या रति या अरति कोई मोह कर्म जनित भाव का होना संभव नहीं है। वे मोक्षरूप हैं– उनके संसार का कारण सब मिट गया है। वे अपने ज्ञान के बल से ही अपने आपको शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन रूपअनुभव कर रहे हैं।

विस्मय जननी निद्रा, संसारे सुभाव तिक्त मन विचलं।
न्यान सहावे सुधं, जम्मन मरनं च उवसमं भानियं॥ ६४४॥

अन्वयार्थ– (विस्मय जननी निद्रा) आश्चर्य, जन्म तथा निद्रा ये तीन दोष भी (संसारे सुभाव) संसार के मार्ग में रहने वाले होते हैं (मन विचलं तिक्त) अर्हंत भगवान का मन चंचलता रहित स्थिर है। वहाँ कोई मन में प्रमाद नहीं हो सकता। उन्होंने संसार का नाश कर दिया है, इससे जन्म नहीं हो सकता है (न्यान सहावे सुधं) वे अपने ज्ञान स्वभाव में लीन हैं, परम वीतराग हैं (जम्मन मरनं च उवसमं भनियं) उनका जन्म व मरण दोष सब शांत हो गया है। क्योंकि आगे के लिये किसी आयु का बंध नहीं है।

भावार्थ– श्री अरहंत भगवान का मन चंचल नहीं है। इससे वहाँ कोई आश्चर्य नहीं हो सकता है न वहाँ कोई आलस्य का कारण है। इससे निद्रा नहीं होती है, वे प्रमाद को पहले ही जीत चुके हैं। निद्रा प्रमाद का एक भेद है। वे केवल मनुष्य आयु भोग रहे हैं। आगे की आयु की कोई सत्ता नहीं है। इसलिये फिर उनका किसी शरीर में जन्म नहीं होगा। वे अरहंत परमात्मा अपने आत्म स्वभाव में परम वीतरागता सहित लीन हैं। अब उनके कोई सांसारिक पर्याय नहीं होने वाली है। इससे वे जन्म-मरणादि से रहित हैं।

अठ दह दोस विमुक्कं, न्यान सहावेन दोस परिचत्तं।
न्यानं न्यान सरुवं, उप्पन्नं विमल केवलं न्यानं॥ ६४५॥

अन्वयार्थ– (अठ दह दोस विमुक्कं) अरहंत भगवान क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित हैं (न्यान सहावेन दोस परिचत्तं) वे ज्ञान स्वभाव में लीन हैं, इससे उनमें कोई रागादि दोष नहीं है। (न्यानं न्यान सरुवं) उनका ज्ञान सर्व ज्ञानावरण कर्म के उदय से रहित होकर ज्ञान स्वरूप हो गया है (विमल केवलं न्यानं उप्पन्नं) उनको परम शुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है।

भावार्थ– अर्हंत भगवान के भीतर सर्वज्ञपना व वीतरागपना अवश्य होता है। इसलिए उनमें क्षुधादि १८ दोष नहीं होते हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने ६३७ गाथा से ६४४ गाथा तक में क्षुधा, तृषा, भय, राग,

मोह, चिंता, जरा, मरण, स्वेद, खेद, मद, रति (अरति), विस्मय, जन्म, निद्रा इन पन्द्रह दोषों को गिनाया है। राग, द्वेष, विषाद क्रम से जरा, भय तथा खेद में गर्भित हो सकते हैं।

* * *

सयोग केवली अर्हंत

संजोगे केवलिनो, तेरहमे गुन ठान न्यान संजुत्तो।
अप्पा अप्प सरुवं, अरुहो देओ मुने अव्वो॥ ६४६॥

अन्वयार्थ- (संजोगे केवलिनो) योग सहित सयोगी केवली भगवान के (न्यान संजुत्तो तेरहमे गुण ठान) केवलज्ञान सहित तेरहवाँ गुणस्थान होता है (अप्पा अप्प सरुवं) आत्मा के घातक चारों कर्मों के क्षय से उनका आत्मा आत्मस्वरूपमय निर्मल हो गया है (अरुहो देओ मुने अव्वो) उनको ही पूजने योग्य अर्हंत देव मानना चाहिये।

भावार्थ- अठारह दोष रहित परम वीतराग सर्वज्ञ देव श्री अर्हंत भगवान तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान में होते हुए अपने निज शुद्ध स्वरूप में लीन रहते हैं, उनमें कुदेवों के कोई भी दोष नहीं है। जिनको परमात्मा का आदर्श सामने रखकर मोक्ष मार्ग पर चलना है उनको उचित है कि ऐसे ही पूजनीय अर्हंतदेव को अपना देव माने।

आहारो ससरीरो, अतीन्द्रि न्यान आहार संजुत्तो।
चौदस प्रान सरुवं, अप्पा परमप्प लध सभाओ॥ ६४७॥

अन्वयार्थ- (आहारो ससरीरो) अर्हंत भगवान के आहारक वर्गणाओं से बना हुआ परम शुद्ध औदारिक शरीर होता है (अतीन्द्रि न्यान आहार संजुत्तो) उनके इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान न होकर अतीन्द्रिय केवलज्ञान का ग्रहण है, यही एक आहार है (चौदस प्रान सरुव) उनके द्रव्येन्द्रिय व द्रव्य मन तो है, परन्तु उपयोग इनके द्वारा काम नहीं करता है, इससे दस प्राण द्रव्य अपेक्षा लेने पर भी कार्य की अपेक्षा छः प्राण रहित मात्र चार प्राण हैं। वचन बल, काय बल, आयु और श्वासोच्छ्वास (अप्पा परमप्प लध सभाओ) उनकी आत्मा परमात्मारूप अपने स्वभाव को प्राप्त किये हुए रहती है।

भावार्थ- केवली भगवान के परम शुद्ध औदारिक शरीर होता है। वाणी खिरती है, इससे वचन बल प्राण है। विहार होता है, इससे काय बल प्राण है। मंद श्वास होता है, इससे श्वासोच्छ्वास प्राण है। आयु कर्म का उदय है इससे आयु प्राण है। पाँच इन्द्रिय व द्रव्य मन है, उनको भी लेकर दस प्राण कहते हैं। भाव इन्द्रिय व भाव मन नहीं है, इससे चार प्राण ही कहे जाते हैं। अर्हंत भगवान सकल परमात्मा परम पूज्य हैं।

वाहिज दोस रहिओ, आहार निहार विवज्जिओ सुधो।
न्यान आहार संजुत्तो, न्यानेन न्यान अप्प परमप्पा॥ ६४८॥

अन्वयार्थ- (वाहिज दोस रहिओ) अर्हंत भगवान बाहर जरा के दोष से रहित हैं (आहार निहार विवज्जिओ सुधो) आहार व निहार से रहित शुद्ध हैं। (न्यान आहार संजुत्तो) ज्ञानरूपी आहार को करने वाले हैं (न्यानेन न्यान अप्प परमप्पा) ज्ञान के द्वारा ज्ञान का वे अनुभव कर रहे हैं, उनकी आत्मा परमात्मा रूप है।

भावार्थ- अर्हंत भगवान के बाहर शरीर पर बुढ़ापे के चिन्ह नहीं दिखते हैं। युवान पुरुष के चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं। वे न तो साधारण मानवों की तरह भोजन करते हैं न उनके मल-मूत्रादि का नीहार होता है। वे निरन्तर ज्ञान के द्वारा ज्ञान का स्वाद लेते हुए परमात्मा रूप रहते हैं। उन्हीं को आदर्श देव मानकर पूजना व भजना चाहिये।

एरिस गुनेहि सुधो, अइसय वर न्यानदंसनं समग्गं।
पडिहारं संजुत्तं, भावन भावंति विमल अरहंतं॥ ६४९॥

अन्वयार्थ- (एरिस गुनेहि सुधो) ऐसे गुणों के धारी वीतराग (अइसय वर न्यानदंसनं समग्गं) चौतीस अतिशय अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्यमयी (पडिहारं संजुत्तं) आठ प्रतिहार्य सहित (विमल अरहंतं) घातिया मल रहित अर्हंत होते हैं (भावन भावंति) उनकी भावना भानी चाहिये।

भावार्थ- श्री तीर्थंकर अर्हंत भगवान की अपेक्षा यहाँ अर्हंत की महिमा कह रहे हैं। जैसे वे १८ दोष रहित होते हैं, वैसे वे ४६ गुण सहित होते हैं। चौतीस अतिशय + चार अनंत चतुष्टय + आठ प्रातिहार्य। उनके नाम इस प्रकार हैं-

जन्म के १० अतिशय- (१) खेद रहितपना, (२) मलरहितपना (नीहार नहीं), (३) दूध समान रुधिर, (४) वज्रवृषभ नाराच संहनन, (५) समचतुरस्र संस्थान, (६) सुन्दर रूप, (७) सुगंध तन, (८) १००८ लक्षण, (९) अतुल वीर्य तथा (१०) प्रिय वैन।

केवलज्ञान के समय १० अतिशय- (१)८०० कोस सब तरफ दुर्भिक्ष न होना, (२) आकाश में प्रभु का गमन, (३) जीव वध न हो जहां समवशरण हो, (४) ग्रास रूप आहार का न होना, (५) उपसर्ग न होना, (६) चार मुख समवशरण में दीखना, (७) सर्व विद्या का ईश्वरपना, (८) शरीर की छाया न पड़ना, (९) नख केश नहीं बढ़ना तथा (१०) पलकों का न लगना।

देवकृत १४ अतिशय- (१) अर्ध मागधी वाणी का खिरना, (२) विरोधी जीवों का समवशरण में वैर न रहना, (३) षटऋतु के फलफूल खिलना, (४) मंद सुगंध पवन चलना, (५) दर्पण रूप भूमि होना, (६) सुगन्धित जल की वर्षा, (७) कंटक रहित भूमि, (८) सुवर्ण कमलों पर प्रभु का विहार,

(९) फलों के भार से नम्रीभूत धान्य, (१०) आकाश की निर्मलता, (११) देवों के जय जयकार शब्द, (१२) धर्मचक्र का आगे चलना, (१३) आठ मंगल द्रव्य का रहना तथा (१४) सब प्राणियों में सुख रहना।

चार चतुष्टय— (१) अनंत दर्शन , (२) अनंत ज्ञान, (३) अनंत सुख तथा (४) अनंतवीर्य

आठ प्रांतिहार्य- धम्मरसायण में पद्मनन्दि मुनि कहते हैं—

सिंहासन छत्तत्तय दिव्वोधुणि पुष्फ विट्ठि चमराइं।
भामण्डल दुन्दुहिओ, वरतरु परमेट्ठि चिन्हत्थं ॥ १२१ ॥

भावार्थ— (१) अशोक वृक्ष, (२) सिंहासन, (३) तीन छत्र, (४) दिव्यध्वनि, (५) पुष्पवृष्टि, (६) चौंसठ चमर ढरना, (७) भामण्डल, (८) दुन्दुभी बाजों का बजना। इन ४६ गुण सहित ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय व मोहनीय चार घातिया कर्ममल रहित अरहंत भगवान होते हैं। उनका ध्यान करना योग्य है।

अरहंतो अरुहो देओ, रहिओ संसार सरनि विगतोयं।
विगतं अन्यान मयं, न्यान सहावेन तिलोय दसँतो ॥ ६५० ॥

अन्वयार्थ— (अरहंतो अरुहो देओ) अरहंत भगवान पूजनीय देव हैं (संसार सरनि रहिओ) वे संसार के भ्रमण से छूट गए हैं (विगतोयं) चारों गति के गमन से रहित हैं (अन्यान मयं विगतं) अज्ञानमयी भाव जिनके नष्ट हो गया है (न्यान सहावेन तिलोय दसँतो) जो ज्ञान स्वभाव से तीन लोक को देखने वाले हैं।

भावार्थ— श्री अरहंत भगवान मोहादि कर्मों से रहित होने के कारण से संसार के भ्रमण से मुक्त हो गए हैं। उनमें न कोई अज्ञान है न मोह है। वे त्रिलोकदर्शी केवलज्ञानी वीतराग परमात्मा पूजने योग्य हैं।

अरुहं अरुह सरुवं, न्यान बलेन तिलोय सम सुधं।
संमिक् दर्सन दर्स, उत्पंनं विमल केवलं न्यानं ॥ ६५१ ॥

अन्वयार्थ— (अरुहं अरुह सरुवं) अरहंत भगवान पूजनीय स्वभाव के धारी हैं (न्यान बलेन तिलोय सम सुधं) आत्मज्ञान के बल से तीन लोक में समता भाव के धारी शुद्ध हैं (संमिक् दर्सन दर्स) क्षायिक सम्यग्दर्शन के अनुभव करने वाले हैं (विमल केवलं न्यानं उत्पंनं) उनको निर्मल केवलज्ञान पैदा हो गया है।

भावार्थ— अरहंत भगवान रागद्वेष रहित समदर्शी वीतराग, परम निर्मल सम्यक्त्व के धारी, केवलज्ञानी, पूजनीय देव हैं।

अरुहो देओ झायदि, ह्रींकारे सुध दंसनं विमलं।
विमलं विमल सहावं, अरुहो देओ सुध झान संजुत्तो॥ ६५२॥

अन्वयार्थ– (अरुहो देओ झायदि) अरहंत देव का ध्यान करना चाहिये (ह्रींकारे सुध दंसनं विमलं) ह्रीं मंत्र के द्वारा शुद्ध निर्दोष सम्यग्दर्शन के धारी (विमलं विमल सहावं) चार घातिया कर्म मल रहित निर्मल स्वभावधारी (सुध झान संजुत्तो अरुहो देओ) शुद्ध आत्म ध्यान सहित अरहंत देव को मानना चाहिये।

भावार्थ– ह्रीं मंत्र को हृदय-कमल में या नासिका के अग्रभाग में विराजमान करके उसके द्वारा श्री चौबीस तीर्थंकर अरहंत का स्वरूप विचारना चाहिये कि वे निर्मल वीतराग आत्मा हैं, शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित हैं, अपने स्वभाव में लीन हैं, परम पूज्यनीय हैं। उनका ध्यान अपने ही शुद्ध आत्मा में है। अरहंत के स्वरूप को विचारकर उसी समान अपने आत्मा को शक्तिरूप मानना चाहिये। यह भी पुरुषार्थ करके उस पद पर पहुँच सकता है। जैसी भावना भावे वैसा फल होता है। अरहंत भगवान की स्तुति मन लगाकर करना चाहिये। उनके गुणानुवाद तन्मय होकर गाना चाहिये उनकी भक्ति में अपने को भूल जाना चाहिये। अरहंत की भक्ति परम कल्याणकारी है।

♣ ♣ ♣

सिद्ध परमेष्ठी

सिधं सिधि संपत्तं, अट्ठ गुनं न्यान केवलं सुधं।
अट्ठमि पुहमि समिधं, सिध सरुवं च सिधि संपत्तं॥ ६५३॥

अन्वयार्थ– (सिधि संपत्तं सिधं) सिद्ध भगवान ने सिद्धपने की संपत्ति को सिद्ध कर लिया है (अट्ठ गुनं) आठ गुण सहित है (केवलं सुधं न्यान) पर वस्तु के संबंध रहित केवल शुद्ध स्वरूप हैं (अट्ठमि पुहमि समिधं) आठवीं पृथ्वी मर विराजित हैं (सिध सरुवं च सिधि संपत्तं) ऐसी सिद्धि को प्राप्त श्री सिद्ध स्वरूप आत्मा है।

भावार्थ– अब श्री सिद्ध भगवान का स्वरूप बताते हैं। जो कुछ सिद्ध करना था, उसको जो सिद्ध कर चुके, उनको सिद्ध कहते हैं। जब सर्व आठों कर्म व उनके फलस्वरूप भावकर्म व शरीरादि नोकर्म छूट जाते हैं, तब केवल एक आत्मा पर से भिन्न रह जाता है, उस ही को सिद्ध कहते हैं। वे सर्वज्ञ वीतराग हैं, उनमें अनंतगुण होते हैं, जिनमें आठ गुण प्रसिद्ध हैं वे सिद्ध भगवान ऊर्ध्वगमन स्वभाव से ऊपर को जाकर तीन लोक के अग्रभाग में तनुवातवलय में सिद्ध-शिला की सीध में तिष्ठते

है। सिद्ध-शिला पैंतालीस योजन चौड़ी नीचे रह जाती है। इसको आठवीं पृथ्वी कहते हैं। रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वी मध्यलोक से लेकर सातवें नरक पर्यंत चली गई है।

संमत्त न्यान दंसन, बल वीरिय सुहम हेवं च।
अवगाहन गुन समिधं, अगुरु लघु तिलोय निम्मलं विमलं॥ ६५४॥

अन्वयार्थ- (संमत्त न्यान दंसन) सम्यग्दर्शन, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन (बल वीरिय) अनंतवीर्य, (सुहम हेवं च) सूक्ष्मपना धर्म सहित (अवगाहन गुन समिधं) अवगाहन गुण सहित (अगुरु लघु तिलोय निम्मलं विमलं) अगुरुलघु गुण सहित तीन लोक द्वारा बाधा रहित ऐसे शुद्ध आत्मा सिद्ध भगवान हैं।

भावार्थ- यहाँ सिद्ध भगवान के आंठ मुख्य गुण बताये हैं मोहनीय कर्म के नाश से कषाय रहित निर्मल क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट है। ज्ञानावरण के नाश से अनंतज्ञान, दर्शनावरण के नाश से अनंतदर्शन, अंतरायकर्म के नाश से अनंतवीर्य, नाम कर्म के नाश से सूक्ष्मता, आयुकर्म के नाश से अवगाहन गुण, गोत्र कर्म के नाश से अगुरुलघु, वेदनीय कर्म के नाश से अव्याबाध गुण, ऐसे आठ गुणधारी शुद्ध आत्मा है।

सिधं सहाव सुधं, केवल दंसन च न्यान संपन्नं।
केवल सुकिय सुभावं, सिधं सुधं मुनेयव्वा॥ ६५५॥

अन्वयार्थ- (सिधं) श्री सिद्ध भगवान (सहाव सुधं) स्वभाव से शुद्ध हैं (केवल दंसन च न्यान संपन्नं) केवलदर्शन व केवलज्ञान से पूर्ण हैं। (केवल सुकिय सुभावं) केवल अपने ही स्वभाव में हैं। (सुधं सिधं मुनेयव्वा) ऐसे शुद्ध आत्मा को सिद्ध जानना चाहिये।

भावार्थ- श्री सिद्ध महाराज उस आत्मा को कहते हैं, जहाँ कोई परद्रव्य का संबंध नहीं है, जहाँ आत्मा का अपना ही स्वभाव झलक रहा है, निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव द्वारा सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हुए भी आत्मा में ही रममाण हैं, परमानंद का भोग कर रहे हैं।

षट दव्व दव्व सुधं, काया पंचत्थि विमल सुपसिधं।
तत्वं सप्त सरुवं, पदार्थ पदविंद केवलं न्यानं॥ ६५६॥
चौदस प्रान पसिधं, अतीन्द्रिय न्यान सयल संमिधं।
नंत चतुस्टय सहियं, सिधं सुधं च सिधि संपत्तं॥ ६५७॥

अन्वयार्थ- (षट दव्व दव्व सुधं) छः द्रव्यों में से शुद्ध आत्म द्रव्य सिद्ध है (काया पंचत्थि विमल सुपसिधं) पाँच अस्तिकायों में निर्मल शुद्ध जीव अस्तिकाय है (तत्वं सप्त सरुवं) सात तत्वों में से

शुद्ध जीव तत्त्व स्वरूप हैं। (पदार्थ) नौ पदार्थों में शुद्ध जीव पदार्थ हैं (पद विंद) ॐ मंत्र बिंदु स्वरूप है (केवलं न्यानं) केवल ज्ञानाकार है (चौदस प्रान परसिध) न वहाँ चार प्राण हैं न दस प्राण हैं (अतीन्द्रिय न्यान सयल संमिध) पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान से समृद्ध हैं (नन्त चतुस्टय सहियं) अनंत अतुष्टय सहित हैं (सुधं च सिधं-सिधि संपत्तं) शुद्ध हैं, ऐसे सिद्धि को प्राप्त श्री सिद्ध भगवान हैं।

भावार्थ- यहाँ बताया है कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन छः द्रव्यों में से सिद्ध भगवान पाँच अजीवों से रहित शुद्ध जीव द्रव्य है। काल को छोड़कर पाँच द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहते हैं, क्योंकि ये पाँच बहुप्रदेशी हैं। इनमें शुद्ध जीवास्तिकाय सिद्ध भगवान हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों में एक शुद्ध आत्म तत्त्व सिद्ध भगवान है। पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थों में भी शुद्ध आत्मपदार्थ सिद्ध हैं। ॐ के चंद्राकार में चिन्ह से लक्षित हैं, शरीर का संबंध न रहने से इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण या इनके दस भेद रूप प्राण जो शरीराश्रित हैं। वे सिद्ध भगवान में नहीं हैं। इसी से अमूर्तिक हैं। इन्द्रियों की सहायता रहित अतीन्द्रिय ज्ञान के धारी, अनंत सुखी, अनंत बली, परमशुद्ध सर्वसिद्धि को प्राप्त श्री सिद्ध भगवान हैं, उनका ध्यान करना चाहिये। अपने आत्मा को सिद्धवत् अनुभव करके परमानंद प्राप्त करना चाहिये।

♣ ♣ ♣

चौदह गुणस्थान

मिच्छा सासन मिस्रो, अविरै देसव्रत सुध संमिधं।
प्रमत्त अप्रमत्त भनियं, अपूर्वकरन सुध संसुधं॥ ६५८॥
अनिवर्त सूक्ष्मवंतो, उवसंत कषाय षीन सुसमिधो।
सजोग केवलिनो, अजोग केवली हुंति चौदसमो॥ ६५९॥

अन्वयार्थ- (मिच्छा सासन मिस्रो) १-मिथ्यात्व, २-सासादन, ३-मिश्र (अविरै देसव्रत सुध संमिधं) ४-अविरत सम्यग्दर्शन ५-देशव्रत जो शुद्धता सहित है (प्रमत्त अप्रमत्त भनियं) ६-प्रमत्त विरत ७-अप्रमत्तविरत कहा गया है (अपूर्वकरन सुध संसुधं) ८-अपूर्वकरण जो परम शुद्ध है (अनिवर्त सूक्ष्मवंतो) ९-अनिवृत्तिकरण, १०-सूक्ष्मलोभ (उवसंत कषाय षीन सुसमिधो) ११-उपशांत कषाय १२-क्षीणकषाय जहाँ कषाय भले प्रकार क्षय हो गई हैं (सजोग केवलिनो) १३-सयोग केवली जिन (अजोग केवली हुंति चौदसमो) १४-अयोग केवली जिन चौदहवाँ गुणस्थान है।

भावार्थ– मोहनीय कर्म और योग के सम्बन्ध से चौदह गुणस्थान हैं। दसवें गुणस्थान तक मोह और योग दोनों का सम्बन्ध है। ग्यारहवें से तेरहवें का योग का ही सम्बन्ध है। चौदहवें में योग भी चंचल नहीं है।

पहले पाँच गुणस्थान परिग्रहधारियों के होते हैं, छठे से बारहवें तक परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ साधुओं के होते हैं। तेरहवाँ चौदहवाँ गुणस्थान अरहंत केवली भगवान के ही होते हैं। सिद्ध भगवान सर्व गुणस्थानों से बाहर हैं। श्री गोम्मटसार जीवकांड में कहा है–

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु सम्भवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदासीहिं॥ ८॥

भावार्थ– दर्शन मोहनीयादि कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले परिणामों से युक्त जो जीव होते हैं, उन जीवों को सर्वज्ञ देव ने उसी गुणस्थान वाला और परिणामों को गुणस्थान कहा है। इन गुणस्थानों से जीव के परिणामों की अशुद्ध व शुद्ध अवस्थाएँ मालूम पड़ती हैं।

मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं– तीन दर्शन मोहनीय कर्म, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व, और सम्यक्प्रकृति। चारित्र मोहनीय के २५ भेद हैं– १६ कषाय, ९ नो कषाय। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चार, प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि ४, संज्वलन क्रोधादि ४, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुसंक वेद ये नौ नो या इषत् या कम कषाय हैं। अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। केवल अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सासादन गुणस्थान होता है। मिश्रदर्शनमोहनीय के उदय से तीसरा होता है। मिथ्यात्व एक या तीनों दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से तथा अनन्तानुबन्धी के उदय न होने से चौथा अविरत गुणस्थान होता है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन की व स्वरूपाचरण की घातक है। श्रावक व्रत को रोकने वाले अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने से पाँचवाँ देशव्रत गुणस्थान होता है। सर्व त्याग को रोकने वाले प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने से प्रमत्तविरत साधु का गुणस्थान होता है। संज्वलन चार कषाय तथा नौ नोकषाय का मंद उदय होने से अप्रमत्त गुणस्थान होता है। इन्हीं के अति मंद उदय पर अपूर्वकरण गुणस्थान होता है। जब चार संज्वलन कषाय व तीन वेद का ही उदय रह जाता है, तब अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। जब केवल सूक्ष्म लोभ का उदय रहता है, तब दसवाँ गुणस्थान होता है। सर्व चारित्र मोह के उपशम से ग्यारहवाँ व उसके क्षय से बारहवाँ गुणस्थान होता है। चार घातिया कर्मों के क्षय से तेरहवाँ व योगों के न रहने पर चौदहवाँ गुणस्थान होता है।

ए चौदस गुनठानं, हुंति ससहाव सुधमप्पानं।
अप्प सरुवं पिच्छदि, अप्पा परमप्प केवलं न्यानं ॥ ६६० ॥

अन्वयार्थ- (ए चौदस गुनठानं) ये ऊपर कहे प्रमाण चौदह गुणस्थान (ससहाव सुधमप्पानं हुंति) अपने स्वभाव से शुद्ध आत्मा के ही होते हैं (अप्पा अप्प सरुवं पिच्छदि) जब आत्मा अपने आत्मा के स्वभाव का अनुभव करता है, तब (केवलं न्यानं परमप्प) केवलज्ञान को पाकर परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ- यद्यपि आत्मा स्वभाव से शुद्ध है तथापि संसार अवस्था में कर्मों के मैल के निमित्त से ये चौदह श्रेणियाँ जीवों के भावों की हो जाती हैं। इनमें से जिस श्रेणी से यह आत्मा अपने आत्म स्वरूप को अनुभव करने लगता है, उस श्रेणी से चढ़ता हुआ बारहवें के अंत में केवलज्ञान को पाकर परमात्मा हो जाता है।

तत्वं च दव्व कायं, पदार्थ सुध परमप्पानं।
हेय उपादेय च गुनं, वर दंसन न्यान चरन सुधानं ॥ ६६१ ॥

अन्वयार्थ- (तत्वं च दव्व कायं) सात तत्त्व, छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय (पदार्थ सुध परमप्पानं) नव पदार्थ तथा शुद्ध परमात्मा को जानकर (हेय उपादेय च गुनं) जो आत्मा से भिन्न तत्त्व है, वह त्यागने योग्य हेय है। आत्मा का जो गुण है वह ग्रहण करने योग्य उपादेय है (वर दंसन न्यान चरन सुधानं) श्रेष्ठ व शुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ही उपादेय हैं।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि जीव का कर्तव्य है कि सात तत्त्व आदि को समझ कर उसमें भेद विज्ञान के द्वारा विचार करे तो विदित होगा कि सात तत्त्व व नौ पदार्थ जीव और कर्म पुद्गल के बन्ध व मोक्ष की अपेक्षा से ही बने हैं। कर्मों का आना आस्रव है, कर्मों का बन्ध बन्ध है। कर्म का रुकना संवर है, कर्म का झड़ना निर्जरा है, सर्व कर्मों का छूट जाना मोक्ष है। पुण्य कर्म प्रकृति पुण्य है, पाप कर्म प्रकृति पाप है, तब कर्म पुद्गल हेय है, एक शुद्धात्मा उपादेय है। छः द्रव्य व पाँच अस्तिकायों में भी एक शुद्ध जीव द्रव्य या जीव अस्तिकाय ही ग्रहण करने योग्य है। आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान व चारित्र ही निश्चय रत्नत्रय है। जो आत्मानुभव रूप है यही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा सम्यक्त्वी समझता है।

टंकोत्कीर्न अप्पा, दंसन मल मूढ़ विरय अप्पानं।
अप्पा परमप्प सरुवं, सुधं न्यान मयं विमल परमप्पा ॥६६२ ॥

अन्वयार्थ- (टंकोत्कीर्न अप्पा) टांकी से उकेरी हुई मूर्ति के समान अविनाशी स्वभाव से अमिट यह आत्मा है (दंसन मल मूढ़ विरय अप्पानं) दर्शन मोहनीय कर्म मल की मूढ़ता से रहित यह आत्मा है (अप्पा परमप्प सरुवं) आत्मा परमात्म स्वरूप है (सुधं न्यान मयं) शुद्ध ज्ञानमयी है (विमल परमप्पा) कर्ममल रहित परमात्मा है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि आत्मा को शुद्ध निश्चय नय के द्वारा ऐसा अनुभव करता है कि यह सदा रहने वाला है। त्रिकाल एकरूप द्रव्यस्वरूप है, द्रव्य का स्वभाव कभी मिटता नहीं। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से जो मिथ्यात्वभाव होता है वह मिथ्यात्वभाव आत्मा में नहीं है। सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव है। जिससे इस आत्मा को अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप की यथार्थ प्रतीति है। यह आत्मा निश्चय से परमात्मा स्वरूप है, शुद्ध है, ज्ञानमयी है वीतराग है, कर्ममल रहित निरंजन स्वयं परमात्मा रूप ही है।

रूव भेय विन्यानं, नय विभागेन सद्दहं सुधं।
अप्प सरुवं पच्छदि, नय विभागेन सार्धं दिट्ठं ॥६६३॥

अन्वयार्थ-(भेय विन्यानं) भेद विज्ञान (नय विभागेन सुधं रुव सद्दहे) निश्चय नय के द्वारा परसे स्वरूप का श्रद्धान रखता है (नय विभागेन सार्धं दिट्ठ) नय विभाग के साथ जो निर्मल दृष्टि है वह (अप्प सरुव पिच्छदि)आत्मा के स्वरूप को यथार्थ देखती है।

भावार्थ- जैन सिद्धांत में निश्चयनय तथा व्यवहारनय के द्वारा आत्मा के जानने का उपदेश है। व्यवहारनय पर्यायदृष्टि है नैमित्तिक अवस्था या भावों को आत्मा की है ऐसा बताने वाली हैं इसलिए यह नय अभूतार्थ है— असत्यार्थ है। द्रव्य का सत्य निजस्वरूप नहीं बताती है, जबकि निश्चय नय द्रव्य दृष्टि है। द्रव्य के मूल स्वरूप को अर्थात् उसके स्वभाव को पर से भिन्न बताने वाली है। व्यवहार नय से देखने पर यह आत्मा वर्तमान में अशुद्ध है, रागी द्वेषी है, कर्म मल सहित है, ऐसी झलकती है।

निश्चय नय से यह आत्मा शुद्धज्ञान दर्शनस्वरूप है, वीतराग है, विकार रहित है, परमानंद स्वरूप है, परमात्मारूप है। दोनों नयों से पदार्थ को जानकर निश्चय नय के द्वारा आत्मा को अनात्मा से भिन्न जानना भेद विज्ञान है। जैसे धान्य को निश्चय नय से देखने पर चांवल अलग भूसी अलग दिखलाई देगी। गंदे जल को देखने से जल अलग व मिट्टी अलग दिखलाई देगी। तिलों में तेल अलग व छिलका अलग दिखलाई देगा। इसी तरह अपने ही आत्मा को देखने से निश्चय नय आत्मा को अलग और कर्मों को व शरीर को अलग दिखलाएगा। इस तरह जो भेद विज्ञान से अपने आत्मा को शुद्ध देखता है, श्रद्धान करता है तथा अनुभव करता है, वही सम्यग्दर्शन का धारी है।

* * *

मिथ्यात्व गुणस्थान

उग्ग व्रत तवादि जुत्तं, तव वय क्रिया सुतं च अन्यानं।
मिच्छात दोष सहियं, मिच्छत्त गुनस्थान व्रत संजुत्तं ॥ ६६४ ॥

अन्वयार्थ- (उगगवत तवादि जुत्त) बहुत कठिन व्रत तप आदि सहित हो परन्तु (मिच्छात दोस सहियं) मिथ्यात्व के दोष सहित हो तो (तव वय क्रिया- सुतं च अन्यानं) तप, व्रत, क्रिया व शास्त्र

ज्ञान सब मिथ्याज्ञान सहित हैं (व्रत संजुत्तं मिच्छत्त गुनस्थान) वह व्रती होकर भी मिथ्यात्व गुणस्थान वाला है।

भावार्थ- ऊपर कही गाथाओं में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया है, जिसके आपा पर का भेद विज्ञान नहीं है, जो आत्मा को पर से भिन्न अनुभव नहीं कर सकता है, वही मिथ्यात्व गुणस्थान का धारी पर्याय बुद्धि बहिरात्मा है। उसके मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबंधी कषाय का उदय विद्यमान है। वह चाहे बहुत बड़ा तपस्वी हो - महाव्रत या अणुव्रत का धारी हो, बहुत क्रियाकांड में मगन हो या बहुत शास्त्रों का ज्ञाता हो तथापि मिथ्यात्व सहित उसका यह सब कार्य अज्ञानमय है। क्योंकि न तो उसको मोक्ष का, न मोक्ष मार्ग का सच्चा श्रद्धान है। उसके भीतर विषय कषाय का कोई अभिप्राय अवश्य मौजूद है। जिसके वशीभूत होकर वह व्यवहार चारित्र पाल रहा है। वह आत्मिक रस के स्वाद से बाहर है। श्री गोम्मटसार में इस गुणस्थान का स्वरूप यह कहा है—

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खुरसं जहाजरिदो॥ १७॥

भावार्थ- मिथ्यात्व भाव को अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान सहित होता है। उसको आत्मिक सच्चा धर्म उसी तरह नहीं रुचता है, जैसे ज्वर से पीड़ित मानव को मधुर रस नहीं रुचता है। अनादिकाल से जो जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में पड़े हैं, उनके मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबंधी कषाय का उदय है, वे अनादि मिथ्यादृष्टि हैं। जो सम्यक्त्व को पाकर फिर मिथ्यात्व गुणस्थान में आते हैं। उनके किसी के दर्शन मोह की तीनों प्रकृति व अनन्तानुबंधी कषाय सात प्रकृति का व किसी के पाँच का ही उदय रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थान ही संसार के भ्रमण का मूल है।

* * *

सासादन गुणस्थान

एवं च गुन विसुधं, असुह अभाव संसार सरनि मोहंधं।
अप्प गुनं नहु पिच्छदि संसय रुवेन दुभाव संजुत्तं॥ ६६५॥
अप्पा परु पिच्छंतो, संसय रुवेन भावना जुत्तो।
अंतराल वतीओ, न भुअनि न सिहरि वैसंतो॥ ६६६॥

अन्वयार्थ- (एवं च गुन विसुधं अप्प गुनं नहु पिच्छदि) जो कोई ऊपर कथित शुद्ध गुणों के धारी आत्मा के स्वभाव को नहीं अनुभव करता है, किन्तु (असुह अभाव संसार सरनि मोहंधं) अशुभ खोटे भावमयी संसार के मार्ग के मोह में अंधा हो जाता है (संसय रुवेन दुभाव संजुत्त) अथवा संशय करता हुआ दुकोटि भाव में फँस जाता है, अर्थात् (अप्पा परु पिच्छंतो) आत्मा व पर पदार्थ को जानता

हुआ (संसय रुवेन भावना जुत्तो) संशयमय होकर निर्णय रहित भावों में उलझ जाता है। (अंतराल व्रतीओ) वह सम्यग्दर्शन का व्रतधारी सम्यग्दर्शन से गिरकर मिथ्यात्व में आते हुए बीच की अवस्था का धारी है (न भुवनि न सिहरि वैसंतो) न तो वह जमीन पर है न वह शिखर पर है, बीच में है। यही सासादन गुणस्थान का स्वरूप है।

भावार्थ- जब किसी उपशम सम्यग्दर्शन के धारी चौथे गुणस्थानवर्ती जीव के मिथ्यात्व का उदय तो न आया हो, किंतु अनन्तानुबंधी किसी कषाय का उदय आ गया हो तो वह सम्यग्दर्शन के शिखर से गिरता है और मिथ्यात्व की भूमि पर आ रहा है, बीच के परिणामों को सासादन गुणस्थान कहते हैं। न वहाँ सम्यक्त्व है न वहाँ मिथ्यात्व है। बीच में कैसे भाव होते हैं, सो यहाँ बताया है कि अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से या तो किसी इन्द्रिय विषय की तीव्र इच्छा में या किसी अभिमान में या किसी विरोधी के साथ द्वेष भाव में या किसी विषय प्राप्ति के लिये मायाचार में फँस जाता है। खोटे संसार के मार्ग के मोह में अंधा हो जाता है या उसके भीतर संशय पैदा हो जाता है कि आत्मा है या नहीं या अनात्मा ही आत्मा है क्या, या आत्मा का स्वरूप जैन सिद्धांत कहता है वह ठीक है या वेदांतादि कहता है वह ठीक है। यद्यपि न तो विपरीत मिथ्यात्व न संशय मिथ्यात्व ही होता है। किन्तु विपरीत या संशय मिथ्यात्व की तरफ गिरता हुआ कोई न कहने योग्य भाव होता है। इसका काल अधिक से अधिक छः आवली व कम-से-कम एक समय होता है। यह नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में गिर पड़ता है। गोम्मटसार में कहा है—

आदिम सम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।
अण अण्णद रूदयादो णासिय सम्मोति सामणक्खो सो॥ १९॥
सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादोभूमि समभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥ २०॥

भावार्थ- प्रथमोपशम सम्यक्त्व या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व काल में जब एक समय से लेकर छः आवली तक काल बाकी रहता है, तब अनन्तानुबंधी चार कषायों में से किसी एक का उदय आने पर सम्यग्दर्शन से गिर जाता है। सम्यक् के रत्नमय पर्वत के शिखर से गिरकर मिथ्यात्व की भूमि में आ रहा है, बीच के परिणामों को सासादन गुणस्थान कहते हैं। आँख की टिमकार से भी कम काल एक आवली में आ लगता है। समय बहुत ही सूक्ष्मकाल है, एक आँख की टिमकार में असंख्यात समय हो जाता है।

संसय रुव सहावं, मिच्छा कुन्यान न्यान जानंतो।
व्रत संजमं च धरंतो, सासादन गुनठान व्रत संजुत्तो॥ ६६७॥

अन्वयार्थ- (संसय रुव सहावं) संशय का ऐसा स्वभाव है कि उसके उत्पन्न होने पर (मिच्छा कुन्यान न्यान जानंतो) ज्ञान को मिथ्या कुज्ञान रूप जानो (व्रत संजमं च धरंतो) व्रत एवं संयम का धारी व्रतों से संयुक्त होने पर भी (सासादन गुनठान व्रत संजुत्तो) सासादन गुणस्थान में आ जाता है।

भावार्थ- व्रत एवं संयम के धारी जीव को ज्ञान स्वभाव में संशय उत्पन्न हो जाता है। सासादन गुणस्थान में अनंतानुबंधी कषाय का उदय हो जाता है, जिससे उस जीव के यद्यपि व्रत एवं संयम का संयोग देखा जाता है तथापि उसका ज्ञान मिथ्या एवं कुज्ञान रूप जानो। अनंतानुबंधी कषाय सम्यक्त्व एवं चारित्र दोनों की घातक है। मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यक्दृष्टि दोनों के विपरीतार्थवेदन में बहुत अंतर है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अतत्त्वार्थ श्रद्धान व्यक्त एवं सासादन गुणस्थान में अव्यक्त हुआ करता है।

♣ ♣ ♣

मिश्र गुणस्थान

मिस्रं मिश्र सहावं, षट दर्सन सुभाव संजुत्तो।
अप्पा परु जानंतो, जिनोक्त दंसन न्यान चरन बूझंतो॥ ६६८॥

अन्वयार्थ- (मिस्रं मिश्र सहावं) मिश्र गुणस्थान का सम्यक्त्व मिथ्यात्व का मिला हुआ स्वभाव है (षट दर्सन सुभाव संजुत्तो) ऐसा मिश्र गुणस्थानधारी छहों दर्शनों के स्वभावों को जानता है (जिनोक्त दंसन न्यान चरन बूझंतो) तथा जैन शास्त्र में कहे हुए जैन दर्शन के ज्ञान को भी रखता है (अप्पा परु जानंतो) आत्मा और पर को भी जानता है, परन्तु उसका श्रद्धान मिला हुआ होता है।

न्याइक बौध संजुत्तो, चारवाक सिव भट्ट पिच्छंतो।
षट दर्सन मिस्रंतो, दव्व काय तत्त जानंतो॥ ६६९॥

अन्वयार्थ- (न्याइक बौध संजुत्तो) मिश्र गुणस्थानधारी जैन दर्शन के साथ-साथ नैयायिक बौद्ध दर्शन को जानता है या (चारवाक सिव भट्ट पिच्छंतो) चार्वाक दर्शन, शिवमत या सांख्य दर्शन तथा भट्ट के मीमांसक मत को जानता है (षट दर्सन मिस्रंतो) छहों दर्शनों में से छहों के या किसी दो, तीन, चार, पाँच के मिश्र भाव को रखता हुआ (दव्व काय तत्त जानंतो) तप, व्रत पालता है व पंचास्तिकाय व सात तत्त्व जानता है या छः कायों के जीवों को पहचानता है।

व्रत क्रिया संजुत्तो, तव संजम मिच्छ भाव पिच्छंतो।
कुऔधि कुरिधि संजुत्तो, दधि गुड मिस्र भाव मिस्रंतो॥ ६७०॥

अन्वयार्थ- (व्रत क्रिया संजुत्तो) व्रत व चारित्र पालता है (तव संजम) तप व संयम धारण किए हुए है तथापि (मिच्छ भाव पिच्छंतो) मिथ्यात्व के भाव सहित हैं (कुऔधि कुरिधि संजुत्तो) उसे कुअवधिज्ञान व कुऋद्धियाँ भी होती है (दधि गुड मिस्र भाव मिस्रंतो) दही गुण के मिश्र स्वाद के अनुसार उसका भाव सम्यक्त्व व मिथ्यात्व से मिला हुआ होता है।

रागमय मोह सहिओ, मिच्छा कुन्यान सयल संजुत्तो।
पुन्य सहावे उत्तो, रागमय मिस्र गुन स्थान संजुत्तो॥ ६७१॥

अन्वयार्थ- (रागमय मोह सहिओ) वह राग और मोह सहित होता है (मिच्छा कुन्यान सयल संजुत्तो) मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान सहित होता है (पुन्य सहावे उत्तो) पुण्यमयी शुभ कार्यों में लीन होता है (रागमय मिस्र गुन स्थान संजुत्तो) रागमयी होता है, ऐसा मिश्र गुणस्थानधारी होता है।

भावार्थ- यहाँ चार गाथाओं में मिश्र गुणस्थान का स्वभाव बताया है। वर्तमान काल के मानवों की अपेक्षा मिश्र भाव को दिखलाते हुए तारणस्वामी ने कहा है कि जो कोई जैन दर्शन के साथ-साथ बौद्ध, नैयायिक, चार्वाक, सांख्य तथा पूर्व या उत्तर मीमांसा का भी श्रद्धान रखता है - जैन के साथ अन्य पाँच का या चार का या तीन का या दो का या किसी एक का श्रद्धान हो, वह मिश्र गुणस्थान है।

जैन शास्त्रानुसार व्रत, तप, क्रिया पालते हुए पर्यायबुद्धि रूपी मिथ्यात्व भाव भी सम्यक्त्व के साथ ही वह मिश्र गुणस्थान है। अवधिज्ञानी व ऋद्धिधारी कोई साधु चौथे या छठे या पाँचवें गुणस्थान से गिरकर मिश्र में आ जाता है। तब उसका अवधिज्ञान व ऋद्धि लाभ भी मिश्र श्रद्धान सहित हो जाता है। सुअवधि व सुऋद्धि लाभ नहीं रहता है। जैसे दही व गुड़ का स्वाद मिला हुआ रहता है, वैसे सम्यक्त्व मिथ्यात्व का मिला हुआ कोई अनुभवगम्य श्रद्धान होता है, कोई जैन धर्मानुसार शुभ कार्य करता हो, परन्तु संसार का राग या मोह भाव वैराग्य के साथ में आ जावे व सच्चे ज्ञान के साथ मिथ्याज्ञान हो, वह सब मिश्र गुणस्थान का स्वरूप जानना चाहिये। इस गुणस्थान में मिश्र दर्शनमोह का उदय होता है। अनन्तानुबंधी कषाय तथा मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता है। गोम्मटसार में इसका स्वरूप बताया है—

दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णोव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्तिणादव्वो॥ २२॥
सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं व पडिवज्जिय मरदिं णियमेण॥ २३॥

भावार्थ- जैसे दही और गुड़ को मिलाने पर मिला हुआ स्वाद आता है, अलग-अलग दोनों का स्वाद नहीं आ सकता है, उसी तरह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिला हुआ भाव मिश्रभाव है। यह तीसरा गुणस्थान एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता हैं। यह मुनि व्रत व श्रावक के व्रत को नहीं ग्रहण करता, यदि बाहरी में पहले से हो तो वे यथार्थ नहीं होते है। इस गुणस्थान में किसी आयु कर्म का भी बंध नहीं होता है न वहाँ मरण ही होता है। सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन में आकर ही यह जीव मरता है। सादि मिथ्यात्वी भी चढ़कर मिश्र गुणस्थानी हो सकता है और चौथे, पाँचवें, छठे से गिर करके भी यह गुणस्थान होता है। अनन्तानुबंधी कषायों के उदय न होने से इसकी प्रवृत्ति तीव्र

अन्याय रूप या तीव्र रागरूप या तीव्र पापरूप नहीं होती है। यह भद्र परिणामी होता है। परिणामों की जाति शुद्ध नहीं रहती है। निर्मल पानी में कुछ मिट्टी मिला दी जाय, ऐसी गंदली परिणति हो जाती है।

♣ ♣ ♣

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

अविरै सम्माइट्ठी, जानै पिच्छेई सुध संमत्तं।
षट दव्व पंच कायं, नव पयत्थ सप्त तत्तु पिच्छंतो ॥ ६७२ ॥

अन्वयार्थ– (अविरै सम्माइट्ठी) अविरत सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थानवर्ती (सुध संमत्तं जानै पिच्छेई) शुद्ध या निश्चय सम्यग्दर्शन को अनुभव करता है (षट दव्व पंच कायं नव पयत्थ सप्त तत्तु पिच्छंतो) छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थ तथा सात तत्त्व पर श्रद्धान रखता है।

भावार्थ– चौथे गुणस्थान का स्वरूप यह है कि व्रत श्रावक के व मुनि के न होते हुए भी, संयम का नियम न होते हुए भी, जहाँ शुद्ध सम्यग्दर्शन हो वह अविरत सम्यग्दर्शन है। इस गुणस्थानधारी को आत्मा और अनात्मा का सच्चा भेदविज्ञान होता है। वह शुद्ध आत्मा को पहचानता है, आत्मा के रस का स्वाद भी लेता है। व्यवहार में उसको छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थ व जीवादि सात तत्त्वों का जिनेन्द्र के आगम के अनुसार दृढ़ पक्का श्रद्धान होता है।

अप्प सरुवं पिच्छदि, वर दंसन न्यान चरन पिच्छंतो।
सहकारे तव सुधं, हेय उपादेय जानए निस्वं ॥ ६७३ ॥

अन्वयार्थ– सम्यग्दृष्टि जीव (अप्प सरुवं पिच्छदि) आत्मा के स्वरूप को अनुभव करता है (वर दंसन न्यान चरन पिच्छंतो) निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का अनुभव करता है (सहकारे तव सुधं) सम्यग्दर्शन की सहायता से शुद्ध तप करता है (हेय उपादेय निस्वं जानए) त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्त्व को निश्चय से यथार्थ जानता है।

भावार्थ– सम्यग्दृष्टि जीव को भेद विज्ञान होता है, इसलिए वह निज आत्मा के स्वभाव को ग्रहण कर लेता है और उसके सिवाय सर्व पर-द्रव्य, पर-गुण, पर-पर्याय का त्याग कर देता है। वह जानता है कि निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही है। इसलिए सर्व पर-पदार्थों से रागद्वेष त्याग कर परम समता भाव में लीन होकर निश्चिन्त होकर निज आत्मा का ही अनुभव करता है। वह तप भी आत्मशुद्धि के लिए ही करता है। वह भूलकर भी निदान नहीं करता है।

सुधं सुध सहावं, देवं देवाधि सुध गुर धम्मं।
जानै निय अप्पानं, मल मुक्कं विमल दंसनं सुधं ॥ ६७४ ॥

अन्वयार्थ- (सुधं सुध सहावं देवाधिदेवं) सम्यग्दृष्टि जीव वीतराग व शुद्ध स्वभावधारी देवों के देव श्री अर्हंत सिद्ध भगवान को देव (सुध गुर धम्मं) शुद्ध निर्दोष परिग्रह त्यागी को गुरु और वीतराग विज्ञानमयी शुद्ध धर्म को धर्म निश्चय रखता है (निय अप्पानं जानै) अपने आत्मा को पहचानता है (मल मुक्कं विमल सुधं दंसनं) उसके ही पच्चीस मल दोष रहित निर्मल शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है।

भावार्थ- सम्यग्दृष्टि जीव ही सच्चे-देव-गुरु धर्म को पहचानता है। आत्मा में आत्मा रूप रहने वाले अर्हंत-सिद्ध को देव, आत्मरमी निर्ग्रंथ को साधु, आत्मानुभव को धर्म जानता है, अपने आत्मा को परमात्मा के समान निर्विकार ज्ञातादृष्टा अनुभव करता है, सम्यक्त्व के २५ दोषों को बचाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन का आचरण करता है।

पंचाचार वियानदि, परिनय सुध भाव संमत्तं।
जिनवयनं सद्दहनं, सद्दहनं सुध ममल संमत्तं ॥ ६७५ ॥

अन्वयार्थ- (पंचाचार वियानदि) सम्यग्दृष्टि जीव पाँच प्रकार के आचार को समझता है (परिनय सुध भाव संमत्तं) शुद्ध भाव की श्रद्धा में परिणमन करता है (जिन वयनं सद्दहनं) श्री जिनेन्द्र की वाणी का श्रद्धान रखता है (सुध ममल संमत्तं सद्दहनं) आत्मानुभूति रूप निश्चय निर्मल सम्यक्त्व का वह श्रद्धानी होता है।

भावार्थ- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग, इन पाँच व्रतों के आचरण से जीव का हित होता है या दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य, इन पाँच आचारों को पालना चाहिये। ऐसा दृढ़ श्रद्धान सम्यग्दृष्टि को होता है। उसके श्री जिनेन्द्र के आगम का पक्का विश्वास होता है। वह शुद्ध आत्मा के रमण में रुचि रखता हुआ उसी का अनुभव करता रहता है। वह यह भले प्रकार समझता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन वहीं पर है, जहाँ निर्मल आत्मा के आनंद का स्वाद लिया जावे।

रागादि दोस विरयं, असुध परिनाम भाव विरयंतो।
विरइ पमाइ सव्वं, विरयं संसार सरनि मोहंधं ॥ ६७६ ॥

अन्वयार्थ- (रागादि दोस विरयं) सम्यग्दृष्टि अंतरंग में सर्व औपाधिक रागादि दोषों से विरक्त होता है (असुध परिनाम भाव विरयंतो) शुद्धोपयोग के सिवाय सर्व अशुद्ध परिणामों से उदासीन होता है (सव्वं पमाइ विरइ) सर्व प्रमाद भावों से वैरागी होता है। (संसार सरनि मोहंधं विरयं) संसार मार्ग में पटकने वाले अज्ञानमय मोह से शून्य होता है।

भावार्थ- मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय के उदय न होने से सम्यग्दृष्टि को अपने शुद्ध आत्मा की व मोक्ष की ऐसी दृढ़ रुचि हो जाती है कि उसको कर्मजनित सर्व रागादि दोष रोग के समान झलकते हैं। शुद्ध आत्मिक स्वभाव की परिणति में रमण करना ही उसका क्रीड़ा वन हो जाता है, वह संसार की किसी भी पर्याय इंद्र, चक्रवर्ती आदि का मोही नहीं रहता है। वह सर्व प्रमाद भावों से विरक्त रहता है। मूल भेद प्रमाद के पन्द्रह हैं—

चार विकथा— स्त्री, भोजन, देश, राजा पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, निद्रा व स्नेह। इसके उत्तर भेद अस्सी हो जाते हैं। ४ × ५ × ४ × १ × १ = ८० हर एक प्रमाद भाव में पाँच भावों का संयोग होता है। एक कोई कथा, एक कोई इन्द्रिय, एक कोई कषाय, निद्रा तथा स्नेह। जैसे किसी ने पुष्प सूंघने का भाव किया, इस प्रमाद भाव में भोजन कथा, घ्राण इन्द्रिय, लोभ कषाय, निद्रा तथा स्नेह गर्भित हैं। इन्द्रियों के विषय व कषाय के विकारों से पूर्ण अरुचि को रखने वाला सम्यक्त्वी जीव होता है।

मिच्छात समय मिच्छा, समय प्रकृति मिच्छ सभावं।
कषायं अनंतानं, तिक्तंति प्रकृति सप्त सभावं॥ ६७७॥

अन्वयार्थ- (मिच्छात समय मिच्छा समय प्रकृति मिच्छ सभावं) मिथ्यात्व कर्म, सम्यक्त्व मिथ्यात्व कर्म व सम्यक्त्व प्रकृति कर्म इनके उदय को (कषायं अनंतानं) व चार अनन्तानुबंधी कषायों के उदय को (सप्त प्रकृति सभावं तिक्तंति) इस तरह सात प्रकृतियों के उदय को सम्यक्त्वी त्याग देता है।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन की घातक सात कर्म की प्रकृतियाँ हैं। उपशम सम्यक्त्वी के इनका उपशम रहता है। क्षायिक सम्यक्त्वी इनका क्षय करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्वी के केवल सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होता है। शेष छः का उपशम या चार का क्षय, दो का उपशम या पाँच का छः, एक का उपशम या छः का क्षय; एक का उदय होता है। इसीलिये अविरत सम्यक्त्वी मोक्ष का पक्का श्रद्धावान होता है। क्षयोपशम सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से केवल कुछ मलिनता सम्यक्त्व भाव में रहती है। क्षायिक व औपशमिक सम्यक्त्व निर्मल होते हैं। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है। क्षयोपशम की जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट छासठ सागर है, क्षायिक की अनन्तकाल है। मोक्ष जाने की अपेक्षा वह अधिक से अधिक और तीन भव लेकर मोक्ष को चला जायगा।

जिन वयनं सद्दहनं, सद्दहै अप्प सुध सभावं।
मति न्यान रुव जुत्तं, अप्पा परमप्प सद्दहै सुधं॥ ६७८॥

अन्वयार्थ- (जिन वयनं सद्दहनं) सम्यग्दृष्टि को जिनवाणी का दृढ़ श्रद्धान होता है (सद्दहै अप्प सुध सभावं) वह आत्मा के शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान रखता है (अप्पा परमप्प सुधं सद्दहै) आत्मा को

परमात्मा के समान शुद्ध श्रद्धान में लेता है (मति न्यान रुव जुत्तं) वह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व कोई-कोई साथ ही रूपी पदार्थों को जानने वाले अवधिज्ञान सहित भी होता है।

भावार्थ– व्यवहार में जिनवाणी के द्वारा कथन किये हुए तत्त्वों का सम्यक्त्वी दृढ़ श्रद्धानी होता है। निश्चय से वह अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप का श्रद्धानी होता है। सम्यक्त्वी चारों गतियों में होता है। देव व नारकी सर्व तीन ज्ञानधारी सम्यक्त्वी होते हैं। मानव व पशुओं के साधारणतया मतिश्रुत दो ज्ञान होते हैं। किसी-किसी के अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से अवधिज्ञान भी पैदा हो जाता है या तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञानधारी होते हैं। इस तत्त्वज्ञानी के भीतर मिथ्याज्ञान बिलकुल नहीं रहता है। वह इन्द्रियों के द्वारा व मन के द्वारा जो कुछ जानता है, उसके भीतर हेय उपादेय बुद्धि करके मात्र एक निज आत्मा को ही उपादेय मानता है।

आरति रौद्रं च विरयं, धम्म ध्यानं च सद्दहै सुधं।
अविरय सम्माइट्ठी, अविरत गुनठान अवितं सुधं॥ ६७९॥

अन्वयार्थ– (आरति रौद्रं च विरयं) सम्यक्त्वी भव्य जीव चार प्रकार आर्तध्यान व चार प्रकार रौद्रध्यान से जो संसार के कारण हैं व परिणामों को मलिन रखने वाले हैं, विरक्त रहता है (सुधं धम्म ध्यानं च सद्दहै) शुद्धोपयोग रूप धर्म ध्यान की ही रुचि रखता है (अविरय सम्माइट्ठी) ऐसा पाँच व्रतों की प्रतिज्ञा रहित सम्यग्दृष्टि (सुधं अवितं) भावों की अपेक्षा शुद्ध परन्तु व्रत रहित होता है (अविरत गुनठान) क्योंकि अविरत गुणस्थान में है।

भावार्थ– अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय होता है। जिससे वह चारित्र धारने को उत्सुक होने पर भी चारित्र को धार नहीं सकता है। वह संसार शरीर भोगों से विरक्त होता है, इससे शारीरिक व मानसिक कष्टों के भीतर उलझता नहीं और न सांसारिक सम्पत्ति के लिये हिंसादि पाप कर्मों की अन्यायपूर्वक भावना करता है। वह आर्तध्यान व रौद्रध्यान से विरक्त होता है। उसको धर्म की चर्चा सुहाती है, वह धर्मध्यान का प्रेमी होता है। शुद्ध आत्मा को अनुभव में लाकर आत्मरस पीने का दृढ़ रुचिवान होता है। श्रद्धानापेक्षा शुद्ध है, चारित्र अपेक्षा प्रतिज्ञारहित है, इसी से अविरत सम्यग्दर्शन का धारी हो रहा है। गोम्मटसार में कहा है—

णो इंदयेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥ २९॥

भावार्थ– जो इन्द्रियों के विषयों का न तो त्यागी है और न त्रस-स्थावर प्राणियों की हिंसा का त्यागी है, परन्तु जो जिनेन्द्र कथित तत्त्वों का दृढ़ श्रद्धानी है, वही अविरत सम्यग्दृष्टि है। अपि शब्द से यह सूचित होता है कि वह निरर्थक न तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति करता है न हिंसादि पाप करता है तथा उसमें चार गुण भीतर झलकते हैं—

(१) प्रशम-शांत भाव, (२) संवेग-धर्म से प्रेम, संसार से वैराग्य, (३) अनुकम्पा-प्राणी मात्र पर दया, (४) आस्तिक्य-तत्त्वों पर पूर्ण विश्वास, लोक-परलोक, पुण्य-पाप, की श्रद्धा। यद्यपि वह व्रती नहीं है तथापि व्रती होने की भावना रखता हुआ बहुत सम्हाल के प्रवृत्ति करता है।

♣ ♣ ♣

देशविरत गुणस्थान

देस व्रिति संजुत्तं, एको उद्देस वय गहई सुधं।
अविरय गुन संजुत्तं, स्रुत न्यानं च भाव उववंनं॥ ६८० ॥

अन्वयार्थ- (देस व्रिति संजुत्तं) जो सम्यक्त्वी जीव अणुव्रतों को धारता है (एको उद्देस वय सुधं गहई) एकोदेश शक्ति के अनुसार व्रतों को निर्दोष पालता है (अविरय गुन संजुत्तं) तथापि व्रत रहित भाव को भी साथ में लिये हुए है (स्रुत न्यानं च भाव उववंनं) परन्तु जो भाव श्रुतज्ञान विशेषपने प्राप्त किये हुए हैं। अर्थात् जिसका आत्मानुभव बढ़ गया है, वही पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक है।

भावार्थ- जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है, तब सम्यक्त्वी प्रतिज्ञावान होता है। वह अहिंसादि पाँचों व्रतों को पूर्ण न ग्रहण करके एकदेश पालने लगता है। जितने अंश पाँच पापों का त्यागी होता है, उतने अंश व्रती है,जितने अंश त्यागी नहीं होता है, उतने अंश अव्रती हैं। कषायों की मलिनता विशेष दूर हो जाने से यह सम्यक्त्वी जीव चौथे दरजे की अपेक्षा अधिक शुद्धात्मा का अनुभव कर सकता है।

दंसन वय सामाई, पोसह सचित्त रायभत्तीए।
बंभारंभ परिग्गह, अनुमनु उद्दिस्ट देस विरदोय॥ ६८१ ॥

अन्वयार्थ- (दंसन वय सामाई) ग्यारह प्रतिमाएँ या श्रेणियाँ इस पंचम गुणस्थान में होती हैं। १- दर्शन प्रतिमा, २- व्रत प्रतिमा, ३- सामायिक प्रतिमा, (पोसह सचित रायभत्तीए) ४- प्रोषधोपवास प्रतिमा, ५- सचित त्याग प्रतिमा, ६- रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा, (बंभारंभ परिग्गह), ७- ब्रह्मचर्य प्रतिमा, ८- आरंभ त्याग प्रतिमा, ९- परिग्रह त्याग प्रतिमा, (अनुमनु उद्दिस्ट-देस विरदोय) १०- अनुमति त्याग प्रतिमा, ११- उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा। ये सर्वदेशव्रती हैं।

भावार्थ- दर्शन प्रतिमा से चारित्र का धारना प्रारंभ होता है। फिर प्रत्येक श्रेणी में चारित्र पहला बना रहता है और कुछ बढ़ जाता है। इस तरह बढ़ते-बढ़ते ग्यारहवीं प्रतिमा में वह साधु के निकट पहुँच जाता है। ऐलक एक लंगोटी मात्र रखते हैं, उसके त्याग देने से निर्ग्रंथ मुनि हो जाते हैं। इन प्रतिमाओं का विस्तारपूर्वक कथन उन गाथा से ३३७ पर्यंत पहले किया जा चुका है।

पंच अनुव्वयाइं, व्रत तप क्रियं च सुध सभावं।
न्यान सहावदि सुधं, सुधं च अप्प परम पदविंदं ॥ ६८२ ॥

अन्वयार्थ- (पंच अनुव्वयाइ) श्रावक पाँच अणुव्रतों का धारी होता है (व्रत तप क्रियं च सुध सभावं) शुद्ध भावों के साथ यह श्रावक व्रत, तप व क्रिया आचरण पालता है (न्यान सहावदि सुधं) उसका ज्ञान स्वभाव व रत्नत्रयमयी भाव शुद्ध होता है (सुधं च अप्प परम पदविंदं) वह शुद्ध आत्मा को व परम पद मोक्ष को अनुभव करता है।

भावार्थ- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इनको एकोदेश पालना अणुव्रत है। संकल्पी हिंसा त्यागना स्थूल असत्य व चोरी त्यागना, स्व-स्त्री में संतोष रखना व सम्पत्ति का प्रमाण कर लेना। ऐसे पाँच अणुव्रतों को यह श्रावक शुद्ध सम्यक्त्व भाव से पालता है, किसी लौकिक फल की इच्छा नहीं रखता है। उसका सर्व व्रत उपवास, खानपानादि आचरण शुद्ध भावों के साथ मायाशल्य रहित होता है। रत्नत्रय धर्ममयी शुद्ध आत्मा का वह प्रेमी होता है और मोक्ष के हेतु से आत्मध्यान का अभ्यास बढ़ाता रहता है।

अप्पा अप्प सरुवं, विरइ मिच्छात दोस संकाई।
अवयास सुध धरनं, मन रोहो निय अप्पानं ॥ ६८३ ॥

अन्वयार्थ- (अप्पा अप्प सरुवं) आत्मा को आत्मिक स्वरूपमय निश्चय करना (विरइ मिच्छात दोस संकाई) मिथ्यात्वादि दोष व शंका आदि से विरक्त रहना (अवयास सुध धरनं) अपने आत्मा के क्षेत्र को संकल्प-विकल्पों से रहित शुद्ध धारण करना (मनरोहो निय अप्पानं) मन को रोककर अपने आत्मा को अनुभवना यह देशव्रती का मुख्य कार्य है।

भावार्थ- देशव्रती श्रावक जब बाहर से बारह व्रतों का साधन करता है, तब अंतरंग में वह अपने भीतर से सर्व रागद्वेष को व सर्व शंकादि दोषों को दूर कर शुद्ध आत्मा का ध्यान करने का दृढ़ता से अभ्यास करता है।

मन वयन काय सुधं, उत्तं सभाव निस्च जिनवयनं।
दत्तं पत्त विसेषं, एको उद्देस देशव्रत ग्रहनं ॥ ६८४ ॥

अन्वयार्थ- (मन वयन काय सुधं) मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक (उत्तं सभाव निस्च जिनवयनं) जो जिन वचनों के कहे अनुसार आत्मा का स्वभाव निश्चय करके भावना करता है (दत्तं पत्त विसेषं) जो दातार भी है व पात्र भी है (एको उद्देस देसव्रत ग्रहनं) ऐसा श्रावक एकोदेश व्रतों का धारी है।

भावार्थ- पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक जिन वचनों को भले प्रकार श्रद्धापूर्वक मानने वाला है अर्थात् जिनवाक्यानुसार स्वतत्त्व-परतत्त्व को जानकर निश्चय करने वाला है। पाँच अणुव्रत व सात

शीलों को पालता है। ग्यारह प्रतिमा द्वारा चारित्र की उन्नति व आत्मानुभव की उन्नति करता है। यह श्रावक जहाँ तक परिग्रह का स्वामी है, आरंभ कार्य में लीन है, वहाँ तक दान भी पात्रों को देता है। इसलिए दातार है तथा यह मध्यम पात्र है, दान लेने के योग्य है। पहली प्रतिमा से लेकर छठी प्रतिमा तक मध्यम पात्रों में जघन्य पात्र है - सातवीं, आठवीं, नौवीं प्रतिमाधारी मध्यम में मध्यम पात्र हैं। दसवीं, ग्यारहवी प्रतिमाधारी मध्यम में उत्तम पात्र है।

आरंभत्यागी श्रावक से क्षुल्लक ऐलक तक मुख्यता से ज्ञानदान व अभयदान करते हैं। शेष सर्व श्रावक चारों ही प्रकार का दान करते हैं। गोम्मटसार में इस गुणस्थान का स्वरूप यह है—

जो तसवहाउविरदो अविरदओ तहय थावरवहादो।
एक्कसमयह्मि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई॥ ३१॥

भावार्थ– जो जिनेन्द्र देव में व उनके वाक्यों में अपूर्व श्रद्धा को रखने वाला है, त्रस की हिंसा से विरक्त है, उसी समय स्थावर की हिंसा से विरक्त नहीं है इसलिए उसको विरताविरत कहते हैं। यह श्रावक संकल्पी हिंसा का त्यागी है। आरंभी हिंसा का त्यागी सातवीं तक नहीं है। आगे आरम्भी का भी त्यागी है। जहाँ तक वस्त्र का पूर्ण त्याग नहीं है, वहाँ तक पूर्ण आरम्भी हिंसा का त्याग नहीं है। इसीलिए इसको देशव्रती कहते हैं।

♣ ♣ ♣

प्रमत्त विरत गुणस्थान

अविरय भाव संजुत्तं, अनुवय भाव सुध संधरनं।
धम्मं झानं झायदि, मतिस्रुत न्यान संजुदो सुधो॥ ६८५॥

अन्वयार्थ– (अविरय भाव संजुत्तं) प्रमत्त विरत गुणस्थानवर्ती साधु अविरत भाव से विरक्त हैं महाव्रती हैं (अनुवय भाव सुध संधरनं) बाहरी व्रतों के अनुकूल शुद्ध अहिंसक व निर्ममत्व भाव को भले प्रकार धरने वाला है। (सुधो मतिस्रुत न्यान संजुदो) शुद्ध मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान को रखता है (धम्मं झानं झायदि) और धर्मध्यान को ध्याता है।

भावार्थ– छठा गुणस्थानवर्ती साधु प्रत्याख्यानावरण कषायों के उपशम से सर्व परिग्रह रहित निर्ग्रंथ है। हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म व परिग्रह इन पाँच पापों का पूर्ण त्यागी है। पाँच इन्द्रिय व मन सम्बन्धी तथा त्रस स्थावर के वध सम्बन्धी, ऐसे बारह प्रकार का अविरत भाव जिसके परिणामों से चला गया है, जो अंतरंग में शुद्ध आत्मा के रमण में बर्तता है, जिसका मतिज्ञान व श्रुतज्ञान सम्यग्दर्शन सहित शुद्ध है व जो निरन्तर धर्म का ध्यान करता है।

अवहि उवन्नो भावो, वय गहनं भाव संजदो सुधो।
वैरागं संसार सरीरं, भोगं तिजंति भोग उवभोगं॥ ६८६॥

अन्वयार्थ– (अवहि भावो उवन्नो) जिसको अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है (वय गहनं भाव संजुदो सुधो) जो महाव्रतों को ग्रहण करता हुआ शुद्ध भाव संयमी है (वैरागं संसार सरीरं भोगं) जो संसार, शरीर तथा पंचेन्द्रिय के भोगों से विरक्त है (भोग उपभोगं तिजंति) अतएव सर्व भोग व उपभोगों का त्यागी है।

भावार्थ– यह महाव्रती साधु व्यवहार में पाँच महाव्रतों को पालता हुआ अन्तरंग में भावों की शुद्धतापूर्वक स्वरूपाचरण चारित्र में लवलीन रहता है। जैसा इसका भेष है, वैसा ही इसका भाव है। यह संसार का लोभ त्यागकर मुक्ति का प्रेमी है। शरीर को अपवित्र नाशवंत जानकर आत्मा को ऐसे शरीर के वास से छुड़ाना चाहता है। इसने इन्द्रियों के भोगों को अतृप्तिकारी जानकर उनका सम्बन्ध त्याग दिया है। ऐसे पूर्ण वीतरागी साधु के ही अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होकर अवधिज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

संमत्त सुध चरनं, अवहिं चिंतेइ सुध ससरुवं।
अप्पा परमप्पानं, परमप्पा निम्मलं सुधं॥ ६८७॥

अन्वयार्थ– (संमत्त सुध चरनं) यह साधु शुद्ध सम्यग्दर्शन के आचरण को करने वाला है (अवहिं चिंतेइ सुध ससरुवं) अवधिज्ञान का चिंतवन करने वाला है तथा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करने वाला है। (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप जानकर (परमप्पा निम्मलं सुधं) निर्मल शुद्ध परमात्मा का अनुभव करता है।

भावार्थ– यह साधु निश्चय सम्यग्दर्शन से विभूषित होता है। कभी अवसर पाकर अवधिज्ञान को जोड़कर पूर्व व आगामी भवों की बातें दूसरों को बता देता है, शुद्ध आत्मस्वरूप का भले प्रकार अनुभव करने वाला है, अपने आत्मिक रस में लीन है।

ग्रंथं वाहिर भिंतर, मुक्कं संसार सरनि सभावं।
महावय गुन धरनं, मूलगुनं धरन्ति सुध भावेन॥ ६८८॥

अन्वयार्थ– (संसार सरनि सभावं) संसार के मार्ग में भ्रमण कराने वाले (वाहिर भिंतर ग्रंथं मुक्कं) बाहरी भीतरी परिग्रह को त्यागकर (महावय गुन धरनं) महाव्रतों के गुणों को धरने वाले हैं तथा (सुध भावेन मूल गुनं धरन्ति) शुद्ध भावों से मूलगुणों को पालते हैं।

भावार्थ– यह साधु संसार से पूर्ण विरक्त हैं, तब ही संसार के कारण ऐसे ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह को त्यागकर निर्ग्रंथ हो गए हैं। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय,

जुगुप्सा और स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद यह चौदह प्रकार अंतरंग परिग्रह हैं व क्षेत्र, मकान, गोधन, धान्य, चाँदी, सोना, दासी, दास, कपड़े, बर्तन यह दस प्रकार के बाहरी परिग्रह हैं। ऐसे २४ प्रकार के परिग्रह के त्यागी हैं तथा शुद्ध भावों से पाँच महाव्रतों को आदि लेकर अट्ठाईस मूल-गुणों को पालने वाले हैं। पाँच महाव्रत + पाँच समिति + पाँच इन्द्रिय दमन + छः आवश्यक कर्म + स्नान त्याग + दंतधावन त्याग + वस्त्र त्याग + भूमि शयन + खड़े भोजन + एक बार भोजन + केशलोंच, ये अट्ठाईस मूलगुण हैं।

दंसन दह विहि भेयं, न्यानं पंच भेय उवएसं।
तेरह विहस्य चरनं, न्यान सहावेन महावयं हुंति॥ ६८९॥

अन्वयार्थ- (दंसन दहविहि भेयं) सम्यग्दर्शन दश भेदरूप हैं तथा (पंच भेयन्यानं उवएसं) ज्ञान पाँच प्रकार हैं ऐसा उपदेश साधुजन देते हैं। (तेरह विहस्य चरनं) तेरह प्रकार चारित्र पालते हैं। (न्यान सहावेन हुंति महावयं) आत्मज्ञान के स्वभाव में तिष्ठना यह जिनके शुद्ध महाव्रत हैं।

भावार्थ- निर्ग्रंथ साधु स्वयं पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति, ऐसे तेरह प्रकार चारित्र पालते हुए अपने उपदेश में बताते हैं कि सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है। उनका स्वरूप पहले कह चुके हैं तथा यह भी बताते हैं कि ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ऐसे पाँच भेद हैं। वे साधु शुद्ध आत्मा के ध्यान में नित्य मगन रहते हैं, यही उनका निश्चय महान् व्रत है।

ध्यानं च धम्म सुक्कं, आरति रौद्रं न दिस्टि दिस्टंतो।
अप्पा परमप्पानं, न्यान सहावेन महावयं हुंति॥ ६९०॥

अन्वयार्थ- (ध्यानं च धम्म सुक्कं) जो धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को ही मोक्षमार्ग जानते हैं (आरति रौद्रं दिस्टि न दिस्टंतो) आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान पर अपनी दृष्टि नहीं देते हैं। (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप जानकर ध्याते हैं। (न्यान सहावेन महावयं हुंति) ज्ञान स्वभाव से उनके महाव्रत होता है।

भावार्थ- यह छठे प्रमत्त गुणस्थानवर्ती साधु अन्तरङ्ग से ज्ञानपूर्वक महाव्रतों को पालते हैं। धर्म-ध्यान का तो अभ्यास करते हैं, परन्तु शुक्लध्यान के पाने की भावना भाते हैं। शुक्लध्यान आठवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। आर्त व रौद्रध्यान से अपनी रक्षा करते हैं। आत्मा को परमात्मा रूप जानकर निरन्तर आत्मा का ही अनुभव करते हैं। निर्ग्रंथ पद छठे गुणस्थान से प्रारम्भ है। गोम्मटसार में कहा है—

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो॥ ३२॥
वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुणशीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो॥ ३३॥

भावार्थ- सकल संयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय के उपशम से जिसके पूर्ण संयम है, परन्तु साथ में चार संज्वलन कषाय तथा नौ नोकषाय के उदय से संयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी है, इसलिए इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं। यह महाव्रती सम्पूर्ण मूलगुण और शील भाव से युक्त होते हुए भी प्रगट (अनुभवगोचर) व अप्रगट प्रमाद को रखने वाले हैं। इनका आचरण चित्रल होता है अर्थात् कभी तो यह ध्यानमग्न हो जाते हैं, कभी यह आहार-विहार करते हैं या धर्मोपदेश देते हैं। सातवें से लेकर सर्वगुणस्थान ध्यानमयी ही हैं। इस छठे गुणस्थान में ही मुनि के प्रवृत्ति रूप चारित्र होता है। इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त है, फिर सातवाँ हो जावे। सातवें से छठा हो जावे ऐसा बार-बार हो सकता है। पंचम गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त भी है व जीवनपर्यन्त भी है। आगे के सर्व गुणस्थानों का काल अंतर्मुहूर्त है, मात्र तेरहवें का जीवनपर्यन्त है, उसमें चौदहवें गुणस्थान का काल रह जाता है। प्रमादों का विशेष स्वरूप गोम्मटसार से जानना चाहिए।

♣ ♣ ♣

अप्रमत्त विरत गुणस्थान

अप्रमत्त अप्रमानं, धम्मं सुक्कं च झान निम्मलं सुधं।
अवहि रिधि संजुत्तो, षिउ उवसम भाव सुंसुधं॥ ६११॥

अन्वयार्थ- (अप्रमत्त अप्रमानं) अप्रमत्त गुणस्थान प्रमाण नय आदि की कल्पना से रहित है (धम्मं सुक्कं च झान निम्मलं सुधं) वहाँ शुक्लध्यान की भावना सहित व शुक्लध्यान का कारण निर्दोष शुद्ध धर्मध्यान है (अवहि रिधि संजुत्तो) किसी को अवधिज्ञान प्राप्त होता है (षिउ उवसम भाव सुंसुधं) यहाँ शुद्ध क्षयोपशम भाव है।

भावार्थ- सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान उसे कहते हैं कि जहाँ अपने आत्मस्वरूप में किंचित भी प्रमाद नहीं है। इसीलिए यहाँ पर साधु बिलकुल ध्यानमग्न रहते हैं - निर्विकल्प होकर आत्मा का ध्यान करते हैं। उसके मन में प्रमाण व नय का विचार नहीं आता है। आगम द्वारा द्रव्यों का विचार व शास्त्रों का चिंतवन छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में है, सातवें में नहीं है। यहाँ निर्मल धर्मध्यान है, जिससे शुक्लध्यान उत्पन्न हो सकता है। कोई-कोई मुनि अवधिज्ञान को धारने वाले होते हैं। यहाँ अभी चारित्र की अपेक्षा न उपशम भाव है न क्षायिक भाव है, किन्तु क्षयोपशमिक भाव है। बारह कषायों का उदयाभाव रूप क्षय तथा उपशम है। शेष चार कषाय व नौ नोकषाय का अति मंद उदय है।

वित्त रुव सदिट्ठी, विगतं संसार सरनि भावं च।
सुधं परमानंदं, न्यान सहावेन सुध तवयरनं॥ ६९२॥

अन्वयार्थ- (वित्त रुव सदिट्ठी) अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती साधु आत्मा के प्रगट रूप को भले प्रकार अनुभव करता है (विगतं संसार सरनि भावं च) वह संसार के मार्ग में ले जाने वाले भावों से रहित है (सुधं परमानंदं) शुद्ध परम आनंद का स्वाद लेता है (न्यान सहावेन सुध तवयरनं) ज्ञान स्वभावी आत्मा में ठहरकर शुद्ध आत्म तपन रूप तपश्चरण करता है।

भावार्थ- सातवें गुणस्थान में मन, वचन, काय तीनों स्थिर रहते हैं। ध्यानमग्न साधु शुद्धोपयोग में ठहरकर अपने आत्मा को स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानकर उसी में तल्लीन होकर निश्चय तप का साधन करता है और कर्मों की निर्जरा करता है। गोम्मटसार में इसका स्वरूप यह है—

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणु वसमओ अखवओ झाणणिलीणोहु अपमत्तो॥ ४६॥

भावार्थ- सर्व प्रमादों से रहित - महाव्रत, मूलगुण व शील स्वभाव से मंडित ज्ञानी जब तक उपशम या क्षपकश्रेणी न चढ़े, तब तक ध्यान में तल्लीन रहता है, यही अप्रमत्तविरत साधु है।

* * *

अपूर्वकरण गुणस्थान

अपूर्वकरण अपूर्वं, अवधि संजुत्त निम्मलं सुधं।
न्यान सहावं नित्यं, अप्पा परमप्प भाव संजुत्तं॥ ६९३॥

अन्वयार्थ- (अपूर्वकरण) अपूर्वकरण गुणस्थानधारी साधु के (अपूर्वं) पहले कभी नहीं हुए ऐसे अपूर्व उज्जवल भाव होते हैं (अवधि संजुत्त निम्मलं सुधं) कोई-कोई अवधिज्ञान सहित निर्दोष शुद्ध भाव के धारी होते हैं (न्यान सहावं नित्यं) वे सदा ज्ञान स्वभाव में मग्न रहते हैं (अप्पा परमप्प भाव संजुत्तं) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करते हैं।

भावार्थ- चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृति को उपशम करने वाला साधु उपशम श्रेणी व क्षय करने वाला साधु क्षपक श्रेणी चढ़ता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी अनन्तानुबंधी कषाय को उपशम या उनको अप्रत्याख्यानावरण आदि में विसंयोजन (पलटन) करके उपशम श्रेणी चढ़ता है। क्षायिक सम्यक्त्वी भी उपशम श्रेणी चढ़ सकता है। क्षपक श्रेणी पर तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही चढ़ता है। श्रेणी का पहला गुणस्थान अपूर्वकरण है। यहाँ समय-समय अपूर्व अनन्तगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है। यहाँ पृथक्त्ववितर्कविचार नाम का पहला शुक्लध्यान प्रारम्भ हो जाता है। इस ध्यान में साधु एकाग्र रहता है तथापि अबुद्धिपूर्वक योग, शब्द व पदार्थ का पलटन हो जाता है। यहाँ शुद्धोपयोग उन्नतिरूप है। आत्मानुभव की छटा भी अपूर्व है। गोम्मटसार में कहा है—

एदह्मि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जह्मा होंति अपुव्वा हु परिणामा॥ ५१॥

भावार्थ- इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम अपूर्व-अपूर्व होते हैं। भिन्न-भिन्न समयवर्ती ध्यानियों के परिणाम कभी नहीं मिलते। एक ही समय में चढ़ने वाले जीवों के परिणाम सदृश व विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं। इस गुणस्थान में चढ़ने वाला सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में अधःकरण लब्धि द्वारा परिणामों को समय-समय अनन्तगुणा उज्ज्वल करता है। ये परिणाम इस जाति के होते हैं कि भिन्न समयवर्ती जीवों के मिल भी जावें व न भी मिलें। दूसरी लब्धि शुरू करते ही अपूर्वकरण गुणस्थान होता है, तब भिन्न समयवर्ती के परिणाम कभी मिलते नहीं हैं।

♣ ♣ ♣

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

अनिवरतं ससहावं, सुध सहावं च निम्मलं भावं।
षिउ उवसम सदर्थं, न्यान सहावेन अनिवर्तयं सुधं॥ ६९४॥

अन्वयार्थ- (अनिवरतं ससहावं) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में साधु आत्मस्वभाव में रहता है (सुध सहावं च निम्मलं भावं) शुद्ध स्वभाव में मग्न रहता है, निर्मल भावों का धारी होता है (षिउ उवसम सदर्थं) या तो क्षपक श्रेणी पर होता है या उपशम श्रेणी पर होता है, सत्य अस्तिरूप आत्म पदार्थ को (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव में ही तिष्ठकर ध्याता है (सुधं अनिवर्तयं) तब यह शुद्ध अनिवृत्तिकरण के परिणामों को पाता है।

भावार्थ- जहाँ शरीर, आयु इत्यादि में भेद होने पर भी एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणामों में समान समय-समय विशुद्धता की उन्नति हो- एक समयवर्ती जीवों के परिणाम समान रहे सो अनिवृत्तिकरण लब्धिधारी नौवाँ गुण स्थान है। यहाँ भी उपशम या क्षपक श्रेणी होती है। प्रथम शुक्ल-ध्यान से यह साधु आत्मध्यान की ऐसी अग्नि जलाता है, जिससे सिवाय सूक्ष्मलोभ के सर्व मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय कर डालता है। गोम्मटसार में कहा है-

एकह्मि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जेहिं॥ ५६॥

भावार्थ- जहाँ शरीर के आकार आदि के भेद होने पर भी एक समयवर्ती सर्व जीवों के विशुद्ध परिणामों में जहाँ कोई भेद न पाया जावे, वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है।

♣ ♣ ♣

सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान

सूष्यम भेय संजुत्तं, षिउ उवसम भाव संजदो सुधो।
निम्मल सुध सहावं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं ॥ ६९५ ॥

अन्वयार्थ- (सूष्यम भेय संजुत्त) सूक्ष्म लोभ भाव सहित साधु (षिउ उवसम भाव - संजदो सुधो) क्षपक श्रेणी पर या उपशम श्रेणी पर होने बाले भावों का धारी शुद्ध संयमी (निम्मल सुध सहावं) निर्दोष शुद्ध आत्मस्वभाव को ध्याता है (अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं) आत्मा को परमात्मा रूप मल रहित व रागादि दोष रहित शुद्ध ध्याता है।

भावार्थ- जहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय इतना अल्प हो कि ध्याता को ध्यान में न झलक सके ऐसे ध्यानमयी साधु को दसवाँ सूक्ष्म लोभ नाम का गुणस्थान होता है। यह प्रथम शुक्लध्यान में मग्न होता हुआ शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है, अंतर्मुहूर्त में ही लोभ का उपशम या क्षय कर डालता है।

घाय चवक्कय विरयं, नंत चतुस्टय भावना सुधं।
कम्ममल पयडि तिक्तं, न्यान सहावेन सूष्यमं परमं ॥ ६९६ ॥

अन्वयार्थ- यह साधु (घाय चवक्कय विरयं) चार घातिया कर्मों से विरक्त है (नंत चतुस्टय भावना सुधं) अनंत ज्ञानादि चतुष्टय की शुद्ध भावना में लीन है (कम्ममल पयडि तिक्तं) सर्व कर्म प्रकृतियों के उदय से ममता रहित है (न्यान सहावेन परमं सूष्यमं) आत्मज्ञान के स्वभाव में ठहरकर परम सूक्ष्म आत्मा का अनुभव करता है।

भावार्थ- दशवें गुणस्थानवर्ती साधु के अन्तरंग में पूर्व अभ्यास से यह भावना वर्त रही है कि किसी तरह घातिया कर्मों का नाश होकर आत्मा के स्वाभाविक अनंतज्ञानादि गुणों का विकास हो। वह सर्व कर्मों के उदय को नहीं चाहता है, केवल शुद्ध आत्मा का प्रेमी है। वह निश्चय ध्यान में तिष्ठकर अतीन्द्रिय आत्मा का स्वाद लेता है। गोम्मटसार में कहा है—

धुदकोसुंभयवत्थं होदि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहमकसाओ सुहमसरागोत्ति णादव्वो ॥ ५९ ॥

भावार्थ- जैसे धुले हुए कसूमी वस्त्र के लालपना बहुत सूक्ष्म रह जाता है वैसे जो साधु अत्यन्त सूक्ष्म राग सहित है वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान वाला जानने योग्य है। यह साधु वीतराग चारित्र के अनुभव में किंचित् ही कम है।

♣ ♣ ♣

उपशांत मोह गुणस्थान

उवसंतोय कषायं, दर्सन मोहंध उवसमं सुधं।
संसार सरनि तित्तं, उवसंतो पुन: सव्वहा सव्वे ॥ ६९७ ॥

अन्वयार्थ– (दर्सन मोहंध उवसमं सुधं) जहाँ दर्शन मोहनीय कर्म बिल्कुल उपशम या क्षय हो गया है (उवसंतोय कषायं) तथा चारित्र मोहनीय कर्म बिल्कुल उपशम हो गया है (संसार सरनि तित्तं) जो संसार के कारण भावों से रहित हो गए हैं (सव्वहा सव्वे पुन: उवसंतो) जहाँ सर्वथा सर्व शुभ भावों की भी शांति हो गई है, एक वीतराग यथाख्यात चारित्र है, वह उपशांत मोह नामका ही ग्यारहवाँ गुणस्थान है।

भावार्थ– उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाला साधु दसवें गुणस्थान से ग्यारहवें में आता है। यह साधु या तो द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी या क्षायिक सम्यक्त्वी होता है। इसलिए सम्यक्त्व घातक सातों प्रकृतियाँ उपशम हो रही हैं तथा चारित्र मोहनीय सम्बन्धी इक्कीस कषायों का यह शुक्लध्यान के बल से उपशम कर चुका है। सर्व प्रकार मोहनीय कर्म के उदय न रहने से यहाँ यथाख्यात चारित्र या नमूनेदार वीतरागता प्रगट है। यहाँ न अशुभ भाव है न कोई शुभ भाव है मात्र शुद्धोपयोग है, शुक्ललेश्या है। यहाँ सिवाय साता वेदनीय के और किसी कर्म का आस्रव नहीं होता है। यह भी ईर्यापथ आस्रव है। दूसरे ही समय में उसकी निर्जरा हो जाती है। कषायों के न होने से स्थिति व अनुभाग नहीं पड़ता है। यह दशा अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहती है। आत्मबल की कमी से फिर लोभ का उदय आ जाता है और यहाँ से गिरकर दसवें में या धीरे-धीरे सातवें तक आ जाता है। सातवें से फिर एक दफे उपशम श्रेणी चढ़ सकता है या तद्भव मोक्षगामी क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है। यदि संसार अधिक हो तो और भी नीचे के गुणस्थानों में यहाँ तक कि मिथ्यात्व में भी जा सकता है।

सुधो सुधोदेसो, सुधो परमप्प लीन संजुत्तो।
षिउ उवसम संसुधो, न्यान सहावेन चरन्ति तवयरनं ॥ ६९८ ॥

अन्वयार्थ– (सुधो सुधोदेसो) उपशांत कषाय गुणस्थानवर्ती साधु वीतराग हैं व शुद्ध शासन या श्रुतज्ञान के धारी हैं (सुधो परमप्प लीन संजुत्तो) शुद्ध परमात्म स्वभाव में लीनता रूप शुक्लध्यान के धारी हैं (षिउ उवसम संसुधो) क्षायिक या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सहित है (न्यान सहावेन तवयरनं चरन्ति) ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर निश्चय तपश्चरण कर रहे हैं।

भावार्थ– उपशांत मोह भाव के धारी निर्ग्रंथ साधु निर्मल श्रुतज्ञान के धारी होकर अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होते हुए शुक्लध्यान को ध्याते हैं- आत्मा के स्वभाव में वीतरागता सहित तपश्चरण या रमण कर रहे हैं। गोम्मटसार में कहा है—

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणिय व णिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि॥ ६१॥

भावार्थ– निर्मली फल सहित जल की तरह या शरदऋतु में सरोवर के पानी की तरह जहाँ सर्व मोह का उपशम हो गया है ऐसे वीतराग परिणाम के धारी के उपशान्त कषाय गुणस्थान होता है। जैसे कतकफल से मिट्टी नीचे बैठ जाती है पानी ऊपर निर्मल है या शरद ऋतु में मिट्टी नीचे बैठ जाती है, ऊपर सरोवर का पानी निर्मल होता है, वैसे जहाँ मोह का उदय दबा हुआ है, ऊपर भाव मोह रहित है सो उपशान्त मोह गुणस्थान है।

* * *

क्षीणमोह गुणस्थान

षीन कषायं उत्तं, षीनं घाय कम्म मल मुक्कं।
षीयंति षीन मोहो, न्यान सहावेन संजुत्त तवयरनं॥ ६९९॥

अन्वयार्थ– (षीन कषायं उत्तं) अब क्षीण कषाय के बारहवें गुणस्थान को कहते है जहाँ (षीन मोहो षीयंति) सूक्ष्म मोह भी नष्ट हो गया है (न्यान सहावेन तवयरनं संजुत्त) जो ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर शुद्ध आत्मतपनरूप तपश्चरण करते हैं (षीनं घाय कम्म मल मुक्कं) तथा जो अनंतक्षीणता को प्राप्त घातिया कर्मों के मल को छुड़ा रहे हैं वे क्षीण मोह गुणस्थानधारी हैं।

भावार्थ– क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाला साधु दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का भी क्षय करके सर्व मोहनीय कर्म की वर्गणाओं से रहित होकर के इस गुणस्थान में आकर पूर्ण वीतराग हो जाता है और दूसरे शुक्लध्यान को ध्याता हुआ एकत्ववितर्क अविचार परिणति से ध्यानमग्न हो जाता है। इस शुक्लध्यान के अन्तर्मुहूर्त चलने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीन घातिया कर्मों का बल क्षीण होता चला जाता है। जब इनका बिल्कुल क्षय हो जाता है तब तेरहवाँ गुणस्थान प्रारंभ हो जाता है। क्षय करने की क्रिया इसी गुणस्थान में होती है।

मन पर्जय उववन्नं, धम्म सुक्कं च निम्मलं रुवं।
रुवातीत सहावं, न्यान सहावेन अप्प परमप्पं॥ ७००॥

अन्वयार्थ– (मन पर्जय उववन्नं) कोई-कोई साधु मनःपर्ययज्ञान के धारी होते हैं (धम्म सुक्कं च निम्मलं रुवं) वे पहले निर्मल आत्म स्वरूप धर्मध्यान को सातवें गुणस्थान तक फिर आठवें से शुक्लध्यान को ध्याते हुए इस गुणस्थान में आते हैं (रुवातीत सहावं) यहाँ अमूर्तिक आत्मा के स्वभाव में लीन हैं (न्यान सहावेन अप्प परमप्पं) ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर आत्मा को परमात्मारूप ध्याते हैं।

भावार्थ- किन्हीं साधुओं को मतिश्रुत दो ही ज्ञान होते हैं और बारहवें में चढ़ जाते हैं, कोई मतिश्रुतअवधि तीन ज्ञानधारी, कोई मनःपर्ययज्ञान सहित चार ज्ञानधारी होकर यहाँ आते हैं। पहले निर्मल धर्मध्यान किया था उसी के बल से यहाँ निर्मल शुक्लध्यान को ध्या रहे हैं। दूसरा शुक्लध्यान अति निश्चल है जिसके प्रताप से बिलकुल थिर आत्मा में लीन हैं। श्री गोम्मटसार में कहा है—

णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं॥ ६२॥

भावार्थ- सर्व मोह के क्षय हो जाने से जिस साधु के परिणाम स्फटिक के निर्मल बर्तन में रखे हुए जल की तरह अति निर्मल हैं, उसी निर्ग्रंथ साधु को क्षीण कषाय वीतराग देवों ने कहा है।

* * *

सयोग केवलि जिन गुणस्थान

संजोगे केवलिनो, आहार निहार विवज्जिओ सुधो।
केवल न्यान उवन्नो, अरहंतो केवली सुधो॥ ७०१॥

अन्वयार्थ- (संजोगे केवलिनो) सजोग केवली भगवान (आहार निहार - विवज्जिओ सुधो) आहार व निहार दोनों से रहित शुद्ध वीतराग होते हैं (केवल न्यान उवन्नो) जिनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है (अरहंतो केवल सुधो) वे ही पूज्यनीय अरहंत परमात्मा केवली शुद्धोपयोगी सयोग केवलि जिन गुणस्थानधारी हैं।

भावार्थ- जब चारों घातिया कर्म क्षय हो जाते हैं तब निर्ग्रंथ साधु बारहवें से तेरहवें में आकर केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा सयोगी जिन कहलाते हैं। यहाँ अभी योगों का हलन-चलन है। इससे उपदेश होता है व विहार होता है। आत्मा में अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य प्रकाशमान है। इसीसे शरीर सहित सकल या जीवन्मुक्त परमात्मा कहलाते हैं। केवली भगवान के क्षुधा की बाधा नहीं सताती है न वे भिक्षा के लिए जाते हैं न वे कवलाहार करते हैं। उनके मात्र शरीर को पोषण करने वाली नोकर्म वर्गणाओं का आहार स्वतः शरीर में उसी तरह हो जाता है जैसे वृक्षों के लेपाहार होता है। न उनके मलमूत्र का नीहार होता है। उनका शरीर शुद्ध कपूर की तरह धातु उपधातु रहित होता है। वे स्फटिक रत्न की तरह तेजस्वी शरीरधारी होते हैं, वे शुद्धोपयोग में लीन हैं, परम वीतराग हैं। उनकी शांत मुद्रा का दर्शन करके देव, मानव, पशु सब तृप्त हो जाते हैं। उनको सर्व ही भव्य जीव भद्र परिणामी पूजते हैं व नमन करते हैं। श्री गोम्मटसार में कहा है—

केवलणाणदिवायर किरणकलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धु ग्गमसुजणिय परमप्पववएसो॥ ६३॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणइणिहणारिसे उत्तो॥ ६४॥

भावार्थ- जिनके केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञान का सर्वथा नाश हो गया है, जिनके नव केवल लब्धियाँ प्राप्त हैं उसी से उन्होंने परमात्मा नाम पाया है। वे नवगुण हैं - क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य। वे भगवान अतीन्द्रिय असहाय ज्ञान व दर्शन के धारी हैं। योगों से युक्त होने के कारण सयोगी हैं। घातिया कर्मों के जीतने से जिन हैं। ऐसा अनादि निधन ऋषि प्रणीत आगम में कहा है।

♣ ♣ ♣

अयोग केवलि जिन गुणस्थान

अजोगे केवलिनो, परमप्पा निम्मलो सुध ससहावं।
आनन्दं परमानन्दं, नंत चतुस्टय मुक्ति संपत्तो॥ ७०२॥

अन्वयार्थ- (अजोगे केवलिनो) अयोग केवली जिन चौदहवें गुणस्थानधारी (परमप्पा निम्मलो ससहावं सुध) मल रहित शुद्ध परमात्मा है। योगों का हलन चलन भी नहीं है (परमानन्दं आनंदं) स्वाभाविक परमानंद में मग्न हैं (नंत चतुस्टय मुक्ति संपत्तो) अनंत चतुष्टय सहित मुक्ति को पहुँचने वाले हैं।

भावार्थ- जब आयु कर्म में इतना काल बाकी रह जाता है जितना काल अ इ उ ऋ लृ इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में लगता है तब अरहन्त परमात्मा का योग बिलकुल निश्चल हो जाता है, योग रहित होने से वे अयोगी जिन कहलाते हैं। यहाँ चौथा शुक्लध्यान होता है। इसी से शेष अघातिया कर्मों का भी क्षय कर यह मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। गोम्मटसार में कहा है—

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥ ६५॥

भावार्थ- जो १८००० शीलों के स्वामी हो गए हैं - जिनके पूर्ण सहकार से कर्मों का आस्रव नहीं है, जिनके कर्मरूपी रज निर्जरा को प्राप्त हो रहा है, जिससे वे शीघ्र मुक्त होंगे, ऐसे अयोग केवली होते हैं।

♣ ♣ ♣

गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान

सिधं सिध सरुवं, सिधं सिधि सौष्य संपत्तं।
नंदो परमानंदो, सिधो सुधो मुनेअव्वा॥ ७०३॥

अन्वयार्थ- (सिधं सिध सरुवं) सिद्ध भगवान अपने स्वरूप को सिद्ध कर चुके हैं (सिधि सौष्य संपत्तं सिधं) सिद्ध भगवान के होने वाले अनंत सुख को प्राप्त होकर जो सिद्ध हुए हैं (परमानंदो नंदो) जो परमानंद में आनन्दित हैं। (सुधो सिधो मुनेअव्वा) वे ही शुद्ध निरंजन सिद्ध हैं, ऐसा जानना योग्य है।

भावार्थ- जब आठों कर्म क्षय हो जाते हैं तब कर्मजनित सर्व रचना भी दूर हो जाती है। इसलिए सिद्ध महाराज रागादि भाव कर्म व शरीरादि नोकर्म रहित हैं, सर्व बाधा से रहित हैं, स्वाभाविक परमानंद में नित्य मगन हैं, जो साध्य या उसको सिद्ध कर चुके हैं, इसी से सिद्ध कहलाते हैं। यही परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है।

ए चौदस गुनठानं, रुवं भेयं च किंचि उवएसं।
न्यान सहावे निपुनो, कंमेनय विमल सिध नायव्वो॥ ७०४॥

अन्वयार्थ- (ए चौदस गुनठानं) ऊपर कहे प्रकार चौदह गुणस्थानों के (रुवं भेयं च किंचि उवएसं) स्वरूप का व भेद का कुछ उपदेश किया गया है (न्यान सहावे निपुनो) जो भव्य जीव अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होने में प्रवीण हैं वह (कंमेनय विमल सिध नायव्वो) उसी को गुणस्थानों के क्रम से निर्मल सिद्धपना होता है, ऐसा जानना योग्य है।

भावार्थ- जो कोई भव्य जीव मोक्ष गए हैं व जाने वाले हैं व अब जा रहे हैं, उनके लिए मोक्ष मार्ग पर चलने का एक ही मार्ग है। जब तक इन गुणस्थानों को क्रम से पार करके शुद्ध भावों की उन्नति न की जायगी तथा बाधक कर्मों का क्षय न किया जाएगा तब तक कोई भी शुद्ध सिद्ध परमात्मा नहीं हो सकता है। गोम्मटसार में कहा है —

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥ ६८॥

भावार्थ- जो ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित हैं, जो परमानंद के अनुभव में लीन होकर परम शांत हैं, जो कर्मों के आस्रव के कारण भावों से रहित निरंजन हैं, जो अविनाशी हैं, कृतकृत्य हैं, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघु, अव्याबाधत्व; इन आठ गुणों के धारी हैं तथा लोक के अग्रभाग में सिद्धक्षेत्र में तिष्ठते हैं, वे ही सिद्ध हैं।

♣ ♣ ♣

बावन अक्षर निरूपण

ॐ नमः सिद्धं - अक्षर पाँच

उवकारं च ऊर्धं, ऊर्ध सहावेन परमिस्टि संजुत्तों।
अप्पा परमप्पानं, विंद स्थिरं जान परमप्पा॥ ७०५॥

अन्वयार्थ- (उवकारं च ऊर्ध) ॐ मंत्र श्रेष्ठ पद है (ऊर्ध सहावेन परमिस्टि संजुत्तो) इसमें श्रेष्ठ स्वभावधारी सिद्ध परमेष्ठी गर्भित हैं (अप्पा परमप्पानं) आत्मा या परमात्मा रूप हैं (विंद स्थिरं परमप्पा जान) ॐ में बिन्दु चिन्ह में स्थित परमात्मा को जानो।

भावार्थ- ॐ नमः सिद्धं पाँच अक्षरी मंत्र में ॐ शब्द श्रेष्ठ पद इसलिए है कि इसमें सिद्ध परमात्मा गर्भित है जो स्वाभाविक शुद्ध गुणों के धारी हैं। यही द्रव्य दृष्टि से आत्मा का भी स्वभाव है। ॐ में अर्द्ध चन्द्राकार में जो बिन्दु है वह सिद्ध परमात्मा का द्योतक है।

न्यानं सुध सहावं, न्यान मयं परमप्प संसुधं।
न्यानं न्यान सरुवं, अप्पा परमप्प सुधमप्पानं॥ ७०६॥

अन्वयार्थ- (न्यानं सुध सहावं) सिद्ध भगवान ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव के धारी हैं (न्यान मयं परमप्प संसुधं) ये ही ज्ञानमयी परम शुद्ध परमात्मा हैं (न्यानं न्यान सरुवं) वे अपने ज्ञान स्वरूप का अनुभव करते हैं (अप्पा परमप्प सुधमप्पानं) वे आप ही अपने शुद्ध आत्मा को परमात्मा रूप पाते हैं।

भावार्थ- सिद्ध परमात्मा शरीर रहित व सर्व मूर्तिक पुद्गलों के संबंध रहित अमूर्तिक ज्ञानाकार अपने शुद्ध स्वभाव में तल्लीन हैं। वे आपसे ही आप में अपने आपका अनुभव करते हुए आत्मिक रस का पान कर रहे हैं। उनका उपयोग अपने स्वरूप में ही घुल रहा है।

ममात्मा ममलं सुधं, सुध सहावेन तिअर्थ संजुत्तं।
संसार सरनि विगतं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं॥ ७०७॥

अन्वयार्थ- (ममात्मा ममलं सुधं) सिद्ध भगवान के समान ही निश्चयनय से मेरा आत्मा कर्ममल रहित शुद्ध है (सुध सहावेन तिअर्थ संजुत्तं) शुद्ध स्वभाव में तन्मय है तथा रत्नत्रय स्वरूप है (संसार सरनि विगतं) संसार के भ्रमण से रहित है (अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं) यह आत्मा ही वास्तव में परमात्मा है, परम वीतराग व निर्दोष है।

भावार्थ- इस पाँच अक्षरी मंत्र से सिद्धों को नमस्कार करता हुआ उनका शुद्ध स्वरूप विचारता हुआ अपने आत्मा को देखे, तब यह अनुभव करे कि मेरा आत्मा द्रव्य स्वभाव से या निश्चयनय से

सिद्ध के समान सर्व कर्म रहित व सर्व रागादि दोष रहित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी सदा ही मुक्त रूप संसार भ्रमण से रहित परमात्मा देव है।

उवं नमः एकत्वं, पद अर्थं नमस्कार उत्पन्नं।
उवंकारं च विंदं, विंदस्थं नमामि तं सुधं॥ ७०८॥

अन्वयार्थ– (उवं नमः एकत्व) ॐ नमः जो एक पद है (पद अर्थं नमस्कार उत्पन्नं) इस पद का अर्थ यह है कि ॐ को नमस्कार किया जावे (उवंकारं च विंदं) ॐ का भाव अनुभव किया जावे (विंदस्थं तं सुधं नमामि) ॐ के बिन्दु स्थित शुद्ध सिद्ध को मैं भाव नमस्कार करता हूँ ऐसा अनुभव किया जावे।

भावार्थ– ॐ नमः पाँच अक्षरी संयुक्त पद से पाँच परमेष्ठी को नमस्कार हो ऐसा लिया जाता है, परन्तु इसमें जो बिन्दु है उससे सिद्ध का बोध होता है, इससे सिद्ध को मुख्यता से नमस्कार किया गया है। यहाँ भाव नमस्कार से प्रयोजन है कि सिद्ध के समान अपने आत्मा को शुद्ध रूप अनुभव किया जावे, यही सिद्धों को भाव नमस्कार है। ॐ में जो पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं उनके भीतर भी जो निश्चयनय से शुद्धात्मापना है वही शुद्धात्मापना मेरे में है, ऐसा अनुभव किया जावे, यही वास्तव में ॐ नमः पद का अर्थ है। अपने आत्मा को श्री सिद्ध भगवान के समान जानकर उसी में तन्मय हो जाना यही वास्तव में भाव नमस्कार है जो भावों को शुद्ध करने वाली है। शब्दोच्चारण करना व मस्तक झुकाना आदि द्रव्य नमस्कार है। इसका महत्व तब ही है जब भाव नमस्कार किया जावे। जिसको नमस्कार करना हो उसके गुणों में तन्मय हो जाना ही सच्चा नमस्कार है। नमस्कार का प्रयोजन ही नमस्कार योग्य के गुणों में सच्चा प्रेम भाव है। ऐसा प्रेम भाव सिद्ध परमात्मा में करना अपने को राग-द्वेष से मुक्त कर शुद्ध वीतराग भाव में जम जाना है। अर्थात् स्वानुभव को पाकर शुद्ध आत्मिक रस का पान करना है।

सिधं सिधि सदर्थं, सिधं सुधं च निम्मलं विमलं।
दर्सन मोहंध विमुक्कं, सिधं सुधं समायरहि॥ ७०९॥

अन्वयार्थ– (सिधं सिधि सदर्थं) "ॐ नमः सिद्धं" मंत्र से सिद्ध उन्हें कहते हैं जो सद्मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध कर चुके हैं (सिधं सुधं च निम्मलं विमल) वे सिद्ध शुद्ध हैं, कर्ममल रहित हैं। रागद्वेषादि रहित वीतराग हैं (दर्सन मोहंध विमुक्कं) दर्शन, मोह व अज्ञान से रहित हैं (सिधं सुधं समायरहि) ऐसे शुद्ध सिद्ध भगवान का अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ– सिद्ध करने योग्य मोक्ष पुरुषार्थ है जिसकी सिद्धि होने पर यह जीव कृतकृत्य व पूर्ण हो जाता है। जिस भव्य जीव ने ऐसे मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध कर लिया है उसको सिद्ध भगवान कहते हैं। वे केवल शुद्ध परम वीतराग आत्मा हैं। उनके समान अपने आत्मा को जानकर अनुभव करना योग्य है।

धम्मं च चेयनत्वं, चेतन लष्यनेहि संजुत्तं।
अचेत असत्य विमुक्कं, धम्मं संसार मुक्ति सिवपंथं॥ ७१० ॥

अन्वयार्थ– (धम्मं च चेयनत्वं) धर्म आत्मा का चेतनपना है अर्थात् आत्मा का आत्मा रूप अनुभव करना है (चेतन लष्यनेहि संजुत्तं) धर्म का लक्षण ही चेतना है (अचेत असत्य विमुक्कं) जहाँ न तो अज्ञान है न कोई मिथ्याभाव है (धम्मं संसार मुक्ति सिवपंथं) ऐसा आत्मा का धर्म या स्वभाव संसार से छुड़ाने वाला और मोक्ष का मार्ग है।

भावार्थ– वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। आत्मा का जो स्वभाव है वह आत्मा का धर्म है। आत्मा स्वभाव से चेतना लक्षण है, यही आत्मा का धर्म है। जहाँ आत्मा कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना से रहित हो ज्ञान चेतना का अनुभव करता है वहीं वह अपने धर्म में है। ऐसा ज्ञानानुभव रूप या आत्मानुभव रूप धर्म ही वीतरागता के भाव को लिये हुए है। अतएव कर्मों की निर्जरा का कारण है। नवीन कर्मों का संवर करता है। इसी के बारम्बार अभ्यास से यह आत्मा एकदम संसार से छूटकर मुक्त हो जाता है।

पंच अष्यर उत्पन्नं, पंचम न्यानेन समय संजुत्तं।
रागादि मोह मुक्तं, संसारे तरंति सुध सभावं॥ ७११ ॥

अन्वयार्थ– (पंच अष्यर उत्पन्नं) इस पाँच अक्षरी "ॐ नमः सिद्धं" मंत्र के वाच्य परम शुद्ध सिद्धात्मा के अनुभव से उत्पन्न (पंचम न्यानेन समय संजुत्तं) पंचम केवलज्ञान तथा साम्यभाव सहित यह भव्य जीव (रागादि मोह मुक्तं) राग-द्वेषादि मोह भावों से छूटकर (सुध सभावं) शुद्ध आत्मिक भाव रूप होकर (संसारे तरंति) संसार से पार उतर जाता है।

भावार्थ– ॐ नमः सिद्धं मंत्र के जपने से व ध्याने से, सिद्ध भगवान को भाव नमस्कार करने से, सिद्ध रूप अपने ही आत्मा को अनुभव करने से धर्मध्यान होता है, फिर शुक्लध्यान होता है, जिससे चार घातिया कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान का व पूर्ण वीतरागता का लाभ हो जाता है। सर्व राग, द्वेष, मोहादि छूट जाता है। फिर चार अघातिया कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और यह आत्मा संसार से पार हो, मुक्त हो जाता है। यहाँ तारण स्वामी ने यह प्रेरणा की है कि मोक्ष के इच्छुक को उचित है कि इस पाँच अक्षरी मंत्र के द्वारा सिद्धों का स्वरूप विचार कर अपने आत्मा को सिद्ध स्वरूपमय ध्यावे।

♣ ♣ ♣

चौदह स्वर निरूपण

अप्प सहावं सुधं, अप्पा सुधप्पा सद्दहइ सुधं।
संसार भाव मुक्कं, अप्पा परमप्पयं च संसुधं॥ ७१२॥

अन्वयार्थ- (अप्पा) आत्मा (सुधं अप्प सहावं) शुद्ध आत्मा के स्वभाव को (सुधप्पा सुधं सद्दहइ) शुद्धात्मा रूप शुद्ध श्रद्धान में लाता है (संसार भाव मुक्कं) संसार के रागादि भावों से छूटकर (अप्पा संसुधं परमप्पयं च) आत्मा परम शुद्ध श्रेष्ठ मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ- यहाँ प्रथम अ अक्षर स्वर को लेकर विचार किया गया है। आत्मा जब अपने को द्रव्यदृष्टि से शुद्ध सिद्ध सम श्रद्धान में लाता है और सर्व रागादि व संकल्प-विकल्पों से छूटकर अपने ही शुद्ध आत्मा के ध्यान में एकाग्र होकर आत्मानुभव करता है तब स्वयं ही परम पद मोक्ष को पा लेता है।

आदि अनादि सुधं, सुधं सचेयन अप्प सभावं।
मिथ्यात राग विमुक्कं, आकारे विमल निम्मलं सुधं॥ ७१३॥

अन्वयार्थ- (आदि अनादि सुधं) कर्म का संबंध जो प्रवाह की अपेक्षा अनादि है व नवीन बंध की अपेक्षा सादि है उस सर्व कर्म बंध से जो रहित हो गए हैं (मिथ्यात राग विमुक्कं) संसार संबंधी मिथ्या राग जिनके नहीं रहा है (सुधं सचेयन अप्प सभावं) जो शुद्ध चेतनामय आत्मा का सत्ता रूप है (आकारे विमल निम्मलं सुधं) जिनके आत्मा के प्रदेश सब अतिशय निर्मल व शुद्ध हैं। ऐसे ही सिद्धात्मा ध्यान के योग्य हैं।

भावार्थ- यहाँ 'आ' अक्षर को विचारा गया है। आत्मा और कर्म का परस्पर सम्बन्ध अनादि प्रवाह की अपेक्षा अनादि है तथापि कर्म अपनी एक स्थिति को लिए हुए बँधते हैं व उसी स्थिति के भीतर वे झड़ जाते हैं। इस अपेक्षा कर्म का संबंध आत्मा से सादि है। ऐसे सर्व द्रव्य कर्मों से, रागादि पाप कर्मों से व शरीरादि नोकर्मों से रहित होकर जो शुद्ध चेतनामय स्वभाव में लीन हैं, जिनके आत्मा के सर्वप्रदेश स्फटिक मणि के समान शुद्ध झलक रहे हैं, वे ही सिद्ध भगवान हैं। उनका ध्यान सदाकाल करना योग्य है।

इस्ट संजोयं सुधं, इय दंसन न्यान चरन सुधानं।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, अप्पा परमप्पयं च जानेहि॥ ७१४॥

अन्वयार्थ- (इस्ट संजोयं सुधं) जहाँ शुद्ध इष्ट संयोग है (इय दंसन न्यान चरन सुधानं) जहाँ शुद्ध या निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता का लाभ है (मिथ्या सल्य विमुक्कं)

जहाँ मिथ्यात्व की शल्य नहीं है (अप्पा परमप्पयं च जानेहि) वहीं आत्मा को परम पद का होना जानना चाहिए।

भावार्थ- यहाँ 'इ' अक्षर पर विचार है। बज्रवृषभनाराच संहनन आदि मुक्ति के योग्य शुभ सामग्री का मिलना परम इष्ट संयोग हैं तब यथार्थ मोक्ष का साधक निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मानुभव का होना परम इष्ट संयोग है। मिथ्या, माया, निदान शल्य रहित जो भव्य जीव निश्चय मोक्ष मार्ग को भले प्रकार साधन करता है, वह परम पद को शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

ईर्जा पंथ निवेदं, ति अर्थं संजुत्त न्यान संपन्नं।
कुन्यान मोह विरयं, ईर्जा पंथ सु निम्मलं सुधं॥ ७१५॥

अन्वयार्थ- (ईर्जा पंथ निवेद) ईर्जा पंथ अर्थात् मोक्ष गमन के यथार्थ शुद्ध मार्ग का जो अनुभव करते हैं वे (ति अर्थं संजुत्त न्यान संपन्न) रत्नत्रय सहित आत्मज्ञान के धारी होते हैं (कुन्यान मोह विरयं) वे मिथ्या श्रद्धान में कभी रचते नहीं हैं (सु निम्मलं सुधं ईर्जा पंथ) वे परम निर्मल शुद्ध मोक्ष मार्ग पर चलते हैं।

भावार्थ- यहाँ 'ई' स्वर पर विचार है। चार हाथ भूमि देखकर चलना ईर्या समिति है। यहाँ मोक्ष मार्ग में मन, वचन, काय की गुप्ति सहित चलना ईर्यापंथ है, ऐसा झलकाया है। जहाँ रत्नत्रय की एकता होती है, आत्मानुभव होता है, वहाँ यथार्थ मोक्ष मार्ग है। वहाँ सम्यग्दर्शन के प्रभाव से मिथ्या श्रद्धान व मिथ्या ज्ञान अवकाश नहीं पाता है। भव्यात्मा इसी मार्ग पर चलकर परम पद को पाते हैं।

उत्पन्न न्यान सुधं, न्यानमई निस्व तत्त ससरुवं।
तत्तु अतत्तु निवेदं, मल मुक्तं च दंसनं ममलं॥ ७१६॥

अन्वयार्थ- (उत्पन्न सुधं न्यान) जहाँ शुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो गया है, (न्यान मई निस्व तत्त ससरुवं) जहाँ ज्ञानमयी निश्चय तत्त्व निज आत्मा के स्वरूप का अनुभव है, (तत्तु अतत्तु निवेदं) जहाँ तत्त्व-अतत्त्व का भेद विज्ञान है (मल मुक्तं च दंसनं ममलं) वह मल रहित निर्मल सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- यहाँ तीन स्वर पर विचार है। निश्चय सम्यग्दर्शन का धारी वही आत्मा है, जिसको आत्मा व पर का भेद विज्ञान पैदा होकर निर्मल ज्ञान हो गया है, जिसको अपना स्वरूप ज्ञानमयी रागादि से भिन्न झलक गया है। जहाँ निज आत्म तत्त्व का पर से भिन्न यथार्थ अनुभव है।

ऊर्धं ऊर्ध सभावं, ऊर्धं संजुत्तु, दिट्ठि दंसनं ममलं।
विषय कषाय विमुक्कं, ऊर्धं संमत्त सुध संवरनं॥ ७१७॥

अन्वयार्थ- (ऊर्धं ऊर्ध सभावं) श्रेष्ठ में श्रेष्ठ श्री सिद्ध भगवान का स्वभाव है (ऊर्धं संजुत्तु दिट्ठि दंसनं ममलं) जहाँ सिद्ध स्वरूप पर दृष्टि है वहीं निर्मल सम्यग्दर्शन है (विषय कषाय विमुक्कं) वहाँ

पाँच इन्द्रियों के विषयों का व क्रोधादि कषायों का त्याग है (ऊर्ध समस्त सुध संवरन) वहाँ श्रेष्ठ या उत्तम या निश्चय सम्यक्त्व है जो शुद्ध है व संवर रूप है, कर्मों के आस्रवों को रोकने वाला है।

भावार्थ- तीन जगत में सबसे महान आत्मा श्री सिद्ध परमात्मा है। जो कोई सिद्धों को पहचान कर उनके स्वरूप के समान अपने आत्मा के स्वरूप को ध्याता है, वह विषय कषायों से पराङ्मुख होकर निज आत्मा के स्वभाव में तन्मय होता है, वही निश्चय सम्यक्त्व का अनुभव करने वाला यथार्थ में संवररूप है। वह वीतराग भाव से कर्मों के आस्रवों को रोक रहा है। यहाँ ऊ स्वर पर विचार किया गया है।

ऋजु विपुलं च सहावं, सुध ज्ञानेन न्यान संजुत्तं।
संसार सरनि विरयं, अप्पा परमप्प सुध सभावं॥ ७१८ ॥

अन्वयार्थ- (ऋजु विपुलं च सहावं) जिस साधु के आत्म-स्वभाव में रमण करने से ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गए हैं (सुध ज्ञानेन न्यान संजुत्तं) जो शुद्धात्मा के ध्यान में तन्मय होकर ज्ञान का आराधन कर रहे हैं (संसार सरनि विरयं) संसार के मार्ग से विरक्त हैं (अप्पा परमप्प सुध सभावं) उनकी ही आत्मा परमात्मा के शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है।

भावार्थ- यहाँ 'ऋ' अक्षर पर विचार है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी ऋद्धिधारी साधु उसी भव से मोक्ष को जाते हैं। ऐसे साधु शुक्लध्यान की अग्नि जलाकर शुद्धोपयोग में रमण करते हुए घातिया कर्मों का क्षय करके अर्हंत परमात्मा हो जाते हैं और फिर चारों अघातियों का भी क्षय करके सिद्ध हो जाते हैं। यह सब शुद्धध्यान की महिमा है।

रीनं कम्म कलंकं, रीनं चौगई संसार सरनि मोहंधं।
रुचियंति ममल ज्ञानं, धम्मं सुक्कं च ममल अप्पानं॥ ७१९ ॥

अन्वयार्थ- (रीनं कम्म कलंकं) जिन्होंने कर्म के कलंक को धो डाला है (रीनं चौगई संसार सरनि मोहंधं) तथा संसार में भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व को दूर बहा दिया है (रुचियंति ममल ज्ञानं) जिनको निर्मल ध्यान की रुचि हो गई है (धम्मं सुक्कं च ममल अप्पानं) वे ही निर्मल आत्मा का अनुभव करते हुए धर्म तथा शुक्लध्यान को ध्याते हैं।

भावार्थ- यहाँ 'ॠ' अक्षर पर विचार है। मिथ्यात्व का क्षय करने वाले क्षायिक सम्यक्त्वी जीव निरन्तर कर्मों की निर्जरा करते हुए निर्मल रुचि रखते हैं। वे ही साधुपद में पहले धर्मध्यान का अभ्यास करते हैं फिर शुक्लध्यान को ध्याकर निर्मल आत्मा का अनुभव करते हुए सर्व कर्म कलंक को धोकर परमात्मा हो जाते हैं।

लिंगं च जिनवरिंदं, छिन्नं परभाव कुमय अन्यानं।
अप्पा अप्प संजुत्तं, परमप्पा परम भावेन॥ ७२०॥

अन्वयार्थ– (लिंगं च जिनवरिंदं) जो जिनेन्द्र भगवान के समान भाव व द्रव्य लिंग के धारी हैं वे (छिन्नं परभाव कुमय अन्यानं) रागादि परभाव तथा मिथ्यामति व मिथ्याश्रुतज्ञान के क्षय करने वाले हैं (अप्पा अप्प संजुत्तं परमभावेन परमप्पा) उनका आत्मा, आत्मा के स्वभाव में लीन होकर उत्कृष्ट ध्यान के प्रताप से परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ– यहाँ 'लृ' अक्षर पर विचार है। मोक्ष का मार्ग वही भावलिंग या द्रव्यलिंग है जिसे श्री जिनेन्द्र भगवान ने तप के समय धारण किया था। भावलिंग रत्नत्रय की एकता है। द्रव्यलिंग दिगम्बर नग्न बालक के समान सहज स्वभावी है। ऐसे निर्ग्रंथ साधु मिथ्यात्व के अभाव से सर्व मिथ्याज्ञान से रहित होकर सम्यग्ज्ञान में लीन हैं तथा अपने आत्मा को परमात्मा स्वरूप ध्याते हुए कर्मों का नाश कर परमात्मा हो जाते हैं। यहाँ यह साफ बता दिया है कि बाहरी लिंग अंतरंग भावों के लिए निमित्त कारण है। जब बाहरी सर्व वस्त्रादि परिग्रह का त्याग होगा तब ही अंतरंग में ऐसा निर्ममत्व भाव जागृत होगा, जिसके प्रताप से प्रमत्तादि साधु के गुणस्थान हो सकें और आत्मा मोक्ष पथ पर चढ़ता चला जावे।

लीला अप्प सहावं, पर दव्वं चवई सव्हा सव्वे।
अप्पा परमप्पानं, लीला परमप्प निम्मलं न्यानं॥ ७२१॥

अन्वयार्थ– (अप्प सहावं लीला) जो अपने आत्मा के स्वभाव में क्रीड़ा करते हैं (सव्वे पर दव्वं सव्हा चवई) सर्व पर-द्रव्यों को जिन्होंने सर्वथा त्याग दिया है (अप्पा परमप्पानं लीला) आत्मा को परमात्मस्वरूप में क्रीड़ा करने से (निम्मलं न्यानं परमप्प) आत्मा कर्म रहित वीतराग परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ– यहाँ 'लृ' अक्षर को विचार किया गया है। जो महात्मा सर्व पर-द्रव्यों में क्रीड़ा करना छोड़कर एक अपने आत्मा के स्वभाव में ही क्रीड़ा करते हैं - रमण करते हैं - आत्मानुभव करते हैं वे अवश्य कर्मों से रहित हो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा हो जाते हैं।

एयं सुध सहावं, एयं संसार सरनि विगतो यं।
एयं च सुध भावं, सुधप्पा न्यान दंसनं सुधं॥ ७२२॥

अन्वयार्थ– (एयं सुध सहावं) एक शुद्ध स्वभाव में जहाँ रमण है, (एयं संसार सरनि विगतो यं) जो एक आप ही संसार के मार्ग से रहित हैं, (एयं च सुध भावं) एक ही शुद्ध भाव को धारकर जो (न्यान दंसनं सुधं) शुद्ध ज्ञान व दर्शन में लीन होता है, वही (सुधप्पा) शुद्ध आत्मा हो जाता है।

भावार्थ- यह आत्मा एक अकेला ही संसार में भ्रमण करता है व आप अकेला ही मोक्ष मार्ग पर चलकर मुक्त हो जाता है। जब यह संसार के कारणीभूत राग, द्वेष, मोह भावों से रहित होकर एक अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव में ठहरकर, स्वात्म रमण करता है तब यह आप ही शुद्धात्मा हो जाता है। यहाँ 'ए' अक्षर का विचार किया गया है।

ऐयं इय अप्पानं, अप्पा परमप्प भावना सुधं।
रागं विषय विमुक्कं, सुध सहावेन सुध सम्मत्तं ॥ ७२३ ॥

अन्वयार्थ- (इय अप्पानं ऐयं) जहाँ एक अपने आत्मा से ही एकपना हो रहा है (अप्पा परमप्प भावना सुधं) आत्मा परमात्मा की शुद्ध भावना में लीन है (रागं विषय विमुक्कं) पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग से जो मुक्त है (सुध सहावेन सुध सम्मत्त) और शुद्ध अपने स्वभाव में रत है वहीं शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- यहाँ 'ऐ' अक्षर पर विचार किया है। अपने ही शुद्ध स्वभाव से एकमेक होकर व सर्व विषय-वासना के राग से मुक्त होकर जो शुद्ध स्वभाव में तल्लीन है वही निश्चय सम्यग्दर्शन का धारी है।

उवं ऊर्ध सहावं, अप्पा परमप्प विमल न्यानस्य।
मिथ्या कुन्यान विरयं, सुधं च ममल केवलं न्यानं ॥ ७२४ ॥

अन्वयार्थ- (उवं ऊर्ध सभावे) ॐ अक्षर में सिद्ध भगवान का श्रेष्ठ स्वभाव झलक रहा है (अप्पा परमप्प विमल न्यानस्य) जब आत्मा ॐ के द्वारा परमात्मा के निर्मल ज्ञान में एकाग्र हो जाता है (मिथ्या कुन्यान विरयं) मिथ्या श्रद्धान और मिथ्याज्ञान से विरक्त हो जाता है, तब इसे (सुधं च ममल केवलं न्यानं) शुद्ध निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ- यहाँ 'ओ' अक्षर का विचार किया गया है। ओ के भीतर परमात्मा के निर्मल स्वभाव का दर्शन होता है। जो कोई मिथ्यात्व को त्याग कर इस निर्मल आत्म स्वभाव में लीन हो जाता है, वही शीघ्र ही केवलज्ञान को पा लेता है।

औकासं उवएसं, औकासं विमल ज्ञान अप्पानं।
संसार विगत रुवं, औकासं लहन्ति निव्वानं ॥ ७२५ ॥

अन्वयार्थ- (औकासं उवएसं) अभ्यन्तर आत्मा संबंधी यही उपदेश है कि (औकासं विमल अप्पानं ज्ञान) निर्मल केवल आत्मा का ही ध्यान ही अभ्यन्तर में जिसके रहता है वह (संसार विगत रुवं) संसार के विभावों से छूटकर (औकासं निव्वानं लहन्ति) अभ्यन्तर में ही निर्वाण को पाता है।

भावार्थ- यहाँ 'औ' अक्षर का विचार किया गया है। निर्वाण और निर्वाण का मार्ग दोनों भीतर आत्मा में ही हैं। जो कोई बहिरात्मापना छोड़कर तथा अन्तरात्मा होकर शुद्धात्मा को ध्याता है, वही निर्वाण को पाता हैं। केवल बाहरी क्रियाकांड से मुक्ति नहीं होती है। आत्मा का पूर्ण स्वभाव मोक्ष है तथा अपूर्ण स्वभाव मोक्षमार्ग है।

अप्पा परमप्पानं, घाय चवक्कय विमुक्क संसारे।
रागादि दोस विरयं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं ॥ ७२६ ॥

अन्वयार्थ- (अप्पा) आत्मा (संसारे) संसार में (रागादि दोस विरयं) रागादि दोषों से विरक्त होकर (परमप्पानं) व परमात्मामयी स्वरूप में लय होकर (घाय चवक्कय विमुक्क) चार घातिया कर्मों से छूटकर (अप्पा) आप ही (निम्मलं सुधं परमप्प) निर्मल शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ- आत्मा के शुद्ध होने का उपाय आत्मा का ही वीतराग विज्ञानमय होकर ध्यान करना है। जब शुद्धोपयोग रूप शुक्लध्यान प्रकाशित होता है तब ज्ञानावरणादि चारों घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है और यह आत्मा स्वयं अर्हंत परमात्मा हो जाता है।

अह अप्पा परमप्पा, न्यान संजुत्तं सुदंसनं सुधं।
संसार सरनि विमुक्कं, परमप्पा लहै निव्वानं ॥ ७२७ ॥

अन्वयार्थ- (अप्पा) यह आत्मा (न्यान संजुत्तं सुदंसनं सुधं) शुद्ध सम्यग्दर्शन व शुद्ध ज्ञान सहित होकर जब (संसारे सरनि विमुक्कं) संसार के मार्ग से वैरागी होकर (अह परमप्पा) निरन्तर परमात्मा रूप अपने को ध्याता है तो यही (परमप्पा लहै निव्वानं) परमात्मा होकर निर्वाण को पाता है।

भावार्थ- रत्नत्रय व्यवहार तथा निश्चय उभय रूप है। जो कोई व्यवहार रत्नत्रय द्वारा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप अपने आत्मा का बार-बार अनुभव करता है - संसार के रस से विरक्त होकर आत्मिक रस का पान करता है, तो वह अवश्य कर्मबंध से छूटकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

सुर चौदस संसुधं, नंत चतुस्टय विमल सुधं च।
सुधं न्यान सरुवं, सुर विंदं ममल न्यान ससहावं ॥ ७२८ ॥

अन्वयार्थ- (सुर चौदस सुंसुधं) चौदह स्वरों के द्वारा परम शुद्ध (नंत चतुस्टय विमल सुधं च) अनंत चतुष्टय विराजमान कर्ममल रहित निर्दोष आत्मा के (सुधं न्यान सरुवं) शुद्ध ज्ञान स्वरूप का ध्यान करना चाहिये (सुर ममल न्यान ससहावं विंदं) अर्थात् इन स्वरों के द्वारा निर्मल ज्ञान स्वभावी अपने आत्मा का अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ– यहाँ चौदह स्वरों को लेकर आत्मा के तत्त्व का विचार किया है -अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ— इन चौदह स्वरों की अपेक्षा से परमात्मा के स्वरूप का मनन किया गया है। अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वभाव का स्वयं स्वाद लिया गया है। मुमुक्षु जीव को उचित है कि एक एक स्वर का मनन करते हुए उसके सहारे से आत्मा का ध्यान करे।

* * *

तेतीस व्यंजन निरूपण

विंजन स एन सुधं, सुधप्पा न्यान दंसनं परमं।
परमं परमानंदं, न्यान सहावेन विंजनं विमलं॥ ७२९॥

अन्वयार्थ– (स सुधं विंजन) वही शुद्ध व्यंजन है (एन सुधप्पा न्यान दंसनं परमं) जिसके द्वारा शुद्ध ज्ञान-दर्शन गुणों का बोध हो (परमं परमानंदं) श्रेष्ठ परमानंद का लाभ हो (न्यान सहावेन विमलं विंजनं) तथा ज्ञान स्वभाव के अनुभव द्वारा निर्मल आत्मा का प्रकाश हो।

भावार्थ– अब आगे तैंतीस क ख आदि व्यंजनों के आलम्बन से विचार करेंगे। वे ही शब्द व वे ही अक्षर सार्थक हैं जिनके द्वारा अपना आत्मा यथार्थ द्रव्यरूप अविनाशी ज्ञाता-दृष्टा परमानंदमयी झलके व अपना उपयोग निजात्मिक स्वभाव में लवलीन हो जावे और निजानंद का स्वाद मिल सके तथा यह संसारी से सिद्ध हो जावे।

क का कम्म षिपनं, क का वर ज्ञान केवलं न्यानं।
क का कमल सुवन्नं, कम्मं षिपति सुध ज्ञानत्थं॥ ७३०॥

अन्वयार्थ– (क का कम्म षिपन) क अक्षर बताता है कि कर्मों का क्षय कर देना चाहिए (क का वर ज्ञान केवलं न्यानं) क अक्षर समझाता है कि श्रेष्ठ ज्ञान जो केवलज्ञान है उसको प्राप्त करना चाहिए (क का कमल सुवन्नं) क अक्षर उन स्वर्णमयी कमलों की स्मृति कराता है जिनको तीर्थंकर भगवान के अर्हंत अवस्था के समय विहार करते हुए देवतागण रचते हैं (कम्मं षिपति सुध ज्ञानत्थं) क अक्षर बताता है कि निर्मल ध्यान में जमकर कर्मों का नाश कर देना चाहिए।

भावार्थ– यहाँ 'क' अक्षर पर विचार किया गया है। इसके द्वारा अपना भाव आत्मा की शुद्धावस्था पर खींचा गया है कि जिन कर्मों ने आत्मा का स्वभाव रोक रखा है, उन कर्मों का क्षय कर देना चाहिये और केवलज्ञान को प्रकाश करना चाहिए।

षषा षिपति सु कम्मं, षिपक स्रेनि षवइ संसारं।
मिथ्या कुन्यान षिपनं, अप्प सरुवं च न्यान सहकारं ॥ ७३१ ॥

अन्वयार्थ- (षषा षिपति सुकम्मं) ष अक्षर द्वारा अपने कर्मों को क्षय करने का विचार करना चाहिए (षिपक स्रेनि षवइ संसारं) क्षपक श्रेणी के गुणस्थानों पर चढ़ने से ही संसार का क्षय होता है (मिथ्या कुन्यान षिपनं) मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान का क्षय करना योग्य है (अप्प सरुवं च न्यान सहकारं) इस कार्य के हेतु आत्मा के स्वरूप का ज्ञान सहकारी है।

भावार्थ- 'ष' अक्षर पर विचारते हुए यही भावना की गई है कि मिथ्यात्व का व मिथ्याज्ञान का क्षय किया जावे तथा चारित्र की वृद्धि करके क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर चार घातिया कर्मों को, जो संसार में भ्रमण कराने वाले हैं, क्षय किया जावे और आत्मा को परमात्मा में बदल दिया जावे। इस सब काम के लिए निश्चय सम्यग्दर्शन के लाभ की आवश्यकता है। जिससे आत्मा का स्वभाव द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म से भिन्न सिद्ध सम शुद्ध ज्ञानाकार झलके। यही आत्मानुभव आत्मा को शुद्ध करने वाला है व सब कर्मों के क्षय का अमोघ बाण है।

गगा गमन सहावं, न्यानं झानं च अप्पयं विमलं।
तिक्तंति सयल मोहं, विक्तं रुवेन भावना निस्वं ॥ ७३२ ॥

अन्वयार्थ- (गगा गमन सहावं) ग अक्षर से गमन स्वभावी अर्थात् परिणमन स्वभावी और ज्ञान स्वभावी आत्मा पर लक्ष्य देना चाहिए (न्यानं झानं च अप्पयं विमलं) निर्मल आत्मा का ही ज्ञान व उसी का ही ध्यान करना चाहिए। (तिक्तंति सयल मोहं) सर्व मोह को त्याग देना चाहिए (विक्तं रुवेन निस्वं भावना) प्रगट आत्मा के स्वभाव पर लक्ष्य देकर निश्चय स्वरूप की भावना करनी चाहिए।

भावार्थ- यहाँ 'ग' अक्षर पर विचार है। गमन शब्द का अर्थ परिणमन भी है और ज्ञान भी है। इससे आत्मा का बोध होता है। आत्मा द्रव्य है, इससे परिणमनशील भी और ज्ञान स्वरूप भी है। आत्मा के सच्चे स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करके हमको अपना उपयोग और सब संसार के मोहजनित कर्मों से हटा करके बिल्कुल निर्मोही तथा निस्पृही होकर निज आत्मा का ही ध्यान करना चाहिए। निश्चय निज आत्मा की ही प्रगट रूप से भावना करना चाहिए अर्थात् मैं ही आत्मा हूँ ऐसा जानकर स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा उसी का ही अनुभव करना चाहिए।

घ घाय कम्म मुक्कं, घन असमूह कम्म निद्दलनं।
घन न्यान झान सुधं, सुध सरुवं च सुधमप्पानं ॥ ७३३ ।

अन्वयार्थ- (घ घाय कम्म मुक्कं) आत्मा के साथ गाढ़ रूप से अनादि से प्रवाह रूप बँधे चले आए हुए इन ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का नाश करना चाहिए (घन असमूह कम्म निद्दलनं) अत्यंत

गाढ़े बन्ध हुए अनंत कर्मों के समूह का क्षय कर देना चाहिए (घन न्यान ज्ञान सुघं) दृढ़ता से निश्चय पूर्वक आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके शुद्ध आत्मा का ही दृढ़ता से ध्यान करना चाहिए (सुघ सरुवं च सुधमप्पानं) जिससे शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रकाशमान हो जावे।

भावार्थ– यहाँ 'घ' अक्षर पर विचार है। इस अक्षर के द्वारा अनादिकाल से आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप गाढ़ संबंध रखने वाले घातिया तथा अघातिया अनंत कर्म समूह को क्षय करने के लिए अपने ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसी का ही ध्यान करना चाहिए। आत्मध्यान की अग्नि में ही यह शक्ति है जो कर्मों को जला देवे और आत्मा का शुद्ध स्वरूप झलका देवे।

नाना प्रकार सुधं, न्यानं ज्ञानं च सुध ससरुवं।
निदलंति कम्म मलयं, नंतानंत चतुस्टयं ममलं ॥ ७३४ ॥

अन्वयार्थ– (नाना प्रकार सुधं) अनेक प्रकार से शुद्ध अर्थात् संशय विमोह विभ्रम रहित (न्यानं ज्ञानं च सुध ससरुवं) सम्यग्ज्ञान के द्वारा अपने ही शुद्ध स्वरूप का ध्यान (कम्म मलयं निदलंति) कर्म रूपी मैल को नाश कर डालता है (नंतानंत चतुस्टयं ममलं) तथा निर्मल अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य तथा अनंतसुख का प्रकाश कर देता है।

भावार्थ– यहाँ 'ङ' अक्षर पर विचार किया है। जिसको नकार ध्यान में लेकर नाना प्रकार के मिथ्याज्ञान संशयादि पर लक्ष्य दिया गया है कि इन सर्व विकारों से रहित आत्मा व पर का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके आत्मा का स्वभाव यथार्थ जान करके उसी का ही ध्यान करना चाहिए। आत्म ध्यान में ही यह शक्ति है कि जिससे कर्म मैल कट जावे और आत्मा के केवलज्ञानादि गुण प्रकाशमान हो जावे।

चेयन गुन संजुत्तं, चित्रं चिंतयति तियलोयं।
गय संकप्प वियप्पं, चेयन संजुत्त अप्प ससरुवं ॥ ७३५ ॥

अन्वयार्थ– (चेयन गुन संजुत्तं चित्रं) चेतन गुण सहित आत्मा या मन (तियलोयं चिंतयन्ति) तीन लोक के स्वरूप का विचार करता है, परन्तु (गय संकप्प वियप्पं) जब उस मन के सर्व संकल्प-विकल्प मिट जाते हैं तब (चेयन संजुत्त अप्प ससरुवं) चेतन गुण सहित आत्मा का निज स्वरूप ही अनुभव में आता है।

भावार्थ– यहाँ 'च' अक्षर पर विचार किया गया है। चित्त या भावमन आत्मा के अशुद्ध चंचल उपयोग को कहते हैं। इस मन का ही यह काम है जो तीन लोक के स्वरूप का या तीन लोक जिन से भरा है उन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्योंके स्वरूप का गुणपर्याय रूप विचार कर जब यह मन थम जाता है, तब सर्व संकल्प विकल्प मिट जाते हैं। अहंकार, ममकार, राग,

द्वेष नयों के भेदरूप विचार सब बन्द हो जाते हैं, तब आत्मा स्वयं निश्चल चेतन स्वरूप में वीतरागता सहित आपको झलक जाता है। अर्थात् आत्मा का अनुभव हो जाता है। समाधिशतक में कहा है -

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्वं स तत्वं नेतरो जनः॥ ३५॥

भावार्थ- जिसका मनरूपी जल राग द्वेषादि तरंगों से चलायमान नहीं है, वही आत्मा के तत्त्व को अनुभव कर सकता है, दूसरा मनुष्य कोई नहीं कर सकता है।

छै काय क्रिया जुत्तं, क्रया ससहाव सुध परिनामं।
संसार विषय विरयं, मल मुक्कं दंसनं ममलं॥ ७३६॥

अन्वयार्थ- (छै काय क्रिया जुत्त) जो छः काय के प्राणियों पर दयावान है (क्रया ससहाव सुध परिनामं) अहिंसामय आत्मिक स्वभावरूप शुद्ध परिणामों के धारी हैं (संसार विषय विरयं) संसार के विषय भोगों से विरक्त हैं (मल मुक्कं दंसनं ममलं) दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन के धारी हैं, वे ही मोक्षगामी हैं।

भावार्थ- दयावान साधु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन छः कायधारी प्राणियों के ऊपर करूणाभाव से वर्तते हुए इनकी रक्षा करते हैं। उनका परिणाम ही अहिंसामयी वीतराग निज स्वभाव में आसक्त होता है। वे सर्व विषय-भोगों के राग से पूर्णतया विरक्त हैं। उन्हीं के शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, जिसके प्रताप से वे आत्मानुभव करते हुए मोक्ष मार्ग के पथिक हो रहे हैं। यहाँ छः अक्षर पर विचार है।

जैवंतं जिनवयनं, जयवंतं विमल अप्प सहावं।
कम्म मल पयडि मुक्कं, अप्प सहावेन न्यान ससहावं॥ ७३७॥

अन्वयार्थ- (जिनवयनं जैवंतं) जिनवाणी की जय हो (विमल अप्प सहावं जयवंतं) उसी वाणी द्वारा प्रगट निर्मल आत्मा का स्वभाव जयवन्त हो (अप्प सहावेन न्यान ससहावं) जिस आत्मा के स्वभाव में ठहरने से आत्मज्ञान की सहायता से (कम्म मल पयडि मुक्कं) कर्ममल की प्रकृतियों से आत्मा छूट जाता है।

भावार्थ- यहाँ 'ज' अक्षर का विचार किया गया है। श्री जिनेन्द्र देव द्वारा कथित आगम परम वंदनीय व प्रशंसनीय है, जिसके अभ्यास करने से भव्यजीव को अपने निर्मल आत्मा का ज्ञान सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से रहित झलक जाता है। वे भव्यजीव इसी आत्म स्वभाव का अनुभव करते हुए आत्मज्ञान के बल से ऐसी प्रबल ध्यान की अग्नि जलाते हैं, जिससे कर्मों का मैल उड़ जाता है और आत्मा पवित्र हो जाता है।

ज्ञान सहावं सुधं, धम्मं सुक्कं च ज्ञान निम्मलयं।
कम्म कलंक विमुक्कं, न्यानमइ ज्ञानारूढ संजुत्तो ॥ ७३८ ॥

अन्वयार्थ- (ज्ञान सहावं सुधं) आत्मध्यान का स्वरूप वीतरागमय है (धम्मं सुक्कं च ज्ञान निम्मलयं) ऐसे निर्मल ध्यान धर्म तथा शुक्ल हैं (न्यानमइ ज्ञानारूढ संजुत्तो) जो कोई सम्यग्दर्शन के साथ ध्यानारूढ़ होते हैं वे (कम्म कलंक विमुक्कं) कर्मों के कलंक से छूट जाते हैं।

भावार्थ- यहाँ 'ज्ञ' अक्षर पर विचार किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक ध्यान ही सच्चा शुद्धध्यान है, इस ही को धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हैं। जो कोई इन दोनों ध्यानों का क्रमशः अभ्यास करते हैं, वे सर्व कर्मों से शुद्ध होकर सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

नंतानंत सुदिट्ठं, नंतं संसार सरनि विलयन्ति।
विलयंति कम्म मलयं, न्यान सहावेन सुध भावं च ॥ ७३९ ॥

अन्वयार्थ- (नंतानंत सुदिट्ठं) अनन्तानंत ज्ञानादि गुणों के धारी आत्मा का जो भले प्रकार अनुभव करने वाला है, उसके (नंतं संसार सरनि विलयन्ति) अनंत संसार का मार्ग विला जाता है, (न्यान सहावेन सुध भावं च) वह आत्मिक ज्ञान के स्वभाव से शुद्ध स्वरूप में वर्तन करता हुआ, (कम्म मलयं विलयंति) कर्म मल का क्षय करता है।

भावार्थ- यहाँ 'च' वर्ग का पाँचवां अक्षर 'ञ' है, उसके स्थान पर न का विचार किया गया है। आत्मा अनंत ज्ञानादि गुणों का समुदाय है। जो कोई भव्यजीव परम श्रद्धा सहित अपने आत्मा को जान करके उसी का मनन तथा अनुभव करते हैं, उनका संसार कारणीभूत मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। वे सम्यग्दृष्टि जीव अपनी ज्ञान चेतना का विलास लेते हुए परम वीतरागता के प्रभाव से सर्व कर्मों का क्षय करके परमात्मा हो जाते हैं।

टंकोत्कीर्नं ममलं, मल संसार सरनि विलयं च।
अप्प सहाव सुदिट्ठं, निद्दिट्ठं संजदो रुवं ॥ ७४० ॥

अन्वयार्थ- (टंकोत्कीर्नं ममलं) आत्मा का स्वभाव टांकी से उकेरी हुई मूर्ति के समान अविनाशी और शुद्ध है (मल संसार सरनि विलयं च) जहाँ संसार के भीतर भ्रमण कराने वाला कर्म मल बिलकुल नहीं है, (अप्प सहाव सुदिट्ठं) जिसने ऐसे आत्मा के स्वभाव को भले प्रकार अनुभव किया है, (संजदो रुवं निद्दिट्ठं) उसी को संयमी साधु का स्वरूप कहा गया है।

भावार्थ- यहाँ 'ट' अक्षर का विचार है। यह आत्मा अपने स्वभाव से ध्रुव है। जितने शुद्धज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि गुणों का धारी है, उतने गुण सदा बने रहते हैं। कोई भी गुण न तो कम होता है, न कोई गुण कहीं से नया आकर मिलता है। द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा देखा जावे तो आत्मा में

न तो कभी कर्म थे न अब हैं न आगामी कर्म संयोग पायेंगे। ऐसे सिद्धवत् शुद्ध आत्मा के स्वभाव का जो साधु अनुभव करने वाले हैं, वे ही सच्चे संयमी, यति अनगार हैं।

ठानं झानं झायदि, झायदि सुधं च ममल न्यानस्य।
झायंति सुध भावं, कम्म मल तिक्त असुह संसारे॥ ७४१॥

अन्वयार्थ- (ठानं झानं झायदि) हर एक गुणस्थान में या हर स्थान में साधु आत्मध्यान को ध्याते हैं (सुधं च ममल न्यानस्य झायदि) शुद्ध वीतराग ज्ञान का ही ध्यान करते हैं (सुध भावं झायंति) अर्थात् शुद्ध आत्मिक भाव का ही ध्यान लगाते हैं, जिससे (कम्म मल तिक्त असुह संसारे) कर्म मलों को छुड़ाकर इस आत्मा के अहितकारी संसार से पृथक् हो जाते हैं।

भावार्थ- यहाँ 'ठ' अक्षर का विचार किया गया है। साधुओं के गुणस्थान छः से बारह तक होते हैं। छठे-सातवें में साधु निर्मलज्ञान स्वभावी आत्मा का ध्यान करते हुए धर्मध्यान को ध्याते हैं, फिर आठवें से बारहवें तक शुक्लध्यान को ध्याते हैं, यहाँ शुद्धोपयोग की निर्मलता होती है। इसी से घातिया कर्म का नाशकर अरहंत हो जाते हैं। फिर तीसरे-चौथे शुक्लध्यान के बल से चार अघातिया कर्मों को भी क्षय कर सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं, इस भ्रमण रूप, जन्म-मरण रूप संसार के चक्र से हमेशा के लिए छूट जाते हैं।

डंड कपाटं दिट्ठं, दिट्ठं विमल दंसनं सुधं।
मिथ्यात राग विलयं, संसारे तजंति मोहंधं॥ ७४२॥

अन्वयार्थ- (डंड कपाटं दिट्ठ) केवल समुद्घात दंड कपाट प्रतर लोक पूर्ण करने वाले अरहंत को जिसने जाना है (विमल सुधं दंसनं दिट्ठ) निर्दोष शुद्ध सम्यग्दर्शन का जिसने अनुभव किया है (मोहंधं मिथ्यातराग विलयं) मोह में अन्धा करने वाले मिथ्यात्व के राग का जहाँ नाश हो गया है, वे ही (संसारे तजंति) संसार से छूट जाते हैं।

भावार्थ- मिथ्यात्व रहित सम्यग्दृष्टि जीव को श्री अरहंत भगवान ही सच्चे देव हैं, ऐसा दृढ़ श्रद्धान है, वह शुद्धात्मा को श्रुतज्ञान के बल से जानकर अनुभव करते हैं। इसी स्वात्मानुभव के प्रताप से धीरे-धीरे सर्व कर्मों से मुक्त होकर संसार रहित हो जाते हैं। यहाँ 'ड' अक्षर का विचार किया गया है।

ढ परमप्पा झानं, न्यान सरुवं च अप्प सभावं।
विकहा कषाय विरयं, अप्पा परमप्प भावना सुधं॥ ७४३॥

अन्वयार्थ- (ढ) निर्गुण अर्थात् औपाधिक गुण रागादि से रहित (परमप्पा झानं) परमात्मा का ध्यान है सोई (न्यान सरुवं च अप्प सभावं) ज्ञान स्वरूपी आत्मा की सत्ता में निवास है (विकहा कषाय

विरयं) न जहाँ कोई स्त्री-भोजनादि विकथा का विचार है न जहाँ क्रोधादि कषाय है, वहाँ (अप्पा परमप्प भावना सुधं) आत्मा परमात्मा की शुद्ध भावना में लीन है।

भावार्थ– यहाँ 'ढ' अक्षर का विचार किया गया है। 'ढ' का अर्थ निर्गुण है। अर्थात् जहाँ कोई रागादि विकार नहीं है, ऐसे परमात्मा का जो ध्यान है, वही निज शुद्ध आत्मा का ध्यान है। स्त्री, भोजन, देश व राजा-कथा के भावों को व क्रोध, मान, माया, लोभ के विकारों को दूर रखकर जो वीतराग भाव से शुद्धात्मा की भावना करते हैं, वे ही मोक्षमार्गी हैं।

नाना प्रकार दिट्ठं, न्यानं झानेन सुध परमिस्टि।
न्यानेन न्यान सुधं, न्यान सहावेन सुध ससहावं॥ ७४४॥

अन्वयार्थ– (सुध परमिस्टि झानेन) शुद्ध परमेष्ठी अर्हंत सिद्ध के ध्यान करने से (नाना प्रकार न्यानं दिट्ठं) अनेक प्रकार का ज्ञान प्रकाशित होता है (न्यानेन न्यान सुधं) ध्यान के द्वारा ही ज्ञान शुद्ध होता है (न्यान सहावेन सुध ससहावं) ज्ञान स्वभाव में लीन होने से ही शुद्ध आत्मा का स्वभाव झलक जाता है।

भावार्थ– शुद्ध आत्मा पर लक्ष्य देते हुए अर्हंत सिद्ध परमेष्ठी के आलम्बन से जब उपयोग को स्थिर करके आत्मध्यान किया जाता है, तब भावों की शुद्धता होने से ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, जिससे ज्ञान का विकास होने लगता है। ध्यान ही से पूर्ण श्रुतज्ञान हो जाता है, नाना प्रकार देशावधि, परमावधि व सर्वावधि ज्ञान झलकता है। ऋजुमति, विपुलमति, मनःपर्ययज्ञान हो जाता है। ध्यान के ही प्रताप से सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान झलक जाता है। आत्मा के ज्ञान स्वभाव में लीन होना ही ध्यान है। इसी आत्मिक ध्यान से आत्मा परमात्मा रूप हो जाता है। यहाँ 'ण' के स्थान पर 'न' अक्षर पर विचार किया गया है।

तरंति सुध भावं, तिक्तं तिय भाव सयल मिच्छत्तं।
अप्पा परु पिच्छंतो, तरन्ति संसार सायरे घोरे॥ ७४५॥

अन्वयार्थ– (सुध भावं तरंति) शुद्ध भाव ही प्राणियों को संसार सागर से तारने वाला है (सयल मिच्छत्तं भाव तिक्तं तिय) जहाँ सर्व मिथ्यात्व भाव का त्याग कर दिया जाता है (अप्पा परु पिच्छंतो) आत्मा और पर को भेद विज्ञान से भिन्न-भिन्न देखा जाता है वहीं शुद्ध भाव झलकता है। इसी शुद्ध भाव के धारी सम्यग्दृष्टि जीव (घोरे संसार सायरे तरन्ति) भयानक संसार रूपी समुद्र को तरके पार हो जाते हैं।

भावार्थ– यहाँ 'त' अक्षर पर विचार किया गया है। शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के उपयोग पुण्य तथा पाप कर्म के बाँधने वाले हैं, एक शुद्धोपयोग ही कर्मों की निर्जरा का कारण है। यह भव सागर से पार करने का जहाज है। पर्याय बुद्धि मिथ्यात्व है, इसको छोड़कर जो शुद्ध आत्मिक आनंद में रुचि रखकर अपने आत्मा को सर्व कर्मों से भिन्न जानकर अनुभव करता है, वही शुद्धोपयोग को पाता है। शुद्धोपयोगी साधु ही अरहंत व सिद्ध परमात्मा होते हैं।

थानं च सुध ज्ञानं, ति अर्थं पंच दीप्ति थान सुधं च।
मिथ्या कुन्यान तिक्तं, न्यान सहावेन थान सुधं च॥ ७४६ ॥

अन्वयार्थ- (सुध ज्ञानं च थाने) शुद्ध आत्मध्यान ही वह स्थान है, जहाँ (ति अर्थ) रत्नत्रय धर्म है (च पंच दीप्ति सुधं थान) तथा पाँचों ज्ञानों के प्रकाश का शुद्ध स्थान है या पाँच परमेष्ठी पदों के प्रकाश का शुद्ध स्थान है (मिथ्या कुन्यान तिक्तं) उस शुद्ध ध्यान में मिथ्यादर्शन तथा मिथ्याज्ञान नहीं है (न्यान सहावेन सुधं च थान) ज्ञान स्वभाव में लीन होने ही से परम शुद्ध स्थान जो मोक्ष है वह प्राप्त होता है।

भावार्थ- यहाँ 'थ' अक्षर पर विचार किया गया है। रागद्वेष रहित, वीतरागता सहित तथा मिथ्यात्व भाव और मिथ्याज्ञान की वासना से मुक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी रत्नत्रय से भूषित जो आत्मध्यान का अभ्यास करना है, वही मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान को प्रकाश करने वाला है अथवा इसी ध्यान से अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु के पाँच पद प्राप्त हो जाते हैं। मोक्ष का साधक ज्ञानमयी ध्यान ही है।

दर्सन सुधि निमित्तं, भावं सुधं च निम्मलं चिंतं।
न्यानेन न्यान रुवं, जिन उत्तं न्यान निम्मलं सुधं॥ ७४७ ॥

अन्वयार्थ- (दर्सन सुधि निमित्तं) सम्यग्दर्शन की शुद्धता के कारण से (सुधं भावं) शुद्ध भाव होता है (च निम्मलं चिंतं) और आत्मा कर्ममल से रहित शुद्ध होता है (न्यानेन न्यान रुवं) ज्ञान के द्वारा ज्ञान स्वभावी आत्मा का अनुभव करना चाहिये, इसी ध्यान के प्रताप से (जिन उत्तं निम्मलं सुधं न्यान) श्री जिनेन्द्र के कहे अनुसार कर्ममल रहित शुद्ध केवलज्ञान प्रकाशमान हो जाता है।

भावार्थ- यहाँ 'द' अक्षर का विचार किया गया है। दर्शनविशुद्धि भावना सोलह कारण भावनाओं में प्रथम इसलिए दी है कि सम्यग्दर्शन की शुद्धता सर्व भावनाओं की जड़ है। इसी से भावों की शुद्धता होती है। इसी से शुद्ध आत्मध्यान होता है व इसी से केवलज्ञान का प्रकाश होता है व इसी से आत्मा कर्ममल से रहित शुद्ध होता है। इसी के प्रताप से आत्मा पर से हटकर निज स्वभाव में लीन होकर निजानंद का स्वाद लेता है।

धरयंति धम्म संजुत्तं, मन पसरन्त न्यान सह धरनं।
झायं सुध सहावं, न्यान सहावेन निम्मलं चितं॥ ७४८ ॥

अन्वयार्थ- (धरयंति संजुत्तं धम्म) जो संसार समुद्र में पड़ने से उद्धार करे वही योग्य धर्म है (मन पसरन्त न्यान सह धरनं) वह धर्म आत्मज्ञान है जिसकी सहायता से पर-पदार्थों में फैलने वाले मन को रोक लिया जाता है (सुध सहावं झायं) तथा शुद्ध आत्मिक स्वभाव का ध्यान धर्म है (न्यान

सहावेन निम्मलं चित्त) ज्ञान स्वभाव में लीन होने से ही यह चेतन स्वरूप आत्मा कर्ममल रहित शुद्ध हो जाता है।

भावार्थ- जो उद्धार करे, पतन होने से बचावे, संसार-सागर से उद्धार करे, मोक्ष में स्थापन करे, वह धर्म है। वह धर्म निश्चय रत्नत्रयमयी एक आत्मानुभूति है, जहाँ शुद्ध आत्मा का ज्ञान भी है व ध्यान भी है। इसी आत्मानुभूति के होते हुए संकल्प-विकल्प रूपी मन थम जाता है, उपयोग निर्विकल्प हो जाता है। यही शुद्ध आत्मा का ध्यान है। इस ध्यान से ही आत्मा कर्मों के मैल से छूटकर परमात्मा हो जाता है। यहाँ 'ध' अक्षर पर विचार किया गया है।

न्यान मयं अप्पानं, छिंदंति दुट्ठट्ठ कम्म मिच्छत्तं।
छिन्नं कषाय विषयं, अप्प सरुवं च निम्मलं भावं॥ ७४९॥

अन्वयार्थ- (न्यानमयं अप्पानं) ज्ञानमयी आत्मा को ध्यान से (मिच्छत्तं दुट्ठट्ठ कम्म छिंदंति) मिथ्यात्व कर्म तथा दुष्ट आठों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं (कषाय विषयं छिन्नं) क्रोधादि कषाय तथा पाँचों इन्द्रियों के विषय भोग के भाव दूर हो जाते हैं (अप्प सरुवं च निम्मलं भावं) आत्मा का स्वाभाविक निर्मल स्वभाव झलक जाता है।

भावार्थ- यहाँ 'न' अक्षर पर विचार है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शनमय परम ज्योति स्वरूप निर्विकार है। जो सर्व संकल्प-विकल्पों से मुँह मोड़कर एक निज आत्मा का ध्यान लगाते हैं, उनका मिथ्यात्व कर्म क्षय हो जाता है। वे क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाते हैं। फिर विशेष आत्मध्यान से ही विषयवासना का सर्वभाव नष्ट हो जाता है। चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होने से यथाख्यात चारित्र या वीतराग भाव पैदा हो जाता है तथा उसी आत्मध्यान स्वरूप शुक्लध्यान से चारों घातिया कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान हो जाता है। शेष चारों अघातिया कर्मों के भी नाश से आत्मा का स्वाभाविक सिद्ध पद झलक जाता है।

परमप्पयं चिंतवनं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं।
कुन्यान सल्य विरयं, तिक्तं संसार सरनि मोहंधं॥ ७५०॥

अन्वयार्थ- (परमप्पयं चिंतवनं) परमात्मा का चिंतवन करने से (अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं) आत्मा परमात्मा रूप मल रहित शुद्ध हो जाता है (कुन्यान सल्य विरयं) मिथ्याज्ञान व तीन शल्य से रहित हो जाता है (तिक्तं संसार सरनि मोहंधं) संसार के चक्र में भ्रमण करने वाला अन्ध मोह नष्ट हो जाता है।

भावार्थ- यहाँ 'प' अक्षर पर विचार किया गया है। परमात्मा रूप मैं हूँ, मेरे आत्मा में परमात्मा से कोई भी तरह की भिन्नता नहीं है। प्रदेशों का भेद होने पर भी स्वभाव दोनों का एक है। इस तरह श्रद्धा लाकर जो कोई परमात्मा के शुद्ध ज्ञानानंदमय स्वभाव को आत्मा में आरोपण करता है, अर्थात्

भेद विज्ञान से आपको ही कर्मबंध से रहित परमात्मा को देखता है, उसका सर्व मिथ्याज्ञान व माया मिथ्या निदान शल्य भाव तथा सर्व ही मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है। वह इसी आत्मा के शुद्ध ध्यान से सर्व कर्मों से छूटकर परमात्मा हो जाता है।

फटिक सरुवं अप्पा, चेयन गुनसुध निम्मलं भावं।
कम्म मल पयडि विरयं, विरयं संसार सरनि मोहंधं ॥ ७५१ ॥

अन्वयार्थ– (फटिक सरुवं अप्पा) यह आत्मा स्फटिक मणि के समान (चेयन गुनसुध निम्मलं भावं) चेतना गुणधारी शुद्ध वीतराग भावरूप है (कम्ममल पयडि विरयं) यह सर्व कर्मरूपी मैल की विभाव परिणति से रहित है (विरयं संसार सरनि मोहंधं) यह संसार में भ्रमण कराने वाले अन्धमोह भाव से रहित है। इसी का ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ– यहाँ 'फ' अक्षर पर विचार किया गया है। आत्मा का स्वभाव स्फटिक समान निर्मल है। यदि लाल, पीले, हरे रंग की उपाधि लग जाती है, तो स्फटिक के रंग का परिणमन लाल, पीले, हरे रंग रूप हो जाता है, परन्तु यदि उपाधि न लगे तो स्फटिक सदा निर्मल रहता है। इसी तरह आत्मा स्वभाव से शुद्ध वीतराग ज्ञानानन्दमय है। अनादिकाल के प्रवाह से कर्ममल की उपाधि के कारण से रागद्वेष, मोह करता हुआ भ्रमण किया करता है, परन्तु उपाधि पर-पदार्थ है। स्वभाव से यह सर्व उपाधि रहित है। न इसके संसार का भ्रमण है न इसके कर्म मैल का संबंध है। निश्चय नय से आत्मा को स्फटिक सम शुद्ध ही ध्याना चाहिये।

वर सुध ज्ञान निस्वं, बंभं चरनं अबंभ तिक्तं च।
तिक्तं असुध भावं, सुध सहावं च भावना सुधं ॥ ७५२ ॥

अन्वयार्थ– (वर सुध ज्ञान निस्वं) जिसने निश्चय शुद्ध आत्मध्यान को स्वीकार किया है (बंभं चरनं) जो ब्रह्मचर्य में चलता है (अबंभ तिक्तं च) तथा अब्रह्म भाव से अलग है (असुध भावं तिक्तं) उसने अशुद्ध भाव त्याग दिया है (सुध सहावं च भावना सुधं) वह शुद्ध स्वभाव में ठहरकर शुद्ध भावना करता है।

भावार्थ– यहाँ 'ब' अक्षर पर विचार किया गया है। निश्चय नय से आत्मा का ही ध्यान करता है। जो इस निश्चय आत्मध्यान का अभ्यास करता है वही ब्रह्मचर्य पालता है और अब्रह्म से अलग है। निश्चय से आत्मा परब्रह्म है। अनात्मा अब्रह्म है, व्यवहार से कामभाव त्याग ब्रह्मचर्य है, कामभाव अब्रह्म है। जो आत्मध्यान में अनुरक्त है, वह व्यवहार व निश्चय दोनों ही प्रकार के अब्रह्म से अलग होकर व्यवहार व निश्चय दोनों ही प्रकार के ब्रह्मचर्य में लीन है। वही सर्व अशुद्धोपयोग से छूटा हुआ व शुद्धोपयोग में तिष्ठा हुआ मोक्ष का सच्चा पथिक है।

भद्रं मनोन्य सुधं, भद्रं जाती च निम्मलं सुधं।
संसार विगत रुवं, अप्प सहावं च निम्मलं ज्ञानं ॥ ७५३ ॥

अन्वयार्थ– (अप्प सहावं च निम्मलं ज्ञानं) आत्मा का स्वभाव निर्मल भाव रूप है (भद्रं) मंगल रूप है (मनोन्य) सुन्दर तथा (सुधं) शुद्ध है (भद्रं जाती च निम्मलं सुधं) आत्मा की जाति भी श्रेष्ठ निर्मल तथा शुद्ध है (संसार विगत रुवं) यह संसार के भ्रमण के स्वभाव से रहित है।

भावार्थ– यहाँ 'भ' अक्षर पर विचार किया गया है। निश्चय नय से विचारा जाय तो यह आत्मा परम शुद्ध है। इसी तरह सर्व ही आत्माएँ निश्चय से शुद्ध हैं। अर्थात् आत्मा की जाति में सर्व ही आत्माएँ एकरूप शुद्ध हैं। उनमें कोई कर्म का मैल नहीं है, न उनका कहीं चारों गति में भ्रमण है, यह आत्मा बहुत ही सुन्दर है, शांत है, आनन्दरूप है तथा यही भद्र है, परम मंगलरूप है। जो आत्मा का ध्यान करते हैं, वे कर्ममल को दूर कर परमानंद को पाते हैं।

मम आत्मा सुधानं, सुधप्पा न्यान दंसन समग्गं।
रागादि दोस रहियं, न्यान सहावेन सुध सभावं ॥ ७५४ ॥

अन्वयार्थ– (मम आत्मा सुधानं) मेरा आत्मा निश्चय से शुद्ध है (सुधप्पा न्यान दंसन समग्गं) यही शुद्धात्मा ज्ञान-दर्शन गुणों से पूर्ण है (रागादि दोस रहियं) रागद्वेषादि विकारों से रहित है (न्यान सहावेन सुध सभावं) ज्ञान स्वभाव में स्थिर होने के कारण से यही शुद्ध सत्ता को धरने वाला है।

भावार्थ– यहाँ 'म' अक्षर पर विचार किया गया है। ज्ञानी को यह विचारना चाहिये कि मेरा आत्मा निश्चय नय से सिद्ध के समान शुद्ध है, यह परम वीतराग है, पूर्ण ज्ञान व दर्शन गुणों से भरपूर है, इसकी शुद्ध सत्ता इसी में है। इस तरह ध्यान में लाकर जो शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है, वही मोक्षमार्गी सम्यग्दृष्टि है।

जयकारं जयवंतं, जयवंतो सुध निम्मलं भावं।
मिच्छत्त राग मुक्तं, न्यान सहावेन निम्मलं चित्तं ॥ ७५५ ॥

अन्वयार्थ– (जयकारं जयवंतं) श्री जिनेन्द्र कथित वाणी की जय हो (सुध निम्मलं भावं जयवंतो) इस वाणी द्वारा प्रगट शुद्ध निर्मल भाव की जय हो। जो भाव (मिच्छत्त राग मुक्तं) मिथ्यात्व से व राग से मुक्त है (न्यान सहावेन निम्मलं चित्तं) इसी ज्ञान स्वभाव में तिष्ठने से आत्मा निर्मल होता है।

भावार्थ– यहाँ 'य' अक्षर के स्थान पर 'ज' का विचार किया गया है। इस जगत में द्वादशांगवाणी धन्य है, जो स्याद्वादनय से अनेकांत स्वरूप पदार्थों को झलकाने वाली है। जो व्यवहार नय से पर्यायों को व निश्चय नय से द्रव्य के स्वभाव को झलकाती है। इसी वाणी के प्रताप से अपने आत्मा का बोध होता है यही निश्चय से परमात्मा है, न इसमें मिथ्यात्व है न संसार का राग है। इस आत्मा के ज्ञान स्वभाव में तिष्ठने से ही आत्मा कर्ममल रहित शुद्ध हो जाता है।

रयनत्तय संजुत्तं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं।
मय मान मिच्छ विरयं, संसारे तरन्ति निम्मलं भावं॥ ७५६ ॥

अन्वयार्थ- (रयनत्तय संजुत्तं) जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र सहित हैं (अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं) आत्मा को परमात्मा रूप दोष रहित शुद्ध अनुभव करते हैं, (मय मान मिच्छ विरयं) मान माया व मिथ्यात्व भाव से विरक्त हैं वे (निम्मलं भावं संसारे तरन्ति) निर्मल भावों के द्वारा संसार से पार उतर जाते हैं।

भावार्थ- यहाँ 'र' अक्षर पर विचार किया गया है। व्यवहार रत्नत्रय के आलंबन से जो निश्चय रत्नत्रय में स्थिर होकर अपने आत्मा को सिद्ध के समान शुद्ध ध्याते हैं तथा राग, द्वेष, मोह से रहित वे अपने शुद्धोपयोग के बल से संसार से पार होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

लंक्रित न्यान सहावं, कुन्यानं तिजंति सयल मिच्छातं।
परमानंद सरुवं, न्यान मयं परम भाव सुधीए॥ ७५७ ॥

अन्वयार्थ- (लंक्रित न्यान सहावं) तत्त्वज्ञानी ज्ञान स्वभाव से विभूषित होकर (कुन्यानं सयल मिच्छातं तिजंति) मिथ्याज्ञान व सर्व मिथ्या श्रद्धान को त्याग देते हैं, (परमानंद सरुवं न्यान मयं परम भाव सुधीए) जिससे कि वे परमानन्दमयी ज्ञानस्वरूपी उत्तम भाव की सिद्धि कर सकें।

भावार्थ- यहाँ 'ल' अक्षर पर विचार किया गया है। मोक्ष मार्ग पर चलने वाले साधुजन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र को त्यागकर आत्मा के स्वभाव में ही रमण करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य यही है कि अपने आत्मा का शुद्ध स्वभाव, जो परमानंदमयी व वीतराग है, वह प्रकाशित हो जावे।

बारापार महोर्घ, तरंति जे न्यान ज्ञान संजुत्तं।
भावंति सुध भावं, न्यान सहावेन संजमं सुधं॥ ७५८ ॥

अन्वयार्थ- (बारापार महोर्घ) वे ही महान् अपार संसाररूपी बड़े समुद्र को तर जाते हैं (तरंति जे न्यान ज्ञान संजुत्तं) जो आत्मज्ञान व आत्मध्यान सहित (सुध भावं भावंति) शुद्ध भाव की भावना भाते हैं (न्यान सहावेन सुधं संजमं) तथा ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर शुद्ध संयम के आराधक हैं।

भावार्थ- यह संसाररूपी महान् समुद्र है, जहाँ राग-द्वेष-मोह की तरंगें उठा करती हैं। जो तत्त्वज्ञानी शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं शुद्धोपयोग में जमते हैं अर्थात् निज आत्मा में ही संयम रूप हो जाते हैं, वे ही कर्मों को काटकर भवसागर के पार हो जाते हैं। यहाँ 'व' अक्षर पर विचार किया गया है।

सहकारे जिन उत्तं, सुतं संसार तारने निस्वं।
संसार सरनि विरयं, न्यान सहावेन भावना सुधं ॥ ७५९ ॥

अन्वयार्थ- (जिन उत्तं सुतं) जिनेन्द्र कथित श्रुतज्ञान (संसार तारने निस्वं सहकारे) संसार से पार होने में सदा ही सहकारी है। इस जिनवाणी की सहायता से जो (संसार सरनि विरयं) संसार के मार्ग से विरक्त हो जाते हैं, वे (न्यान सहावेन सुधं भावना) ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर शुद्ध भावना करते रहते हैं।

भावार्थ- यहाँ 'श' के स्थान से 'स' अक्षर पर विचार किया गया है। केवलज्ञान का साधक वास्तव में आत्मानुभवरूप भाव श्रुतज्ञान है। जो कोई जिनवाणी के अभ्यास से इस भावश्रुत ज्ञान को पाकर संसार के भ्रमण से वैरागी हो जाते हैं, वे ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर शुद्धात्मा की भावना भाते हुए संसार से पार हो जाते हैं।

षिपनिक भाव निमित्तं, षिपिओ संसार सरनि मोहंधं।
षिउ उवसम संजुत्तं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं॥ ७६० ॥

अन्वयार्थ- (षिपनिक भाव निमित्तं) क्षायिक भाव रूप मोक्ष के लिए (संसार-सरनि मोहंधं षिपिओ) जो संसार के भ्रमण के कारण दर्शन मोह को क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाते हैं, वे (षिउ उवसम संजुत्तं) क्षपक श्रेणी या उपशम श्रेणी पर चलते हुए (अप्पा परमप्प निम्मलं सुधं) अपने आत्मा को परमात्मा रूप निर्मल शुद्ध अनुभव करते हैं।

भावार्थ- यहाँ 'ष' अक्षर पर विचार किया गया है। मोक्ष आत्मा का निज स्वभाव है। इस स्वभाव की प्रगटता के लिए भव्यजीव दर्शनमोह की तीन प्रकृति और अनन्तानुबंधी चार कषाय इन सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाते हैं। फिर चारित्र की उन्नति के लिए साधु पद में यदि तद्भव मोक्षगामी हुए तो क्षपक श्रेणी पर चढ़ जाते हैं, नहीं तो उपशम श्रेणी पर चढ़ते हैं। दोनों ही श्रेणियों पर जाकर शुद्ध आत्मा का ही ध्यान शुक्लध्यान के द्वारा करते हुए चारित्र मोह का क्षय या उपशम करते हैं। कोई-कोई क्षायिक सम्यक्त्वी पहले उपशम श्रेणी पर चढ़कर फिर लौटकर क्षपक श्रेणी उसी शरीर से चढ़ सकते हैं। ऐसे महात्मा शीघ्र ही परमात्मा हो जाते हैं।

सहकार धम्म धरनं, सहजोपनीत सहज नन्द आनन्दं।
संसार विक्त रुवं, अप्पा परमप्प सुधमप्पानं॥ ७६१ ॥

अन्वयार्थ- (सहकार धम्म धरनं) मोक्ष का साधक धर्म का पालन यह है कि जो (सहजोपनीत सहज नंद आनंदं) स्वाभाविक आनंद को अपने स्वभाव के द्वारा ही स्वादा जावे (संसार विक्त रुवं) यह संसार के सुख से विलक्षण है। (अप्पा परमप्प सुधमप्पानं) यहाँ आत्मा परमात्मारूप अपने शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है।

भावार्थ- यहाँ 'स' अक्षर पर विचार किया गया है। मोक्ष आत्मा का एक ऐसा स्वभाव है, जहाँ निरन्तर सहजानंद का विलास है। इसलिए मोक्ष का मार्ग भी उसी के समान सहजानंद का भोग है। यह इन्द्रियों के सुखों से विलक्षण स्वाधीन है। जब आत्मा शुद्ध निश्चय नय के द्वारा अपने को परमात्मारूप जानकर आप से ही आप में मगन हो जाते हैं, तब यह आनंद प्रकाशित होता है।

ह्रींकारं अरहंतं, तेरह गुन ठान संजदो सुधं।
चौतीस अतिसय जुत्तो, केवल भावै मुनेअव्वो ॥ ७६२ ॥

अन्वयार्थ- (ह्रींकारं अरहंतं) ह्रीं मंत्र से अर्हंत का ध्यान करना चाहिए। (तेरह गुन ठान संजदो सुधं) जो सयोग केवली नाम के तेरहवें गुणस्थानधारी स्नातक संयमी वीतराग हैं (चौतीस अतिसय जुत्तो) चौतीस अतिशय से अलंकृत हैं (केवल भावै मुनेअव्वो) वे केवलज्ञानादि भावों के धारी हैं, ऐसा जानने योग्य है।

भावार्थ- यहाँ 'ह' अक्षर पर विचार किया गया है। अर्हंत के स्वरूप का ध्यान ह्रीं मंत्र को नाशिका के अग्रभाग आदि किसी स्थान पर विराजमान करके करना चाहिए। अर्हंत का स्वरूप भी विचारना चाहिए कि वे सयोग केवली जिन हैं। उनका विहार होता है। वे भव्य जीवों को धर्मोपदेश देते हैं। वे चौतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य व केवलज्ञानादि चार चतुष्टय युत विराजमान हैं। इन अतिशयों का स्वरूप ६४९वीं गाथा में किया गया है।

षिपतं कम्म सुभावं, षिपियं संसार सरनि सुभावं।
अप्पा परमानंदं, परमप्पा मुक्ति संजुत्तं ॥ ७६३ ॥

अन्वयार्थ- (षिपतं कम्म सुभावं) जिन्होंने कर्म की सब प्रकृतियों का क्षय कर डाला है (षिपियं संसार सरनि सुभावं) व जिन्होंने संसार मार्ग के प्रेरक सर्व रागादि भावों का क्षय कर डाला है। (अप्पा परमानंदं) जिनका आत्मा परमानंद स्वरूप है (परमप्पा मुक्ति संजुत्तं) वे ही सिद्ध परमात्मा मोक्ष रूप हैं।

भावार्थ- यहाँ चौदह स्वर, तैतीस व्यंजन व पाँच अक्षरी "ॐ नमः सिद्धं" मंत्र इन बावन अक्षरों के मनन का सार यह है कि हम सिद्ध परमात्मा को पहचाने, जो रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि आठों द्रव्य कर्म व शरीरादि नोकर्म से रहित हैं, परमानंद में निरन्तर मग्न हैं। मोक्ष स्वरूप अमूर्तिक ज्ञानाकार तथा पुरुषाकार निकल परमात्मा निरंजन देव हैं। सिद्ध सम आपका ध्यान ही मोक्ष का साधन है।

अष्यर सुर विंजन रुवं, पद विंदं सुध केवलं न्यानं।
न्यानं न्यान सरुवं, अप्पानं लहंति निव्वानं ॥ ७६४ ॥

अन्वयार्थ- (अष्यर सुर विंजन रुवं) पाँच अक्षर, चौदह स्वर तथा तैतीस व्यंजनों के द्वारा (पदविंदं सुध केवलं न्यानं) शुद्ध केवलज्ञान के धारी पद अरहंत तथा सिद्ध का मनन करना चाहिए (न्यानं न्यान

सत्वं) अपने ज्ञानमयी आत्मा को ज्ञानमय (अप्पानं लहंति निव्वानं) आत्मा रूप ध्याय कर निर्वाण को प्राप्त करना चाहिए।

भावार्थ- ऊपर लिखित बावन अक्षरों की जाप का अभिप्राय यह है कि हम अरहंत तथा सिद्ध परमात्मा के शुद्ध गुणों पर लक्ष्य देकर अपने आत्मा को परमात्मारूप निश्चय से जानकर निज आत्मा के ध्यान में तल्लीन हो जावें, इसी उपाय से आत्मा कर्मों से छूटकर मुक्ति का लाभ कर सकता है।

♣ ♣ ♣

तत्त्व पदार्थ निरूपण

तत्वं तत्तु सहावं, जीवाजीवं च तत्तु जानेहि।
आसव बंध निरोधं, संवर निज्जर विमल न्यानस्य॥ ७६५॥
मोष्यं षिपति ति कम्मं, तत्त्वं जानेहि सयल विन्यानं।
पदार्थं पद विंदं, जीवाजीवस्य विंद विन्यानं॥ ७६६॥
पुन्य पाप आसवनं, बंधं संवर ति न्यान ससहावं।
निज्जर मोष्य सुभावं, पदार्थं न्यान सहाव निम्मलयं॥ ७६७॥

अन्वयार्थ- (तत्तु सहावं तत्त्वं) मोक्ष मार्ग में प्रयोजन भूत वस्तु का जो स्वभाव है, वही तत्व है। वे तत्व सात हैं (जीवाजीवं च तत्तु जानेहि) मुख्य तत्व जीव-अजीव को जानो इन्हीं से शेष पाँच तत्व बने हैं (आसव बंध-निरोधं संवर) तीसरा तत्व कर्मों का आना सो आस्रव है, चौथा कर्मों का बँधना सो बंध है। आस्रव-बंध को रोकने वाला पाँचवाँ तत्व संवर है (विमल न्यानस्य निज्जर) शुद्ध भावों से कर्म की निर्जरा होती है, यह छठा तत्व है (ति कम्मं षिपति मोष्यं) तीन प्रकार कर्म अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म का नाश होना सातवाँ तत्व मोक्ष है (तत्त्वं जानेहि सयल विन्यानं) इन सात तत्वों से मोक्ष मार्ग का सर्व विज्ञान जाना जाता है (पदार्थं पदविंदं) पदों के द्वारा वस्तु को जनावे सो पदार्थ है। वे पदार्थ नौ हैं (जीवाजीवस्य विंद विन्यानं) पहले मुख्य दो पदार्थ जीव और अजीव का ज्ञान अनुभव करना चाहिए (पुन्य पाप आसवनं) तीसरा पदार्थ पुण्य है, चौथा पाप है, पाँचवाँ उनका आना आस्रव है (बंधं संवर ति न्यान ससहावं) छठा पदार्थ कर्मों का बंध है, सातवाँ पदार्थ कर्मों का संवर है, जो अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान का सहकारी है (निज्जर मोष्य सुभावं) आठवाँ पदार्थ कर्मों की निर्जरा है, नौवाँ पदार्थ आत्मा का निज भाव रूप मोक्ष है (पदार्थं न्यान सहाव निम्मलयं) ये नौ पदार्थ ज्ञान स्वभावी आत्मा के शुद्ध करने के उपाय हैं।

भावार्थ– यहाँ तारण स्वामी ने जैन सिद्धान्तानुसार सात तत्व व नौ पदार्थों की नामावली बता दी है। हर एक मोक्षमार्गी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए उनको जानकर श्रद्धान करना योग्य है।

♣ ♣ ♣

द्रव्य निरूपण

दव्वं दव्व सरुवं, जीव दव्व अजीव दव्व विन्यानं।
धंमं अहंम जाने, आकासं काल दव्व दव्वार्थं॥ ७६८॥

अन्वयार्थ– (दव्वं सरुवं दव्व) जो अपने गुणों में द्रवण को परिणमन करे, उसे द्रव्य कहते हैं। वे छः हैं (जीव दव्व अजीव दव्व विन्यानं) उनमें से मुख्यता से जीव द्रव्य को तथा पुद्गल द्रव्य को जानना चाहिए, (धंमं अहंम जाने) तीसरे धर्म द्रव्य को, चौथे अधर्म द्रव्य को (आकासं काल दव्व दव्वार्थं) पाँचवें आकाश द्रव्य को, छठे काल द्रव्य को आत्म द्रव्य के हित के लिए जानना योग्य है।

भावार्थ– जिनसे लोकालोक भरा है व जिनको छोड़कर कोई और द्रव्य लोक में नहीं है, वे सर्व छः द्रव्य हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। यहाँ अजीव के स्थान पर पुद्गल को ही लेना योग्य है क्योंकि जीव के सिवाय पाँचों ही अजीव हैं। द्रव्य का लक्षण सत्, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है तथा गुण पर्यायवान है। ये तीनों लक्षण इन द्रव्यों में सिद्ध होते हैं। ये सब द्रव्य न कभी पैदा हुए, न कभी नाश होंगे। इनकी सत्ता सदा से है व सदा रहेगी। इसलिए ये द्रव्य सत् हैं। सत् होकर के भी कूटस्थ नित्य नहीं हैं। किन्तु द्रवणशील या परिणमनशील हैं। इनमें सदा स्वभाव या विभाव पर्यायें हुआ करती हैं। पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं - एक पर्याय का नाश होता है, तब दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है तथापि जिसमें परिणमन हुआ, वह बना रहता है। इसीलिए द्रव्य उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप है।

जैसे एक सुवर्ण की कण्ठी को तोड़कर माला बना ली। कण्ठी की पर्याय नष्ट हुई, माला की पर्याय पैदा हुई, परन्तु सुवर्ण दोनों द्रव्यों में है, बना हुआ है। द्रव्य में सदा गुण पर्याय पाए जाते हैं। जो सदा द्रव्य के साथ रहे, वे गुण हैं, जो क्रम से वर्ते वे पर्याय हैं। हर एक द्रव्य अपने-अपने साधारण तथा विशेष गुणों का समुदाय है। साधारण गुण अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरु-लघुत्व, द्रव्यत्व हैं। विशेष गुण जीव के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि हैं। पुद्गल के स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण हैं। धर्म का जीव पुद्गल को गमन हेतुपना है। अधर्म का जीव पुद्गल को स्थिति हेतुपना है। आकाश का सर्व द्रव्यों को स्थान देना है। काल का सर्व द्रव्यों को पलटाना है। गुणों के परिणमन को पर्यायें कहते हैं। शुद्ध द्रव्यों में सदृश स्वाभाविक पर्यायें क्षीर समुद्र में कल्लोलवत् हुआ करती हैं। उन पर्यायों से कोई शुद्धता नहीं आती है। संसारी जीव तथा पुद्गल द्रव्य में विभाव पर्यायें हुआ करती हैं। जैसे कोई जीव का ज्ञानगुण, मतिज्ञान रूप था, सो श्रुतज्ञान रूप हो गया या

अवधिज्ञान रूप हो गया या चारित्र-गुण क्रोध रूप था, सो शांतरूप हो गया या मानव पर्याय थी, सो पलटकर देव पर्याय हो गई। पुद्गल का एक स्कंध मिट्टी का डला था, सो पलटकर घड़ा बन गया। या हरा पत्ता पलटकर पीला पत्ता हो गया। यहाँ वर्ण गुण बना रहा, वर्ण की अवस्था हरे से पीली हो गई।

* * *

अस्तिकाय निरूपण

काया जीवास्ति सुधं, अजीवास्ति अतीन्द्रियं च सभावं।
धम्मास्ति धम्म चेयनयं, अहमास्ति सयल कालठिदि करनं॥ ७६९॥
अवकास्ति दान अवयासं, कालं काये न संजदो हुंति।
पंचास्तिकाय कहियं, सुध सहावेन विमल तव न्यानं॥ ७७०॥

अन्वयार्थ- (काया जीवास्ति सुधं) पाँच अस्तिकायों में प्रथम शुद्ध जीवास्तिकाय है (अतीन्द्रियं च सभावं) जिसका स्वभाव अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों के गोचर नहीं है (अजीवास्ति) दूसरा पुद्गलास्तिकाय है (धम्मास्ति धम्म चेयनयं) तीसरा धर्मास्तिकाय है, जो जीव पुद्गल के गमन में सहकारी है (अहमास्ति सयल कालठिदि करनं) चौथा अधर्मास्तिकाय है, जो सर्वकाल द्रव्य की स्थिति में सहकारी है (अवकास्ति दान अवयासं) पाँचवाँ आकाश अस्तिकाय है, जो सर्व द्रव्यों को जगह देता है (कालं काये संजदो न हुंति) काल द्रव्य काय संयुक्त नहीं हैं (पंचास्तिकाय कहियं) ये पाँच अस्तिकाय कहलाते हैं। काल अस्तिकाय नहीं है (सुध सहावेन विमल तव न्यानं) ये सब अपने शुद्ध स्वभाव से शुद्ध परिणमन किया करते हैं।

भावार्थ- जो सदा काय रूप से पाए जावें, उनको अस्तिकाय कहते हैं। बहुप्रदेश वाले पिंड को काय कहते हैं। एकप्रदेशी को काय नहीं कहते हैं। जितने आकाश को एक अविभागी पुद्गल का परमाणु रोकता है, उसको प्रदेश कहते हैं। काल कालाणु रूप द्रव्य रत्नों की राशि के समान लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में अलग-अलग व्याप्त हैं। एक-एक प्रदेशों पर एक-एक कालाणु हैं, वे कभी मिलते नहीं, इसलिए वे काय नहीं हैं। शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। जीव असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के बराबर अखण्ड हैं। संकोच विस्तार शक्ति के कारण प्राप्त हुए शरीर के प्रमाण दीपक के प्रकाश की तरह हो जाता हैं। सिद्ध जीव का आकार भी अन्तिम शरीर में जैसा था, वैसा रहता है। कर्मों के उदय से संकोच विस्तार होता है। कर्मों के क्षय पर जैसा का तैसा रहता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय भी जीव के बराबर असंख्यात-असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश भर में व्याप्त अखण्ड एक-एक द्रव्य है। जीव पुद्गलों के गमन में उदासीन कारण धर्म है, तब उनके स्थिति होने में उदासीन कारण अधर्म

है। आकाश अनंत है, इससे उसके अनंत प्रदेश हैं। पुद्गल के पिंड तीन प्रकार के बनते हैं। कोई संख्यात परमाणुओं के, कोई असंख्यात परमाणुओं के, कोई अनंत परमाणुओं के। इसलिए पुद्गल में तीन प्रकार संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेश होते हैं। परमाणु यद्यपि एकप्रदेशी है, परन्तु उसमें मिलने की शक्ति है, कालाणु में नहीं है, इससे परमाणु भी कायवान हैं।

तत्तु पय दव्व कहियं, काया ससरुव उवएसनं सुधं।
गुरु रुव भेय विन्यानं, एको उवएस न्यान सहकारं॥ ७७१॥

अन्वयार्थ– (तत्तु पय दव्व काया कहियं) इस तरह सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय कहे गए हैं। (ससरुव उवएसनं सुधं) जीवादि छः द्रव्य अपने स्वभाव में रहने से शुद्ध कहे गए हैं। (गुरु रुव भेय विन्याने) इन सब तत्वादि के गुण स्वभाव के भेदों को विशेष जानना चाहिये (एको-अवएस न्याय सहकारं) इनका जानना केवलज्ञान की प्रगटता में एकोदेश अर्थात् कुछ अंश में सहकारी है।

भावार्थ– मोक्ष मार्ग के समझने के लिए इन तत्त्वादि का स्वरूप भले प्रकार जानकर निश्चय करना चाहिए। निश्चय सम्यक्त्व के लिए इनका श्रद्धान आवश्यक है, जबकि निश्चय सम्यक्त्व का अनुभव केवलज्ञान की प्रगटता का साधन है।

♣ ♣ ♣

जीव तत्त्व

जीओ जीवंपि जीवं, जीवन्तो न्यान दंसन समग्गं।
बीजं सुध सु चरनं, न्यानमयोपि नन्त सुह निलयं॥ ७७२॥

अन्वयार्थ– (जीओ जीवंपि जीवन्तो जीवं) जो जीता था, जीवेगा व जी रहा है, सो जीव है (न्यान दंसन समग्गं) यह जीव ज्ञान-दर्शन गुणों से पूर्ण है (बीजं सुध सु चरनं) यह आत्मवीर्य का धारी है, शुद्ध स्वभाव में आचरण करने वाला वीतरागी है (न्यानमयोपि नन्त सुह निलयं) ज्ञानाकार होकर भी अनंत सुख का भंडार है।

भावार्थ– यहाँ शुद्ध जीव तत्त्व का निरूपण है। जो त्रिकाल सदा जीता है, वही जीव है। यहाँ कोई नया द्रव्य कभी पैदा नहीं हुआ। यह पहले से है, आगे भी रहेगा, इससे यह नित्य है। यह जीव अपने सर्व प्रदेशों में पूर्ण ज्ञान, दर्शन गुणों से पूर्ण कलश की तरह भरा है। यह अनंतवीर्य का धनी है, परम निर्विकार निज स्वरूप में ही रमण करने वाला है, ज्ञानकार अमूर्तिक है, अनंत सुख का भंडार है।

जीवो उड्ढगमओ, जीव सहाओ सुनिम्मलो सुहमो।
अतींद्री न्यान सहावं, चौदस प्रान अतीन्द्रया सुहमो॥ ७७३॥

अन्वयार्थ- (जीवो उड्ढगमओ) जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है (जीव सहाओ सुनिम्मलो सुहमो) जीव का स्वभाव अत्यन्त निर्मल तथा सूक्ष्म है (अतींद्री न्यान सहावं) वह इन्द्रियों के अगोचर ज्ञान स्वभावी है (चौदस प्रान) चार तथा दश प्राणधारी है (अतीन्द्रिया सुहमो) तो भी निश्चय से अतीन्द्रिय सूक्ष्म है।

भावार्थ- जीव का स्वभाव ऊपर को जाने का है। जब कर्म सहित होता है, तब कर्म की प्रेरणा से जो गति बाँधी जाती है, उधर चार दिशाओं व ऊपर-नीचे छः दिशाओं द्वारा जाता है, परन्तु जब कर्मरहित हो जाता है, तब दीपक की लौ के समान ऊपर को लोक के अग्रभाग तक जाता है और ठहर जाता है, क्योंकि वहीं तक गमन सहकारी धर्मास्तिकाय द्रव्य है। जीव का स्वभाव सर्व रागादि रहित परम निर्मल है तथा वह इतना सूक्ष्म है कि पाँचों इन्द्रियाँ उसको नहीं जान सकती हैं। मन भी मात्र विचार कर सकता है, मन भी ग्रहण नहीं कर सकता। जब मन और इन्द्रियों से उपयोग को हटाया जाता है और आप-आप में तन्मय हुआ जाता है, तब ही आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा ग्रहण होता है। इसका स्वभाव स्वपर ज्ञायक है। यह एक समय में त्रिकालवर्ती सर्वद्रव्यों को सर्वपर्यायों को जानने को समर्थ है। व्यवहारनय से संसारावस्था में संसारी जीवों के बाहरी शरीर में स्थिति के कारण चार मुख्य प्राण होते हैं - इन्द्रिय, बल, आयु, स्वासोछ्वास। इसी के उत्तर भेद ५ इन्द्रिय + ३ बल + १ आयु + श्वासोछ्वास = १० हैं। पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोछ्वास ऐसे चार प्राण होते हैं। लट आदि द्वेन्द्रिय प्राणियों के रसना इन्द्रिय और वचन बल अधिक लेकर छः प्राण होते हैं। चींटी आदि तेन्द्रिय जीव के घ्राण इन्द्रिय जोड़कर सात प्राण होते हैं। मक्खी आदि चौइन्द्री जीवों के चक्षु जोड़कर आठ होते हैं। पानी के कोई सर्प आदि असैनी पंचेन्द्रिय के मन-बल बिना नौ प्राण होते हैं। सैनी पंचेन्द्रिय गाय, भैंस, बकरा, घोड़ा, मछली, मच्छ, कबूतर, काग आदि सर्वमनुष्य, सर्वदेव, सर्वनारकी इन सबके दसों प्राण होते हैं। ये प्राण तो इन्द्रियगोचर हो सकते हैं, परन्तु शुद्ध आत्मा तो अत्यन्त सूक्ष्म अतीन्द्रिय है।

जीओ जयं च रुवं, जाता उत्पन्न न्यान ससहावो।
आदि अनादि असंष्यं, उववन्नं न्यान दंसन समग्गं॥ ७७४॥

अन्वयार्थ- (जीवो जयं च रुवं) यह जीव सदा जय स्वभाव है अर्थात् यह कर्मों का विजय कर सकता है (जाता उत्पन्न न्यान ससहावो) संसार अवस्था में एकेन्द्रिय आदि जाति से उत्पन्न होता रहता है तथापि ज्ञानमयी अपने स्वभाव से अविनाशी है। (आदि अनादि असंष्यं) गति में जन्म लेने की अपेक्षा आदि सहित है तथापि स्वभाव से अनादि है तथा प्रदेशों की अपेक्षा लोकाकाश प्रमाण

असंख्यात प्रदेशी है (उववन्नं न्यान दंसन समग्गं) संसार में उत्पन्न होते हुए भी ज्ञान-दर्शन स्वभाव से पूर्ण रहता है।

भावार्थ- यह जीव जब अपने स्वभाव को पहचानता है, तब आत्मा के ध्यान के बल से कर्मों को जीतकर जिन हो जाता है। संसार की गतियों में जन्म लेने की अपेक्षा उत्पन्न होता है व आदि सहित है तथा शरीर प्रमाण आकार रखता है, परन्तु स्वभाव से यह जीव सदा ज्ञान स्वभावी बना रहता है। यह स्वभाव से स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन से पूर्ण है, असंख्यात् प्रदेशी है तथा अनादि अनंत नित्य है।

नादु न विंदु नकारं, नहि उप्पत्ति षिपति धुव सुधं।
सुधं सुध सहावं, सुधं तियलोय मंत निम्मलयं॥ ७७५॥

अन्वयार्थ- (नादु न विंदु नकारं) शुद्ध निश्चयनय से जीव में न तो कोई शब्द है न कोई चिन्ह है जिससे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जा सके न उसमें कोई क्रिया है, हलन चलनादि है (नहि उप्पत्ति षिपति धुव सुधं)न उसमें निश्चय से कोई उत्पत्ति है न कोई व्यय है। वह तो ध्रुव शुद्ध है (सुधं सुध-सहावं) वह परम शुद्ध स्वरूप है (सुधं तियलोय मंत निम्मलयं) शुद्ध अर्थात निश्चल तीन लोक मात्र असंख्यात प्रदेशी है व सर्व कर्म मल रहित है।

भावार्थ- यहाँ परम शुद्ध निश्चय नय से जीव के स्वरूप का विचार है। शुद्ध जीव में कोई शब्द नहीं है, क्योंकि शब्द जड़ है व जड़ से ही उत्पन्न होता है, न कोई जड़मयी चिह्न या लिंग है, जिससे वह इन्द्रियों का विषय हो, न उसमें कोई क्रिया है। जहाँ तक कर्मों का सम्बन्ध है, व योगों का हलन-चलन है, वहाँ तक संसारी जीवों में क्रिया पाई जाती है। द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा यह जीव सर्व क्रिया रहित निष्क्रिय है। पर्यायार्थिक नय से इसमें स्वाभाविक पर्यायों का विचार होता है। पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्यय कहते हैं, द्रव्य की अपेक्षा वह न उपजता है न विनशता है, वह सदा ही अविनाशी व स्फटिक मणीमय शुद्ध है। इसका स्वभाव रागादि भावों से रहित परम वीतराग है। यह निश्चय से लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है और सर्व कर्ममल व शरीर से रहित है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में शुद्ध निश्चय नय से जीव का स्वभाव कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ १६॥

भावार्थ- शुद्ध निश्चय नय आत्मा को कर्मों से बंधा व स्पर्शा नहीं देखता है। जैसे कमल का पत्ता जल से अलग रहता है, वैसे जीव कर्मों से अलग है। शुद्ध निश्चय नय जीव को सदा एकरूप देखता है। नर-नारकादि पर्यायों में घूमा तथापि वही जीव है, जैसे मिट्टी के घड़े, प्याले, मटकैने आदि अनेक बर्तन बनाए जावें, परन्तु यह मिट्टी रूप में मिट्टी ही है अन्य कुछ नहीं है। शुद्ध निश्चय नय

जीव को निश्चल देखता है। जैसे पवन द्वारा तरंगों से रहित निश्चल समुद्र है, वैसे यह क्रिया रहित निश्चल है। शुद्ध निश्चय नय जीव को अखण्ड एक सामान्य अभेद देखता है। जैसे सोना अपने भारीपन, चिकनेपन, पीलेपन आदि गुणों से अभेद है। वैसे आत्मा अपने गुणों से अभेद है। शुद्ध निश्चयनय जीव को पर के संयोग रहित वीतराग देखता है। जैसे जल, अग्नि के सम्बन्ध बिना उष्ण नहीं होता है। स्वभाव से शीतल है, वैसे यह आत्मा मोहनीय कर्म के उदय बिना सदा वीतराग रहता है।

जीओ रुव विमुक्को, वित्त अरुवं च चेयना विमलं।
लोयंति लोयपमानं, नंत सरुवं च विमल न्यानस्य ॥ ७७६ ॥

अन्वयार्थ- (जीवो रुव विमुक्को) जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित अमूर्तिक है (वित्त अरुवं च चेयना विमलं) तथापि अरूपी चेतना के निर्मल आकार को रखने वाला है (लोयपमानं लोयंति) लोकाकाश प्रमाण प्रदेशों का धारी देखने योग्य है (विमल न्यानस्य नंत सरुवं च) तथा अनंत केवलज्ञान स्वरूप है।

भावार्थ- यह जीव, पुद्गल द्रव्य के विशेष गुणों से रहित है। इसलिए अमूर्तिक है, परन्तु एक वस्तु है, इससे आकार अवश्य है। वह आकार अरूपी ज्ञानाकार है तथा लोकाकाश प्रमाण है, प्रदेशों की अपेक्षा जीव असंख्यात प्रदेशी है। ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी है, अनंत है। ज्ञान में अनंत पदार्थों के द्रव्य-गुण पर्याय एकसमय झलक रहे हैं तो भी इसके निर्मल ज्ञान में अनंत ऐसे विश्वों को झलकाने की शक्ति है।

♣ ♣ ♣

अजीव तत्व

मन सुभाव उववन्नं, तत्वं पंचंमि परिनाम संजुत्तं।
षिदि जल मरुं च पवनं, आकासं सुक्र स्त्रोनी मूर्छनयं ॥ ७७७ ॥

अन्वयार्थ- यहाँ अजीव तत्व से मुख्यता से अपने शरीर व कर्म सम्बन्ध को लेकर कथन किया गया है (मन सुभाव उववन्नं) जो हमारे पास मन है, वह सूक्ष्म मनोवर्गणा से उत्पन्न हुआ है। अतएव द्रव्य मन पुद्गल अजीव है (षिदि जल मरुं च पवनं आकासं पंचंमि तत्वं परिनाम संजुत्तं) पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा, आकाश इन पाँचों तत्वों के परिणमन से उत्पन्न हुआ यह शरीर है (सुक्र स्त्रोनि मूर्छनयं), जो पिता का वीर्य तथा माता के रुधिर के संयोग से जन्मा है, अतएव पुद्गल अजीव है।

भावार्थ- यहाँ भेद विज्ञान की दृष्टि से विचार रहे हैं कि कौन-कौन अजीव का इस जीव के साथ सम्बन्ध है। पहले तो मन को विचार किया गया है कि यह मन जो हृदय स्थान में आठ पाँखुड़ी के कमल के आकार द्रव्यमन है, जिसके होते हुए संकल्प-विकल्प रूप भावमन काम करता है, वह

मनोवर्गणारूपी पुद्गल से रचित है अतएव जीव नहीं है, अजीव है। तथा यह औदारिक शरीर मूल में रजोवीर्य के संयोग से जन्मा है तथा इसकी रचना पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश के द्वारा हुई है। यह भी अजीव है। पाँच तत्वों में चार तो पुद्गल हैं, एक आकाश अजीव है। इस शरीर को भी जीव मत जानो।

मन लेस्सा उत्पन्नं, इन्द्री व्रिधिप्रान सुह असुहं।
पुग्गल सहाव उवंनं, कम्म निबंधाइ जीव संचरनं॥ ७७८॥

अन्वयार्थ- (मन लेस्सा) मन के संकल्प-विकल्पों से तथा लेश्याओं से (सुह असुहं व्रिधि इन्द्री प्रान उत्पन्नं) शुभ-अशुभ ज्ञानोपयोग तथा पाँच इन्द्रिय रूपी प्राणों का कार्य उत्पन्न हुआ है (पुग्गल सहाव उवंनं कम्म) पुद्गलों के स्वभाव से ही कर्म उत्पन्न हुए हैं (निबंधाइ जीव संरचनं) जिनसे बँधा हुआ यह जीव चार गतियों में भ्रमण किया करता है।

भावार्थ- द्रव्य मन तो बिलकुल पुद्गल से रचा हुआ है, भावमन संकल्प-विकल्प रूप मतिज्ञान व श्रुतज्ञान से काम करता है। ये दो ज्ञान शुद्ध आत्मा के नहीं है, ये विभाव भाव हैं। कर्मों के क्षयोपशम से हुए हैं। इनके होते हुए क्रमवर्ती ज्ञानोपयोग काम करता है, जिसमें कर्म के उदय की निर्बलता है। इसलिए वे दोनों ज्ञान भी पौद्गलिक हैं अर्थात् भावमन भी शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है, अजीव है। योगों का हलन-चलन शरीर नामकर्म के उदय से तथा मन, वचन, काय के आलम्बन से होता है। क्रोधादि कषायों के उदय रूप रंग से रंजित योगों को लेश्या कहते हैं।

अतएव कृष्ण, नील, कापोत, अशुभ भावों को झलकाने वाली तथा पीत, पद्म शुक्ल। शुभ भावों को झलकाने वाली लेश्याएँ भी शुद्ध जीव से भिन्न अजीव हैं। शुद्ध आत्मा में न योग है, न कषाय है, लेश्याएँ तेरहवें गुणस्थान तक ही हैं। भावमन का भी परिणमन बारहवें गुणस्थान तक है क्योंकि तेरहवें में मति-श्रुत ज्ञान नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है, यह भी शुद्ध जीव में नहीं है अतएव अजीव है, जीव का स्वभाव नहीं है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का रचित, जो यह कार्माण शरीर है, जिसके कारण यह जीव चारों गतियों में भ्रमण किया करता है, वह भी कार्माणवर्गणा रूप पुद्गलों से बना है, अतएव अजीव है। प्रयोजन यह है कि राग-द्वेषादि अशुभ व शुभ भाव आदि भाव कर्मोदय जनित सर्वभाव तथा आठ कर्ममय द्रव्य कर्म तथा शरीरादि नोकर्म सर्व अजीव तत्व में डालकर जीव को इनसे रहित विचारना चाहिए।

सहकारेन संजुत्तं, रुचियं पुग्गल सुभाव संजुत्तं।
सरीरं उवभासं, परिनै सहाव व्रिधि संपुस्टं॥ ७७९॥

अन्वयार्थ- (सहकारेन संजुत्तं) कर्म शरीर के उदय के संयोग से तथा (पुग्गल सुभाव संजुत्तं रुचियं) पुद्गल से स्वभाव के संयोग से रचा हुआ (सरीरं उवभासं) यह स्थूल शरीर प्रकाशमान हो रहा है (परिनै सहाव व्रिधि संपुस्टं) जो परिणमन स्वभाव है, बढ़ता है, पुष्ट होता है।

भावार्थ— स्थूल शरीर का फिर यहाँ विचार किया गया है कि यह शरीर तब ही तक बनता है, जब तक कर्मों का उदय है। कर्मों के उदय के साथ जीव के साथ इसका सम्बन्ध है। कर्मों के नाश होते ही यह शरीर छूट जाता है। आहारक वर्गणाओं के परिणमन स्वभाव से यह शरीर रचा हुआ है। यह हमेशा बदलता रहता है, नए परमाणु आते हैं, पुराने झड़ते हैं। यह बालक से युवान व पुष्ट होता है; फिर युवान से वृद्ध हो जाता है। कभी रोगी, कभी निरोगी, कभी भूखा, कभी तृप्त, कभी निर्बल, कभी सबल अनेक अवस्थाओं में परिणमन करता हुआ प्रगट झलक रहा है। अतएव इस शरीर को जो एक दिन छूट जाने वाला है अपना न मानना चाहिए। यह पुद्‌गल से रचा हुआ पौद्‌गलिक है, अजीव तत्व में गर्भित है।

कम्म उवंनं भावं, इन्द्री मन विषय व्रिधि सभावं।
अप्प सहाव न सुधं, कम्म निवन्धाय जीव तं भनियं॥ ७८०॥

अन्वयार्थ— (कम्म उवंनं भाव) कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए ये सब पदार्थ या भाव हैं। जैसे (इन्द्री मन विषय व्रिधि सभाव) पाँच इन्द्रिय और उनकी इच्छाएँ मन और उसके द्वारा होने वाले संकल्प-विकल्प मतिज्ञान व श्रुतज्ञान रूपी बुद्धि (अप्प सुधं सहाव न) ये कोई भी आत्मा के शुद्ध स्वभाव में नहीं हैं। जब तक ये हैं, तब तक (कम्म निवन्धाय जीव तं भनियं) कर्मों से बँधा हुआ इस जीव को कहते हैं।

भावार्थ— आठ कर्म पुद्‌गल हैं, अजीव हैं, सर्व ही संसारी जीवों की रचना इन्हीं आठ कर्मों से बनी है। अंतरंग में अज्ञान, राग-द्वेष, अशुभ व शुभ परिणाम ये सब चार घातिया कर्मों के कार्य हैं। बाहर में शरीर आदि अघातिया कर्मों के कार्य हैं। जब कर्म आत्मा से भिन्न है, तब ये सब इन्द्रिय व मन से होने वाले भाव व सर्व रागादि भाव भी आत्मा से भिन्न हैं। इन सबको अजीव तत्व में गिनना चाहिए। श्री उमा स्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र में पुद्‌गल का जीव के साथ क्या-क्या काम होता है, इन सूत्रों से स्पष्ट कह दिया है—

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्‌गलानाम्॥ १९॥
सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २०-५॥

भावार्थ— शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्‌वास तथा सांसारिक सुख-दुःख, जीना-मरना, सब पुद्‌गलों के द्वारा जीवों में होता है। अजीव का सम्बन्ध जीव से अलग कर लें तो जीव अपने स्वभाव से सिद्ध के समान शुद्ध ही दिखलाई पड़ेगा।

जीव सहाव अजीवं, कम्म निबन्धाय सक्ति रुवेन।
गुन दोसं मइओनं, जंमन मुंचनं च कम्म बन्धानं॥ ७८१॥

अन्वयार्थ— (जीव सहाव अजीव) जीव का स्वभाव अजीव के समान हो रहा है (कम्म निबन्धाय सक्ति रुवेन), क्योंकि जीव में कर्मों के बाँध लेने की शक्ति है (गुनदोसं मइओन) इसमें अनेक क्षयोपशम

भाव सम्बन्धी गुण-दोष दिखलाई पड़ते हैं, कभी गुणी कभी दोषी हो रहा है (बंधन मुंचनं च कम्म बन्धानं) यह दशा तब तक ही है, जब तक जीव कर्मों के बन्धन से न छूटे।

भावार्थ- जैसे पानी स्वभाव से शीतल है, परन्तु अग्नि के संयोग से उष्ण होकर अग्नि का काम करता है - शरीर को जला देता है, इसी तरह यह जीव कर्मों के संयोग से अजीव के समान हो रहा है। शुद्ध जीव का जो शुद्ध परिणमन है, निजानंद का प्रत्यक्ष विलास है, उससे छूटा हुआ है। रागादि भावों में, निर्बलता में, जन्म-मरण में परिणमन कर रहा है। कभी गुणी, कभी दोषी, कभी सज्जन, कभी दुर्जन, कभी साधु, कभी गृहस्थ कहलाता है। इस जीव में कर्मों से बँधने की भी शक्ति है। जब इसकी योग शक्ति शरीर नामकर्म के उदय से चंचल होती है, कर्मों की यह शक्ति खींच लेती है, जब घातिया कर्मों का उदय होता है, ज्ञान दर्शन गुण अज्ञान भाव में, चारित्र गुण कषायों में, सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्व में परिणमन कर रहा है। यह विभाव भाव में परिणमन करने की एक वैभाविक शक्ति भी आत्मा में है। जैसे जल में गर्म होने की शक्ति है, यदि अग्नि का निमित्त न मिले, वह गर्म न होगा, निमित्त मिलने पर गर्म होगा, वैसे हर एक जीव में विभाव रूप होने की व योगों के द्वारा कर्मों के खींचने की शक्ति है। जब कर्मोदय का निमित्त होता है, तब विभाव रूप परिणमन या कर्मों का बंध होता है। यदि कर्मोदय का निमित्त नहीं होता है, तो जीव सदा अपने शुद्ध स्वभाव में ही कल्लोल करता है।

अचेतं असुहावं, असत्यं आस्वतंपि जानेहि।
अजीव तत्तु भनियं, पुग्गल भावेन सरनि संसारे ॥ ७८२ ॥

अन्वयार्थ- (अचेतं असुहावं) जो ज्ञान शून्य है, जीव का स्वभाव नहीं है (असत्यं आस्वतंपि जानेहि) जो सत्य परमात्म स्वभाव से भिन्न असत्य है, जिसका कार्य क्षणिक है, ऐसा जाना जाता है (अजीव तत्तु भनिय) उसको अजीव तत्व कहा गया है, (पुग्गल भावेन संसारे सरनि) इन्हीं रागादि पौद्गलादिक भावों के द्वारा, कर्म पुद्गलों के द्वारा यह जीव संसार में भ्रमण कर रहा है।

भावार्थ- जिससे सुख-शान्ति मिले, वही सत्य पदार्थ है। पुद्गल में सुख-शान्ति नहीं इससे असत्य है। शरीर, वचन, मन रागादि भाव ये सब पुद्गल की रचना नित्य नहीं है, क्षणिक है। पुद्गल में ज्ञान नहीं है, जीव में ज्ञान है। इससे पुद्गल को बिलकुल जीव से भिन्न अजीव जानो, कर्म पुद्गलों के सम्बन्ध से ही यह जीव संसार में भ्रमण कर रहा है। इससे वैराग्य रखना ही हितकर है। समयसार कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान नटति पुद्गल एवनान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं स जीवः ॥ १२-२ ॥

भावार्थ- इस अनादिकाल से चले आए हुए महान् अज्ञान के नाटक में यह वर्णादि गुणधारी पुद्गल ही नृत्य कर रहा है। जीव तो निश्चय से रागादि पुद्गल के विकारों से रहित शुद्ध चेतनामयी स्वभाव का धारी है।

इन्द्री सरीर सुभावं, अतीन्द्रि न्यान जीव सहकारं।
गुन दोसं नवि जानई, अजीव तत्वं च मनंपि सहकारं ॥ ७८३ ॥

अन्वयार्थ– (इन्द्री सरीर सुभावं) ये पाँचों इन्द्रियें शरीर के स्वभाव के साथ (अतीन्द्रि न्यान जीव सहकारं) व जीव के अतीन्द्रिय ज्ञान के साथ एकमेव वर्तन करती हुई (गुन दोसं नवि जानई) आत्मा के हित-अहित को नहीं समझती है इन्द्रियों के द्वारा विषय की चाहनाएँ सब अजीव हैं (मनंपि सहकारं अजीव तत्वं च) मन भी इन्द्रियों के कार्य में सहकारी है, यह भी अजीव तत्व ही है।

भावार्थ– पाँचों इन्द्रिय और मन ये छः ही संसार के प्रपंच-जाल में फँसाने वाले हैं। मन राग-भाव से इन्द्रियों के भोगों का विचार करता है। उसकी प्रेरणा से सैनी जीवों की पाँचों इन्द्रियाँ अपने विषयों के भोगने में लग जाती हैं। उन छहों के कार्य में शरीर और जीव का ज्ञान दोनों सहकारी हैं। यदि अतीन्द्रिय ज्ञान का धारी जीव शरीर में न हो तो इन्द्रियों से व मन से कोई काम नहीं हो सकता है, परन्तु ये सब कार्य कर्म पुद्गलों के उदय की प्रेरणा से होते हैं। कर्म पुद्गल अजीव है। अतएव उनके सर्व कार्य भी अजीव हैं। पाँच इन्द्रिय व मन के विषयों में लुब्धाय मान होकर यह संसारी जीव अज्ञानी बन जाता है। अपने हित तथा अहित का विचार भूल जाता है। संसार के प्रपंच में फँसकर कर्म बाँध कर भव-भव में भ्रमण करता है। अतएव मुमुक्षु जीव को उचित है कि इन छहों को अपने आधीन करके जितेन्द्रिय बनें और निज आत्मा के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा करे। आत्मानुभव से ही जीव का हित है। वह तब ही होगा, जब सर्व अजीव की रचना से वैराग्य होगा।

* * *

आस्रव बंध तत्व

जीव अजीवं एकं, कम्मनि बंधाइ सरनि संसारे।
पुन्यं पाव उवंनं, मन सहकारं आस्रवै कम्मं ॥ ७८४ ॥

अन्वयार्थ– (जीव अजीवं एकं) अनादिकाल से जीव और अजीव एक से हो रहे हैं (कम्मनि बंधाइ संसारे सरनि) इसी से यह जीव कर्मों को बाँधकर संसार में भ्रमण करता है (पुन्यं पाव उवंनं) तथा पुण्य-पाप को उत्पन्न करता है (मन सहकारं आस्रवै कम्मं) भावों के निमित्त से कर्मों का आस्रव होता है।

भावार्थ– यह जीव पुद्गल के साथ अनादिकाल से संयोग किए हुए है। भूल यह हो रही है कि यह जीव अपने को भूले हुए पुद्गल को ही अपना मानता चला आ रहा है। इस मिथ्या भाव के कारण राग-द्वेष होते हैं। राग, द्वेष एवं मोह के कारण से कर्मों का आस्रव होता है। कभी कुछ शुभ भाव होते हैं, तब पुण्य कर्म का आस्रव होता है, जब अशुभ भाव होते हैं, तब पाप कर्म का आस्रव

होता है। परिणामों से ही कर्म आते हैं। यहाँ गाथा में मन शब्द से परिणाम लेने चाहिए। इन्हीं कर्मों के उदय से यह जीव संसार में भ्रमण करता रहता है। बारम्बार नवीन कर्म बाँधता है और पिछले कर्मों का फल भोगता रहता है।

देव गुरं नवि जानै, नहु धम्मं च सुध चेयना सुधं।
कुगुरुं कुदेव दिट्ठं, कुधम्मं विकहा राग संबंधं ॥ ७८५ ॥

अन्वयार्थ- (सुधं देव गुरुं नवि जानै) मिथ्यात्व के अधिकार में यह प्राणी सच्चे देव व सच्चे गुरु को नहीं समझता है (नहु धम्मं च सुध चेयना) न यह समझता है कि शुद्ध ज्ञान चेतना ही धर्म है (कुगुरुं कुदेव कुधम्मंविकहा राग संबंधं दिट्ठ) कुगुरु, कुदेव व विकथाओं में रागभाव रूप कुधर्म को ही यथार्थ धर्म माना जाता है।

भावार्थ- अनादिकाल से मोह के नशे में गाफिल प्राणी सर्वज्ञ वीतराग ऐसे निर्दोष देव को, परिग्रह रहित निर्ग्रंथ साधु को तथा निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्ध चेतना के अनुभव रूप धर्म को नहीं समझता है, किन्तु सांसारिक प्रयोजन के लोभ से रागी, द्वेषी, कल्पित देवों को देव, परिग्रहासक्त संसार मोही को साधु को गुरु तथा स्त्री, भोजन, देश, राजा के सम्बन्ध में प्रीति बढ़ाने वाले भावों को ही धर्म मान लेता है अथवा जिस धर्म के नियमों पर चलने से सुन्दर स्त्री, भोजन, राज्य, धन-धान्य आदि सांसारिक विभूति प्राप्त हों, उनको धर्म मान लेता है, यही मिथ्यात्व कर्मों के आस्रव का कारण है।

अनृत अचेत सहियं, मिथ्या कुन्यान संजदो भावं।
परिनै असुह सहावं, मन सहकारेन सयल संजुत्तं ॥ ७८६ ॥

अन्वयार्थ- (अनृत अचेत सहियं) मिथ्यात्व व अज्ञान सहित होने से (मिथ्या कुन्यान संजदो भावं) मिथ्या श्रद्धान, मिथ्या ज्ञान व मिथ्या चारित्र सम्बन्धी भावों को करता हुआ (असुह सहावं परिनै) यह अशुद्ध स्वभाव में परिणमन करता रहता है (मन सहकारेन सयल संजुत्तं) परिणामों की सहायता से ही सर्व कर्मों का संयोग होता है।

भावार्थ- इस संसारी जीव के अनादिकाल से मिथ्यादर्शन तथा ज्ञानावरण कर्म का ऐसा उदय है, जिससे यह जीव मिथ्याश्रद्धान व मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र में रहता हुआ सदा संसारवर्द्धक अशुद्ध भावों को किया करता है और उन्हीं भावों से नाना प्रकार कर्मों का आस्रव करके कर्मों से बंधता है।

जीवो कम्म निबद्धं, आसव कम्मं विविह भावेन।
आसव तत्तु समिधं, मन सहकारेन आसवो भनियं ॥ ७८७ ॥

अन्वयार्थ- (कम्म निबद्धं जीवो) पूर्व के कर्मों से बँधा हुआ जीव (विविह भावेन कम्मं आसव) नाना प्रकार के भावों से कर्मों का आस्रव करता है (आसव तत्तु समिधं) यही आस्रव तत्व है (मन सहकारेन आसवो भनियं) परिणामों के निमित्त से ही आस्रव कहा गया है।

भावार्थ- शुद्ध जीव के कर्मों का आस्रव नहीं होता है, क्योंकि आस्रव का मूल कारण मन, वचन, काय द्वारा आत्मा का परिस्पंद होते हुए योग शक्ति का परिणमन है, सो शुद्ध जीव के संभव नहीं है, किन्तु कर्मबद्ध अशुद्ध जीव के सम्भव है। इस अशुद्ध जीव के आस्रव के कारणीभूत भाव मिथ्या दर्शन, अविरत, प्रमाद कषाय तथा योग होते हैं। इन ही भावों को भावास्रव कहते हैं। कर्मों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं। भावास्रवों के भेद द्रव्यसंग्रह में इस प्रकार कहे हैं—

मिच्छत्ता विरदिपमादजोगकोहादयो सविण्णेया।
पण-पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥ ३०॥

भावार्थ- पाँच मिथ्यात्व— एकांत, विपरीत, संशय, अज्ञान, विनय। पाँच-पाँच अविरति— हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह। पन्द्रह प्रमाद— स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा, राजा कथा, स्पर्शन इन्द्रियादि पाँच इन्द्रियाँ व चार कषाय और स्नेह तथा निद्रा। चार क्रोधादि कषाय तीन मन वचन काय के योग ये ३२ भेद भावास्रव के जानना चाहिए। सब प्रमाद के ८० भेद हो जाते हैं— ४ विकथा × ५ इन्द्रिय × ४ कषाय × १ निद्रा × १ स्नेह =८०। इन्हीं को भावबंध भी कहते हैं। बंध और आस्रव के भाव समान हैं। एक ही अशुद्ध परिणाम से दो कार्य होते हैं। कर्मों का बंध के निकट होना सो आस्रव है, उनका बंध कार्माण शरीर से हो जाना बंध है। तत्वार्थ सूत्र में बंध के कारण यही बताए हैं—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥१-८॥

जीवो अप्प सहावं, मन सुधं सुध दिस्टि अप्पानं।
मनु चेयन सुभावं, बन्धै आसव सुहं असुहं च॥ ७८८॥

अन्वयार्थ- (जीवो अप्प सहावं) जीव का अपना स्वभाव (मन सुधं) शुद्ध परिणाम है (सुध दिस्टि अप्पानं) जहाँ शुद्ध आत्मा में ही दृष्टि है (मनु चेयनसुभावं) जब चेतन मन के द्वारा काम करने लगता है तथा अशुद्ध परिणाम होते हैं, तब (सुहं च असुहं आसव बन्धै) शुभ तथा अशुभ कर्मों का आस्रव तथा बंध होता है।

भावार्थ- जब जीव आप अपने शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान ज्ञान तथा अनुभव करता हुआ शुद्धोपयोग में रमण करता है, तब कर्मों का आस्रव तथा बंध नहीं होता है, परन्तु जब अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में परिणाम उलझ जाते हैं, शुद्ध आत्मा के मनन से विरुद्ध सांसारिक कामों में परिणाम रत हो जाते हैं, तब शुभ भावों से पुण्यकर्मों का तथा अशुभ भावों से पापकर्मों का आस्रव तथा बंध होता है।

देव गुर धम्म सुधं, अप्प सरुवं च निम्मलं विमलं।
मिथ्या कुन्यान विरयं, बंध तत्वं च चेयना भावं॥ ७८९॥

अन्वयार्थ- (सुधं देव गुर धम्म) जहाँ निश्चयनय से शुद्ध आत्मा ही देव है, गुरु है, धर्म है (अप्प सरुवं च निम्मलं विमलं) ऐसा जो कर्म मल व रागादि मल रहित आत्मा का स्वरूप है (मिथ्या कुन्यान

विरयं) जहाँ न मिथ्या श्रद्धान है न मिथ्या ज्ञान है (चेयना भावं) एक ज्ञान चेतना का ही अनुभव रूप भाव है, वहाँ (बंध तत्वं च) बंध तत्व नहीं है, वहाँ कर्मों का बंध नहीं होता है।

भावार्थ- बंध के कारण वास्तव में राग-द्वेष और मोह है। जहाँ राग-द्वेष और मोह नहीं है, एक शुद्ध आत्मा में ही परिणति रमण कर रही है। शुद्ध ज्ञान का ही जहाँ स्वाद आ रहा है। आत्मिक परमानंद में जहाँ मगनता है, वह भाव कर्मों की निर्जरा का कारण है, बंध का कारण नहीं है। मुमुक्षु को बंध से बचने के लिए शुद्धोपयोग का प्रकाश करना चाहिए।

♣ ♣ ♣

संवर तत्व

चिंतइ अप्प सहावं, दंसन न्यानेन सुध चरनानं।
अप्पा परमप्पानं, संवर तत्वं च सुध जानेहि ॥ ७९० ॥

अन्वयार्थ- (अप्प सहावं चिंतइ) आत्मा के स्वभाव का जहाँ अनुभव है (दंसन न्यानेन सुध चरनानं) जहाँ शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध सम्यग्ज्ञान तथा शुद्ध सम्यक्चारित्र है (अप्पा परमप्पानं) आत्मा परमात्मा रूप हो रहा है (सुध संवर तत्वं च जानेहि) वहीं शुद्ध संवर तत्व को पहचानना चाहिए।

भावार्थ- कर्मों के आस्रव को रोकना संवर है। जिन-जिन भावों से कर्म आते हैं, उनको रोकना भाव संवर है। सम्यग्दर्शन, व्रत भाव, अप्रमाद भाव, वीतराग भाव, मन, वचन, काय की गुप्ति संवर के भाव हैं। यहाँ निश्चय संवर को बताया है कि रत्नत्रय स्वरूपधारी अपने ही आत्मा को शुद्ध आत्मा रूप परम शुद्ध अनुभव करना ही संवर है। इससे वास्तव में प्रचुर कर्मों का संवर होता है।

पंच इन्द्री संवरनं, अतीन्द्रिय भाव सुध परिनामं।
मिथ्या विषय निरोधं, अप्पा न्यान दंसन समग्गं ॥ ७९१ ॥

अन्वयार्थ- (पंच इन्द्री संवरनं) पाँचों इन्द्रियों का रोकना (मिथ्या विषय-निरोधं) संसार के मिथ्या नाशवंत पदार्थों का राग छोड़ना (अप्पा न्यान दंसन समग्गं) आत्मा ज्ञान दर्शन से पूर्ण है उसकी ओर लक्ष्य देकर (अतीन्द्रिय भाव सुध परिनामं) अतीन्द्रिय शुद्ध भावों में परिणमना संवर है।

भावार्थ- संसार की चारों गतियों में जितनी पर्यायें हैं, वे सब बार-बार छूट जाने वाली मिथ्या हैं। क्रमजनित हैं, उनसे मन को रोककर तथा पाँच इन्द्रिय से मन को रोककर जो ज्ञाता दृष्टा परमानंदमयी निज आत्मा में उपयोग को लगाकर अतीन्द्रिय शुद्ध भावों में रमण करना अर्थात् आत्मा का अनुभव करना संवर तत्व है। शुद्ध भावों में ठहरने से कर्मों का संवर होता है। जितना-जितना गुणस्थान चढ़ता जाएगा, उतना-उतना संवर होता जाएगा। आस्रव के पाँच कारण हैं— मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,

कषाय तथा योग। मिथ्यात्व का उदय दूसरे आदि के गुणस्थानों में नहीं। इससे मिथ्यात्व के उदय से जो कर्म आते थे, वे आगे नहीं आएँगे। अनन्तानुबंधी कषाय का उदय दूसरे गुणस्थान तक है। उसके आगे अनन्तानुबंधी कषाय द्वारा आने वाले कर्म न आएँगे। मिश्र प्रकृति का उदय तीसरे में है, उसके उदय से जो कर्म बंधेंगे, वे ही वहाँ बंध को प्राप्त होंगे। चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी व दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृति का उदय नहीं है व वेदक सम्यक्त्वी के केवल एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है, ऐसी दशा में जितने कर्म आएँगे, उससे अधिक न आएँगे। पाँचवें देशविरति में अविरति भाव कुछ चला गया। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं है, इससे इस कषाय सम्बन्धी कर्म न आएँगे। छठे प्रमत्त विरत में प्रत्याख्यानावरण कषाय भी उदय में न रहा, तब उस सम्बन्धी कर्म नहीं आएँगे। सातवें से लेकर दसवें तक प्रमाद नहीं रहा, संज्वलन कषाय का उदय है, वहाँ तक कषाय जनित कर्म आएँगे, आगे कषाय नहीं है, केवल तेरहवें तक योग है, इससे एक सातावेदनीय कर्म एक समय का स्थिति वाला ही आएगा, अन्य कर्म नहीं आएँगे। इस तरह जैसे-जैसे भाव चढ़ते जाएँगे, कर्मों का संवर होता जाएगा।

♣ ♣ ♣

निर्जरा तत्व

निज्जरइ भाव सुधं, सुधं वर न्यान दंसन समग्गं।
अप्पा परमप्पानं, सुध सहावेन केवलं न्यानं॥ ७९२॥

अन्वयार्थ– (भाव सुधं निज्जरइ) शुद्ध भावों से कर्मों की निर्जरा होती है (सुधं वर न्यान दंसन समग्गं) अपना ही आत्मा शुद्ध स्वरूप ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण है (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप समझ ध्यान करना (सुध सहावेन केवलं न्यानं) इसी शुद्धोपयोग के प्रताप से केवलज्ञान होता है।

भावार्थ– निर्जरा दो प्रकार की है — सविपाक निर्जरा, अविपाक निर्जरा। कर्मों का अपनी स्थिति पूरी होने पर झड़ना सो सविपाक निर्जरा है। यह सब संसारी जीवों के होती है। स्थिति के पकने के पहले ही वीतराग भाव से कर्मों को दूर करना अविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा अविरत सम्यग्दृष्टि के होना प्रारंभ हो जाती है, क्योंकि तत्वज्ञानी आत्मा का अनुभव करने लग जाता है। आत्मानुभव के कारण जितनी वीतरागता होती है, उतनी ही कर्म की निर्जरा होती है। फिर आगे-आगे गुणस्थानों में जितना-जितना अधिक आत्मानुभव बढ़ता है, कर्म की निर्जरा अधिक-अधिक होती जाती है। आत्मानुभव रूप धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ही तप है। उसके प्रताप से आठों ही कर्म की निर्जरा हो जाती है और यह आत्मा अपने को परमात्मा रूप ध्याता हुआ स्वयं परमात्मा हो जाता है।

♣ ♣ ♣

मोक्ष तत्व

मोष्यं मुक्ति सुभावं, संसारे सरनि सयल विक्तोयं।
अप्पा अप्प सहावं, मोष्यं विमल न्यान झानत्थं ॥ ७९३ ॥

अन्वयार्थ– (मोष्यं मुक्ति सुझावं) मोक्ष तत्व सर्व पर से छूटा हुआ आत्मा का स्वभाव है (संसारे सरनि सयल विक्तोयं) संसार में भ्रमण कराने वाले भावों से व कर्मों से पूर्णरूपेण मुक्ति हो जाना है (अप्पा अप्प सहावं) आत्मा का अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेना है तथा (विमल न्यान झानत्थं मोष्यं) निर्मल ज्ञान के ध्यान में तिष्ठना मोक्ष है।

भावार्थ– आत्मा और कर्मों का अनादि सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा चला आता था। शुक्ल ध्यान के बल से जब सर्व कर्म गिर जाते हैं, तब कर्मों के कारण से रहने वाले तैजस व औदारिक शरीर भी गिर जाते हैं। आत्मा अकेला शुद्ध निज स्वभाव में रह जाता है। कर्मों के उदय बिना कोई चंचल भाव या रागादि भाव नहीं होता है। तब आत्मा अपने शुद्धज्ञान में ही आनन्दामृत को पान करता हुआ रहता है। अनंतकाल तक स्वरूप मग्न रहता है, निराकुल रहता है, अतिन्द्रीय आनंद का भोग करता है, यही मोक्ष तत्व है। मोक्ष प्राप्त कर आत्मा अपनी सत्ता को नहीं खोता है। अन्तिम शरीर के आकार आत्मा शुद्ध भावों में रहता है। परम कृतकृत्य परम सुखी अनंतकाल तक बना रहता है।

तत्तु सुभाव निरुपं, एको उद्देस किंचितं कहियं।
न्यानं न्यान सरुवं, तत्व सरुवं च दंसनं ममलं ॥ ७९४ ॥

अन्वयार्थ– (तत्तु सुभाव निरुपं) सात तत्वों का भाव कहा गया है (एको उद्देस किंचितं कहियं) यहाँ कुछ एकोदेस थोड़ा-सा कहा है- सातों तत्वों का सार (न्यानं न्यान सरुवं) ज्ञान स्वभावी ज्ञानी आत्मा है (तत्व सरुवं च दंसनं ममलं) वही वास्तविक तत्वमय निर्मल सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ– सात तत्वों का विस्तार से कथन और ग्रंथों से जानना योग्य है। यहाँ कुछ कथन किया गया है। इनमें मुख्य तत्व एक अपना आत्मा है, जो निर्मल ज्ञान दर्शन से पूर्ण सिद्धवत् परमात्मा है। इसी का दृढ़ विश्वास करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है, जबकि सात तत्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। व्यवहार के मथन से निश्चय सम्यक्त्व उसी तरह प्राप्त होता है, जैसे दूध के मथने से मक्खन निकलता है।

♣ ♣ ♣

जीव पदार्थ

पदार्थं पद विंद, जीव पदार्थं पद विंद संजुत्तं।
उवं विंद संजुत्तं, न्यान मयं च दंसनं चरनं॥ ७९५॥

अन्वयार्थ- (पदार्थं पद विंद) पदार्थ वह है, जो पद के द्वारा वस्तु को जनावे (जीव पदार्थ पद विंद संजुत्त) जीव पद के द्वारा जीव वस्तु या पदार्थ का ज्ञान होता है (उवं विंद संजुत्त) ॐ नमः पद के द्वारा शुद्ध जीव का ज्ञान होता है, वह जीव (न्यान मयं च दंसनं चरनं) ज्ञानमयी, सम्यग्दर्शनमयी तथा सम्यक्चारित्रमयी अर्थात् स्वात्मानुभवमयी है।

भावार्थ- शब्द के द्वारा जो निश्चय किया जाए सो पदार्थ है। जीव पदार्थ से त्रिकाल जीने वाला जीव जाना जाता है। शुद्ध जीव पदार्थ रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोगमय सिद्ध भगवान या अर्हंत परमेष्ठी हैं या शुद्धात्मा का अनुभव करने वाले आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी हैं। ॐ नमः पद में इन पाँचों को नमस्कार किया गया है। ॐ मंत्र पाँच प्रथम अक्षरों से बना है। अर्हंत का 'अ' सिद्ध या अशरीर का 'अ', आचार्य का 'आ', उपाध्याय का 'उ', साधु या मुनि का 'म'। इस तरह अ+अ+आ+उ+म् मिलाने से ओम् या ॐ हो जाता है।

अष्यर सुर विंजनयं, पदार्थं सुध न्यान निम्मलयं।
अप्पा परमप्पानं, नंत चतुस्टय सरुव निम्मलयं॥ ७९६॥

अन्वयार्थ- (सुर विंजनयं अष्यर पदार्थं) स्वर, व्यंजन अक्षरों से पद बनता है। पद से अर्थ का बोध होता है सो पदार्थ है। जीव शब्द से (सुध न्यान निम्मलयं) शुद्ध ज्ञान स्वरूपी निर्मल आत्मा का ज्ञान होता है, (अप्पा परमप्पानं) आत्मा परमात्मा स्वरूप है, (नंत चतुस्टय सरुव निम्मलयं) अनंतज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय स्वरूप शुद्ध है, ऐसा ज्ञान होता है।

भावार्थ- जीव पदार्थ से अपने आत्मा को आत्मा रूप या परमात्मा रूप शुद्ध वीतराग ज्ञान से पूर्ण जानना योग्य है।

न्यान सरुव सुभावं, अप्पा विमल निम्मलं सुधं।
न्यानं न्यान सहावं, न्यान सहावेन पदार्थं सुधं॥ ७९७॥

अन्वयार्थ- (न्यान सरुव सुभावं) जीव का स्वभाव ज्ञान स्वरूप है, (अप्पा विमल निम्मलं सुधं) यही आत्मा कर्ममल व रागादि दोष रहित शुद्ध कहलाता है, (न्यानं न्यान सहावं) यही ज्ञानमयी है व ज्ञान स्वभाव है (न्यान सहावेन सुधं पदार्थं) तथा यही ज्ञान स्वभाव में ठहरने से शुद्ध जीव पदार्थ है।

भावार्थ- ज्ञान जीव पदार्थ का मुख्य गुण है। इसी के द्वारा अन्य गुणों का बोध होता है। ज्ञान सिवाय आत्मा के और किसी पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश अजीव द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। यह ज्ञान इसका असाधारण लक्षण है। इस जीव को सर्व कर्ममल व रागादि मल रहित शुद्ध अपने ही निज स्वभाव में कल्लोल करने वाला जानना यथार्थ में जीव पदार्थ का ज्ञान है।

* * *

अजीव पदार्थ

अजीवं अचेतं, इन्द्री विषय राग दोस संजुत्तं।
मन सुधं न्यान सहावं, अतीन्द्री विषय पदार्थं सुधं ॥ ७९८ ॥

अन्वयार्थ- (अजीवं अचेत) अजीव पदार्थ वह है, जिसमें चेतना न हो। वे अजीव पाँच हैं – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल (इन्द्री विषय रागदोस संजुत्त) इन्द्रियों के भोगने योग्य विषय सब पुद्गल अजीव हैं तथा राग दोष भाव भी पुद्गल हैं, क्योंकि मोहनीय कर्म पुद्गल जनित विकार हैं (मन सुधं न्यान सहावं) जहाँ परिणाम रागादि दोष रहित वीतराग है व ज्ञान स्वभाव ही हैं (अतीन्द्री विषय पदार्थं सुधं) जो इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य नहीं है, ऐसा शुद्ध पदार्थ आत्मा है, उससे रहित जो कुछ है, सो अजीव पदार्थ है।

भावार्थ- यहाँ यह बताया है कि शुद्ध जीव पदार्थ को छोड़कर बाकी सर्व प्रपंचजाल अजीव पदार्थ में समझ लेना चाहिये। जीव के साथ कार्माण, तैजस, औदारिक या वैक्रियिक या आहारक शरीर संयोग करते हैं। ये सब पुद्गल अजीव हैं। कर्मों के निमित्त से जितने रागादि विभाव होते हैं वे भी शुद्ध जीव नहीं हैं, इसलिये उनको भी अजीव समझना चाहिये। अजीव से वैराग्य हटाकर शुद्ध जीव पदार्थ से प्रेमालु होना योग्य है।

* * *

पुण्य, पाप तथा आस्रव पदार्थ

आसवै पुन्य पावं, भावं असुहं च विविह कम्मानं।
चेयन सुध स उत्तं, पदार्थं तंपि पुन्य पावं च ॥ ७९९ ॥

अन्वयार्थ- (असुहं भावं च विविह कम्मानं पुन्य पावं आसवै) अशुद्ध भाव ही नाना प्रकार पुण्य-पाप कर्मों का आस्रव करता है (चेयन सुध स पदार्थं उत्तं) जो शुद्ध चेतन पदार्थ कहा गया है (तंपि पुन्य पावं च) वही पुण्य-पाप रूप हो जाता है।

भावार्थ- आत्मा निश्चय से शुद्ध है, परन्तु व्यवहार से कर्मों के बंध तथा उदय के कारण अशुद्ध है। अशुद्ध आत्मा में अशुद्ध भाव होते हैं। योगों के और कषायों के परिणाम होते हैं, इन्हीं को लेश्या कहते हैं। जब पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या होती है, तब शुभ परिणाम कहाते हैं। जब कृष्ण, नील, कापोत लेश्या होती है तब अशुभ परिणाम कहाते हैं। शुभ परिणामों को भाव-पुण्य अशुभ परिणामों को भाव-पाप कहते हैं। दोनों को भाव-आस्रव कहते हैं। शुभ भावों से सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मों का तथा अशुभ भावों से असाता वेदनीय आदि पाप कर्मों का आस्रव होता है। इनको द्रव्य-पुण्य, द्रव्य-पाप व कर्मों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं। यहाँ पुण्य, पाप, आस्रव तीनों का संक्षेप कथन किया गया है। पुण्य-पाप पदार्थ वास्तव में आस्रव में गर्भित हैं।

♣ ♣ ♣

बंध पदार्थ

पदार्थं पद विंदंतो, सुध सहावेन निम्मल सरुवं।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, संसारे सरनि बंध जानेहि॥ ८००॥

अन्वयार्थ- (पदार्थं पद विंदंतो) जो जीव पदार्थ के द्वारा अपने आत्मिक पद का अनुभव करता है (सुध सहावेन निम्मल सरुवं) शुद्ध स्वभाव में ठहरकर निर्मल स्वरूप का ध्यान करता है (मिथ्या सल्य विमुक्कं) जहाँ बहिरात्मपना रूप मिथ्यात्व की कोई शल्य नहीं है, वही मोक्ष का मार्ग है, उसके विरुद्ध (संसारे सरनि बंध जानेहि) जितना भी संसार भ्रमण का कारण है, उसे कर्म का बंध जानना चाहिये।

भावार्थ- शुद्ध जीव पदार्थ का श्रद्धा व ज्ञान व चारित्र सहित अनुभव करना सर्व शल्य व इच्छा रहित हो जाना मोक्ष का मार्ग है। इसके विरुद्ध कर्मों के प्रपंच जाल में रागद्वेष करना बंध का मार्ग है। कर्म का बंध ही संसार में भव-भव के भीतर भटकाने वाला है। बंधन कभी भी सुखदाई नहीं हो सकता है। इसलिए बंध पदार्थ को हेय समझकर मोक्षमार्ग पर चलना चाहिये।

♣ ♣ ♣

संवर पदार्थ

संवरन राय दोसं, मिथ्या संसार सरनि संवरनं।
न्यान मई अप्पानं, ग्यान सहावेन संवरं भनियं॥ ८०१॥

अन्वयार्थ- (राय दोसं संवरनं) रागद्वेष को रोकना (मिथ्या संसार सरनि संवरनं) मिथ्या संसार के मार्ग के भ्रमण को रोकना (न्यानमई अप्पानं) ज्ञानमयी आत्मा को (ग्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव में तिष्ठ करके ध्याना (संवरं भनियं) संवर पदार्थ कहा गया है।

भावार्थ- इस मिथ्या नाशवंत चार गतिरूप संसार में भ्रमण कराने का कारण कर्मों का बंध है, जो मिथ्यात्व भाव तथा रागद्वेष भावों के कारण से होता है। इसलिए रागद्वेष, मोह को रोककर ज्ञानमयी अपने शुद्धात्मा का अनुभव करना ही कर्मों के रोकने का उपाय है। यही संवर पदार्थ कहा गया है।

♣ ♣ ♣

निर्जरा पदार्थ

निज्जरइ पुन्य पावं, भावं असुहं च विविह कम्मानं।
अप्प सहावं पिच्छदि, परमप्पा निज्जरं विमलं॥ ८०२॥

अन्वयार्थ- (पुन्य पावं निज्जरइ) जिससे पुण्य तथा पाप दोनों कर्मों की निर्जरा हो, (विविह कम्मानं असुहं भावं च) तथा नाना प्रकार कर्मों के बन्ध के कारण अशुद्ध भावों का अभाव हो (अप्प सहावं पिच्छदि) जहाँ आत्मा के स्वभाव का अनुभव हो, (परमप्पा विमलं निज्जरं) परमात्मा स्वरूप में तन्मय रूप निर्मल भाव हो, वही निर्जरा पदार्थ है।

भावार्थ- भाव निर्जरा द्रव्य निर्जरा का कारण है। वीतराग भावों के साथ अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव में तन्मय हो जाना, आत्म ध्यानमय होना, आत्मा ही में तपना, यही निश्चय तप रूप भाव, भाव निर्जरा है। इसके प्रताप से अशुद्ध भाव नहीं होने पाते हैं तथा पाप कर्मों की निर्जरा हो जाती है तथा पुण्य कर्मों की स्थिति घटकर तथा अनुभाग बढ़कर वे शीघ्र ही रस देकर गिर पड़ते हैं। इस तरह कर्मों की निर्जरा का कारण निज आत्मानुभव ही निर्जरा पदार्थ है।

♣ ♣ ♣

मोक्ष पदार्थ

मोष्य पदार्थं सुधं, अविगत रुवेन विगत भावेन।
अप्पा परमानंदं, परमप्पा न्यान निम्मलं सुधं॥ ८०३॥

अन्वयार्थ- (मोष्य पदार्थं सुधं) मोक्ष पदार्थ शुद्ध आत्मा है (अविगत रुवेन) जिसमें कोई पौद्गलिक रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है (विगत भावेन) जिसमें कोई औपशमिक क्षायोपशमिक तथा औदायिक ऐसे तीन प्रकार विभाव नहीं हैं (अप्पा परमानंदं) जहाँ शुद्धात्मा परमानंद में मगन रहता है (परमप्पा न्यान निम्मलं सुधं) वही परमात्मा है, जहाँ कर्ममल रहित वीतरागमय ज्ञान है।

भावार्थ- सर्व द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, भाव कर्म रागद्वेषादि, नोकर्म शरीरादि से छूटकर आत्मा का अपने अमूर्तिक ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव में हो जाना मोक्ष है। यही परमात्मा का स्वभाव है, यहाँ

कोई कर्मजनित भाव नहीं होते हैं। अनंत ज्ञानादि क्षायिक भाव हैं या जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव है। मोक्षरूप सिद्ध परमात्मा सदा अपने स्वाभाविक आनंद में मगन रहते हैं।

पदार्थं संसुधं, सुधं ससहाव चेयना सहियं।
संसार विगत रुवं, न्यान सहावेन सुध पदविंदं॥ ८०४॥

अन्वयार्थ- (संसुधं पदार्थं) मोक्ष परम शुद्ध आत्मा पदार्थ है (सुधं ससहाव चेयना सहियं) वह कर्ममल रहित शुद्ध है तथा अपने स्वाभाविक चेतना गुण सहित है (संसार विगत रुवं) संसार की सर्व विभाव परिणतियों से व सर्व विभाव भावों से व संसार के सर्व नर-नरकादि रूपों से रहित है (न्यान सहावेन सुध पदविंदं) ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर शुद्ध आत्मिक पद का जहाँ पर अनुभव है।

भावार्थ- मोक्ष पदार्थ रूप आत्मा अपनी स्वाभाविक ज्ञान चेतना रूप रहता है, वहाँ अशुद्ध चेतना अर्थात् कर्मफल या कर्मचेतना नहीं होती है। कर्मों के निमित्त से जितने विभाव-भाव होते हैं— ज्ञान की पर्यायें या असंख्यात लोक प्रमाण कषाय के भाव व शरीर के अनेक रूप जीव समास भावों की श्रेणियाँ चौदह गुणस्थान तथा जीव की परिणतियाँ चौदह मार्गणा स्थान इत्यादि कोई भी संसार संबंधी विभाव या रूप उस शुद्ध आत्मा में नहीं हैं। वे शुद्धात्मा ज्ञानाकार अपने शुद्ध सिद्ध पद का निरन्तर भोग किया करते हैं।

पदार्थं परमं धुवं, परमप्पा न्यान निम्मलं सरुवं।
पदं पदार्थं सुधं, रागादि सयल दोस विवरीदो॥ ८०५॥

अन्वयार्थ- (पदार्थं परमं धुवं) मोक्ष पदार्थ परम ध्रुव है, निश्चय अविनाशी है (परमप्पा न्यान निम्मलं सरुवं) वहाँ परमात्मा अपने ज्ञानमयी निर्मल स्वभाव में रहता है (सुधं पदं पदार्थं) वही पदार्थ शुद्ध पद है (रागादि सयल दोस विवरीदो) वही शुद्ध अपने स्वाभाविक चेतना के भाव में मगन है।

भावार्थ- मोक्ष प्राप्त आत्मा कभी मोक्ष अवस्था को त्यागते नहीं हैं। वे सदा सिद्ध पद में ध्रुव निश्चल बने रहते हैं। वे अपने स्वाभाविक अनंत गुणों में तन्मय रहते हैं। शुद्ध ज्ञान चेतना का वे निरन्तर अनुभव करते हैं। आत्मानंद का अपूर्व रस भोगते हैं।

पद सुधं मन सुधं, मनु अप्पा परमप्प सुध निम्मलयं।
पद विंदं ससहावं, न्यान सरुवं च लहइ निव्वानं॥ ८०६॥

अन्वयार्थ- (पद सुधं मन सुधं) वह मोक्ष पद शुद्ध है, वहाँ परिणाम भी शुद्ध है (मनु अप्पा परमप्प सुध निम्मलयं) वहाँ आत्मा शुद्ध वीतराग निरंजन रूप परमात्मा रूप है (ससहावं पद विंदं) वे अपने स्वाभाविक पद का अनुभव करते हैं। (न्यान सरुवं च लहइ निव्वानं) वास्तव में जो ज्ञान स्वरूप हो जाता है, जिसका पर से संबंध छूट जाता है, वही निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थ- मोक्ष को ही निर्वाण कहते हैं। जहाँ संसार की अवस्था से आत्मा की निवृत्ति हो जाती है। इस मोक्ष पद में केवल शुद्ध आत्मा अपने स्वभाव का विलास करता हुआ सदा आनंदमय रहता है। पाँचों परमेष्ठी के पदों में यही शुद्ध पद है।

♣ ♣ ♣

जीव द्रव्य

दव्वं दव्व सहावं, जीव दव्वं च तिलोय संसुधं।
छह गुन निवास सुधं, दो गुन अनाइ एक संजुत्तं॥ ८०७॥

अन्वयार्थ- (दव्वं दव्व सहावं) द्रव्य उसे कहते हैं, जिसका द्रवण या परिणमन स्वभाव हो (जीव दव्वं च तिलोय संसुधं) जीव द्रव्य तीन लोक के भीतर भरे हुए छः द्रव्यों में से एक शुद्ध द्रव्य है (छह गुन निवास सुधं) छः गुणों को रखने वाला शुद्ध पदार्थ है (दो गुन अनाइ) उनमें से दो गुण मुख्य हैं (एक संजुत्त) संग्रह नय से एक जीवत्व गुण सहित है।

भावार्थ- जो सदा परिणमन करे, उसको द्रव्य कहते हैं। जीव भी परिणमनशील है, इसलिए द्रव्य है। इसमें छः शुद्ध प्रसिद्ध गुण हैं, जिनका वर्णन आगे की गाथाओं में है, वे हैं— (१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) प्रमेयत्व, (४) अगुरु-लघुत्व, (५) चेतनत्व, (६) अमूर्तत्व। इनमें से चेतनत्व और अमूर्तत्व दो मुख्य गुण हैं। ये दोनों किसी अपेक्षा विशेष गुण हैं। अस्तित्व आदि चार गुण सामान्य सब द्रव्यों में पाये जाते हैं। चेतनत्व जीव में ही है। अमूर्तत्व पुद्गल में नहीं है। यद्यपि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, में हैं। चेतनत्व के साथ अमूर्तत्व ये दो गुण तो जीव में ही हैं और किसी द्रव्य में नहीं। यदि संग्रह नय से देखें तो जीव में एकत्व जीवत्व गुण है। आलाप पद्धति में श्री देवसेनाचार्य ने जीव द्रव्य में आठ गुण बताये हैं— (१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरु-लघुत्व, (६) प्रदेशत्व, (७) चेतनत्व, (८) अमूर्तत्व। यहाँ छः की संज्ञा दी है। द्रव्यत्व गुण द्रव्य स्वभाव में गर्भित है तथा प्रदेशत्व गुण अस्तित्व में गर्भित है, ऐसा समझ में आता है। प्रमेयत्व के स्थान में यहाँ अप्रमेयत्व लिया है। सो भी किसी अपेक्षा से ठीक है, जो आगे कहेंगे। इन गुणों का धारी जीव अनादि से ही है, कभी इन गुणों से शून्य न था न होवेगा। अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि जीव में सद्भाव गुण छः हैं— अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरु-लघुत्व, प्रदेशत्व, द्रव्यत्व। दो विशेष गुण हैं- चेतनत्व व अमूर्तित्व।

♣ ♣ ♣

अस्तित्व गुण

अस्ति अस्तिति लोकं, वर दंसन न्यान चरन संजुत्तं।
दंसेइ तिहुवनग्गं, न्यानमयो न्यान ससरुवं॥ ८०८॥
अस्ति चरन संजुत्तं, अस्ति सरुवेन सहाव निम्मलयं।
विगतं अविगत रुवं, चेयन संजुत्त निम्मलो सुधो॥ ८०९॥

अन्वयार्थ- (अस्ति अस्तिति लोकं) जीव द्रव्य है तीन लोक प्रमाण असंख्यात् प्रदेशों का धारी है, (वर दंसन न्यान चरन संजुत्तं) निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान तथा निश्चय सम्यक्चारित्र सहित है, (तिहुवनग्गं दंसेइ) तीन भुवन के अन्त तक सर्वलोक को देखने वाला है (न्यानमयो न्यान ससरुवं) ज्ञानमयी है तथा ज्ञान ही जिसका अपना स्वरूप है (चरन संजुत्तं अस्ति) चारित्र अर्थात् वीतरागता सहित है (सरुवेन सहाव निम्मलयं अस्ति) यह जीव अपने स्वरूप से स्वभावमयी निर्मल शुद्ध अस्तित्व को रखने वाला है (विगतं अविगत रुवं) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के न होने से जीव अरूपी अर्थात् अमूर्तिक है तथापि प्रदेशत्व गुण के रखने से प्रदेशी है, अर्थात् असंख्यात प्रदेशी है (चेयन संजुत्त निम्मलो सुधो) चेतना सहित परम शुद्ध निरंजन है।

भावार्थ- जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश न हो उसको अस्तित्व गुण कहते हैं। इन दो गाथाओं को इसी का व्याख्यान कहते हुए प्रदेशत्व गुण को भी साथ-साथ कह दिया है। क्योंकि द्रव्य के अस्तित्व का ज्ञान उसके आकार पर ही निर्भर है। जिसका कोई आकार नहीं वह वस्तु अपना अस्तित्व नहीं रख सकती है। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ न कुछ आकार अवश्य हो उसको प्रदेशत्व गुण कहते हैं। यह जीव है, क्योंकि मैं जानता हूँ, ऐसा अनुभव हो रहा है। यह प्रदेशों की अपेक्षा लोकाकाश व्यापी असंख्यात प्रदेशी है। शरीर में संकोच विस्तार स्वभाव के कारण छोटे या बड़े आकार का शरीर प्रमाण हो जाता है। मुक्त अवस्था में पूर्व शरीर के प्रमाण उससे कुछ कम आकार रखता है। यह निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है तथा यह छहों द्रव्यों को देखने जानने वाला है। जिनसे लोकालोक भरा है। गाथा में तिहुवनग्गं शब्द है, उससे तीन लोक के अंत तक का बोध होता है, परन्तु वास्तव में यहाँ सर्व लोकालोक से प्रयोजन है। इसका आकार ज्ञानमयी है, यह चारित्र गुण से परिपूर्ण भरा परम शांतिमय है। इसका स्वभाव शुद्ध कभी मिटता नहीं। यही अस्तित्व गुण का काम है। यह अमूर्तिक होने पर भी ज्ञानाकार मूर्ति है। वह जीव स्वभाव से द्रव्य कर्म, भाव कर्म तथा नोकर्म से शुद्ध है, शुद्ध ज्ञान चेतना का विलासी है।

♣ ♣ ♣

वस्तुत्व गुण

वस्तुत्वं वसति भुवने, वस्तुत्वं न्यान दंसन अनन्तो।
नंतानंत चतुस्टं, वस्तुत्वं तिलोय निम्मलो सुधो॥ ८१०॥

अन्वयार्थ- (वस्तुत्वं वसति भुवने) इस जीव का वस्तुपना यह है कि यह लोक में बसता है, कोई वस्तु है (वस्तुत्वं न्यान दंसन अनंतो) इसका वस्तुपना यह है कि इसके भीतर अनंतज्ञान तथा अनंतदर्शन बसते हैं (नंतानंत चतुस्टं) तथा अनंतचतुष्टय रहते हैं (वस्तुत्वं तिलोय निम्मलो सुधो) इसका वस्तुपना यह है कि तीन लोक में निर्मल शुद्ध पदार्थ हैं।

भावार्थ- जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में अर्थक्रिया हो अर्थात् जो कुछ कार्य कर सके उसको वस्तुत्व गुण कहते हैं। यह जीव वस्तुत्व गुण को रखता है, क्योंकि यह निश्चय से अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य को रखता हुआ परम वीतराग स्वभाव के अनुभव से प्राप्त परमानंद का विलास करता रहता है। यदि व्यवहार नय से देखें तो यह जीव संसारावस्था में है रागी-द्वेषी-मोही होकर आप ही पाप बाँधकर दुःख उठाता है, आप ही पुण्य बाँधकर सुख उठाता है, आप ही कर्मों का नाश करके मुक्त हो जाता है। आप ही सुखी-दुःखी होता है। कभी अहितकारी, कभी हितकारी होता है। जीव में वस्तुत्व के रहने से ही वह संसार अवस्था से अशुद्ध कार्य को मुक्तावस्था में शुद्ध आनंद में मगन रूप कार्य को करता है।

♣ ♣ ♣

अप्रमेयत्व (प्रमेयत्व) गुण

अप्रमेयं अप्रमानं, अप्पा परमप्प दिट्ठि अप्रमेयं।
सुध सरुवं रुवं, न्यानं विमल केवलं सुधं॥ ८११॥

अन्वयार्थ- (अप्रमेयं अप्रमानं) यह जीव न प्रमेय है न प्रमाण है (अप्पा परमप्प दिट्ठि अप्रमेयं) आत्मा परमात्मा के द्वारा देखने योग्य है, अन्य प्रकार से जानने योग्य नहीं है (सुध सरुवं रुवं) इसका शुद्ध स्वभाव इसका रूप है (न्यानं विमल केवलं सुधं) इसमें निर्मल वीतराग केवलज्ञान भरा हुआ है।

भावार्थ- यहाँ एक अपेक्षा प्रमेयत्व गुण व एक अपेक्षा अप्रमेयत्व गुण को कहा है। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय हो, उसको प्रमेयत्व गुण कहते हैं। यह गुण भी जीव में है। यह जीव निश्चय से आप आपको जानता है। अथवा सिद्ध परमात्मा या अरहंत परमात्मा द्वारा जानने योग्य है, क्योंकि केवलज्ञानी प्रत्यक्ष मूर्तिक-अमूर्तिक सर्व द्रव्यों को जानते हैं।

तथापि इसमें अप्रमेयपना भी है। क्योंकि इसको तर्क के द्वारा या परोक्ष ज्ञान के द्वारा स्पष्ट नहीं जान सकते हैं। यह निश्चय से किसी प्रमाण के विकल्पों से जानने योग्य नहीं है। इसलिए अप्रमाण है। जो कोई प्रमाण व नय की कल्पनाओं को उल्लंघ जाता है, ऐसा स्वानुभवी या तो स्व संवेदनज्ञान द्वारा जानते हैं या फिर पूर्ण स्पष्ट श्रुत के विकल्पों से रहित केवलज्ञानी जानते हैं। इसका स्वभाव शुद्ध निर्मल केवलज्ञानमय है, यह केवलज्ञान द्वारा प्रमेय है, जबकि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय—चार ज्ञान के द्वारा अप्रमेय है।

♣ ♣ ♣

अगुरु लघुत्व गुण

गुरु तियलोय पमानो, लघु वितकरित अप्प सुध सभावो।
गुरुत्वं लघु स उत्तं, न्यान मयो सुध दंसनं ममलं॥ ८१२॥

अन्वयार्थ– (गुरु तियलोय पमानो) तीन लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी आत्मा है, ऐसा गुरु है (लघु वितकरित अप्प सुध सभावो) लघु या हलका ऐसा है कि अपने शुद्ध स्वभाव को लिये हुए है, परम सूक्ष्म है, (गुरुत्वं लघु स उत्त) यही गुरुपना है या लघुपना कहा गया है, (न्यानमयो सुध दंसनं ममलं) वह ज्ञानमयी शुद्ध निर्मल सम्यग्दर्शन का धारी है।

भावार्थ– अगुरु लघुत्व गुण उसको कहते हैं, जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य रूप अपनी मर्यादा या स्वभाव को स्थिर रखे। कभी अन्य द्रव्य रूप न हो न उसके गुण उसमें से छूटें, न कोई गुण उसमें नया आकर मिले। यही भाव ऊपर की गाथा में बताया है कि आत्मा असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के बराबर है, इससे कभी कम या अधिक नहीं होता है तथा इसका स्वभाव निरंजन निर्विकार ज्ञाता दृष्टा है, उसको कभी त्यागता नहीं है। सदा ही अपने स्वभाव में बना रहता है। यह कभी जीव से अजीव नहीं होता है। अनादिकाल से कर्मों के संबंध में है तथापि इस शक्ति के निमित्त से जैसा का तैसा ही रहा, कभी अजीव नहीं हुआ, न कोई अपना गुण छोड़ा न पर का गुण ग्रहण किया।

♣ ♣ ♣

चेतनत्व गुण

चेयन सुध सहावं, चेयन संसार विगत रुवेन।
कम्म मल पयडि षयंतो, चेयन रुवेन निम्मलो सुधो॥ ८१३॥

अन्वयार्थ– (चेयन सुध सहावं) चेतनपना जीव का शुद्ध स्वभाव है। (चेयन संसार विगत रुवेन) यह चेतन प्रभु संसार संबंधी रूपों से या अचेतन पर्यायों से रहित है (कम्म मल पयडि षयंतो) सारी

कर्मों की प्रकृतियों को क्षय किये हुए है (चेयन रुवेन निम्मलो सुधो) यह चेतनरूप होकर निरंजन निर्विकार है।

भावार्थ- आलाप पद्धति में कहा है कि "चैतन्यं अनुभूतिः स्यात्" कि चेतनपना अपने आपकी अनुभूति है, अर्थात् अपने से आपको लवलीन होकर जानना या स्वाद लेना है। यह निश्चय से जीव का अपना स्वभाव है। यह चेतनपने को रखता हुआ संसार संबंधी अशुद्ध भावों का अनुभव नहीं करता है। क्योंकि इसमें अशुद्ध भावों के कारण सर्व कर्म प्रकृतियों के संबंध का अभाव है। यह निरंजन निर्विकार रहकर आपसे आपका ही स्वाद लिया करता है। यही चेतनपना जीव द्रव्य का गुण है।

♣ ♣ ♣

अमूर्तत्व या अरूपत्व (रूपत्व) गुण

रुवं विगत अरुवं, विगत रुवेन निम्मलो सुधो।
अप्पा परमप्प मइओ, न्यान मई रुव निम्मलो सुधो॥ ८१४॥

अन्वयार्थ- (रुवं विगत अरुवं) इसका स्वभाव अमूर्तिक होने पर भी अरूपी नहीं है। अर्थात् अपने ज्ञानमयी आकार का धारी है (विगत रुवेन निम्मलो सुधो) तथा ज्ञानरूपी निर्मल शुद्ध है, (अप्पा परमप्प मइओ) यह आत्मा परमात्मा रूप है (न्यान मई रुव निम्मलो सुधो) यह ज्ञानमयी रूप का धारी, रागादि मल व कर्मादि मल रहित परम शुद्ध है।

भावार्थ- स्पर्श, रस, गंध, वर्णमयी मूर्ति या रूप जिसमें न हो उसको अरूपत्व या अमूर्तत्व कहते हैं। इस गुण का धारी होकर भी जीव द्रव्य आकार रहित सर्वथा शून्य नहीं है। यह ज्ञानमयी शुद्ध आकार का धारी है, अनंत गुणों का धारी है, परमात्मा के समान ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुणों का धनी है। इसमें कोई पुद्गल का संबंध नहीं है। न पुद्गलमयी कोई आकार है न विकार है।

♣ ♣ ♣

दो मुख्य गुण कथन

ऊर्धं ऊर्ध सहावं, सुधं सर्वन्य चेयना सहियं।
ऊर्धं अविगत रुवं, सुधं सुयमेव परम आनंदं॥ ८१५॥

अन्वयार्थ- (ऊर्धं ऊर्ध सहावं) यह जीव द्रव्य सब द्रव्यों में श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ स्वभाव का धारी है (सुधं सर्वन्य चेयना सहियं) यह निश्चय से शुद्ध है, सर्वज्ञ है व चेतनामयी अनुभूति सहित है (ऊर्धं

अविगत रूवं) अमूर्तिक होकर भी ज्ञानाकार श्रेष्ठ पदार्थ है (सुधं सुयमेव परम आनंद) यह रागादि रहित शुद्ध है तथा स्वयं ही स्वाधीनता से परम आनंद का धारी है।

भावार्थ- ऊपर की गाथाओं में छः गुणों को बताकर यहाँ दो मुख्य गुणों को बताया है, अर्थात् चेतनत्व व अरूपत्व का संकेत किया है। यह जीव द्रव्य सर्व द्रव्यों में इसलिए श्रेष्ठ है कि और द्रव्य तो जानने योग्य हैं, परन्तु वे न आप अपने को जानते हैं न पर को जानते हैं। जीव द्रव्य अपने को भी जानता है, पर को भी जानता है, यह स्व-पर ज्ञायक है। इसका स्वभाव सर्व द्रव्यों से महान है। यह कर्ममल रहित होने पर सर्व को एक समय पर जानता है, इसलिए सर्वज्ञ है तथापि अपनी स्वानुभूति में तन्मय है, इससे ज्ञान चेतनामयी अमूर्तिक होकर भी ज्ञानाकार है तथा पराधीनता रहित अपने से ही अपने सुख का भोग करता हुआ परमानन्दमयी बना रहता है।

♣ ♣ ♣

एक गुण कथन

एकेन एकवंतो, एको संसार सरनि विगतोयं।
एको तियलोय संजुत्तो, परमानंद नंद संजुत्तो॥ ८१६॥

अन्वयार्थ- (एकेन एकवंतो) संग्रहनय से देखें तो जीव द्रव्य एक रूप ही जीवत्व गुण का धारी है (एको संसार सरनि विगतोयं) यह अकेला है, निराला है, संसार के भ्रमण से रहित है (एको तियलोय संजुत्तो) वह एक ही तीन लोक प्रमाण आकारधारी कहा गया है (परमानंद नंद संजुत्तो) यही परमानंद में मगनता सहित है।

भावार्थ- यहाँ एक जीवत्व नाम के पारिणामिक गुण को बताया गया है। यह एक जीवत्व को रखता हुआ सदा ही एकरूप शुद्ध निर्विकार कर्म रहित, संसार भ्रमण रहित, असंख्यात प्रदेशी, परमानंद में मग्न सदा बना रहता है। शुद्ध निश्चयनय से कभी इस एक जीवत्व स्वभाव से अन्यथा नहीं होता।

जीवं दव्व स उत्तं, संसारे विषय राग परिचत्तो।
दंसन न्यान सहावो, चरनंपि जीव दव्व चेयना जुत्तो॥ ८१७॥

अन्वयार्थ- (जीवं दव्व स उत्तं) वही जीव द्रव्य कहा गया है (संसारे विषय राग परिचत्तो) जो इस संसार संबंधी इन्द्रियों के विषयों के राग से रहित है (दंसन न्यान सहावो) जो दर्शन-ज्ञान स्वभावधारी है या जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान स्वभावमयी है (चरनंपि जीव दव्व चेयना जुत्तो) तथा सम्यक्चारित्र रूप भी है, परम वीतराग है और यह जीव द्रव्य ज्ञान चेतना सहित है।

भावार्थ- जीव द्रव्य का असली स्वरूप सर्व तृष्णा रहित परम वीतराग है, यह रत्नत्रयमयी है, अपने स्वरूप में लीन है तथा अपने ज्ञानानंद का नित्य अनुभव करने वाला है। यह सिद्ध के समान शुद्ध है। जब इस जीव द्रव्य को स्वभाव से देखा जायेगा तो शुद्ध ही झलकेगा। छः द्रव्यों के भिन्न-भिन्न स्वभावों को देखते हुए जीव द्रव्य परमात्मा रूप ही विदित होगा। पर्यायापेक्षा संसार में जीव द्रव्य कर्मों की संगति से नाना रूप में दिखता है। तथापि एक तत्त्वज्ञानी को द्रव्य की दृष्टि से वही जीव नाना शरीरों में रहते हुए भी एक शुद्ध जीव रूप या परमात्मा रूप ही दिखता है।

तात्पर्य यह है कि भव्यजीव को उचित है कि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा को सदा सामने रखकर अपने आत्मा को शुद्ध स्वरूप श्रद्धा सहित व ज्ञान सहित अनुभव करने का अभ्यास करना चाहिये। यही स्वानुभव ही जीव का सार है यह पवित्र कार्य है। यही मोक्ष का मार्ग है।

♣ ♣ ♣

पुद्गल अजीव द्रव्य

अज्जीवं पिच्छंतो, अन्रित अचेत इंदिया सहिओ।
मन सुभाव संचरतो, अतींद्री प्रान दव्व संजुत्तो॥ ८१८॥

अन्वयार्थ- (अज्जीवं पिच्छंतो) अजीव पुद्गल को देखा जावे तो (अन्रित अचेत इंदिया सहिओ) इस जीव के साथ ही जो कुछ मिथ्या तत्त्व कर्मादि हैं व अज्ञान रूप शरीरादि हैं व इंद्रियादि हैं, ये सब जड़ पुद्गल हैं (मन सुभाव संचरतो) यह भ्रमण करने वाले चंचल मन के स्वभाव को भी पुद्गल जानना चाहिये (अतीन्द्री प्रान दव्व संजुत्तो) इनके साथ में अतीन्द्रिय प्राणों का धारी जीव द्रव्य है।

भावार्थ- पुद्गल द्रव्य से परमाणु लेना चाहिये जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये विशेष गुण रहते हैं। इन परमाणुओं से अनेक स्कन्ध बनते हैं। उन्हीं स्कन्धों में से आहारक वर्गणाओं से यह स्थूल औदारिक शरीर बना है या वैक्रियिक या आहारक शरीर बनता है। तैजस वर्गणाओं से तैजस शरीर बनता है। कार्माण वर्गणाओं से कार्माण शरीर बनता है। भाषा वर्गणाओं से भाषा बनती है। मनोवर्गणा से मन बनता है। जिसके निमित्त से तर्क-वितर्क, संकल्प-विकल्प, चंचलपना होता है। ये सब शरीर भाषा-मन-पुद्गल द्रव्य हैं। इनसे भिन्न उनके साथ रहा हुआ इन्द्रियों के द्वारा न जानने योग्य एक शुद्ध जीव द्रव्य है। प्रयोजन यह है कि शुद्ध जीव द्रव्य को अलग छाँटकर शेष जो कुछ रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म व शरीरादि नोकर्म जीव में हैं वे सब पौद्गलिक हैं। इनको अपने से भिन्न अनुभव करना चाहिये। यही पुद्गल द्रव्य की सच्ची पहचान है। समयसार कलश में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नोदृष्टाः स्युर्दृष्टमेकंपरं स्यात्॥ ५-२॥

भावार्थ- वर्णादि तथा रागादिक ये सब इस जीव द्रव्य से भिन्न हैं। इसलिए तत्त्व दृष्टि से यदि अन्तरंग में देखा जावेगा, तो एक श्रेष्ठ पदार्थ जीव ही दिखलाई पड़ेगा।

♣ ♣ ♣

धर्म द्रव्य

धम्मं चेयन रुवं, अचेयन भाव सयल विवरीदो।
चेयन सहाव सुधो, धम्मं झानेहि अप्प परमप्पो॥ ८१९॥

अन्वयार्थ- (धम्मं चेयन रुवं) धर्म चेतन स्वरूप आत्मा का स्वभाव है (अचेयन भाव सयल विवरीदो) यह सर्व ही अचेतन भावों से विपरीत है (चेयन सहाव सुधो) यह चैतन्य स्वभावी शुद्ध है (धम्मं झानेहि अप्प परमप्पो) धर्मध्यान के द्वारा अनुभव किया जावे तो यही आत्मा, परमात्मा रूप अनुभव में आता है।

भावार्थ- यहाँ ग्रन्थकर्ता ने धर्म द्रव्य को कहते हुए उसका स्वरूप आत्मा पर घटाकर कहा है। यह ग्रन्थकर्त्ता के आध्यात्मिक ज्ञान की एक तरंग है। सिद्धांत में धर्म द्रव्य उसे कहते हैं, जो एक अमूर्तिक लोकव्यापी धर्मास्तिकायरूप द्रव्य है। जिसमें चेतनपना नहीं है, जिसका काम जीव पुद्गलों को स्वयं गमन करते हुए गमन में सहकारीपना है। जैसे मछली को स्वयं गमन करते हुए जल सहकारी है। यहाँ आध्यात्मदृष्टि से कहा है कि धर्म इस जीव का स्वरूप है। अर्थात् धर्ममयी आत्मा ही है, जिसमें न तो कर्म है, न रागादि है, न संकल्प-विकल्प है, न कोई अज्ञान है, न कोई शरीरादि है। यह ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय परम शुद्ध है। जो कोई धर्मध्यान करते हैं, उनको यह अपना जीव द्रव्य परमात्मा के समान अनुभव में आता है।

♣ ♣ ♣

अधर्म द्रव्य

अहंम असुध भावो, संसारे सरनि सयल संजुत्तो।
स्थिति बन्ध संजुत्तो, ठिदि करनोय अस्थिरी भूतो॥ ८२०॥

अन्वयार्थ- (अहंम असुध भावो) अधर्म जीव का अशुद्ध भाव है (संसारे सरनि सयल संजुत्तो) जिसके कारण संसार में सर्व प्रकार का भ्रमण होता है। (स्थिति बंध संजुत्तो) इसी से कर्मों का स्थिति

बंध पड़ता है (ठिदि करनोय अस्थिरीभूतो) यह कर्मबन्ध अपनी स्थिति भर रहता हुआ पतनशील अस्थिर है।

भावार्थ– अधर्म द्रव्य का सैद्धांतिक स्वरूप यह है कि एक अमूर्तिक लोकव्यापी अचेतन द्रव्य है। जीव पुद्‌गलों की स्थिति करने में यह सहकारी है। यहाँ आत्मा पर घटा करके कहा है कि धर्म जब जीव का शुद्ध भाव है, तब अधर्म जीव का अशुद्ध भाव है। संसार के भ्रमण के कारणभूत कर्मों का बंध हो जाता है। कषाय भावों से कर्मों में स्थिति पड़ती है। जहाँ तक मर्यादा पड़ती है, वह कर्म बिलकुल नहीं झड़ता है, किन्तु वहाँ तक झड़ता रहता है तथा स्थिति पूरे होते ही सर्व झड़ जायेगा, यह अधर्म हेय है।

अहंम सुध सहाओ, चित्तं चिंतंति अप्प सभावं।
न्यान ज्ञानथिर सुधो, स्थिरं मुक्ति नंत काल संजुत्तो॥ ८२१॥

अन्वयार्थ– (अहं) मैं (म) शिवरूप (सुध सहाओ) शुद्ध स्वभाव का धारी हूँ (चित्तं चिंतंति अप्प सभावं) मेरा चित्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप का मनन करता है (न्यान ज्ञानथिर सुधो) यह मेरा आत्मा अपने आत्मज्ञान के ध्यान में स्थिर है, वीतराग है (स्थिरं मुक्ति नंत काल संजुत्तो) इसी में अनंतकाल स्थिर रहने वाली मुक्ति भी है।

भावार्थ– यहाँ अहं म शब्द के अर्थ लेकर कहा है कि अधर्म द्रव्य मैं ही शिवरूप हूँ। मैं ही अपने आपका ज्ञान रखता हुआ अपने ध्यान में मगन हूँ। मुक्ति मेरा स्वभाव है। वह कभी नाश नहीं हो सकती। अनंतकाल मेरे में रहने वाली है।

♣ ♣ ♣

काल द्रव्य

काल दव्व ससहावं, अन्तर गर्भओ परिनमै असंष्यं।
परिनाम अनंतानन्तु, निस्चै विवहारकाल ससहावं॥ ८२२॥

अन्वयार्थ– (काल दव्व ससहावं) काल द्रव्य अपने स्वभाव में रहता है (अंतर गर्भओ परिनमै असंष्यं) अपने में लीन असंख्यात कालाणु परिणमन किया करते हैं (परिनाम अनंतानन्तु) काल द्रव्य के पर्याय समय है सो भूत, भविष्य, वर्तमान काल की अपेक्षा अनंतानंत है (निस्चै विवहार काल ससहावं) यह निश्चय तथा व्यवहार काल का अपना स्वभाव है।

भावार्थ– कालाणु रूप काल द्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में भिन्न-भिन्न रत्न के ढेर के समान व्यापक है। ये ही असंख्यात काल द्रव्य हैं। ये सदा परिणमन किया करते हैं। इनके परिणामों

को या पर्यायों को समय कहते हैं। इन्हीं समयों से पल, विपल, दिन, रात, घड़ी, घण्टा आदि बने हैं। जब एक कालाणु पर से एक परमाणु दूसरे निकट कालाणु पर उल्लंघता है, तब समय पर्याय पैदा होती है। यही व्यवहार काल है। यदि इस गाथा का अर्थ आत्मा में घटाकर करें तो ऐसा कर सकते हैं कि अपना आत्मिक स्वभाव असंख्यात प्रदेशों में सदा परिणमन किया करता है। यह परिणमन होना ही आत्मा का स्वकाल है या निश्चयकाल है। अनंतकाल की जो अनंत परिणतियें होती हैं, उनको व्यवहारकाल कहते हैं। दोनों ही आत्मा के स्वभाव हैं।

♣ ♣ ♣

आकाश द्रव्य

अवयास दान सुधो, सुधं अवयास दिस्टि नंत दसँतो।
न्यानं अनंत रुवं, चरनं सुध चेयना अवयासो॥ ८२३॥

अन्वयार्थ– (अवयास दान सुधो) आकाश, द्रव्य सिद्धांत की अपेक्षा सर्व द्रव्यों को जगह देने वाला शुद्ध एक अमूर्तिक अनंत पदार्थ है। इसी को आत्मा पर घटा कर कहें तो यह आत्मा का शुद्ध द्रव्य आकाश गुणधारी सर्व व्यापक है (सुधं अवयास दिस्टि नंत दसँतो) इसके शुद्ध दर्शन प्रकाश के भीतर अनंत पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं (न्यानं अनंत रुवं) इसका ज्ञान अनंत है, जिसमें अनंत पदार्थ जाने जाते हैं (चरनं सुध चेयना अवयासो) इसके वीतराग चारित्र में शुद्ध चेतना विराजती है, अर्थात् शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

भावार्थ– सिद्धांत की अपेक्षा सब द्रव्यों को अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य अमूर्तिक अनंत है। जैसे आकाश अनंत व सर्वव्यापी है, वैसे यह जीव द्रव्य भी सर्वव्यापक है। इसके अनंतदर्शन व अनंतज्ञान में तीन लोक व अलोक के सर्व द्रव्य अपनी त्रिकालवर्ती अनंत गुण व अनंत पर्यायों के साथ में एक ही साथ झलकते हैं। इसमें सर्वोत्कृष्ट ज्ञान चेतना विराजमान है। अर्थात् यह शुद्धात्मा निरंतर अपने ज्ञानानंद स्वभाव का आनंद लिया करता है।

दव्व भाव उवएसं, दव्व सहाव सरुव पिच्छंतो।
अप्पा अप्प सरुवं, दव्व सहाव जीव संसुधो॥ ८२४॥

अन्वयार्थ– (दव्व भाव उवएसं) छः द्रव्यों का स्वरूप उपदेश किया गया (दव्व सहाव) जो द्रव्य के स्वभाव की तरफ लक्ष्य देकर (सरुव पिच्छंतो) अपने स्वभाव को देखता है, उसको (अप्पा अप्प सरुवं) अपना आत्मा आत्मारूप ही दिखलाई पड़ता है (दव्व सहाव जीव संसुधो) द्रव्य के स्वभाव की दृष्टि से यह जीव अत्यन्त शुद्ध है।

भावार्थ- छः द्रव्यों का स्वभाव जानकर मुमुक्षु जीव को योग्य है कि समस्त पर-द्रव्यों से उपयोग को हटाकर एक अपने जीव को द्रव्यार्थिक नय से देखने का अभ्यास करे तो यह अपना ही आत्मा परम शुद्ध सिद्ध सम दिखलाई पड़ेगा। वैसा ही अनुभव करना मोक्ष का मार्ग है।

♣ ♣ ♣

जीवास्तिकाय

काया काय प्रमानो, जीवास्तिकाय जिनवरे उवएसो।
चौविहि बंध विमुक्को, जीओ तियलोयमंत सुपएसो॥ ८२५॥
नंत चतुस्टय सहिओ, नंतानंत सुध दिस्टि दर्संतो।
पर भाव मुक्क समओ, न्यान संजुत्त काय उवएसो॥ ८२६॥

अन्वयार्थ- (काया काय प्रमानो) पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय इसलिए कहते हैं कि वे काय या शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं। उनमें से (जिनवरे जीवास्तिकाय उवएसो) जिनेन्द्र भगवान ने जीवास्तिकाय का उपदेश किया है कि यह (जीओ चौविहि बंध विमुक्को) जीव चार प्रकार के बंध से रहित है (तियलोयमंत सुपएसो) तथा तीन लोक के प्रदेशों के बराबर इसके असंख्यात शुद्ध प्रदेश हैं (नंत चतुस्टय सहिओ) यह अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य सहित है (नंतानंत सुध दिस्टि दर्संतो) यह अपनी शुद्ध अनंत दृष्टि से अनंतानंत पदार्थों को देखने वाला है (परभाव मुक्क समओ) यह रागादि परभावों से रहित समय है। अर्थात् अपने स्वभाव में परिणमने वाला व स्व-पर को जानने वाला है (न्यान संजुत्त काय उवएसो) यह ज्ञान संयुक्त भी है, इस तरह जीवास्तिकाय कहा गया है।

भावार्थ- जितने आकाश के सूक्ष्म अंश को एक पुद्‌गल का वह परमाणु जिसका भाग न हो, रोकता है, उसको प्रदेश कहते हैं। यह एक प्रकार की माप है। इस माप से जब छः द्रव्यों को मापा जाता है, तब पाँच द्रव्यों के तो बहुत प्रदेश आते हैं। जबकि काल का एक ही प्रदेश आता है। इसलिये काल अस्तिकाय नहीं है, पाँच अस्तिकाय हैं। इनमें से जीवास्तिकाय एक-एक स्वभाव से लोक के बराबर असंख्यात प्रदेशी है। शुद्ध निश्चय से इसमें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग ये चार प्रकार के कर्मबंध नहीं हैं। यह अनंतज्ञानादि चतुष्टय का धारी है। सर्व रागादि भावों से व कर्मजनित सर्व ही अशुद्ध अवस्थाओं से रहित है, सिद्धसम शुद्ध है।

♣ ♣ ♣

पुद्गल अजीवास्तिकाय

अजीव काय भनियं, इन्द्री बल प्रान अतींद्रिया जुत्तो।
सहकारे इन्द्रि उत्तो, अतींद्रि सहाव अजीव काय संजुत्तो ॥ ८२७ ॥

अन्वयार्थ- (अजीव काय भनियं) अब अजीव अस्तिकाय को कहते हैं (इन्द्री बल प्रान अतीन्द्रिया जुत्तो) पाँच इन्द्रिय प्राण तथा मनवचनकाय बल प्राण अतीन्द्रिय जीव सहित अजीव हैं (सहकारे इन्द्रि उत्तो) पाँच इन्द्रियें जीव के मतिज्ञान में सहकारी हैं (अतींद्रि सहाव अजीव काय संजुत्तो) अतीन्द्रिय स्वभावधारी जीव अजीव काय के साथ में है।

भावार्थ- यहाँ जीव के साथ पुद्गलास्तिकाय के संबंध को लेकर कहा गया है। जीव स्वभाव से शुद्ध है, इन्द्रियातीत है। इसके साथ जो कार्माण, तैजस, औदारिकादि शरीरों का संबंध है वह सब पुद्गलास्तिकाय है। शरीर में जो पाँच इन्द्रियाँ हैं व मन, वचन, काय बल हैं ये प्राण भी पौद्गलिक हैं द्रव्यापेक्षा तो पौद्गलिक हैं ही परन्तु भावापेक्षा भाव इन्द्रिय व भाव मन, वचन, काय, प्राण भी पुद्गलकृत हैं। क्योंकि कर्मों के क्षयोपशम से काम करते हैं व शरीर नामकर्म के व अंगोपांग व स्वर नामकर्म के उदय से रचित है। इसलिये इन सबको पुद्गलास्तिकाय जानकर एक शुद्ध जीव का ही अनुभव करना योग्य है।

♣ ♣ ♣

धर्मास्तिकाय

धंमास्ति धम्म संजुत्तो, चेयन परिनाम सरुव सहकारो।
चेयन सुध सहाओ, संजुत्तो धंमास्तिकाय विमलोय ॥ ८२८ ॥

अन्वयार्थ- (धंमास्ति धम्म संजुत्तो) धर्मास्तिकाय रूप जीव अपने धर्म या स्वभाव सहित है (चेयन परिनाम सरुव सहकारो) यह जीव चेतनमय स्वभाव परिणति सहित है (चेयन सुध सहाओ संजुत्तो) चेतन रागादि रहित शुद्ध स्वभाव सहित है (धंम्मास्तिकाय विमलोय) ऐसा यह जीव ही निर्मल धर्मास्तिकाय है ।

भावार्थ- यहाँ पर भी धर्मास्तिकाय को जीव पर घटा कर कहा है। यह जीव ही अपने धर्म को रखने से धर्मास्तिकाय है। इसका स्वभाव शुद्ध ज्ञान चेतनामय है। यह अपने ज्ञानानन्द में मगन परम शुद्ध निर्विकार है।

♣ ♣ ♣

अहंमास्तिकाय

अहंम काय स उत्तं, ठिदिकरन सयल असुह सुह सुधं।
सुधं काया बंध, न्यान झान तव दंसनं दिट्ठं॥ ८२९॥

अन्वयार्थ– (अहं) मैं (म) शिव रूप या आनंद रूप (काय स उत्त) काय सहित हूँ (ठिदिकरन सयल असुह सुह सुधं) मैं सर्व ही अशुभ तथा शुभ भावों को ठहराकर शुद्ध भावों में परिणमन कर रहा हूँ (सुधं काया बंधं) शुद्ध असंख्यात प्रदेशी अमूर्तिक ज्ञानाकार काय में बद्ध हूँ (न्यान झान तव दंसनं दिट्ठ) मेरे में ज्ञान आत्मध्यान, आत्मिक तप व शुद्ध सम्यग्दर्शन दिखलाई पड़ते हैं।

भावार्थ– यहाँ अधम्म शब्द को अहंम मानकर आत्मा पर घटाकर आत्मा का ही मनन किया है । यह आत्मा सदा आनन्द रूप है । इसके असंख्यात प्रदेशों में आनन्द गुण भरा है, वीतराग भाव भरा है, न शुभ राग है, न अशुभ राग है । यह जीव अखंड है, इसके प्रदेशों का कभी खण्डन नहीं हो सकता है। यह शुद्ध ज्ञानमय है, आत्मध्यान रूप है, आत्मिक तप रूप है व शुद्ध सम्यग्दर्शन रूप है। यही परमात्मा है।

♣ ♣ ♣

आकाशास्तिकाय

अवयासं उवएसं, अप्पा परमप्प अवयास संसुधं।
विलसइ परमानंदं, न्यान सरुवं च अवयास संसुधं॥ ८३०॥

अन्वयार्थ– (अवयासं उवएसं) अब आकाश का उपदेश करते हैं, (अप्पा परमप्प अवयास संसुध) आत्मा ही परमात्मा है जिसके सब प्रदेश परम शुद्ध हैं (विलसइ परमानंद) यह परमानन्द का स्वाद ले रहा है (न्यान सरुवं च अवयास संसुधं) यह ज्ञान स्वरूपी है व परम शुद्धता का स्थान है।

भावार्थ– यहाँ आकाश को जीव पर घटाकर कहा है यह जीव ही आकाश तुल्य ज्ञानापेक्षा सर्व व्यापक है। इसके लोकाकाश के सर्व प्रदेश कर्म व नोकर्म के संयोग रहित परम शुद्ध है। यह परमात्मा के समान है। परमानंद का विलास करने वाला है तथा परम वीतराग है, ऐसा ध्याना ही कार्यकारी है।

♣ ♣ ♣

काल अकाय

कालं काय न जुत्तं, अनंत परिनमै बंध नहु जुत्तं।
परिनमै अनंतानंत, कालं काया नत्थि उवएसं ॥ ८३१ ॥

अन्वयार्थ- (कालं काय न जुत्त) काल द्रव्य के बहुप्रदेशीपना नहीं है (अनंत परिनमै बंध नहु जुत्त) कालाणु अनंत समयों में परिणमन करते हैं परन्तु परस्पर बंध को प्राप्त नहीं होते हैं (परिनमै अनंतानंत) तीन काल संबंधी अनंतानंत समयों में परिणमते हैं (कालं काया नत्थि उवएसं) इसलिए काल द्रव्य के काय नहीं है ऐसा उपदेश है।

भावार्थ- कालाणु लोकाकाश में भिन्न-भिन्न रत्नराशि के समान एक प्रदेश में एक-एक व्यापक है। यही निश्चय काल द्रव्य है। यह समय-समय परिणमनशील है तथापि कोई कालाणु दूसरे कालाणु से मिलकर बंधते नहीं हैं, जबकि पुद्गल के परमाणु अपने रूखे चिकने गुणों के कारण बंधकर स्कंध बन जाते हैं। ऐसी शक्ति कालाणु में नहीं है। उनके परिणमन से समय नाम की पर्याय होती है जिसको व्यवहार काल कहते हैं। तीन काल की अपेक्षा यह समय अनंतानंत है। अनंत समय बीत गया है व अनंत ही भविष्य में है। कालाणु का एक ही प्रदेश होता है, इसलिए काय नहीं है। दूसरा अर्थ इस गाथा का जीव द्रव्य पर घटाकर कहें तो ऐसा अर्थ कर सकते हैं कि जीव द्रव्य शरीर के साथ संसार में अनंतकाल से एक साथ रहकर नाना पर्यायों में चार गतियों के भीतर परिणमन कर रहा है, अनंतानंत पर्याय धारण की है, तथापि कभी भी कार्माण, तैजस आदि किसी भी शरीर के साथ एकमेक नहीं हुआ है, न हो सकता है। इसलिए जीव द्रव्य के कभी काय का स्वाभाविक बंध नहीं हो सकता। इसलिए जीव सदा काल काय रहित है।

तत्तु पदार्थं उत्तं, दव्वं काय भाव उत्तं च।
अप्प सरुवं पिच्छदि, अप्पा परमप्प सुध सुह निलयं ॥ ८३२ ॥

अन्वयार्थ- (तत्तु पदार्थं उत्तं) सात तत्त्व नौ पदार्थों को कहा गया, (दव्वं काय भाव उत्तं च) छः द्रव्य पाँच अस्तिकायों का भाव कहा गया, (अप्प सरुवं पिच्छदि) इनके द्वारा भेद विज्ञान से तत्त्वज्ञानी आत्मा के स्वरूप को अनुभव में लेता है। वह अनुभव करता है कि (अप्पा परमप्प सुध सुह निलयं) यह आत्मा-परमात्मा रूप शुद्ध सुख का निधान है।

भावार्थ- इन सात तत्वादि का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है। इनके द्वारा निश्चय नय से यह विचारना चाहिये कि मेरा जीव भिन्न है और सर्व अजीव भिन्न है। जीव-अजीव के ही ये सब तत्व पदार्थादि विशेष भेद हैं। इनमें से अजीव त्यागने योग्य है क्योंकि मेरा स्वरूप नहीं है, केवल एक जीव ग्रहण करने योग्य है। जीव का असल स्वभाव सिद्ध परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा वीतराग

अनंत सुख का भंडार है। इस तरह आत्मा व अनात्मा का विवेक करके जो आत्मा पर दृढ़ प्रतीति लाकर आत्मा के रस का स्वाद पाता है वही निश्चय सम्यग्दर्शन से विभूषित हो जाता है, वह फिर अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी हो जाता है, विषय सुख से विरक्त हो जाता है।

* * *

चार आर्तध्यान

इस्ट अरुवं रुवं, कम्म विमुक्क निम्मलं भावं।
तस्य विओयं दिस्टदि, आरति पाए सुदुग्गए जाए॥ ८३३॥

अन्वयार्थ- (इस्ट अरुवं रुव) आत्मा का इष्ट अपना अमूर्तिक स्वभाव है, (कम्म विमुक्क निम्मलं भाव) जो सर्व कर्मों से मुक्त शुद्ध भाव है (तस्य विओयं दिस्टदि) जिसके इस परम हितकारी शुद्ध भाव का वियोग है वह (आरति पाए सुदुग्गए जाए) इस्ट वियोग आर्तध्यान को पाकर परिणामों के अनुसार शुभ गति या अशुभ गति में जाता है।

भावार्थ- यहाँ प्रथम आर्तध्यान का स्वरूप बहुत ही बढ़िया बताया है। सिद्धांत में प्रसिद्ध तो यही अर्थ है कि अपने स्त्री, पुत्र, बन्धु या धन-सम्पदा आदि इष्ट सामग्री का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये चिन्तातुर होना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। यहाँ आत्म तत्व पर घटाकर कहते हैं कि इस जीव का सच्चा प्यारा अपना एक वीतराग निर्मल शुद्धोपयोग है। जो किसी प्रकार कर्मों के उदय से मलीन नहीं है। जिनको इस शुद्धोपयोग का वियोग है वे रात-दिन शुद्धात्म तत्व के अश्रद्धानी व अजानकर रहते हुए शरीर व शरीराश्रित विषयों में व उनकी प्राप्ति की वासना में लीन रहते हुए जीवन बिताते हैं। इस इष्ट वियोगज आर्तध्यान से कभी पुण्य बाँधकर देव, मनुष्य शुभ गतियों में जाते हैं, कभी पाप बाँधकर नरक व तिर्यंच अशुभ गतियों में जाते हैं। अपने इष्ट मोक्ष गति को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

अनिस्ट मिथ्या भावं, संसारे सरनि संरति सभावं।
रागादि दोस जुत्तं, आरति पाएन सरनि संसारे॥ ८३४॥

अन्वयार्थ- (अनिस्ट मिथ्या भावं) इस जीव का अहितकारी मिथ्यात्व भाव है (संसारे सरनि सरंति सभावं) जिससे संसार के मार्ग में भ्रमण ही करता रहता है (रागादि दोस जुत्तं) जिसके प्रभाव से रागादि दोषों से मलीन रहता हुआ यह जीव (आरति पाएन संसारे सरनि) अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान से संसार में भ्रमण किया करता है।

भावार्थ- सिद्धांत में अप्रिय स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि के संयोग होने पर या असुहावने मकान, वस्त्र, देश, नगर के संयोग होने पर उनके साथ किस तरह वियोग हो, ऐसी चिन्ता करना अनिष्ट संयोगज

आर्तध्यान दूसरा है। यहाँ और भी गंभीर अर्थ में जाकर तारण स्वामी कहते हैं कि जीव का अनिष्ट करने वाला एक मिथ्यात्व भाव है। जिसके कारण यह अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव पर श्रद्धान नहीं कर पाता है। अपने परम इष्ट आत्मिक सुन्दर घर को न पहचान कर यह अपने भीतर परमानंद होते हुए भी सुख की तृष्णा में आकुल-व्याकुल होकर इन्द्रियों के विषयों में बार-बार जाता है। उनके लाभ में राग व उनके वियोग में द्वेष करता है। विषयों के सहकारी स्त्री, बन्धु आदि से राग व उनके विरोधियों से शत्रुता करता है। इस तरह राग, द्वेष, मोह में पड़ा हुआ घोर कर्म बाँधकर संसार में भ्रमण कर रहा है। मिथ्यात्व सहित तप करके भी अनिष्ट के संयोग से नव ग्रैवेयक जाकर भी संसार से कभी दूर होने का मार्ग नहीं पाता है। मिथ्यात्व की संगति ही जीव की अनिष्ट संगति है। इसकी संगति में उलझे रहना ही अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है।

पीड़ा अव्रित दिट्ठं, असत्य असास्वतेन सभावं।
मिथ्या सल्य संजुत्तं, आरति पाएन दुग्गए गमनं॥ ८३५॥

अन्वयार्थ- (पीडा अव्रित दिट्ठं) मिथ्यादृष्टिपना ही पीड़ा या कष्ट है, (असत्य असास्वतेन सभावं) जहाँ भाव मिथ्या व क्षणभंगुर भोग्य है व उपभोग्य पदार्थों में फंसा रहता है (मिथ्या सल्य संजुत्त) जो भाव मिथ्यात्व की शल्य सहित है वह (आरति पाएन दुग्गए गमनं) पीड़ा, चिंतवन तीसरा आर्तध्यान का पाया है। इसी से मोक्ष गति में न जाकर चतुर्गति में भ्रमण करता है। चारों ही दुर्गति हैं, नाशवंत हैं।

भावार्थ- सिद्धांत में शरीरादि में रोगादि होने पर उसकी पीड़ा का बार-बार चिंतवन करके दुःखित भाव करना पीड़ा-चिंतवन आर्तध्यान कहा है। यहाँ गम्भीरता से विचारते हुए तारणस्वामी कहते हैं कि जीव को भव-भव में कष्ट देने वाला मिथ्यात्व रूपी रोग है, जिस रोग की पीड़ा से यह विषयातुर होकर विषय भोगों के भीतर लोलुपी रहता है। उनके मिलने पर रागी, न मिलने पर वियोगी हो जाता है। विषय वासना व कषाय की वासना को उपादेय समझना ही मिथ्या शल्य है। जब तक आत्मानंद की प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होता है, तब तक जप, तप, व्रतादि पालते हुए भी अशुद्ध संसार की वासना नहीं मिटती है। इस शल्य से उसी तरह पीड़ित रहता है, जैसे कोई कांटा लग जाने पर पीड़ित होता है। इस मिथ्यात्व की शल्य रखकर संसार में दुःखित रहना, यही तीसरा, पीड़ा, चिन्तवन आर्तध्यान दुर्गति का कारण है।

निदान बंध संसारे, संसारे सरनि सरइ मोहंधं।
मन मक्कड पसरंतो, आरति संजोय निगोय वासंमि॥ ८३६॥

अन्वयार्थ- (निदान बंध संसारे) संसार में बँधे रहना निदान है (मोहंधं संसारे सरनि सरइ) संसार के मोह में अन्धा प्राणी संसार के मार्ग में भ्रमण किया करता है (मन मक्कड पसरंतो) उसके मन रूपी मर्कट या बन्दर संसार के विषय भोगों में ही बड़ी चंचलता से भ्रमण किया करता है (आरति संजोय

निगोय वासंमि) इस संसार की तृष्णा रूप निदान आर्तध्यान के कारण यह जीव नीच तिर्यंच आयु बाँधकर एकेंद्रिय साधारण वनस्पति रूप निगोद में जाकर जन्म धारण करता है।

भावार्थ- संसार के विषय भोगों की तृष्णा रखना, भोगों के लिए आतुर रहना निदान आर्तध्यान है। संसार के मोह में होकर या मिथ्यात्व में अन्धा होकर प्राणी अपने निजत्व को न पहचानता हुआ पर-तत्व का मोही बना रहता है। उसका मनरूपी बन्दर पाँचों इन्द्रियों के भोगों में बार-बार भ्रमण किया करता है। मन की चंचलता के कारण वह कभी मन को स्थिर करके निज आत्मा की तरफ लक्ष्य नहीं दे सकता है। उसका संसार का भ्रमण इसी मिथ्या मोह से अनादि से चलता आया है व चलता रहेगा। संसारासक्त अज्ञानी जीव तिर्यंच आयु बाँधकर तीव्र ज्ञानावरण कर्म के उदय से अति अल्पज्ञान वाले निगोद के भव में चला जाता है, जहाँ बार-बार जन्म-मरण करता रहता है, फिर निगोद से निकलना कठिन हो जाता है।

आरति ध्यान स उत्तं, आरति संसार वीर्ज संजुत्तं।
आरति कुन्यान सहावं, आरति संसार भावना हुंति॥ ८३७॥

अन्वयार्थ- (आरती ध्यान स उत्तं) आर्तध्यान वही कहा गया है जो (संसार-वीर्ज संजुत्तं आरति) संसार के बीज रूप मिथ्यात्व सहित आर्तभाव हो या दुःखित भाव हो (आरति कुन्यान सहावं) आर्तध्यान मिथ्याज्ञान के स्वभाव को धरने वाला है (आरति संसार भावना हुंति) संसार की भावना ही आर्तध्यान है।

भावार्थ- इस गाथा में चारों आर्तध्यान का संक्षेप है कि संसारासक्ति के कारण ही आर्तध्यान होता है। मोक्ष की भावना न पाकर उससे विपरीत संसार के सुखों की भावना रखना ही आर्तध्यान है। यही विषय वासना ही मिथ्यात्व है। यही संसार के भ्रमण का बीज है। यही मिथ्याज्ञान है। सम्यग्ज्ञानी आत्मारूपी निर्मल बाग में क्रीड़ा करना ही अपना कर्तव्य समझता है। इस यथार्थ ज्ञान को न पाकर मिथ्याज्ञानी विषय वासना के भयानक वन में रमता हुआ आत्मानन्द को न पाकर दुःखित रहता हुआ आर्तध्यान किया करता है। जिससे संसार में भ्रमता है।

* * *

अरति शुद्ध प्रयोजन

आरति अप्प सहावं, अप्पा परमप्प निम्मलं भावं।
आरति न्यान अवयासं, न्यान सहावेन निव्वुए जंति॥ ८३८॥

अन्वयार्थ- (अप्प सहावं आरति) आत्मा के स्वभाव में भले प्रकार सब तरफ से तन्मय हो जाना (अप्पा परमप्प निम्मलं भावं) आत्मा को परमात्मा रूप निर्मल भावों से अनुभवना (न्यान अवयासं

आरति) आत्मज्ञान के भीतर भले प्रकार लीन होना अरतिध्यान है (न्यान सहावेन) इस ज्ञान स्वभावी आत्मध्यान के द्वारा (निव्वुए जंति) भव्य जीव निर्वाण प्राप्त करते हैं।

भावार्थ- रति का अर्थ रमण करने का है। आ का अर्थ है चारों ओर से अर्थात् सर्व तरफ से रमना सो अरति है।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध निश्चय नय के द्वारा देखते हुए सिद्ध परमात्मा के समान वीतराग, निरंजन, शुद्ध परमानन्दमयी है, इसी स्वभाव में एकमेक हो जाना, आसक्त होना, अपने ही ज्ञान के भीतर मगन हो जाना, एक अद्वैत निर्विकल्प आत्मानुभव में पहुँच जाना, यही अरतिध्यान है। यही ध्यान मोक्ष को ले जाने वाला परम आदरणीय है।

* * *

चार रौद्रध्यान

हिंसानंद सुभावं, पर पुग्गल उत्पाद पुन्य सहकारं।
पुन्य पाव उववन्नं, मिथ्या कुन्यान संजदो होई॥ ८३९॥

अन्वयार्थ- (हिंसानंद सुभावं) हिंसानंद रौद्रध्यान का यह स्वभाव है कि (पर पुग्गल उत्पाद पुन्य सहकारं) आत्मा से भिन्न शरीरादि पुद्‌गलों के उत्पन्न करने वाले पुण्य कर्म की मदद चाहना (पुन्य पाव उववन्नं) जिससे पाप का बंध करता है। यह हिंसानंदी (मिथ्या कुन्यान संजदो होई) मिथ्यात्व व मिथ्याज्ञान सहित संयमी भी हो जाता है।

भावार्थ- अपने इष्ट प्रयोजन में बाधा देने वालों की हिंसा करने-कराने व हिंसा होने पर आनन्द मानने के लिये जो ध्यान करना, सो हिंसानंदी रौद्रध्यान है। यहाँ गम्भीरता से बताया है कि आत्मा की हिंसा सर्व प्रकार के कर्मों से होती है। कर्म के बंधन में पड़ा हुआ यह निज शुद्ध वीतराग अहिंसक भाव को नहीं पा सकता है, इसलिए यदि कोई संयमी या साधु होकर नाना प्रकार के तप करे, भीतर मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान हो तो वह आत्मा से भिन्न नाना प्रकार देवादि के शरीर को पाने वाले पुण्य की प्राप्ति की ही भावना करता है जिससे सातावेदनीयादि पुण्य तथा मिथ्यात्वादि पाप कर्म दोनों को बाँधकर संसार में ही अपने को गिराता है। जिस संसार में आत्मा की हिंसा हो, उस संसार की भावना ही हिंसानंदी रौद्रध्यान है।

अन्रित दिस्टि सहावं, अन्रित पिच्छंति न्रितं तिक्तं च।
अन्रित नंत सरौद्रं, रौद्र झानेन नरय वासंमि॥ ८४०॥

अन्वयार्थ- (अन्रित दिस्टि सहावं) जिसका स्वभाव मिथ्यादृष्टिपने से भरपूर है वह (अन्रित पिच्छंति न्रितं तिक्तं च) मिथ्या संसार के पदार्थों के उपभोग में ही श्रद्धान रखता है। सत्य आत्मानन्द

को त्याग देता है (अव्रित नंत सरौद्र) मिथ्या संसार के सुख में आनंद मानना मृषानंद रौद्रध्यान है (रौद्र झानेन नरय वासंमि) इस रौद्रध्यान से प्राणी नरक में चला जाता है।

भावार्थ- अपने प्रयोजन सिद्ध करने को असत्य बोलना, असत्य बुलवाना व असत्य वचनों की अनुमोदना करना, इन तीन प्रकार से आनंदित होना मृषानंद रौद्रध्यान है। यहाँ गंभीरता से बताया है कि जग में मिथ्यात्व ही मृषा है। सम्यक्त्व ही सत्य है। जो मिथ्यादृष्टि आत्मानंद का प्रेम नहीं पाते हुए विषयानंद में मगन रहते हैं वे मिथ्या संसार के क्षणिक सुखों में आनंद मानते हुए मृषानंद रौद्र ध्यान के कर्ता हैं। उनका पतन नरक धरा में होता है।

स्तेयानंद नंदितं, पद लोपन विकह भाव संजुत्तं।
मिथ्या असुह सुभावं, सल्यं विषयं च रौद्र झानत्थं॥ ८४१॥

अन्वयार्थ- (स्तेयानंद नंदित) चौर्यानंद में आनंदित होना चौर्यानंद रौद्र ध्यान है (पद लोपन) अपने आत्मिक पद को लोप करने वाले (विकह भाव संजुत्त) स्त्री भोजनादि विकथा संबंधी भावों में रमण करना (मिथ्या असुह सुभावं) मिथ्यात्व से भरा हुआ अशुद्ध स्वभाव रखना (विषयं सल्यं च) तथा विषय भोगों की चाह रूपी शल्य रखना (रौद्र झानत्थं) चौर्यानंद रौद्रध्यान में तिष्ठना है।

भावार्थ- दूसरे का माल हरने में, हराने में व चोरी हुई सुनकर आनंद मानने में रंजायमान होना स्तेयानंद या चौर्यानंद रौद्रध्यान है।

यहाँ गंभीरता से बताया है कि निज आत्मा के शुद्ध पद में रमण करना ही अचौर्यव्रत है, साधुपना है या साहूकारी है। जो अपने आत्मा के पद की तरफ से हटकर परवस्तु या परभाव को अपनाते हैं, वे ही चोर हैं व अपराधी हैं। वे स्त्री, भोजन, देश व राजा कथा संबंधी भावों में रागी रहते हैं। संसार के प्रेम रूप अशुद्ध भाव से शुद्ध भाव का लोप करते हैं। पाँचों इन्द्रियों के भोगों की चाह रूपी शल्य से अपने आत्मानंद को लोप करते हैं। इसलिए वे चोर हैं और वे ही चौर्यानंद रौद्रध्यानी महाअपराधी हैं। परभावों को अपनाना ही चोरी है। यही बड़ा भारी अपराध है, जिससे तीव्र कर्मों का बंध होता है। समयसार कलश में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बद्धयेतैवा पराधवान्।
बद्धयेतानपराधो स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः॥ ७-९॥

भावार्थ- जो पर-द्रव्य को अपना मानता है वही अपराधी है व बंध को प्राप्त होता है। जो मुनि अपने आत्म द्रव्य में संतोषी हैं वे संवररूप हैं, वह निरपराधी है, वही बंध रहित है।

अबंभ भाव जुत्तो, मिथ्या कुन्यान असुह परिनस्य।
चिंतंति विषय रागं, मन सहकारेन रौद्र नरयंमि॥ ८४२॥

अन्वयार्थ- (अबंभ भाव जुत्तो) अब्रह्म भाव में लीन प्राणी (मिथ्या कुन्यान असुह परिनस्य) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र में परिणमन करके (विषय रागं चिंतंति) पाँच इन्द्रियों के पदार्थों

में रागभाव का ही चिंतवन करते हैं (मन सहाकारेन रौद्र नरयंमि) यह मन संबंधी विषयानंद रौद्रध्यान नरक गति का कारण है।

भावार्थ- आत्मा में लीन भाव ब्रह्मभाव है, इस ब्रह्मभाव को न पाकर संसारासक्त प्राणी मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र संबंधी अशुद्ध भावों में रहते हुए सदा ही मन से पाँच इन्द्रियों के भोगों की चिंता, धनादि संग्रह की तीव्र लालसा करके परिग्रहानंद व विषयानंद रौद्रध्यान में फंसकर तीव्र कषाय से नरकायु बाँध लेते हैं।

रौद्र ध्यान सुभावं, नरयं तिरियं कुदेव दुह सहनं।
अन्यान मूढ भावं, रौद्र झानंमि नरय वीयंमि॥ ८४३॥

अन्वयार्थ- (रौद्रध्यान सुभावं) जिनका स्वभाव चार प्रकार रौद्रध्यान में से एक का व अनेक का पड़ जाता है वे (नरयं तिरियं कुदेव दुह सहनं) पाप बाँधकर नरक, तिर्यंच अथवा भवनत्रिक देवों में हीन देव होकर दुःखों को सहते हैं (अन्यान मूढ भावं) यह अज्ञान व मूर्खता का भरा भाव है (रौद्र झानंमि नरय वीयंमि) वास्तव में रौद्रध्यान नरक का बीज है।

भावार्थ- रौद्रध्यान से अतिदुष्ट, हिंसक, परको पीड़ाकारी, विषय लम्पटी परिणाम होते हैं। परिणामों की तीव्रता-मंदता के अनुसार कोई नरकायु, कोई तिर्यंच आयु, कोई हीन देवायु बाँधकर नारकी या पशु या हीन जाति के भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी देवों में पैदा होकर शारीरिक व मानसिक कष्ट भोगते हैं विषय बांछा के प्रेरे हुए ही हिंसानंद आदि रौद्रध्यान करते हैं। वे प्राणी आत्मज्ञान से विमुख अत्यन्त मूढ़ मिथ्याज्ञानी हैं। बहुधा रौद्रध्यानी नरक आयु बाँधकर नरक जाते हैं। जिनको नरकों के भयानक दुःखों से बचना हो उनको उचित है कि जिन धर्म को भले प्रकार समझकर चारों ही प्रकार के रौद्रध्यानों से अपने को बचावें।

♣ ♣ ♣

रौद्र शुद्ध प्रयोजन

अप्पा अप्प सरुवं, कम्म निकन्दंति तिविह जोएन।
न्यान सहाव स रौद्रं, मिथ्यामय कम्म निह्लै साहू॥ ८४४॥

अन्वयार्थ- (अप्पा अप्प सरुवं) आत्मा आत्मा के स्वभाव में रत होकर (तिविह जोएन कम्म निकन्दंति) मन, वचन, काय की गुप्ति सहित होकर कर्मों को नाश करते हैं (न्यान सहाव स रौद्रं साहू) ज्ञान स्वभावमयी अपने रौद्र स्वभाव से साधु (मिथ्यामय कम्म निह्लै) मिथ्यामयी संसार के भ्रमण के कारण कर्मों का नाश करते हैं यही शुद्ध रौद्रध्यान है।

भावार्थ- हिंसक भावों को रौद्रध्यान कहते हैं। कर्मों की हिंसा करने वाला भाव भी रौद्रध्यान है। यह शुद्ध रौद्रध्यान एक शुद्ध आत्मज्ञान में परिणमन रूप आत्मा में तल्लीन भाव है। शुद्धोपयोग के द्वारा जली हुई वीतरागतामयी अग्नि से साधुजन कर्मों को विध्वंस कर डालते हैं और अपने आत्मा को शुद्ध कर लेते हैं।

♣ ♣ ♣

चार धर्म ध्यान

अन्या अप्प सहावं, अप्पा परमप्प भाव संजुत्तं।
जिन वयनं सद्दहनं, न्यान सहावेन अन्या संजुत्तं॥ ८४५॥

अन्वयार्थ- (अन्या अप्प सहाव) आज्ञाविचय धर्मध्यान आत्मा के स्वभाव का ध्यान है (अप्पा परमप्प भाव संजुत्तं) आत्मा को परमात्मा के स्वभाव में जोड़ना ध्यान है (जिनवयनं सद्दहनं) वहाँ जिनेन्द्र के वचनों का श्रद्धान रखना है (न्यान सहावेन अन्या संजुत्तं) ज्ञान स्वभाव से रहना ही आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

भावार्थ- जिनेन्द्र की आज्ञा के अनुसार जीवादि तत्वों का श्रद्धान करके व शुद्ध निश्चय नय से अपने आत्मा को परमात्मा के समान ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमयी जान करके अपने स्वभाव में तिष्ठकर आत्मानुभव करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अप्पा परमप्पानं, चेयन रुवेन धम्म झानत्थं।
मल मुक्कं दंसन धरनं, न्यान झानेन धम्म सहकारं॥ ८४६॥

अन्वयार्थ- (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा रूप जानकर व (चेयन रुवेन धम्म झानत्थं) चेतन रूप में रहकर धर्मध्यान में तिष्ठना (मल मुक्कं दंसन धरनं) दोष रहित सम्यग्दर्शन को धरना (न्यान झानेन धम्म सहकारं) आत्मज्ञान का ध्यान करना धर्म सहित होने से धर्मध्यान है।

भावार्थ- दूसरा धर्मध्यान अपायविचय है। इसमें यह विचारना चाहिये कि हमारे मिथ्यात्व का नाश व दूसरों के मिथ्यात्व का नाश कैसे हो। यह विकल्प रूप ध्यान है। इसी का निश्चल ध्यान यह है कि पच्चीस दोषों को टालकर निश्चल शुद्ध सम्यग्दर्शन को रखते हुए अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में तन्मय होकर ध्यान करना अपायविचय धर्मध्यान है।

विसुध सुध भावं, मिथ्या रागादि विषय विरयंमि।
रयनत्तय न्यान सहावं, कम्मानि डहै धम्म झानत्थं॥ ८४७॥

अन्वयार्थ- (मिथ्या रागादि विषय विरयंमि) मिथ्या रागद्वेषादि सर्व विभाओं से विरक्त होकर (विसुध सुध भावं) अति निर्मल वीतराग स्वभावमयी (रयनत्तय न्यान सहावं) रत्नत्रय स्वरूप आत्मज्ञान के स्वभाव में रहकर (धम्म झानत्थं) धर्मध्यान करता हुआ (कम्मानि डहै) कर्मों को जला देता है।

भावार्थ- तीसरा विपाक विचय धर्मध्यान है। इसका व्यवहार स्वरूप यह है कि कर्मों के फल को विचार कर दुःख-सुख की अवस्था में समताभाव रखना। निश्चय स्वभाव यह है कि रागद्वेषादि को त्यागकर निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मा के अतिविशुद्ध स्वभाव में रमण करना आत्मध्यान की अग्नि को जलाना, जिससे बहुत से कर्म अविपाक अवस्था में नाश हो जावें। समता भाव से कर्मों का फल भोग लेने से सविपाक निर्जरा होती है, नवीन बंध नहीं होता है परन्तु आत्मानुभव करने से कोटिभवों के बंधे कर्म झड़ जाते हैं।

संस्थानं पंच सुभावं, चिंतइ वर न्यान दंसनं सुधं।
न्यान उवन्नं पिच्छदि, पद विंदं केवलं न्यानं॥ ८४८॥

अन्वयार्थ- (संस्थानं पंच सुभावं) संस्थान विचय धर्म ध्यान पाँच परमेष्ठी के स्वभावों को तथा (वर न्यान सुधं दंसनं चिंतइ) शुद्धज्ञान व शुद्धदर्शन का चिंतवन करता है (न्यान उवन्नं पिच्छदि) आत्मज्ञान की वृद्धि को अनुभव करता है (पद विंदं केवलं न्यानं) आत्मा के स्वभाव को अनुभव करते हुए केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ- संस्थान विचय धर्मध्यान का स्वरूप यह है कि तीन लोक का आकार चिंतवन किया जावे या आत्मा का स्वरूप ध्यान में लिया जावे। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच पदों के द्योतक ॐ आदि मंत्रों के द्वारा शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी आत्मा का अनुभव करना संस्थान विचय धर्मध्यान है। इसके द्वारा अवधिज्ञानादि प्राप्त होते-होते केवलज्ञान भी झलक जाता है।

धम्मं झानं झायदि, अविगत रुवेन दंसनं सुधं।
अप्पा परमानंदं, परमप्पा लहै निव्वानं॥ ८४९॥

अन्वयार्थ- (धम्मं झानं अविगत रुवेन दंसनं सुधं झायदि) धर्मध्यान अमूर्तिक तथापि ज्ञानाकार शुद्ध सम्यग्दर्शनमयी आत्मा को ध्याता है (अप्पा परमानंदं) जब आत्मा परमानंद में मग्न हो जाता है तब (परमप्पा लहै निव्वानं) परमात्मा होकर निर्वाण को पा लेता है।

भावार्थ- धर्मध्यान आत्मा की उन्नति करके श्रेणी के निकट पहुँचा देता है। आठवें गुणस्थान के नीचे तक धर्मध्यान है। इसी ध्यान के बल से साधु अधःकरण लब्धि को सातिशय प्रमत्त गुणस्थान

में प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त पीछे अपूर्वकरण लब्धि को पाता हुआ आठवाँ गुणस्थानवाला होकर शुक्ल ध्यान को ध्याता है।

* * *

चार शुक्लध्यान या शून्यध्यान

गय संकप्प वियप्पं, अप्पा परमप्प विमल न्यानस्य।
विगतं अविगत रुवं, सून्य सहावेन अप्प परमप्पं॥ ८५० ॥

अन्वयार्थ- (गय संकप्प वियप्पं) जहाँ संकल्प-विकल्प नहीं रहे हैं (अप्पा परमप्प विमल न्यानस्य) आत्मा परमात्मा के निर्मल ज्ञान में लीन है (विगतं अविगत रुवं) जहाँ अमूर्तिक ज्ञानाकार आत्मा का अनुभव है (सून्य सहावेन अप्प परमप्पं) शून्य अर्थात् रागादि विकल्पों से शून्य होकर आत्मा का परमात्मा रूप ध्यान ही प्रथम शुक्लध्यान है।

भावार्थ- प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्व वितर्क वीचार है। जहाँ अबुद्धिपूर्वक पूर्व अभ्यास के बल से श्रुत के आलम्बन द्वारा योग से योगान्तर, शब्द से शब्दान्तर, ध्येय अर्थ से अर्थांतर पलटन हो तथा बुद्धिपूर्वक शुद्धोपयोग में बिना किसी विकल्प के लीनता हो सो पहला शुक्लध्यान है। मन, वचन, काय योगों का पलटना श्रुत के किसी एक शब्द से दूसरे शब्द पर पलट जाना व आत्मा ध्येय से किसी ज्ञान गुण पर चले जाना या किसी पर्याय पर चले जाना ऐसी पलटन होती है। यह ध्यान है तो परम विशुद्ध, संज्वलन का अतिमंद उदय है। आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में एक तान होकर आत्मानंद का भोग कर रहा है। यह ध्यान बारहवें गुणस्थान के प्रारंभ तक रहता है। यही मोह का सर्वथा क्षय कर डालता है।

एकं जिनं सरुवं, मल मुक्कं अनंत दंसनं सुधं।
न्यानं न्यान सरुवं, न्यान सहावेन निव्वुए जंति॥ ८५१ ॥

अन्वयार्थ- (एकं जिनं सरुवं) जहाँ एक जिनेन्द्र के स्वभाव में लीनता है (मल मुक्कं अनंत दंसनं सुधं) दोष रहित परम वीतराग अनंत क्षायिक सम्यग्दर्शन में एकतानता है। (न्यानं न्यान सरुवं) ज्ञान ज्ञानस्वरूप में थम गया है। ऐसा एकत्व-वितर्क अवीचार शुक्लध्यान है (न्यान सहावेन निव्वुए जंति) इस ज्ञान स्वभाव में ठहरने से निर्वाण हो जाता है।

भावार्थ- दूसरा शुक्लध्यान एकत्व वितर्क अवीचार है। जहाँ किसी एक योग द्वारा व किसी एक शब्द द्वारा व किसी एक ध्येय द्वारा पलटन रहित स्वरूप में एकाग्रता है। आत्मा परम क्षायिक निश्चय आत्म प्रतीति रूप भाव में जमा हुआ आपसे आप में आप रूप हो जाता है। इस निर्मल

ध्यान का लाभ क्षीण मोह गुणस्थान में होता है। इसके प्रताप से ध्यानी ज्ञानवरण, दर्शनावरण, अंतराय तीन घातिया कर्मों का क्षय करके जीवन्मुक्त अरहंत परमात्मा हो जाता है।

सूष्यम भाव स उत्तं, सूष्यिम प्रतिपाद सूष्यमं चरनं।
सूष्यम धम्मं झानं, न्यान सहावेन झान संजुत्तं॥ ८५२॥

अन्वयार्थ- (सूष्यम भाव स उत्त) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान उसे कहा गया है, जहाँ (सूष्यिम प्रतिपाद) सूक्ष्म काय योग रह जाता है (सूष्यमं चरनं) जहाँ अति सूक्ष्म काय का हलन-चलन है (सूष्यम धम्मं झानं) यहाँ अति सूक्ष्म स्वाभाविक ध्यान है (न्यान सहावेन झान संजुत्तं) यहाँ ज्ञान स्वभाव में ठहरना यही ध्यान है।

भावार्थ- तीसरा शुक्लध्यान सयोग केवली जिन तेरहवें गुणस्थान के अन्त में होता है, जब काय योग का परिस्पंदन या हलन-चलन रह जाता है। केवली भगवान का विहार आदि नहीं होता है। वे स्वरूप में मग्न रहते हैं, कुछ ध्यान यहाँ करना नहीं पड़ता है। स्वाभाविक आत्म तल्लीनता तो केवलज्ञानी के सदा रहती ही है।

प्रियो अप्प संजुत्तं, विप्रिय मुक्तस्य सुध ससहावं।
न्यान झान संजुत्तं, अविगत रुवेन सिधि संपत्तं॥ ८५३॥

अन्वयार्थ- (प्रियो अप्प संजुत्त) जहाँ अत्यन्त प्रिय निज आत्मा है (विप्रिय मुक्तस्य सुध ससहावं) सर्व अप्रिय जो आत्मा से परभाव हैं, उनसे मुक्ति है, शुद्ध आत्मिक स्वभाव में लीनता है (न्यान झान संजुत्तं) निज ज्ञान व निज के ध्यान सहित है (अविगत रुवेन) निज ज्ञानाकार रूप से (सिधि संपत्त) जिसके द्वारा सिद्ध गति प्राप्त होती है, ऐसा चौथा शुक्लध्यान है।

भावार्थ- चौथा शुक्लध्यान व्युपरत क्रिया निवर्ति है। यह अयोग केवली जिनके चौदहवें गुणस्थान में होता है, जहाँ सर्व क्रियाओं से निवृत्ति हो जाती है, न श्वास चलता है न शरीर का कुछ भी सकम्प होता है, आत्मा आप आप में लीन निश्चल रहता है। केवलज्ञान व केवल ध्यान का यह एक भाव है। इस ध्यान के अन्तर्मुहूर्त रहने से चार अघातिया कर्म आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय क्षय हो जाते हैं और आत्मा सर्व पुद्गल के सम्बन्ध से छूटकर शुद्ध केवल आत्मा रूप होकर जैसा था वैसा ही बिना संकोच विस्तार के ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोकाग्र जाकर विराजमान हो जाता है। इसी को सिद्ध परमात्मा कहते हैं, पुरुषाकार ज्ञानमयी अमूर्तिक रूप रह जाता है।

झानं चौविहि उत्तं, विन्यानं जानंति सुध ससहावं।
विन्यान न्यान सुधं, कम्मं विमुक्क लहइ निव्वानं॥ ८५४॥

अन्वयार्थ- (चौविहि झानं उत्त) चार प्रकार के ध्यान का स्वरूप कहा है (विन्यानं जानंति सुध ससहावं) भेद विज्ञान शुद्ध आत्मा के स्वभाव को पहचानता कहा है (विन्यान न्यान सुधं) भेद विज्ञान

के द्वारा ज्ञान शुद्ध अनुभव में आता है (कम्मं विमुक्क लहइ निव्वानं) इसी शुद्ध ज्ञान के अनुभव से सर्व कर्मों से छूटकर निर्वाण को यह भव्य जीव प्राप्त करता है।

भावार्थ- आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल-चार प्रकार का ध्यान कहा गया है। इसमें आर्त एवं रौद्र छोड़ने योग्य हैं तथा धर्म एवं शुक्ल ध्याने योग्य हैं। पर से मैं भिन्न हूँ, मेरा स्वभाव परमात्मा रूप है, ऐसा विवेक या भेद विज्ञान होने से आत्मा का यथार्थ स्वभाव ज्ञान से झलकता है। तब इसी आत्मा के ध्यान करने से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान प्राप्त होते हैं। शुक्लध्यान से भव्य जीव सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

♣ ♣ ♣

ध्यान का विशेष कथन

आरति रितिय सुभावं, आरति संसार कारनं निस्वं।
आरति कुन्यान संजुत्तं, दंसन मोहंध आरति सुधं॥ ८५५॥

अन्वयार्थ- (आरति रितिय सुभावं) आर्तध्यान का स्वभाव दुःखित भाव है (आरति संसार कारनं निस्वं) यह आर्तध्यान निश्चय से संसार का कारण है। (आरति कुन्यान संजुत्तं) आर्तध्यान में मिथ्याज्ञान भरा है (दंसन मोहंध आरति सुधं) मिथ्यात्व के उदय से अन्ध प्राणी अशुद्ध दुःखित परिणाम करके आर्तध्यान करता है।

भावार्थ- 'ऋतं दुःखं तत्र भवं आर्तं' (सर्वार्थसिद्धि) अर्थात् जो दुःख या पीड़ा या शोक या चिंता के कारण से पैदा हो, वह आर्तध्यान है। इससे घोर असाता वेदनीय का बंध हो जाता है तथा जो मिथ्यादृष्टि व अज्ञानी है, वही पर-पदार्थ को अपनाता है, वही इष्ट के वियोग में शोक मानेगा, वही अनिष्ट के सम्बन्ध में दुःख करेगा, वही शरीर की पीड़ा से चिंतित होगा, वह आगामी भोगों के लिए आकुलित होगा। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पर पदार्थ से निर्मोही है। शरीर से भी निस्पृही है। भोगों से उदास है। वह किसी प्रकार के शुभ या अशुभ संयोग में कर्म के उदय को विचार करके समभाव रखेगा। वह अतीन्द्रिय आनंद का प्रेमी है, वह विषयों को विषवत् जानता है, वह कभी निदान नहीं करेगा। यद्यपि आर्तध्यान तत्वार्थ सूत्र में छठे प्रमत्त विरत तक बताया है तथापि उसकी मुख्यता मिथ्या-दृष्टि के ही है। सम्यग्दृष्टि के चारित्र मोह के उदय से कभी कोई तरंग-सी आ सकती है इसलिए कहा है।

तंबोलं तव जुत्तं, आरति सभाव सयल परिनामं।
कुसुमं कुन्यान संजुत्तं, न्यान सहावेन कदाचि उववन्नं॥ ८५६॥
लेपं लिपत सुभाव, लिप्तं कम्मान राग विषयं च।
भूषन पुन्य सहावं, सल्यं संजुत्त आरति भनियं॥ ८५७॥

अन्वयार्थ– (तंबोलं तव जुत्तं) तप करते हुए आर्तध्यान होना, पान खाने के समान मिश्रित स्वाद को पाना है (आरति सभाव सयल परिनाम) उस तप में आर्तध्यान को लिए हुए सर्व परिणाम होते हैं (कुसुमं कुन्यान संजुत्तं) उसमें मिथ्याज्ञान को पुण्य की गंध आती है (न्यान सहावेन कदाचि उववन) ज्ञान स्वभाव में चलने वाले के भी कदाचित् ऐसा आर्तध्यान हो सकता है (लेपं लिपत सुभाव) आर्तध्यान को लेप भी कह सकते हैं, क्योंकि इसका लिपना स्वभाव है (राग विषयं च कम्मान लिप्तं) राग विषय में अंध होने के कारण इससे कर्मों का बंध होता है (भूषन पुन्य सहावं) पुण्य की बांछा रूप निदान एक आभूषण है (सल्यं संजुत्त आरति भनियं) वहाँ पुण्य को वांछा की शल्य सहित आर्तध्यान कहा गया है।

भावार्थ– यहाँ आर्तध्यान के लिए चार दृष्टांत दिए हैं। पान खाने का, पुष्प की गंध का, लेप का तथा आभूषण का। जिनका भाव जो समझ में आया, सो लिखा जाता है। विशेष ज्ञानी विचार लेवें। तांबूल में पान पत्ता, कत्था, चूना, सुपारी, इलायची आदि का मिला हुआ स्वाद आता है, वैसे ही जो किसी शोक के कारण व घर में कलह के कारण व दारिद्र के दुःख के कारण या आगामी भोगों की वांछा के कारण तपस्वी होकर तप करते हैं, वे धर्म का चिंतवन करते हुए भी आर्तध्यान के परिणामों से मिले हुए रहते हैं। यद्यपि वे शास्त्र ज्ञानी हैं व तत्त्व के ज्ञाता हैं, तथापि उनके भीतर यदि किसी प्रकार की चिंता घर कर रही हो तो वह पुष्प की गन्ध के समान उनके भावों में आया करती है। इस आर्तध्यान की गंध से व आर्तध्यान के मिले हुए भाव से कर्मों का लेप होता है। अशुभ कर्मों का बंध होता है, पुण्य के साथ पाप का भी बंध होता है, क्योंकि भीतर विषयों का राग है या दुःखित परिणाम सम्बन्धी दोष है जो यह बांछा करे कि हमें तप के द्वारा पुण्य बंध हो, जिससे हम मोक्ष के कारण वज्रवृषभ नाराच संहननादि प्राप्त करें और शीघ्र मोक्ष जावें। यह एक प्रशंसनीय या शोभनीय निदान है तथापि उस तपस्वी के लिए आभूषण पहनने के समान एक परिग्रह है, इसलिए उचित नहीं है। सम्यग्दृष्टि तत्वज्ञानी पुण्य की भी बांछा नहीं करते हैं। वे केवल आत्मानंद के रस में मग्न हो धर्मध्यान करते हैं। उनकी मोक्ष की भी बांछा नहीं होती है, क्योंकि वे मोक्ष को भी अपने पास समझते हैं। वे निर्विकल्प होकर शुद्ध भाव से ध्यान करके आर्तध्यान की गंध से भी अलिप्त रहते हैं।

रौद्रं रौद्र स दिट्ठं, रौद्रं परिनाम कठिन संजुत्तं।
असत्य अन्रित भावं, उदमादं परम रौद्र झानत्थं॥ ८५८॥

अन्वयार्थ- (रौद्रं रौद्र स दिट्ठं) रौद्रध्यान वह है, जहाँ दुष्ट परिणाम देखे जावें (रौद्रं परिनाम कठिन संजुत्तं) कठोर परिणामों को रौद्रध्यान कहते हैं (असत्य अन्रित भावं) जहाँ मिथ्या श्रद्धान व मिथ्याज्ञान सहित भाव हों (उदमादं परम रौद्र झानत्थं) रौद्रध्यानी के मन में घबड़ाहट तथा असावधानता रहती है।

भावार्थ- "रूद्रः क्रूराशयः यस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्" (सवार्थसिद्धि) जो ध्यान दुष्ट आशय या दुष्ट आशय से किए हुए कार्य के द्वारा हो, वह रौद्रध्यान है। इसमें कठोर परिणाम होते हैं। रौद्रध्यानी मिथ्या संसार में लिप्त होता हुआ अपने सांसारिक प्रयोजन के वश हो हिंसा करने में, असत्य बोलने में, चोरी करने में, परिग्रह बढ़ाने में आनन्द मानता है। पर को पीड़ा देकर भी धनादि का संचय करना चाहता है। रौद्रध्यानी के मन में सदा आकुलता रहती है कि जल्दी ही अपना स्वार्थ साधन कर लूँ। उसके कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय-अन्याय के विचार की सावधानी नहीं होती है। यह रौद्रध्यान अधिकतर मिथ्यादृष्टि के होता है। सिद्धान्त में पाँचवें गुणस्थान तक इसलिए कहा है कि वहाँ तक परिग्रह का सम्बन्ध है। चारित्र मोह के तीव्र उदय से कभी-कभी कुछ काल के लिए ऐसा दुष्ट ध्यान हो जाना संभव है।

बन्धं असुधं बन्धं, असुहं भावं च असुह परिनामं।
बन्धंति विविह भावं, बन्धं कम्मान तिविह संजुत्तं॥८५९॥

अन्वयार्थ- (बन्धं असुधं बन्धं) यह रौद्रध्यानी अशुद्ध भावों के बंधन में पड़ा रहता है (असुहं भावं च असुह परिनामं) इसके अशुभ भाव व अशुभ ही वचन तथा काय का परिणमन होता है (विविह भावं बन्धंति) यह रौद्रध्यानी नाना प्रकार के दुष्ट कषाय के भावों को किया करता है (तिविह संजुत्तं कम्मान बंधं) मन, वचन, काय की दुष्टता के कारण कर्मों को बाँधता है।

भावार्थ- हिंसा आदि पापों में फँसा हुआ रौद्रध्यानी दूसरों को दुःख देने में कुछ भी ग्लानि नहीं करता है। उसका आशय अपना कषाय पोषण है, दूसरों के दुःखों की परवाह उसको नहीं होती है। उसकी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति कुटिल हिंसात्मक होती है। संसारासक्त रौद्रध्यानी घोर अशुद्ध भावों से कृष्णलेश्या के होते हुए सातवें नरक तक की आयु बाँध लेता है।

डहनंति असुह भावं, डहिओ सुह कम्म समल भावं च।
षटकाई जीवानं, विराहनं विदारनं भनियं॥ ८६०॥

अन्वयार्थ- (असुह भावं डहनंति) रौद्रध्यानी के शुभ भावों का नाश हो जाता है (समल भावं च सुह कम्म डहिओ) मलीन भावों के होते हुए उसके शुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं (षटकाई जीवानं

विराहनं विदारनं भनियं) उसके छः काय के प्राणियों का नाश व छेदन-भेदन होता रहता है, ऐसा कहा गया है।

भावार्थ- रौद्रध्यानी के धर्मध्यान होना असंभव है। उसके दुष्ट आशय के होते हुए उससे दान, पूजा, जप, तपादि शुभ कार्य शुभ परिणामों से नहीं हो सकते हैं। यदि कदाचित् शुभ काम करना भी है तो मलीन आशय से किसी की हानि के लिए व परिग्रह बढ़ाने के लिए करता है। उसके व्यवहार में दया नहीं होती है। वह निरर्थक प्रवृत्ति करता हुआ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, त्रस; छः प्रकार के प्राणियों का घात करता है। पशुओं पर भारी बोझा लादकर सताता है, मानवों को ठगता है, पशु बलि कर देता है, स्वार्थवश मनुष्यों की भी हत्या कर डालता है।

मारन जीव अभावं, अजीव असुधस्य सहाव संजुत्तं।
रौद्र भाव ससहावं, रौद्र ध्यानं च संजदो भनियं॥ ८६१॥

अन्वयार्थ- (मारन जीव अभावं) जहाँ प्राणियों के वध का तो अभाव है, परन्तु (अजीव असुधस्य सहाव संजुत्त) अशुद्ध शरीर व धन व स्त्री आदि की ममता में फँसा हुआ भाव है (रौद्र भाव ससहावं) वहाँ भी रौद्रध्यान सहित आत्मा का परिणाम होता है (रौद्र ध्यानं च संजदो भनियं) ऐसा रौद्रध्यान संयमी के भी होना संभव है।

भावार्थ- कभी-कभी व्रती श्रावकों के भी रौद्रध्यान हो जाता है। यद्यपि वे हिंसा से विरक्त हैं, परन्तु उनका राग स्त्री के व धन के कुटुम्ब परिवार के मोह में चारित्र मोह के उदय से ऐसा उलझ जाता है कि वे परिग्रहानन्द या विषयानन्द रौद्रध्यान में लिप्त होकर पाप का बंध करते हैं। कभी-कभी अन्याय के दमन करने के लिए न्याय का प्रचार करने के लिए उनको हिंसानन्दी रौद्रध्यान कुछ अंशों में हो जाता है। वे अन्यायी के विध्वंस में प्रयत्नशील होते हैं। जैसे श्री रामचन्द्रजी ने अन्यायी रावण को शिक्षा देकर ही चैन ली, धर्मात्मा सीता की रक्षा करी। युद्धादि करते हुए श्रावक गृहस्थ को हिंसामयी भावों का हो जाना संभव है। यहाँ संकल्पी हिंसा नहीं है, किन्तु आरम्भी हिंसा है। आशय शुभ है तथापि कषाय की प्रबलता से व शांत भाव न होने से रौद्रध्यान ही कहा जाएगा। इसीलिए देश विरत पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान बताया है।

धरयंति धम्म झानं, चेयन रुवेन मनुव संवरनं।
सुध सहावं उत्तं, चेयन चेयंति धम्म झानत्थं॥ ८६२॥

अन्वयार्थ- (धम्म झानं धरयंति) जो धर्मध्यान धरते हैं, वे (चेयन रुवेन मनुव संवरने) चैतन्य स्वभाव में तिष्ठकर मन को रोकते हैं (सुध सहावं उत्त) धर्मध्यानी का स्वभाव शुद्ध कहा गया है (धम्म झानत्थं चेयन चेयंति) धर्मध्यानी आत्मा का ही अनुभव करते हैं।

भावार्थ- "धर्मादनपेतं धर्म्यम् इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः" (सर्वार्थसिद्धि) अर्थात् धर्म सहित ध्यान को धर्म ध्यान कहते हैं। जो इष्ट जो मोक्ष उसमें धारण करे, वह धर्म है। इसलिए जहाँ मन को निरोध कर अपने आत्मा के स्वभाव का अनुभव करते हुए शुद्ध भावों में लीन होना सो धर्मध्यान है। यह निर्विकल्प धर्मध्यान है। सविकल्प धर्म-ध्यान शुद्ध भावों के आशय से जप, तप, पूजा, पाठ, स्वाध्याय, दान, श्रावक व मुनिव्रत का आचरण दशलक्षणी धर्म व बारह भावनाओं का चिंतवन, आपा पर का विवेक परोपकार आदि हैं।

पदस्तं पद विंदंतो, अष्यर सुर विंजनस्य ससरुवं।
पदं पदार्थं सुधं, अप्पा परमप्प निम्मलं विमलं॥ ८६३॥
सुध सरुव चिंतवनं, असुहं मिच्छात राग विरयंमि।
विषयं ति सल्य तिक्तं, पद विंदं सुध निम्मल ससरुवं॥ ८६४॥

अन्वयार्थ- (पदस्तं पद विंदंतो) पदस्थ ध्यान वह है, जहाँ पद के द्वारा अर्हंतादि पदों का अनुभव किया जावे (अष्यर सुर विंजनस्य ससरुवं) अक्षर स्वर व्यंजनों के द्वारा आत्मा के स्वरूप का चिंतवन किया जावे (सुधं पदार्थं पदं) शुद्ध आत्मा पदार्थ ही पद है, उसको विचारा जावे (अप्पा परमप्प निम्मलं विमलं) आत्मा को परमात्मा के समान वीतराग व कर्म रहित अनुभव किया जाए (सुध सरुव चिंतवनं) जहाँ शुद्ध आत्म स्वरूप का चिंतवन किया जाए (असुहं मिच्छात राग विरयंमि) अशुद्ध मिथ्यात्व का राग छोड़ दिया जाए (विषयंति सल्य तिक्तं) इन्द्रियों के विषयों की चाह व माया मिथ्या निदान तीन ही शल्यों को छोड़ा जाए (सुध निम्मल ससरुवं पदविंदं) शुद्ध निर्मल आत्म-स्वरूप रूपी पद अनुभव किया जाए।

भावार्थ- यहाँ धर्मध्यान में पदस्थ आदि चार ध्यान का वर्णन है। जिनका कुछ स्वरूप हम ५६९ गाथा के भावार्थ में दिखा चुके हैं। ॐ, हं, अर्हं, ह्रीं, श्रीं इत्यादि अनेक पदों को नासिका के अग्रभाग में, हृदय कमल में, भौंहों के बीच में, मस्तक पर, नाभि कमल में स्थापित करके चमकता हुआ देखें, कभी-कभी पाँच परमेष्ठी के गुणों को व कभी-कभी अपने आत्मा के शुद्ध गुणों को विचारते हुए अपने स्वरूप में लय हो जावे। जब ध्यान हटे, तब इन अक्षरों पर चित्त जमा दें या गुणों का विचार करने लग जावे। इसका विशेष स्वरूप श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थ से जानना योग्य है।

पिंडं न्यान स पिंडं, न्यान सहावेन पिंड सभावं।
तिक्तंति असुह पिंडं, अव्रित असरन असत्य तिक्तंति॥ ८६५॥
पिंड सरुवं सुधं, रुवं संजुत्त पिंड विरयंमि।
न्यान मयो पिंडस्थं, नित्यं सास्वतं पिंड चितनं विमलं॥ ८६६॥

अन्वयार्थ- (पिंडं न्यान स पिंडं) ज्ञानमयी पिंड स्वरूप आत्मा इस शरीर सहित है (न्यान सहावेन पिंड सभावं) यह आत्मा ज्ञान स्वभाव होकर के भी अनेक प्रदेशों का एक अखण्ड पिंड अस्तिकाय

है (तिक्तंति असुह पिंड) इसके अशुद्ध रागादिक का व कर्मादि का पिंड नहीं है (अत्रित असरन असत्य तिक्तंति) इसने मिथ्या स्वरूप व शरण रहित सर्व जगत की क्षणिक पर्यायों का ममत्व त्याग दिया है (पिंड सरुवं सुध) यह आत्मा सर्वांग शुद्ध है (रुवं संजुत पिंड विरयंमि) रूपादि सहित पिंड से भिन्न है (न्यानमयो पिंडस्थ) ज्ञानमयी आत्मा इस पिंड अर्थात् शरीर में विराजित है (नित्यं सास्वतं पिंड चिंतनं विमलं) वही सत्य नित्य एक अखण्ड पदार्थ है, सर्व मल रहित है, उसका ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है।

भावार्थ- यहाँ ग्रन्थकर्ता ने पिंडस्थ शब्द के कई अर्थ कहकर आत्मा का ध्यान सिद्ध किया है। प्रथम अर्थ यह है कि पिंड नाम शरीर का है। इस शरीर में विराजित आत्मा का ध्यान पिंडस्थ ध्यान है। दूसरा अर्थ है कि यह आत्मा असंख्यात ज्ञानमयी प्रदेशों का एक अखण्ड पिंड है। इसका ध्यान पिंडस्थ ध्यान है। तीसरा अर्थ यह है कि यह अस्तिकाय रूप आत्मा सर्व भावकर्म व द्रव्यकर्म व नोकर्म के पिंड से रहित है, न इसमें कोई भी वैभाविक नाशवंत चारगति रूप पर्यायें व औदयिक, क्षयोपशम, औपशमिक भाव की क्षणिक पर्यायें हैं। यह आत्मा सर्व स्पर्श, रस, गंध, वर्णमई पुद्गलों से भिन्न एक सत्य अविनाशी, अखण्ड निर्मल ज्ञातादृष्टा पदार्थ है। इसी का एकाग्र होकर ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है। इस पिंडस्थ ध्यान में पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल तथा तत्वरूपवती पाँच धारणाओं का विचार किया जाता है, जिनका संक्षेप स्वरूप गाथा ५६९ के भावार्थ में है। विशेष ज्ञानार्णव ग्रन्थ से जानना योग्य है।

> **रुवस्तं चेयन रुवं, चिद्रूपं विमल निम्मलं सुधं।**
> **वर्न रुव विरयंतो, ससरीरं रुव चिंतनं सुधं॥ ८६७॥**
> **रुवं रुव स सुधं, असुधं परिनाम सयल विरयंमि।**
> **सुध सरुवं पिच्छदि, रुवस्तं विमल निम्मलं सुधं॥ ८६८॥**

अन्वयार्थ- (रुवस्तं चेयन रुवं) रूपस्थ ध्यान में चैतन्य स्वरूप का ध्यान है (चिद्रूपं विमल निम्मलं सुधं) जो चेतना स्वरूप भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म रहित शुद्ध है (वर्न रुव विरयंतो) जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्शमयी मूर्ति से रहित है (ससरीरं रुव चिंतनं सुधं) अर्हंत के शरीर में विराजित शुद्धात्मा का ऐसा चिंतवन करना चाहिए (रुवं रुव स सुधं) उस शुद्ध आत्मा का रूप परम शुद्ध स्वरूप है (असुधं परिनाम सयल विरयंमि) उसमें सर्व अशुद्ध भावों की शून्यता है (सुध सरुवं पिच्छदि) ऐसे शुद्ध आत्म स्वरूप को जो देखता है, वह (रुवस्तं विमल निम्मलं सुधं) अपने स्वरूप में स्थित निरंजन निर्विकार शुद्ध आत्मा को अनुभव करता हुआ रूपस्थ ध्यान का धारी है।

भावार्थ- रूपस्थ ध्यान में श्री अर्हंत परमेष्ठी के ध्यान द्वारा अपने शुद्धात्मा का ध्यान है। ध्याता अपने भावों में समवशरण में स्थित श्री अर्हंत परमेष्ठी को अन्तरिक्ष सिंहासन पर विराजित देखता है, जो पद्मासन ध्यानाकार हैं, उनकी शांत मुद्रा परम आकर्षक है; फिर उनके शरीर के भीतर जो आत्मा

विराजित है, उधर लक्ष्य ले जाकर देखता है कि अर्हंत का आत्मा घाति कर्म रहित है। रागादि विकारों से रहित है। आत्मा में शरीर का भी कोई स्वाभाविक संयोग नहीं है। आत्मा स्पर्शादि गुणों से रहित अमूर्तिक है। सर्व संकल्प-विकल्प रहित है परमानन्द निमग्न है। इस तरह देखकर फिर अपने आत्मा को भी निश्चय से उसी स्वरूप को देखकर अपने निर्विकार शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है, यही रूपस्थ ध्यान है।

रुवातीत स उत्तं, तित्तं रुवेन विगत रुवं च।
अविगत परमानन्दं, विगतं संसार सरनि मोहंधं॥ ८६९॥
गय संकप्प वियप्पं, मिच्छा कुन्यान विगत विरयंमि।
चेयन सहाव सुधं, रुवातीतं च धम्म ध्यान ससहावं॥ ८७०॥

अन्वयार्थ- (रुवातीत स उत्त) रूपातीत ध्यान वह कहा गया है, जहाँ सिद्धात्मा का ध्यान किया जाए जो (तित्तं रुवेन विगत रुवं च) शरीरादि व कर्मादि रूपी पुद्गल को त्याग कर चुके हैं व स्वयं अमूर्तिक हैं (अविगत परमानंद) जो परमानन्द से कभी रहित नहीं होते हैं (विगतं संसार सरनि मोहंधं) जहाँ संसार में भ्रमण का कारण कोई मोहांधपना नहीं है (गय संकप्प वियप्पं) जहाँ कोई संकल्प-विकल्प नहीं है (मिच्छा कुन्यान विगत विरयंमि) वहाँ सर्व मिथ्यात्व व अज्ञान से शून्यता है (चेयन सहाव सुधं) जहाँ एक शुद्ध चेतन स्वभाव है, वही (रुवातीतं च धम्म ध्यान ससहावं) रूपातीत धर्म-ध्यान अपना ही स्वभाव है।

भावार्थ- सिद्ध भगवान के स्वरूप का विचार करके उनके समान अपने आत्मा को ध्याना रूपातीत धर्मध्यान है। अरहंत भगवान जब शरीर सहित होने से रूपस्थ हैं, तब सिद्ध भगवान शरीर रहित होने से रूपातीत। वे सर्व सांसारिक भावों से रहित, कर्मकलंक से रहित, निर्विकार परम शुद्ध निर्विकल्प आत्मसमाधि में लीन शुद्ध ज्ञानमयी व आनन्दमयी परमात्मा हैं, वे पुरुषाकार लोकाग्र स्थित हैं, निरन्तर आत्मानन्द का भोग कर रहे हैं, उनके समान निश्चय नय से अपने आत्मा को विचार कर ध्याना रूपातीत धर्मध्यान है।

सून्यं सुध सहावं, सून्यं संसार सरनि मिच्छातं।
विषय राग मइ सून्यं, अप्पा परमप्प भाव निम्मलयं॥ ८७१॥

अन्वयार्थ- (सून्यं सुध सहावं) शून्य या शुक्लध्यान शुद्ध स्वभाव रूप है (संसार सरनि मिच्छातं सून्यं) उसमें संसार का भ्रमण कराने वाला मिथ्यात्व भाव नहीं है (राग मइ विषय सून्यं) तथा उसमें राग-द्वेष मय कोई विषय नहीं है (अप्पा परमप्प भाव निम्मलयं) वहाँ आत्मा परमात्मा रूप परम शुद्ध भावधारी झलक रहा है।

भावार्थ- शून्यध्यान को शुक्लध्यान भी कहते हैं, क्योंकि वहाँ बुद्धिपूर्वक रागभाव की शून्यता है। दसवें गुणस्थान तक इतना मंदकषाय का उदय है कि ध्याता के ध्यान में कषाय की मलीनता नहीं झलकती है। ध्याता एक निर्विकल्प शुद्धोपयोग में लीन रहता है। ग्यारहवें से चौदहवें तक तो कषायों का उदय ही नहीं है। परमात्मा का जो कुछ शुद्ध स्वभाव है, वही इस ध्यानी के ध्यान में आ रहा है। यहाँ शुक्ललेश्या ही होती है। यह धर्मध्यान की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। धर्मध्यान तो सातवें अप्रमत्त विरत गुणस्थान तक ही होता है। यह आठवें अपूर्व करण से प्रारम्भ होता है, यह शुक्लध्यान ही परम अद्वैत आत्मध्यान है, यही घातिया कर्मों का नाशक है।

आन्या आकीर्णत्वं, अन्रित तिक्तंति असुध परिनामं।
आन्या सुध सहावं, जिन उवएस विमल निम्मलं भावं॥ ८७२॥

अन्वयार्थ- (आन्या आकीर्णत्वं) जहाँ जिनेन्द्र की आज्ञानुसार ज्ञान फैला हुआ है (अन्रित असुध परिनामं तिक्तंति) मिथ्या व अशुद्ध परिणामों का त्याग है (आन्या सुध सहावं) आज्ञानुसार शुद्ध आत्म स्वभाव का जहाँ अनुभव है (जिन उवएस विमल निम्मलं भावं) वह जिनेन्द्र के द्वारा उपदेशित अतिशुद्ध भाव रूप आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

भावार्थ- यहाँ फिर आज्ञाविचय धर्मध्यान की अपेक्षा उपदेश है कि श्री जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के अनुसार तत्वज्ञान को प्राप्त कर व राग, द्वेष, मोह को त्याग कर शुद्ध आंत्मा के स्वरूप का जो ध्यान है, वही आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अपायं परमं न्यानं, अप्पानं परम सुध सभावं।
विरयं मूढ सुभावं, सुधं ससरुव निम्मलं सुधं॥ ८७३॥

अन्वयार्थ- (अपायं परमं न्यानं) अपाय अर्थात् संसार का नाशक आत्मा का उत्तम ज्ञान है (अप्पानं परम सुध सभावं) अपने आपको परम शुद्ध सत्तारूप विचार करना (मूढ सुभावं विरयं) मिथ्यात्व भाव से विरक्त होना (सुधं ससरुव निम्मलं सुधं) कर्मांजन रहित परम निर्मल शुद्ध अपने स्वरूप का ध्यान करना अपायविचय धर्मध्यान है।

भावार्थ- राग, द्वेष, मोह से रहित अपने शुद्ध स्वभाव का ध्यान ही वास्तव में अपायविचय धर्मध्यान है। इसी से संसार का नाश होता है।

विचयं विमल सहावं, विमल न्यानेन केवलं निस्वै।
केवल दंसन सुधं, अप्पा परमप्प जंति निव्वानं॥ ८७४॥

अन्वयार्थ- (विमल सहावं विचयं) निर्मल आत्म स्वभाव का विचारना विचय धर्मध्यान है। (विमल न्यानेन केवलं निस्वै) निर्मल ज्ञान से केवल आत्मा का निश्चय करके (केवल सुधं दंसन)

निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारकर (अप्पा परमप्प) आत्मा को परमात्मा रूप अनुभव करने वाला (निव्वानं जंति) निर्वाण को जाता है।

भावार्थ- सर्वार्थ सिद्धि में विचय विवेक व विचारने को कहते हैं। ऐसा मालूम होता है कि तारणस्वामी ने विचय धर्मध्यान की अपेक्षा यहाँ गाथा में विचार किया है। भेद विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म से भिन्न विचार करके अपने शुद्ध स्वरूप की प्रतीति सहित निज आत्मा का अनुभव करना विचय धर्मध्यान है। यह निर्वाण का उपाय है।

धम्म रयन संजुत्तं, धम्मं धरयंति मनस्य सहकारं।
न्यानं न्यान सहावं, परमप्पा परम झानेहि संजुत्तं॥ ८७५॥

अन्वयार्थ- (रयन धम्म संजुत्त) रत्नत्रय धर्म सहित (मनस्य धम्मं सहकारं धरयंति) जो निर्मल ध्यान को सहकारी जानकर धारण करते हैं (परम झानेहि संजुत्तं) ऐसे परम योगियों के द्वारा (परमप्पा न्यान सहावं न्यानं) अपना आत्मा परमात्मा रूप ज्ञान स्वभावी अनुभव करने योग्य है।

भावार्थ- इस गाथा में ध्यान का सार बता दिया है कि जो मोक्ष को साधन करना चाहें, ऐसे योगीश्वरों को सर्व चिंता छोड़कर तथा निर्विकल्प होकर अपने ही आत्मा को परमात्मा रूप निश्चय करके उसे ज्ञानानन्दमय वीतरागरूप ध्याना चाहिए। यही वास्तव में धर्मध्यान है व यही शुक्लध्यान है।

♣ ♣ ♣

पाँच प्रकार सम्यग्दर्शन

आज्ञा सम्यक्त्व

आन्या समय जिनुत्तं, जिन दिट्ठं परम केवलं न्यानं।
न्यान दिस्टि उवएसं, निस्चय रुवेन विमल न्यान सद्दहनं॥ ८७६॥

अन्वयार्थ- (जिनुत्तं आन्या समय) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ उपदेश सो ही आगम है (जिन परम केवलं न्यानं दिट्ठं) जिसको जिनेन्द्र ने परम केवलज्ञान द्वारा देखा था (न्यान दिस्टि उवएसं) ज्ञान दृष्टि से उस उपदेश को ग्रहण करना फिर (निस्चय रुवेन विमल न्यान सद्दहनं) निश्चय से अपने निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा का श्रद्धान करना आज्ञा सम्यक्त्व है।

भावार्थ- जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि से जो उपदेश प्रगट हुआ है। तदनुसार गणधरों ने द्वादशांग वाणी की रचना की है। उसी के अनुसार परम्परागत आचार्यों ने जैन शास्त्र लिखे हैं। उन शास्त्रों के द्वारा सात तत्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा फिर आत्म प्रतीति रूप निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त करना आज्ञा सम्यक्त्व है।

जिन उत्तं अप्पानं, मिच्छा भावं च तिक्त कुन्यानं।
उत्तं चेयन भावं, विन्यानं अप्प सुध सद्दहनं॥ ८७७॥
आन्या सुध सरुवं, सुधं देवं च सुध गुर धम्मं।
मिच्छा अन्रित तिक्तं, आन्या सम्मत्त निम्मलं भावं॥ ८७८॥

अन्वयार्थ- (जिन उत्तं अप्पानं) जिनेन्द्र के कहे प्रमाण अपने आत्मा को जाने (मिच्छा भावं च कुन्यानं तिक्त) मिथ्यात्व व मिथ्याज्ञान को छोड़कर (चेयन भावं उत्तं) चैतन्य का जो परिणाम है (विन्यानं) उसे भेदविज्ञान से अपना जाने। यही श्रद्धान (सुध अप्प सद्दहनं) शुद्धात्मा का साधक है (आन्या सुध सरुवं) जिनेन्द्र की आज्ञानुसार शुद्ध स्वरूप को पहचाने (सुधं देवं च सुध गुर धम्मं) निर्दोष वीतराग देव को देव, परिग्रह रहित निर्ग्रंथ को गुरु व वीतराग विज्ञानमयी धर्म को यथार्थ जाने (मिच्छा अन्रित तिक्तं) मिथ्या भाव व असत्य ज्ञान को छोड़ देवें (निम्मलं भावं) अपने श्रद्धान को निर्मल रखे सो ही (आन्या सम्मत्त) आज्ञा सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ- सच्चे देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान करे। रागी, द्वेषी देव, परिग्रहधारी गुरु, हिंसामय व सराग भाव रूप धर्म को यथार्थ देव, गुरु धर्म न माने। आत्मा के शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनंदमयी स्वरूप को पहचाने। संसार को असार, मिथ्या व क्षणभंगुर जाने। आत्मानंद को ग्रहण योग्य व विषय सुख को त्यागने योग्य जाने। भेद विज्ञान के बल से भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म को भिन्न व आत्मा को भिन्न जाने। निज स्वरूप की दृढ़ प्रतीति लावे, सो आज्ञा सम्यक्त्व है। यहाँ आज्ञानुसार तत्वों के ऊपर श्रद्धा हुई है। इस अपेक्षा से इस सम्यक्त्व को आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। वास्तव में सम्यक्त्व तो एक आत्मा का अनिर्वचनीय गुण है तथा एक ही प्रकार है। इसको किसी अपेक्षा व्यवहार सम्यक्त्व भी कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ देव, गुरु, धर्म का व सात तत्त्वों के सविकल्प श्रद्धान की मुख्यता है। यही निश्चय सम्यक्त्व का कारण है।

वेदक वेद संजुत्तं, वेद वेदांग विंदतो नित्यं।
अप्पा पर बुज्झंतो, परचवैवि अप्प सुध सभावं॥ ८७९॥
पद विंजन विंदंतो, असरन संसार सयल दोस विवरीदो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, अप्पा परमप्प निव्वुए जंति॥ ८८०॥

अन्वयार्थ- (वेदक वेद संजुत्तं) वेदक सम्यक्त्वी वह है, जो आत्मज्ञान सहित हो, (नित्यं वेद वेदांग विंदतो) जो सदा द्वादशांगवाणी के सार को जानता हो, (अप्पा पर बुज्झंतो) आत्मा व पर को अलग-अलग समझता हो, (सुध सभावं अप्प परचवैवि) तथा शुद्ध सत्तारूप अपने आत्मा का परिचय रखता हो, (पद विंजन विंदंतो) जिनवाणी के अक्षर व शब्दों का भाव जानता हो, (असरन संसार सयल दोस विवरीदो) जो इस अशरण संसार के सर्व दोषों से विपरीत हो, (अप्पा अप्पम्मि रओ) जिसका

आत्मा आत्मा में रत हो, (अप्पा परमप्प निव्वुए जंति) ऐसा वेदक सम्यक्त्वी आत्मा परमात्मा रूप होकर निर्वाण को जाता है।

भावार्थ- यहाँ वेदक सम्यक्त्व का शब्दार्थ लेकर स्वरूप कहा है। वेदक जानने वाले व अनुभव करने वाले को कहते हैं। जो जिनवाणी के रहस्य का ज्ञाता होकर आत्मा को अनात्मा से भिन्न जाने तथा आत्मा को स्वभाव से शुद्ध ज्ञाता, दृष्टा, वीतराग, सिद्धसम जानकर श्रद्धान करे, मोक्ष को प्राप्त करने योग्य व संसार को क्षणभंगुर राग, द्वेषादि प्रपंचों से पूर्ण जाने। सबसे मोह त्याग कर आत्मा का सच्चा प्रेमी हो जाए। उपयोग को आत्मा के स्वरूप के अनुभव में जमाकर आत्मानंद का स्वाद लेवे, ऐसा वेदक सम्यक्त्वी कर्मबंध से छूटकर अवश्य निर्वाण को पाता है।

सिद्धान्त के अनुसार इतना विशेष है कि वेदक सम्यक्त्व के दर्शनमोह की तीसरी प्रकृति सम्यक् प्रकृति का उदय रहता है, जिससे सम्यग्दर्शन तो रहता है, परन्तु इसमें कुछ मलिनता रहती है। इसीलिए इसको क्षयोपशम सम्यक्त्व भी कहते हैं। इसके कई भेद हैं। एक तो यह है कि चार अनंतानुबंधी कषाय व मिथ्यात्व तथा मिश्र छहों का उपशम हो, एक का उदय हो। दूसरा यह है कि अनंतानुबंधी का अन्य कषाय रूप परिणमन होकर विसंयोजन हो गया हो, अर्थात् क्षय हो गया हो और दो का उपशम हो, एक का उदय हो। तीसरा यह है कि चार अनंतानुबंधी के साथ मिथ्यात्व का क्षय हो, एक का उपशम, एक का उदय हो। चौथा यह है कि चार अनंतानुबंधी के साथ मिथ्यात्व व मिश्र का भी क्षय हो, एक सम्यक्त्व का उदय हो। सम्यक्त्व प्रकृति को अर्थात् कुछ मलीन सम्यक्त्व भाव को यह वेदक सम्यक्त्वी अनुभव करता है। इसलिए इसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। गोम्मटसार में कहा है —

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदु॥ २५ ॥

भावार्थ- देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है। यह चंचल, मलीन है व अगाढ़ या अदृढ़ है तथापि आत्मानुभव रूप होकर कर्मों के क्षय का कारण है।

♣ ♣ ♣

उपशम सम्यक्त्व

उवसम उवसंत कषायं, उपसम राग दोस विषय भावं च।
मिच्छा कुन्यान तिक्तं, उवसमनं सुह असुहस्य परिनामं॥ ८८१ ॥
षिउ उवसम संजुत्तं, षिपनिक रुवेन अप्प सभावं।
अप्पा सुधप्पानं, परमप्पा सुध निम्मलं चित्तं॥ ८८२ ॥

अन्वयार्थ- (उवसम उवसंत कषायं) उपशम सम्यक्त्व वह है, जहाँ अनंतानुबंधी कषायों का उपशम हो गया हो (उवसम राग दोस विषय भावं च) जिसके बल से अनंतानुबंधी सम्बन्धी अन्याय युक्त राग-द्वेष का, इन्द्रियों के विषयों की चाहना का व क्रोधादि कषाय भावों का उपशमन हो गया हो (मिच्छा कुन्यान तिक्तं) मिथ्या श्रद्धान व मिथ्याज्ञान का त्याग हो गया हो (सुह असुहस्य परिनामं उवसमनं) शुभ या अशुभ भावों का उपशम हो गया हो, शुद्ध भावों का ही प्रेम हो गया हो (षिउ उवसम संजुत्तं) क्षयोपशम भाव सहित हो (षिपनिक रुवेन अप्प सभावं) आपके स्वभाव को कर्म रहित क्षायिक जानता हो (अप्पा सुधप्पानं) आत्मा को शुद्धात्मा रूप मानता हो (परमप्पा सुध निम्मलं चित्तं) जिसका भाव श्रद्धानापेक्षा परमात्मा के समान निर्मल हो, वह उपशम सम्यक्त्वी है।

भावार्थ- चार अनंतानुबंधी कषाय तथा मिथ्यात्व ऐसी पाँच प्रकृतियों का अथवा मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति लेकर सात प्रकृतियों का उपशम होने से जो शुद्धात्मा की प्रतीति रूप भाव हो, उसको उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। चारित्रमोहनीय की अपेक्षा यहाँ क्षयोपशम भाव है, क्योंकि अनन्तानुबंधी का उपशम या उदयाभावी क्षय है तथा अन्य कषायों का उदय है। यह सम्यक्त्व निर्मल है। यहाँ अपने आत्मा की प्रतीति परमात्मा के समान शुद्ध है। इसके मिथ्यात्व व संसारासक्त भाव नहीं रहा है। अन्याय रूप प्रवृत्ति मिट गई है। अन्याय के विषयों से व कषायों से यह उदासीन हो गया है। परिणामों में परम बैरागी है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व सातवें तक फिर श्रेणी चढ़ते हुए इसी को श्रेणी पर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। फिर बदल जाता है। वेदक सम्यक्त्व हो जाता है या मिथ्यात्वादि के उदय से नीची श्रेणी में भी आ सकता है।

♣ ♣ ♣

क्षायिक सम्यक्त्व

ष्याइक षिपनिक रुवं, षिपियो संसार सरनि मोहंधं।
राग दोस मिच्छातं, कम्म मल पयडि सयल षिपिऊनं॥ ८८३॥
षिउ उवसम सुध सुहावं, अप्पा अप्पेन अप्पनो निस्वं।
गय संकप्प वियप्पं, ष्याइक संमत्त सुध धुव निस्वं॥ ८८४॥

अन्वयार्थ- (ष्याइक षिपनिक रुवं) क्षायिक सम्यक्त्व वह है, जो सम्यक्त्व विराधक कर्मों के क्षय से हुआ हो (षिपियो संसार सरनि मोहंधं) यहाँ संसार के भीतर भ्रमण कराने वाले अंध मोह का नाश हो गया है (राग दोस मिच्छातं कम्म मल पयडि सयल षिपिऊनं) रागद्वेष, मोह को उत्पन्न करने वाली अनंतानुबंधी कषाय की चार व दर्शन मोहनीय की तीन ऐसी सात कर्म प्रकृतियों का बिल्कुल क्षय हो गया है (षिउ उवसम सुध सहावं) यहाँ चारित्र मोहनीय की अपेक्षा क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम

तीनों शुद्ध स्वभाव हैं (अप्पा अप्पेन अप्पनो निस्वं) यहाँ आत्मा को अपने से अपना निश्चय है (गय संकप्प वियप्पं) संकल्प-विकल्पों का यहाँ अभाव है (ष्याइक समत्त सुध धुव निस्वं) क्षायिक सम्यक्त्व को ही शुद्ध ध्रुव या निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं।

भावार्थ- क्षायिक सम्यक्त्व वही है, जो असली, शुद्ध, अविनाशी, आत्मा का एक स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण है। सात प्रकृतियों के क्षय से हुआ है, इसलिए इसको क्षायिक कहते हैं। यह अनंतकाल तक रहता है। चारित्र मोहनीय के कारण चौथे से सातवें तक इस क्षायिक सम्यक्त्व के साथ क्षयोपशम भाव उपशम श्रेणी की अपेक्षा उपशम भाव व क्षपक श्रेणी की अपेक्षा क्षायिक भाव रहता है। जब यह सम्यक्त्व भाव निक्षेप रूप उपयोगात्मक होता है, तब वहाँ सर्व संकल्प विकल्प व सर्व विचार मिट जाते हैं। आत्मा में आत्मा के द्वारा ही लीन हो जाता है। आत्मानंद का लाभ होने लगता है। यही शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है —

सत्तण्हं उवसमदो उवसम सम्मो खयादु खइयोय।
विदिय कसायुदयादो असंजदो होदि सम्मोय॥ २६॥

भावार्थ- सातों प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व व सातों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। चौथे गुण स्थान में अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से यह सम्यक्त्वी भी असंयमी होता है।

♣ ♣ ♣

शुद्ध सम्यक्त्व

सुधं सुध सहावं, सुध सरुवं च निम्मलं भावं।
अप्पा परमप्पानं, परमप्पा लहै निव्वानं॥ ८८५॥

अन्वयार्थ- (सुधं सुध सुहावं) शुद्ध सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव है (सुध सरुवं च निम्मलं भावं) यह शुद्ध स्वभाव रागादि मल रहित वीतराग भाव है (अप्पा परमप्पानं) आत्मा को परमात्मा स्वरूप ध्याता हुआ (परमप्पा लहै निव्वानं) यह परमात्मा होकर निर्वाण को पाता है।

भावार्थ- यहाँ शुद्ध या वीतराग सम्यग्दर्शन की मुख्यता से कथन है, जो सराग भाव रहित सातवें और आठवें गुणस्थान से होता है। शुद्ध सम्यक्त्व में परम वीतरागता के साथ आत्मा को एकाग्रभाव से ध्याता हुआ शुद्धोपयोग में लीन हुआ कर्म काटकर परमात्मा होकर निर्वाण के पद का भागी होता है।

♣ ♣ ♣

पंचाचार कथन

दर्शनाचार

दरसन सुध सहावं, दर्सं तिलोय न्यान सहकारं।
न्यानेन न्यान सुधं, दरसन चरनस्य निम्मलं विमलं॥ ८८६ ॥
दर्सन अनंत रुवं, अनंत दर्सन विमल सुध दरसेई।
मिच्छात कम्म विलयं, दर्सन चरनस्य जंति निव्वानं॥ ८८७ ॥

अन्वयार्थ- (दरसन सुध सहावं) सम्यग्दर्शन आत्मा का एक शुद्ध स्वभाव है (दर्सं तिलोय न्यान सहकारं) जो लोक के पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करता है वह सम्यग्दर्शन ज्ञान का सहकारी है (न्यानेन न्यान सुधं) सम्यग्ज्ञान से ही ज्ञान शुद्ध होता है (दरसन चरनस्य निम्मलं विमलं) यह दर्शनावरण दोष रहित व वीतराग है (मिच्छात कम्म विलयं) इस सम्यग्दर्शन के होते हुए मिथ्यात्व कर्म का लोप हो गया है। (दर्सन अनंत रुवं अनंत दर्सन विमल सुध दरसेई) यह सम्यग्दर्शन अनंत स्वभाव रूप अनंत दर्शनधारी वीतराग कर्ममल रहित आत्मा का श्रद्धान करने वाला है (दर्सन चरनस्य जंति निव्वानं) दर्शनाचार से मोक्ष होता है।

भावार्थ- आचार्य महाराज दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, तपाचार, चरित्राचार को पालते हैं, उन्हीं का यहाँ कथन है। दर्शनाचार का भाव यह है कि सम्यग्दर्शन स्वभावधारी आत्मा का श्रद्धान करते हुए अनुभव करना। मिथ्यात्व के दोष से शून्य सम्यक्त्व भाव में परिणमन करते हुए अनंत दर्शन गुणधारी आत्मा का श्रद्धान करना। इसी से ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यक्त्व सहित ज्ञान के बार-बार अनुभव करने से ज्ञानावरण कर्म का नाश होकर केवलज्ञान का लाभ हो जाता है। इस सम्यक्त्व के आचार से अन्य चार आचार की सफलता है और इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

♣ ♣ ♣

ज्ञानाचार

न्यान चरन संसुधं, न्यानं आचरन केवलं ममलं।
विषयं च राग विरयं, अप्पा परमप्प न्यान आचरनं॥ ८८८ ॥
न्यानं न्यान सरुवं, कुन्यानं तिजंति मिच्छ सभावं।
अप्प सरुव सहावं, परमप्पा सुध न्यान आचरनं॥ ८८९ ॥

अन्वयार्थ- (न्यान चरन संसुध) ज्ञानाचार परम शुद्ध (केवलं ममलं न्यानं आचरन) केवल निर्मल स्वाभाविक आत्मज्ञान का अनुभव या रमण है (विषयं च राग विरयं) जहाँ इन्द्रियों के विषयों का राग नहीं है (अप्पा परमप्प न्यान आचरनं) आत्मा को परमात्मा के ज्ञान में आचरण कराना है (न्यानं न्यान सरुवं) ज्ञान का ज्ञान स्वरूप रहना है (मिच्छ सभावं कुन्यानं तिजंति) जहाँ मिथ्यात्व भाव व मिथ्याज्ञान का त्याग हो गया है (अप्प सरुव सहावं) आत्मा का स्वभाव आत्मा रूप है। (परमप्पा सुध न्यान आचरनं) या परमात्मा रूप है। ऐसा जानकर अपने शुद्ध ज्ञान में रमना ही ज्ञानाचार है।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान श्रद्धा सहित आत्मा को सर्वआत्माओं से भिन्न जानता है। वहाँ न मिथ्यात्व है न मिथ्याज्ञान है न विषयों का राग है। आत्मा द्रव्य स्वभाव परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा वीतराग परमानंदमयी है। सर्व संकल्प-विकल्प मिटाकर व निश्चिन्त होकर अपने शुद्ध आत्म स्वरूप में ज्ञान का परिणमना, रमना, तन्मय रहना, आत्मानुभव करना ज्ञानाचार है।

♣ ♣ ♣

वीर्याचार

वीर्जं वीर्जं सुधं, वीर्जं अंकुरनं च न्यान सहकारं।
चरनं अप्प सरुवं, चरनं वीर्जं च सुधमप्पानं॥ ८९० ॥
अप्पानंमप्पानं, अप्पा सुध ज्ञान न्यान निरु पिच्छं।
परम पय सुध सरुवं, वीर्जं आचरन निव्वुए जंति॥ ८९१ ॥

अन्वयार्थ- (वीर्जं वीर्जं सुधं) वीर्य आत्मा का स्वभाव वीर्य गुण है (वीर्जं अंकुरनं च न्यान सहकारं) वह वीर्य ही ज्ञान के अंकुर फूटने का साधन है (चरनं अप्प सरुवं) चारित्र आत्मा का स्वरूप है (चरनं वीर्जं च सुधमप्पानं) शुद्ध आत्मा में आचरण करना भी वीर्याचार है (अप्पानंमप्पानं) अपने से अपने को जानना (अप्पा सुध ज्ञान न्यान निरुपिच्छं) आत्मा को शुद्ध स्वभाव रुप भले प्रकार निश्चय करना (परमपय सुध सरुवं) परम पद शुद्ध स्वभाव है, ऐसा जानकर अनुभव करना (वीर्जं आचरन निव्वुए जंति) वीर्याचरण है, इसी के प्रभाव से भव्य जीव निर्वाण को जाते हैं।

भावार्थ- आत्मा के भीतर अनंतबल है। इसी बल के प्रभाव से सर्वत्र मन, वचन, काय की क्रिया होती है। उत्साह होना इस वीर्य का एक प्रकाश है। जब उत्साहपूर्वक तत्वज्ञान का अभ्यास किया जाता है। आत्मबल के द्वारा अपने उपयोग को विषय कषायों से रोककर आत्मा व अनात्मा के भेद विज्ञान के मनन में लगाया जाता है तब ही आत्मा के यथार्थ ज्ञान का या श्रद्धा सहित ज्ञान का या आत्मानुभव का अंकुर फूटता है। अपने शुद्धात्मा के स्वभाव में रमण करना भी वीर्याचार है। आत्मबल से ही अपनी परिणति परमात्मा से रोककर शुद्ध स्वरूप में जोड़ी जाती है। शुद्ध स्वभाव

में भले निश्चय करने में, जानने में व उसी का स्वाद लेने में जो कुछ आत्मबल की सहायता ली जाती है, वही वीर्याचार है। यदि वीर्याचार को काम में न लिया जावे तो श्रद्धान की उज्ज्वलता, ज्ञान की निर्मलता व चारित्र की शुद्धता नहीं हो सकती है।

♣ ♣ ♣

तपाचार

तव आचरन सहावं, अप्प सहावेन सुध तवयरनं।
सुधं सुध सरुवं, तव आचरनं निम्मलं भावं॥ ८९२॥
कम्ममल मुक्क रागं, मिथ्या विषयं च तिक्त कषायं।
अप्पा अप्प सरुवं, सहकारेन चरन तवयरनं॥ ८९३॥

अन्वयार्थ– (तव आचरन सहावं) तपाचार का स्वभाव यह है कि (अप्प सहावेन सुध तवयरनं) आत्मा के स्वभाव में ठहरकर शुद्ध तपश्चरण करना (सुधं सुध सरुवं) शुद्ध भावों से शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना (निम्मलं भावं तव आचरनं) निर्मल भाव ही तपाचार है (कम्ममल मुक्क रागं) जहाँ कर्मरूपी मैल का राग छोड़ दिया गया हो (मिथ्या विषयं कषायं च तिक्त) मिथ्या पाँच इन्द्रियों के विषयों तथा कषायों को त्याग कर दिया हो (अप्पा अप्प सरुवं) आत्मा आत्मरूप अनुभव में आवे सो ही (तवयरनं चरन सहकारेन) तपश्चरण चारित्र का सहकारी है।

भावार्थ– इच्छाओं को रोकना सो तपाचार है। सब प्रकार के इन्द्रियों के विषयों से चाह रोककर व क्रोधादि कषायों को वशकर आत्मा के शुद्ध ज्ञानानंदमय स्वभाव में जमकर आप-आप में तपना सो तपाचार है। यही स्वरूपाचरण चारित्र का सहकारी है। अनशन ऊनोदर आदि व्यवहार तपों के द्वारा मन-वचन-काय को अपने वश में करके निश्चय रत्नत्रयमयी स्वभाव में जम जाना तपाचार है।

♣ ♣ ♣

चारित्राचार

चरनंपि सुध भावं, चरनं अप्पान निम्मलं रुवं।
थिर दिठि दंसन ममलं, चारित्र चरन सुध संजमं रुवं॥ ८९४॥
चरनं अप्प सहावं, चरनं परम पर भाव सुधानं।
घाय चउक्कं मुक्कं, चरनं चारित्र परम निव्वानं॥ ८९५॥

अन्वयार्थ- (चरनंपि सुध भाव) शुभ भाव ही चारित्र है (चरनं अप्पान निम्मलं रुवं) आत्मा का निर्मल भाव चारित्र है (मम्मलं दंसन थिर दिठि) निर्मल सम्यग्दर्शन को स्थिरता से अनुभव करना चारित्र है। (सुध संजमं रुवं चरन चारित्रं) शुद्ध आत्म संयम के स्वभाव में चलना चारित्र है (अप्प सहावं चरनं) आत्मा का स्वभाव चारित्र है (परभाव सुधानं परम चरनं) रागादि परभावों से शुद्ध होकर उत्कृष्ट वीतराग भाव में चलना चारित्र है (चउक्कं घाय मुक्कं) जिससे चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है (चरनं चारित्र परम निव्वानं) यही चारित्राचार परम मोक्ष को प्राप्त कराता है अथवा चारित्राचार ही परम निर्वाण है।

भावार्थ- चारित्र वास्तव में आत्मा के परम शांत या वीतराग भाव को कहते हैं। यह आत्मा का निज स्वभाव है। इस चारित्र की प्राप्ति के लिए जो आचरण किया जावे वह चारित्राचार है। व्यवहार चारित्र की सहायता से मन, वचन, काय को स्थिर करके व बुद्धिपूर्वक सर्व रागादि से उपयोग को हटाकर जैसे श्रुतज्ञान के बल से शुद्ध आत्म प्रतीति प्राप्त की है, इस आत्म प्रतीति में इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर जम जाना, शुद्ध आत्मा के स्वभाव में बिहार करना, यही सामायिक आदि चारित्राचार है। इसी के अभ्यास से यथाख्यात चारित्र होता है व इसी के प्रताप से चारों घातिया कर्मों का क्षय कर आत्मा अरहंत परमात्मा हो जाता है। अनंत केवल ज्ञान दर्शन अनंतवीर्य के प्रताप से यथाख्यात चारित्र रूपी चारित्राचार अति विशुद्ध होता हुआ व अति विशद होता हुआ शेष चार अघातिया कर्मों का भी क्षय कर डालता है और इस आत्मा को निर्वाण लाभ करा देता है। मोक्षावस्था में भी यह स्वात्मा में ही आचरण करता हुआ अपने चरित्रगुण के पूर्ण विकास में रहता हुआ परमानंद का स्वाद लेता है।

पंचाचार स उत्तं, पंचाचरन तिक्त संसारे।
गय संकप्प वियप्पं, पंचाचरनं च सुध निव्वानं॥ ८९६ ॥

अन्वयार्थ- (पंचाचार स उत्तं) पाँच प्रकार आचार वही कहा गया है (पंचाचरन तिक्त संसारे) जिस पंच प्रकार के आचार से संसार से राग छोड़कर (गय संकप्प वियप्पं) व संकल्प-विकल्प भावों को मिटाकर स्वात्मा का अनुभव किया जावे (सुध पंचाचरनं च निव्वानं) यही निश्चय पंचाचार निर्वाण को प्राप्त करा देता है अथवा निर्वाण रूप है।

भावार्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्वीर्य, सम्यक् तप, सम्यक् चारित्र इन पाँच प्रकार आचार को निश्चय नय के द्वारा जो पालेगा वह शुद्ध आत्मा के अनुभव में तल्लीन हो जावेगा। उसका सांसारिक राग व उसके सर्व संकल्प-विकल्प मिट जायेंगे। वह शुद्धोपयोगी होकर सिद्ध हो जायेगा। वहाँ सिद्ध गति में भी अपने आत्म स्वभाव में मगन रहता हुआ पाँचों ही प्रकार के आचार का स्वामी अनंतकाल तक बना रहेगा।

♣ ♣ ♣

न्यान समुच्चयसार का माहात्म्य

न्यान समुच्वयसारं, उवइट्ठं जिनवरेहि जं न्यानं।
जिन उत्तं न्यान सहावं, सुधं ध्यानं च न्यान समुच्वयसारं ॥ ८९७ ॥

अन्वयार्थ– (न्यान समुच्चयसारं) यह ज्ञान समुच्चयसार ग्रन्थ ज्ञान समूह का सार है (जिनवरेहि जं न्यानं उवइट्ठ) जिनेन्द्रों ने जो ज्ञान उपदेश किया है वही है (जिन उत्तं न्यान सहावं सुधं ध्यानं च न्यानं समुच्चयसारं) जिनेन्द्र ने जो आत्मज्ञान के स्वभाव में रमने को शुद्ध ध्यान कहा है वही सर्व द्वादशांग का सार है।

भावार्थ– इस ग्रन्थ का नाम जो ज्ञान समुच्चयसार है वह यथार्थ है। श्री जिनेन्द्र द्वारा प्रकाशित दिव्य ध्वनि के अनुसार जो द्वादशांग की रचना गणधरों ने की है, उसी सर्व श्रुतज्ञान का सार जो शुद्धात्मा का अनुभव है या शुद्ध ध्यान है वह प्राप्त होगा। वास्तव में जो शुद्धात्मा का अनुभव करता है वही श्रुतकेवली निश्चय से होता है। ऐसा ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है–

जो हि सुएणहि गच्छई, अप्पाणमिणंतु केवलं सुद्धं।
तं सुय केवलिमिसिणो, मणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९ ॥

भावार्थ– जो कोई श्रुतज्ञान के द्वारा इस केवल शुद्ध अपने आत्मा को अनुभव करता है वही श्रुतकेवली है ऐसा लोक के प्रकाशक ऋषिगण कहते हैं।

न्यान समुच्चय भनियं, सद्दहनं रुव भेय विन्यानं।
न्यानं न्यान सरुवं, षवइ संसार सरनि मोहंधं ॥ ८९८ ॥

अन्वयार्थ– (न्यान समुच्चय भनियं) इस ज्ञान समुच्चयसार ग्रन्थ को कहा गया है, जो कोई (सद्दहनं रुवं भेय विन्यानं) भेद विज्ञान को पाकर अपने आत्मा के स्वभाव का श्रद्धान करेगा (न्यानं न्यान सरुवं) जिसका ज्ञान, ज्ञान स्वभाव में तन्मय हो जावेगा वही (संसार सरनि मोहंधं षवइ) संसार के भ्रमण के कारण अंधमोह को क्षय कर डालेगा।

भावार्थ– इस ग्रन्थ को भले प्रकार पढ़कर जो आत्मा और अनात्मा को भिन्न-भिन्न परखकर भेद विज्ञान प्राप्त करेगा, पर से मोह छोड़कर आत्मा के स्वभाव में श्रद्धापूर्वक लय होगा। अर्थात् ज्ञानचेतना का स्वाद लेगा वही निर्मल भावों से मोह रूपी शत्रु का संहार करेगा। जिस मोह के नशे में चूर होकर यह प्राणी इस संसार में भटकता हुआ बार-बार जन्म-मरण करता हुआ अनेक प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक कष्ट उठाता है उस मोह को नाश करके वीतराग परमात्मा हो जावेगा।

न्यानेन न्यान जोयं, जोयं थिर दिट्ठि दंसनं ममलं।
जोयं निय अप्पानं, अप्पा परमप्प सुध निव्वानं॥ ८९९॥

अन्वयार्थ- (न्यानेन न्यान जोयं) ज्ञान के द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश होता है या ज्ञान योग होता है (ममलं दंसनं थिर दिट्ठि जोयं) निर्मल सम्यग्दर्शन में स्थिर दृष्टि रखना योग है (निय अप्पानं जोयं) निज आत्मा का ही ध्यान करने से (अप्पा परमप्प सुध निव्वानं) आत्मा परमात्मा व शुद्ध होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ- ज्ञान योग ही मोक्ष का द्वार है। परम शुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ निज आत्मा के शुद्ध स्वभाव में लीन होने से ही धर्मध्यान शुक्ल ध्यान होता है। यही योगाभ्यास है, यही ज्ञान का ज्ञान में परिणमन है। इसी से आत्मा परमात्मा होकर मुक्त हो जाता है।

जानै दिट्ठै समतं, पिच्छै विमल दंसनं सुधं।
तं थिर भाव सवन्नं, चरनं चारित्र सुधमप्पानं॥ ९००॥

अन्वयार्थ- (समतं जानै दिट्ठै) जो सम्यग्दर्शन को जानेगा, मनन करेगा (विमल सुधं दंसनं पिच्छै) व निर्मल शुद्ध सम्यक्त्व को अनुभवेगा (तं थिर भाव सवन्नं) उसी को ही स्थिर भाव कहा गया है (सुधमप्पानं चरनं चारित्र) वही शुद्ध आत्मा में आचरण करना चारित्र है।

भावार्थ- इस ग्रन्थ को जानने का फल यही है जो सम्यग्दर्शन के विषयभूत छः द्रव्य, सात तत्व आदि को समझा जावे, उन पर श्रद्धा लाई जावे। फिर निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त किया जावे, फिर शुद्धात्मा में स्थिरता पाकर शुद्ध आत्मा में आचरण रूप चारित्र को पाला जावे जिससे मोक्ष का लाभ हो।

दव्व काय पिच्छंतो, तत्त पदार्थं च सुध संजुत्तं।
संसार सहाव विमुक्को, अप्पा परमप्प केवलो सुधो॥ ९०१॥

अन्वयार्थ- (दव्व काय तत्त पदार्थं च पिच्छंतो) छः द्रव्य पाँच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थों को जानकर निश्चय करता हुआ व (सुध संजुत्तं) निश्चय से शुद्ध भाव से संयुक्त होता हुआ (संसार सहाव विमुक्को) संसार के स्वभाव से छूट जाता हुआ (अप्पा केवलो सुधो परमप्प) आत्मा परभावों से रहित व कर्मों से रहित शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ- इस ग्रन्थ के द्वारा तत्वों का स्वरुप समझकर जो शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण पालता हुआ सर्व रागादि से विरक्त हो वीतराग हो जाता है वही सर्व कर्मों से छूटकर परमात्मा हो जाता है।

न्यान समुच्चय सारं, आसव भाव सयल तिक्तं च।
सारं सुध सहावं, सारं ससरुव निम्मलं सुधं ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ– (न्यान समुच्चयसारं) इस सर्व ज्ञान का सार यही है, जो (आसव भाव सयल तिक्तं च) सर्व ही नाशवंत क्षणिक सांसारिक पर्यायों से विरक्त होकर (सारं सुध सहावं) शुद्ध स्वभाव का सार समझा जावे (ससरुव निम्मलं सुधं सारं) अपने ही आत्मा के रागादि रहित व कर्ममल रहित स्वभाव को सार या उपादेय समझा जावे।

भावार्थ– इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त सर्व ज्ञान का प्रायोजन यह है कि मुमुक्षु जीवों को देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक चारों ही गतियों की दशाओं को नाशवंत व अशरण मिट जाने वाली समझना चाहिये तथा एक अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव को ही सार व उपादेय समझना चाहिये। संसार पुद्‍गल और जीव की मिश्रित पर्याय रूप है। इसी अशुद्धता में संसार नाटक चलता है। और जब जीव भव भव में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव परिवर्तनों में भ्रमण किया करता है। जब यह जीव पुद्‍गल के संयोग से मुक्त हो जावे और आप अकेला रहकर अपने स्वभाव में रमण करे तब इसका संसार भ्रमण मिटे और यह शुद्ध द्रव्य स्वभाव में सदाकाल शोभायमान हो।

न्यानेन न्यान सहावं, कुन्यानं तिजंति सयल मिच्छातं।
न्यान समुच्चय सुधं, न्यान सहावेन जंति निव्वानं ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थ– (न्यानेन न्यान सहावं) ज्ञान के द्वारा ज्ञान स्वभाव का अनुभव होता (कुन्यानं सयल मिच्छातं तिजंति) जब मिथ्याज्ञान को व सर्व मिथ्याश्रद्धान को त्याग कर दिया जाता है (न्यान समुच्चय सुधं) तब ज्ञान समूह आत्मा शुद्ध होता है। (न्यान सहावेन निव्वानं जंति) ज्ञान स्वभाव के द्वारा भव्य जीव निर्वाण को जाते हैं।

भावार्थ– सम्यग्ज्ञान की अपूर्व महिमा है। जब सम्यग्दृष्टि जीव के श्रद्धान तथा मिथ्याज्ञान बिलकुल नहीं रहता है और यह रागादि भावों को त्यागकर वीतराग भाव से ज्ञान में अपने उपयोग को स्थिर करके ज्ञान स्वभाव का ही अनुभव करता है, तब शुद्धोपयोग के बल से कर्म की निर्जरा हो जाती है और यह भव्य जीव मोक्ष का लाभ करता है।

सयल जन बोहनत्थं, जिनमग्गे जिनवरेंद्र जं उत्तं।
जिन उत्तं सहकारं, न्यान संजुत्त लहइ निव्वानं ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थ– (सयल जन बोहनत्थं) सर्व जनों के समझाने के लिये (जिनमग्गे) जिन मार्ग के संबंध में (जिनवरेंद्र जं उत्तं) जिनेन्द्रों ने जो कुछ कहा है (जिन उतं सहकारं) उसी जिनवाणी की सहायता से (न्यान संजुत्त निव्वानं लहइ) जो सम्यग्ज्ञान से भूषित होता है वह निर्वाण को पाता है।

भावार्थ- श्री अरहंत तीर्थंकरों ने भव्यों के कल्याण के लिए जो कुछ मोक्ष का मार्ग बताया है वही जिनवाणी में प्रतिपादित है। जो कोई जिनवाणी को या इस ग्रंथ को भले प्रकार पढ़ेगा, मनन करेगा, फिर भेद विज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव प्राप्त करेगा वह अवश्य मुक्त हो जायेगा।

दंसेइ मोष्य मग्गं, न्यान सहावेन दंसनं ममलं।
चरनं संजम जुत्तं, संजुत्तो लहइ निव्वानं ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ- (मोष्य मग्गं दंसेइ) यह जिनवाणी मोक्ष मार्ग को दिखलाती है (न्यान सहावेन ममलं दंसनं) इसे जानकर अपने ज्ञानमयी स्वभाव से निर्मल सम्यग्दर्शन को जो पाते हैं (संजम जुत्तं चरनं) फिर संयम लेकर चारित्र पालते हैं (संजुत्तो निव्वानं लहइ) ऐसे संयमी साधु निर्वाण को पाते हैं।

भावार्थ- निर्वाण लाभ का सरल मार्ग यह है कि जिनवाणी को भली प्रकार अभ्यास करके अपने आत्मा के ज्ञानमयी स्वभाव को पहचानना। इसी विवेक के बार-बार अभ्यास से निर्मल या निश्चय सम्यग्दर्शन का लाभ होता है। फिर वही सम्यग्दृष्टि संसार शरीर भोगों से उदास होकर जब सर्व परिग्रह त्यागकर संयमी साधु होता है और व्यवहार चारित्र के द्वारा निश्चय आत्म रमण रूप चारित्र को पालता है, तब वह कर्मों से छूटकर मुक्त हो जाता है।

न्यान समुच्चय सारं, जिनवर उवएस कहिय सहकारं।
एको उवएस उत्तं, कम्म षय कारन निमित्तं ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ- (न्यान समुच्चय सारं) इस ज्ञान समुच्चय ग्रंथ को (जिनवर उवएस कहिय सहकारं) जिनेन्द्र के उपदेश से कहे हुए आगम की सहायता से (कम्म षय कारन निमित्तं) कर्मों के क्षय के साधन के लिये (एको उवएस उत्तं) एकोदेश कुछ कहा गया है।

भावार्थ- ग्रंथकर्ता कहते हैं कि मैंने श्री जिनेन्द्र कथित आगम का अभ्यास करके जो कुछ जाना है, उसी का कुछ कथन इस ग्रंथ में इसलिये किया है कि शुद्ध आत्मा की भावना करने से मेरे कर्मों का क्षय हो तथा पढ़ने वालों के भी कर्मों का क्षय हो। जो कोई इसका मनन करेगा उसके कर्मों का नाश होगा।

जिन उवएसं सारं, किंचित् उवएस कहिय सभावं।
तं जिन तारन रइयं, कम्म षय मुक्ति कारनं सुधं ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थ- (जिन उवएसं सारं) जो श्री जिनेन्द्र ने सार उपदेश किया है (सभावं किंचित् उवएस कहिय) उसका कुछ भाव यथार्थ भाव से इस ग्रन्थ के उपदेश में कहा गया है (तं जिन तारन रइयं) इसको जिन तारण स्वामी ने रचा है (कम्म षय मुक्ति कारनं सुधं) जिससे कर्मों के क्षय होने के लिए शुद्ध मोक्ष मार्ग का अनुभव हो।

भावार्थ- इस ग्रंथ को श्री जिन तारण स्वामी ने श्री जिनआगम के अनुसार रचा है। इसमें थोड़ा-सा उपदेश अपने निर्मल सरल भाव से इसीलिए किया है कि उसको मनन करने से मुझे भी शुद्ध आत्मा का अनुभव रूप निश्चय मोक्ष मार्ग का लाभ हो तथा और जो कोई पढ़े उनको भी इस मोक्ष मार्ग का लाभ हो। जिससे यह आत्मा कर्म बंधनों से छूटकर कभी न कभी मोक्ष लाभ कर सके।

भावेन भाव सुधं, अप्पा परमप्प विमल ससहावं।
तं भव्य जीव सरनं, आराहन जुत्तु निव्वुए जंति॥ १०८॥

अन्वयार्थ- (भावेन भाव सुधं) भाव से भावों की शुद्धि होती है। वह भाव यह है कि (अप्पा परमप्प विमल ससहावं) यह अपना आत्मा निश्चय से परमात्मा रूप निर्मल अपने स्वभाव में रहने वाला है (तं भव्य जीव सरनं) यही भाव भव्यजीवों के लिए शरण है (आराहन जुत्तु निव्वुए जंति) जो इस आत्मानुभव रूपी भाव की आराधना करते हैं वे निर्वाण को जाते हैं।

भावार्थ- इस ग्रंथ का सार यह है कि भावों से ही आत्मा के भावों की शुद्धि होती है। बाहरी मन, वचन, काय की क्रिया केवल निमित्त कारण है। अंतरंग आत्मा का शुद्ध परिणाम ही आत्मा की शुद्धि का साधन है। निश्चय नय से यह आत्मा-परमात्मा के समान बिलकुल शुद्ध स्वभाव का धारी है, ऐसा निश्चय करके व उसका संशय रहित ज्ञान प्राप्त करके इसी ही शुद्ध भाव में तन्मय होना या आत्मा का अनुभव करना ही मोक्षमार्ग है।

हर एक भव्य जीव को इसी की शरण में जाना चाहिये। इसी की आराधना करके भव्य जीव मोक्ष गये हैं व जावेंगे, यही इस ज्ञान समुच्चयसार ग्रन्थ का सार है। श्री समयसार कलश में श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं —

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं।
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः॥
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-।
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते॥ १२-९॥

भावार्थ- जो कोई अशुद्धता के कारण सर्व परद्रव्य को स्वयं छोड़ करके अपने आप ही अपने ही आत्म द्रव्य में प्रेम करके लीन रहता है वह सर्व अपराध से छूटा हुआ बंध का नाश करके नित्य प्रकाशमान अपनी आत्म ज्योति में तिष्ठकर चैतन्य रूपी अमृत से पूर्ण महिमा सहित होकर शुद्ध होता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री समयसार में कहते हैं—

मुक्खपहे अप्पाणं ठवेहि वेदयहि झायहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं माविहरसु अण्णदव्वेसु॥ ४३४॥

भावार्थ– आत्मानुभव रूपी मोक्षमार्ग में अपने को स्थापित कर उसी का अनुभव कर, उसी का ध्यान कर, उसी में नित्य विहार कर, आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

इति न्यान समुच्चयसार ग्रंथ जिन तारनतरन विरचितंसमुत्पन्निता।

इस प्रकार श्री जिन तारणतरण विरचित यह श्री ज्ञान समुच्चयसार ग्रंथ समाप्त हुआ। इसकी भाषा टीका रची मिति आश्विन सुदी ४ शनिवार, वीर संवत् २४५९, विक्रम संवत् १९९०, तारीख २३ सितम्बर १९३३।

दोहा– मंगल श्री जिन आदि हैं, मंगल वीर जिनेश।
मंगल गौतम गुरु नमो, मंगल श्री परमेश ॥ १ ॥
मंगल हैं सिद्धात्मा, परम ज्ञान भंडार।
परमानन्द निमग्न प्रभु, बन्दूं बारम्बार ॥ २ ॥
कुन्दकुन्द आचार्य हैं, आत्मतत्त्व भंडार।
बारबार सुमरण करूँ, कटैं कलेश अपार ॥ ३ ॥
तिनहीके अनुसार शुचि, ज्ञान सार प्रगटाय।
तारणतरण सुजिन लिखो, ग्रंथ सार सुखदाय ॥ ४ ॥
वंदन तिनको करत हूँ, धन्य अध्यातम ज्ञान।
पद पद पर आतम छटा, दरशाई गुण खान ॥ ५ ॥
श्री जिनवाणी नमन कर, धर्म जिनेश्वर ध्याय।
मंगल हो सब भविनके, निज सुख को प्रगटाय ॥ ६ ॥
अल्पबुद्धि स ग्रंथ की, भाषा लिखी स्वप्रेम।
भूलचूक हो बुद्धिजन, क्षमा करहु धर प्रेम ॥ ७ ॥

इटारसी (सी.पी.)
दिगम्बर जैन चैत्यालय (तारण समाज)
ता. २३-९-१९३३

ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद

टीकाकार की प्रशस्ति।

दोहा

लक्ष्मणपुर अवधि हि बसै, अग्रवाल कुल जान।
गोयल गोत्र महान में, मंगल सैन सुजान॥
आत्मरमी ज्ञाता बड़े, धर्म सुवक्ता जान॥
समयसार अभ्यास में, रहत सदा सुख मान॥ १॥
तिन सुत मक्खनलालजी, गृहीकार्य लवलीन।
संतलाल तिस ज्येष्ठ सुत, सीतल तृतिय अदीन॥
कुछ विद्या लौकिक पढ़ी, किया जगत व्यापार।
बत्तिस वय अनुमान में, श्रावक व्रत हिय धार॥ २॥
गृह तज देशाटन करत, करत धर्म अभ्यास।
संवत विक्रम उन्नीसैं, नव्वै धरि हुल्लास॥
मध्यप्रांत का मध्य थल, इटारसी शुभ ग्राम।
वर्षाकाल विताइयो, कर सुमरण जिन नाम॥ ३॥
जैन दिगम्बर वसत हैं, तारण पंथ सुहाय।
चैत्यालय सुन्दर बना, जिनवाणी पधराय॥
ताही में विश्राम कर, संगति श्रावक पाय।
ज्ञान समुच्चय सार की, टीका लिखी स्वभाय॥ ४॥
सिंहई गुरुप्रसाद युत, शाला पाठ सुहाय।
धर्मज्ञान बालक सवैं, लेवें चित्त लगाय॥
शामलालजी सेठ हैं, सिंहई भरोसेलाल।
फूलचन्द भाई लसैं, और फदालीलाल॥ ५॥
पांडे नाथूराम जी, विज्ञसु चुन्नीलाल।
दुर्गाप्रसाद विराजते, श्री ठाकुरसीलाल॥
रामलाल पांडे लसैं, दुलीचन्द जी जान।
बाबूलाल विराजते, दमरूलाल अमान॥ ६॥
गृह हैं लगभग वीस दो, तारण पंथ सुजान।
मंदिर दो प्रतिमा सहित, राजत हैं इस थान॥
ता पूजक गृह तीस हैं, साबत धर्म बनाय।
वैद्य सु सुन्दरलालजी, दलिपचन्द वृषभाय॥ ७॥

बाई कस्तूरी लसैं, सेठानी वृष लीन।
पण्डित छोटेलालजी, मन्नूलाल प्रवीन॥
सर्व दिगम्बर मेल से, रहत प्रेम हिय धार।
श्रद्धा भक्ति सु ज्ञानधर, करत धर्म संचार॥ ८॥
पण्डित श्री मूलचंदजी, वंशत तिवारी जान।
धर्म रसिक आतम सुविद, हितू जैन गुण खान॥
इत्यादिक संयोग में, धर आनन्द अपार।
थिरता धर टीका रची, निज अनुभव चित धार॥ ९॥
अध्यातम ज्ञाता बड़े, जिन सिद्धांत प्रवीण।
श्री जिन तारण तरण हैं, परम धर्म लवलीन।
ज्ञान समुच्चय सार में, अद्‌भुत ज्ञान दिखाय।
आतम अनुभव रस दिया, जो पीवै सुख पाय॥ १०॥
तिनके चरण प्रताप से, अल्प बुद्धि अनुसार।
प्रचलित भाषा में लिखा, भाव अर्थ सुविचार॥
पण्डितजन बांचैं पढ़ैं, मनन करें दिनरात।
पावैं आतम ज्ञानकी, परमानन्द लखात॥ ११॥
यदि प्रमाद से भूल कुछ, कहीं होय गुणवान।
क्षमा धार के शोध लैं, कहूं जोड जुग पान॥
आगासोद निवासी हैं, मन्नूलाल उदार।
चन्द गुलाब ललितनगर, धर्म रसिक गुणधार॥ १२॥
श्री मथुराप्रसाद बुध, सागरवासी जान।
इन तीनन की प्रेरणा, भयो ग्रन्थ सुख दान॥
मंगल श्री जिनराज हैं, मंगल सिद्ध महान।
मंगल आचारज गुरु, मंगल साधु सुजान॥ १३॥
आश्विन शुक्ला चौथ को, शनीवार सुखकार।
उल्था यह पूरण भयो, श्री जिनका उपकार॥ १४॥

ब्र. सीतलप्रसाद

समाप्त